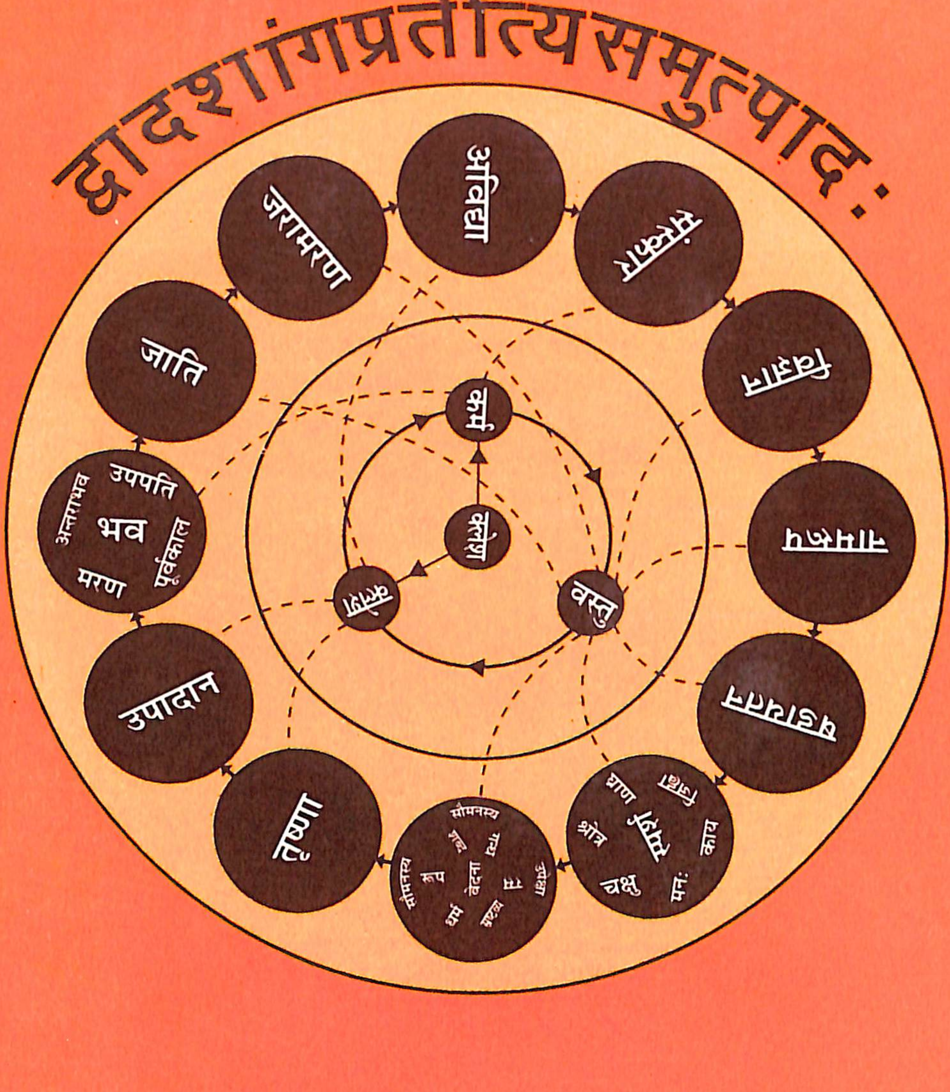
प्रमाणवार्तिकम्

वार्तिकालङ्कारव्याख्योपेतवार्तिकालङ्कारभाष्यसहितम्

द्वितीयो
II प्रथमो भागः



स्वामी योगीन्द्रानन्दः

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

७५

आचार्यधर्मकीर्तिप्रणीतम्

प्रमाणवार्तिकम्

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृत-'वार्तिकालङ्कारभाष्यव्याख्या' सहित-

प्रज्ञाकरगुप्तविरचित-'वार्तिकालङ्कारभाष्य'-

समलङ्कृतम्

(द्वितीयो भागः)

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

संस्करण १९९४ ई०

मूल्य ३००-००

अन्य प्राप्ति-स्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRATHAMALA

75

PRAMĀṆAVĀRTIK

OF

DHARMAKĪRTI

With 'Vartikalankar-Bhashy' Sanskrit Commentary

Of

PRAJÑĀKAR GUPTA

and edited with

'Vartikalankar-Bhashy-Vyakhya' Hindi Commentary

By

SWAMĪ YOGĪNDRĀNAND

(Second Part)

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

(Oriental Publishers & Distributors)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 333431

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007
Telephone : 236391

॥ नमः सर्वज्ञाय ॥

सभाष्यं प्रमाणवार्तिकम्

द्वितीयो भागः

२—प्रत्यक्षपरिच्छेदः

(८) प्रत्यक्ष-लक्षण-विप्रतिपत्ति-निरासः—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नाम संश्रयः ॥ १२३ ॥

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्"—यह तथ्य तो प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है, क्योंकि नाम-संश्रय (शब्दाभिलप्य) पदार्थ विकल्पात्मक है—यह प्रत्येक व्यक्ति को अपने अनुभव से ही सुविदित है ।: १२३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

४. प्रत्यक्षचिन्ता

(८) प्रत्यक्षलक्षणविप्रतिपत्तिनिरासः—

तत्र "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्"

विशेषणादिसम्बन्धवस्तुप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना । अन्यथा प्रतिभासो भ्रान्तत्वम् । तेनोभयेन रहितं प्रत्यक्षम् ।

ननु भ्रान्तत्वम्पुनः प्रत्यक्षेणान्यथा दर्शनादवगम्यते । कल्पनापोढता तु कुतः । न हि प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानन्तदभावेऽवतरणमासादयति । सकलश्च प्रत्ययः शब्दानुरोधादेवोपजायते । ततः प्रत्यक्षं सविकल्पकं कथमात्मनोऽविकल्पतामवगच्छेत् । यस्याप्या-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(८) प्रत्यक्षलक्षणविप्रतिपत्तिनिरास

बौद्ध-सम्मत प्रत्यक्ष का लक्षण है—"कल्पनापोढमभ्रान्तम् ।" नामादि विशेषणों के सम्बन्ध की प्रतीति का नाम कल्पना है। अन्यथा प्रतिभास का नाम भ्रम या विपर्यय है [जैसा कि न्यायवार्तिककार ने कहा है—"कोऽयं विपर्ययः ? अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति अवोचाम" (न्या० वा०) । कल्पना और भ्रम—इन दोनों से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है ।

आक्षेप—भ्रम ज्ञान तो अन्य (शुक्ति आदि पदार्थों) में रजतादि अन्य पदार्थों का प्रतिभास होने से प्रमात्मक ही नहीं, किन्तु "नीलो घटः"—इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञानों में नीलादि विकल्पों का भान तो अनुभवसिद्ध है, अतः प्रत्यक्ष कल्पनापोढ कैसे होगा ?

संहृत्य सर्वतः चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥ १२४ ॥

समस्त बाह्य विकल्प चिन्ताओं का परित्याग कर स्थिर चित्त के साथ चक्षु के द्वारा जो रूप-दर्शन होता है, वह चाक्षुष प्रत्यक्ष है ॥ १२४ ॥

पुनर्विकल्पयन् किञ्चिदासीन्मे कल्पनेदृशी ।
वेत्ति चेति न पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद् गतौ ॥ १२५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

लोचनाज्ञानं विकल्परहितम्प्रथममुपजायते तस्यापि स्मरणादिसामग्रीसमवधानात् सविकल्पकप्रत्ययोदयः । स चाक्षव्यापारतः प्रत्यक्ष एव । तस्यापि कथमविकल्पकत्व-सिद्धिः । अत्र प्रतिवचनम्—प्रत्यक्षङ्कल्पनापोढमिति ।

विकल्परहितम्प्रत्यक्षं स्वसंवेदनादेव प्रतीयते । विकल्पो हि नाम जनयति नामापि विकल्प स नामसंश्रयो विकल्पः प्रत्यात्मवेद्यतयानुभूयते । स्वसंवेदनेन विकल्प-स्यानुभवात् । चक्षुरादिना दृश्यस्य ततो विरुद्धधर्माध्यासतो भेद एव विकल्पकेतरप्रत्य-ययोः । अथापि सर्वदा तद्भावादिक एवायम्प्रत्ययस्तदपि नास्ति । यतः—संहृत्य सर्वतश्चिन्तामिति ।

यद्यक्षं विकल्पसामग्रीविरहि न प्रवर्तत एव तदभावे संहृतविकल्पावस्थायामन्य-विकल्पसम्मुखीभावे वा चक्षुषो व्यापारो न स्यात् पदार्थग्राही । ततस्तस्यामवस्थायाम-सङ्गतविकल्पः प्रतिभासमानः प्रत्ययः प्रत्यक्षत एव गम्यते ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रत्यक्ष में यदि कल्पना का योग नहीं, तब प्रत्यक्षोत्तरभावी अनुमान में सामान्य-कल्पना कैसे उपपन्न होगी ? दूसरी बात यह भी है कि समस्त प्रत्यय (ज्ञान) शब्दानुविद्ध (शब्दकल्पना-युक्त) ही प्रतीत होते हैं, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्यप० १।१२३)

फलतः सविकल्पक प्रत्यक्ष अपने में अविकल्पता क्योंकर सिद्ध कर सकेगा ? यह जो कुमारिल भट्ट ने कहा है कि "अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्" (श्लो० वा०) । उसका स्मरण-सामग्री के समवधान से सविकल्पक प्रत्यक्ष ही उत्पन्न होता है । वह भी इन्द्रिय-व्यापारकालीन होने से प्रत्यक्ष ही होता है । उसमें भी अविकल्प-कत्व कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—प्रत्यक्षगत विकल्प-रहितता स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होती है । विकल्प नाम (वाचक शब्द) को जन्म देता है । नाम भी एक विकल्प है, वह नाम विकल्प प्रतिपुरुष-वेद्यतया अनुभूत होता है । स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा विकल्प गृहीत होता है । चक्षुरादि से दृश्य का विरुद्ध धर्माध्यासपूर्वक भेद ही विकल्प और निर्विकल्प में परिलक्षित होता है ।

निर्विकल्पता की प्रतीति ही नहीं होती—ऐसा भी नहीं, क्योंकि यदि इन्द्रिय विकल्प-सामग्री से रहित होकर प्रवृत्त ही नहीं होती, तब निर्विकल्प अवस्था में अथवा अन्य विकल्प के सम्मुखीभाव में पदार्थ का ग्रहण करने के लिए चक्षु का व्यापार ही

इन्द्रिय-जन्य निर्विकल्प-प्रत्यक्ष के अनन्तर पुरुष जो "आसीन्मे कल्पनेदृशी"—ऐसा अनुभव करता है, उस कल्पना का सम्बन्ध ऐन्द्रियक स्वलक्षण विषय से नहीं, अपितु पूर्व संस्कारों की देन है ।। १२५ ।।

वार्तिकालङ्कारः

ननु यदि सङ्गतो विकल्पो नास्मिन्निति तदैव प्रत्ययः कथं विकल्पविरहिणी सावस्था । अथ न विकल्प (आधाराधेयाभाव) एव तदानीन्तदा निर्विकल्पकमेतदिति कथम्प्रतीतिः । न हि विकल्पमन्तरेण व्यवहारः । न च परमव्यवहारतया परः प्रतिपादितो भवति । अन्यथा क्षणिकत्वेऽपि किं स्वभावहेतुना व्यवहारकारिणा । अत्रोच्यते—पुनर्विकल्पयन् किञ्चिदिति ।

न खलु तदिव तस्य विकल्प उपजायते निर्विकल्पकमेतदिति । अन्यथा विकल्पप्रत्यक्षवादिनोऽपि यावत् सविकल्पकमेतदिति न जायते निश्चयस्तावत् कुतः सविकल्पकत्वव्यवहारः । ततः सविकल्पकत्वव्यवहारेऽपि सविकल्पः पुनरेषितव्यस्तत्राप्यपर इत्यनवस्थानादप्रतिपत्तिः । अथ स्वयमेवासौ सविकल्पक इति किन्तत्रापरेण । अविकल्पकस्यापि प्रतीतिरूपत्वात् किं विकल्पेनेति समानमुभयस्यापि ।

अथ विकल्पके पश्चाद् व्यवहारः सविकल्पकोऽयमित्यत्रापि पश्चान्निरूपयत एवं विधविकल्पपरम्परासीदिति व्यवहारो न संहृतविकल्पावस्थायाम् । तत्र निर्विकल्पकत्वं समासीदित्यव्यवहारात् । अथ तदानीमविद्यमानस्य कथं विकल्पेन व्यवहारः । मृते कथ-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं होता । फलतः यह मानना पड़ेगा कि निर्विकल्प अवस्था में समुद्भूत निर्विकल्प प्रत्यय प्रत्यक्षतः अनुभूत होता है ।

आक्षेप—विकल्प-काल में "नास्मिन् विकल्पः"—ऐसी प्रतीति कैसे होगी ? यदि विषयवस्तु में आधाराधेयादिरूप विकल्प नहीं, तब "निर्विल्पकमेतत्"—ऐसा व्यवहार कैसे होगा ? क्योंकि विकल्प के बिना कोई व्यवहार होता ही नहीं । व्यवहार-रहित व्यक्ति के द्वारा अन्य व्यक्ति प्रतिपादित नहीं हो सकता । अन्यथा क्षणिकत्व की सिद्धि के लिए व्यवहारकारणीभूत स्वभाव हेतु की क्या आवश्यकता ?

समाधान—निर्विकल्प वस्तु के समान ही उस पर विकल्प नाम की वस्तु अङ्कुरित नहीं होती, अपितु मरुमरीचि में जल के समान अध्यारोपितमात्र होता है, अतः निर्विकल्प निर्विकल्पता जैसी-की-तैसी सुरक्षित रहती है । अन्यथा विकल्प-प्रत्यक्षवादी मीमांसकादि के मत में जब तक "सविकल्पकमेतत्"—ऐसा निश्चय नहीं होता, तब तक सविकल्पकत्व-व्यवहार क्योंकर होगा ? अतः सविकल्पकत्व-व्यवहार में भी सविकल्प की अपेक्षा होगी और उसमें अन्य सविकल्प की, इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है । यदि कहा जाय कि जैसे सत् (ब्रह्म) सत्ता जाति का आश्रय होने से सत् नहीं, अपितु सत्स्वरूप है, वैसे ही सविकल्प पदार्थ को सविकल्प बनाने के लिए विकल्पान्तर की आवश्यकता नहीं, किन्तु वह स्वयं सविकल्पस्वरूप है, अतः अनवस्था क्यों होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि फिर तो अविकल्प पदार्थ भी प्रतीतिरूप होने से सविकल्पक ही है, उसे भी विविध विकल्पों की क्या आवश्यकता ?

आक्षेप—निर्विकल्प में विकल्प के पश्चात् ही 'सविकल्पकोऽयम्'—ऐसा व्यवहार हो सकता है, अतः निर्विकल्प अवस्था में 'विकल्प-परम्परा आसीत्'—ऐसी कल्पना नहीं होती, अपितु विकल्पारोप के पश्चात् का उक्त व्यवहार है, क्योंकि "निर्विकल्प-

एकत्र दृष्टो भेदो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते ।
न तस्माद् भिन्नमस्त्यन्यत् सामान्ये बुद्ध्यभेदत ॥ १२६ ॥

एक वस्तु का स्वलक्षण-तत्त्व कभी अन्य व्यक्ति में अन्वित नहीं होता । अनन्वित वस्तु के साथ शब्द-कल्पना का सम्बन्ध नहीं होता, अतः अभिलप्यमान् सामान्यलक्षण स्वलक्षण से भिन्न कोई वस्तु नहीं, अन्यथा समूहालम्बनात्मक ज्ञान के समान बुद्धि में दो आकारों का भान होना चाहिए, किन्तु बुद्धि अभिन्न या एकाकार है ॥१२६॥

वार्तिकालङ्कारः

म्मृत इति व्यवहारः । अन्यथा सविकल्पकस्यापि कथं सविकल्पकत्वव्यवहारः । पुनस्त-ज्जातीयस्य दर्शनादिति चेत् । इहापि संहृतविकल्पावस्थायाम्पुनःपुनर्दर्शनमनिवारित-मेव । तेन लक्षणभेदादन्योऽन्यव्यतिरेकेण च भावान्नैकत्वं सविकल्पकेतरयोः ।

अथ सामग्रीसद्भावात् (विकल्पारम्भात्) सविकल्पकोऽन्य एवोत्पद्यते तदभावा-दविकल्पक इति । तदसङ्गतम् ।

सामग्री यदि कल्पिता भिन्नत्वन्नीलपीतयोः । समुदायोऽन्य एवायमुत्पन्न इति कल्पनात् ॥२९९॥

स हि तत्रान्य एव नीलपीतादिसमुदाय उत्पन्नोऽवान्तरसामग्रीसम्भवात् । अथ प्रत्यभिज्ञानात् तदेवेदन्नीलं न पुनरपरः समुदाय इति प्रतीतेर्नानात्वन्तयोः सर्वकल्पित-रूपयोरपि समानम्भेदकल्पनम् । तस्मादविकल्पमेव प्रत्यक्षम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कत्वं ममासीत्"—ऐसा व्यवहार नहीं होता । यदि प्रश्न उठाया जाय कि निर्विकल्प अवस्था में जब विकल्प है ही नहीं, तब उसका व्यवहार कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रश्नान्तर किया जाता है कि यदि अविद्यमान का व्यवहार नहीं, तब मृत व्यक्ति के लिए "मृतः"—ऐसा व्यवहार कैसे ? अर्थात् जैसे मृत के न रहने पर भी "मृतः"—ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही सविकल्प-व्यवहार बन जायगा । यदि एक व्यक्ति के न रहने पर भी तज्जातीय व्यक्त्यन्तर को देखकर व्यवहार का निर्वाह हो जाता है, तब प्रकृत में भी विकल्पापगमकाल में व्यक्त्यन्तर का पुनः-पुनः दर्शन अनिवारित है । फलतः सविकल्पक और निर्विकल्पक का लक्षण भिन्न-भिन्न होने के कारण इन दोनों की एकता सम्भव नहीं ।

आक्षेप—दोनों की भिन्न-भिन्न सामग्री मानने की क्या आवश्यकता ? एकमात्र सविकल्पक की सामग्री जहाँ है, वहाँ सविकल्पक और उसके न होने से निर्विकल्पक—ऐसा मान लेना चाहिए ।

समाधान—वैसा मानना संगत नहीं, क्योंकि नील की सामग्री न होने से पीत और पीत की सामग्री न होने से नील होता है—ऐसी विनिगमना सम्भव नहीं, अतः दोनों की भिन्न-भिन्न सामग्री मानकर ही दोनों का भेद किया जा सकता है, ऐसे ही सविकल्पक और अविकल्पक का ॥२९९॥ नील और पीत नाम की अनन्त व्यक्तियाँ अपनी-अपनी सामग्री के भेद से उत्पन्न होने के कारण परस्पर भिन्न होती हैं । यदि कहा जाय कि 'तदेव इदम् नीलम्' इस प्रत्यभिज्ञा के आधार पर व्यक्तियों का भेद नहीं अभेद सिद्ध होता है, वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि तद् और इदम् दोनों प्रतीतियाँ परस्पर भिन्न हैं । भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को विषय करती है । एक व्यक्ति में उनका समन्वय नहीं हो सकता, फलतः सविकल्पक और निर्विकल्पक व्यक्तियों का भेद सिद्ध

तस्माद् विशेषविषया सर्वैवेन्द्रियजा मतिः ।
न विशेषेषु शब्दानां प्रवृत्तावस्ति सम्भवः ॥ १२७ ॥

घटनाम के शब्द का घटस्वलक्षण से सम्बन्ध न होकर घटत्व-सामान्य के साथ होता है। अतएव मीमांसकों ने आकृत्यधिकरण में शब्द का सम्बन्ध जाति के साथ या सामान्य के साथ माना है। सामान्यतत्त्व वस्तु न होकर बुद्धि का एक परिकल्पित आकार मात्र है। शब्द का उसी के साथ वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध होता है। स्वलक्षण

वार्तिकालङ्कारः

न चासौ सामग्रीन्द्रियविज्ञानस्य सविकल्पकत्वे स्मरणादिका। इन्द्रियस्यार्थग्रहणप्रवृत्तत्वात्। न चेन्द्रियग्राह्योऽर्थः शब्देन योज्यते। शब्दस्य तद्वाचकताऽभावात्। स्वलक्षणे संकेतस्याप्रवृत्तेः। सामान्यस्येन्द्रियाग्राह्यत्वाद्। कस्मादेतदिति चेदाह—एकत्र दृष्टो भेदो हीति।

देशकालानन्वयी हि भेदः। यत एकत्र दृष्टः पुनरन्यत्र दृश्यते तेनान्येन वा प्रत्यक्षेण तस्य कालान्तरवर्तिन्यभावात् स्वकालपरिच्छिन्नो हि भावः प्रत्यक्षतोऽवगम्यते। ततो न पूर्वम्परत्र न परम्पूर्वत्र प्रत्यक्षम्। प्रत्यभिज्ञाय पूर्वं स एवायमिति गृह्णातीति चेत्, न, प्रत्यभिज्ञाया अप्रत्यक्षत्वात् तत्रेन्द्रियव्यापाराभावात्। तथा हि—

योग्यदेशस्थितेऽक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि। तदाश्रितञ्च विज्ञानन्न कालान्तरभाविनि ॥३००॥

न हि कालदेशव्याप्तिरक्षविज्ञानेन गृह्यते। तथा सति सर्वः सर्वाकारदर्शी भवेत्। अथाक्षाणि यदि नातीतभाविनि वर्त्तन्ते तदाश्रितस्य विज्ञानस्य को विशेषः। यदि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता है, उनमें अविकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। इन्द्रियजन्य विज्ञान की स्मरणात्मकसामग्री उसमें सविकल्पकत्व सिद्ध कर देगी, ऐसा नहीं कह सकते। इन्द्रियों की प्रवृत्ति जिस अर्थ का ग्रहण करने के लिए होती है, वह क्षणिक स्वलक्षणमात्र है। इन्द्रिय-ग्राह्य स्वलक्षणरूप अर्थ के साथ शब्द की योजना भी नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द उसका वाचक नहीं। सकृदुपस्थित स्वलक्षण के साथ शब्द का संकेतकरण ही सम्भव नहीं। शब्द का शक्यार्थ सामान्यलक्षण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं। क्यों ऐसा है? इस प्रश्न का उत्तर है—"एकत्र दृष्ट" इत्यादि। अर्थात् भेद (विशेष या स्वलक्षण) स्वकाल और स्वदेशमात्र से परिच्छिन्न होता है, अन्य देश-काल का अन्वयी नहीं होता। जिस क्षण में स्वलक्षण है, उस क्षण में शब्द कल्पना नहीं, तब "अस्यायं वाचकः"—इस प्रकार का संकेत-ग्रहण स्वलक्षण के साथ क्योंकर होगा? पूर्वकाल की वस्तु परकाल में और परकाल की वस्तु पूर्वकाल में प्रत्यक्ष नहीं होती। परभावी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्वभावी पदार्थ का ग्रहण होता है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसके उत्पादन में इन्द्रिय-व्यापार होता ही नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष के योग्य (वर्तमान) पदार्थ के ग्रहण में ही इन्द्रिय की प्रवृत्ति होती है, अतीत या भावी वस्तु के ग्रहण में नहीं, अतः इन्द्रियाश्रित प्रत्यक्ष ज्ञान भावी पदार्थ को विषय नहीं कर सकता ॥३००॥ अर्थात् विभिन्न कालों और अनेक देशों में व्याप्त पदार्थ इन्द्रिय-विज्ञान के द्वारा गृहीत नहीं होता, क्योंकि वैसा मानने पर सभी पुरुष सर्वाकार-दर्शी (सर्व-द्रष्टा) हो जायेंगे। यदि इन्द्रियाँ अतीत या भावी के ग्रहण में प्रवृत्त नहीं होतीं, तब इन्द्रियाश्रित ज्ञान का क्या विरोध? यदि

के साथ नहीं। निष्कर्ष यह है कि समस्त इंद्रियजन्य बुद्धि स्वलक्षणरूप विशेष पदार्थ को ही विषय करती है। शब्द विशेष के वाचक न होकर सामान्य के वाचक हैं, अतः विशेषार्थ में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती ॥ १२७ ॥

अनन्वयाद् विशेषाणां संकेतस्याप्रवृत्तितः।
विषयो यश्च शब्दानां संयोज्येत स एव तैः ॥ १२८ ॥

व्यक्तिविशेष के साथ शब्द का संकेत सम्भव नहीं, जैसा कि न्यायमालाकार ने

वार्तिकालङ्कारः

तदाश्रितस्य विज्ञानस्यातीतादौ वृत्तिश्चक्षुषोऽपि स्यात्। न हि चक्षुषोऽन्यावृत्तिः। न च पूर्वापरग्रहणे चक्षुर्व्यापारः प्रतीयते। पूर्वापरयोः स्मरणस्य सम्भवानुमानस्य च वृत्तेः। इन्द्रियवृत्तिरेव सेति चेत्। अनुमानस्यापि प्रत्यक्षताप्रसङ्ग इति प्रतिपादयिष्यामः। अतो भेदानामनन्वयित्वम्। सामान्यमिन्द्रियग्राह्यमन्वयीति चेत्, तदसद्। यतः—

"न तस्माद् भिन्नमस्त्यन्यत् सामान्यम्बुद्धयभेदतः"।

न व्यक्तीनामन्वयो नापि सामान्यस्याभावादेव। व्यक्तीनामभावो न तासामन्वयः। सामान्यस्यान्वयो न च तद् दृश्यते। तस्याभावान्नेन्द्रियग्राह्योऽन्वयसम्भवः। न हि सामान्यमत्र प्रतिभाति। आकारान्तराप्रतिभासनादव्यतिरेके व्यक्तय एव। ताश्च नान्वयिन्यः। अत एव भिन्नाभिन्नमवाच्यञ्च न सामान्यम्। तदाह—तस्माद् विशेषविषयेति।

न ह्यन्वयिनि प्रतिभासमाने सामान्यरूपता। न च विशेषे शब्दानां वृत्तिरनन्वयेन संकेतस्यावृत्तेः। संकेतो हि देशकालान्तरे व्यवहारवृत्त्यर्थं व्यवहारिभिरिष्यतेऽतोऽ-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इन्द्रियाश्रित विज्ञान की अतीतादि में प्रवृत्ति मानी जाती है, तब चक्षुरादि की भी प्रवृत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि चक्षु की अन्य वृत्ति नहीं होती। पूर्व (अतीत) और पर (भावी) पदार्थों के ग्रहण में चक्षु का व्यापार प्रतीत नहीं होता। पूर्वापर के ग्रहण में तो स्मरण ज्ञान की वृत्ति या अनुमान ज्ञान ही सम्भव है। वह वृत्ति इन्द्रिय की ही है—ऐसा मानने पर अनुमान में प्रत्यक्षता प्रसक्त होती है—ऐसा आगे चलकर कहा जायगा। परिशेषतः भेद (स्वलक्षण) पदार्थ विभिन्न देश-कालान्वयी नहीं।

सामान्यलक्षण इन्द्रिय-ग्राह्य और व्यापी है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि वार्तिककार ने स्पष्ट कहा है—"न तस्माद् भिन्नमस्त्यन्यत् सामान्यं बुद्धयभेदतः" (प्र० वा० २।१२६)। अर्थात् स्वलक्षण पदार्थ स्वभावतः विभिन्न देश-कालान्वयी नहीं और सामान्यलक्षण की पृथक् सत्ता ही नहीं, तब वह अन्वयी कैसे होगा? जिन व्यक्तियों (स्वलक्षणों) का भाव है, वे अन्वयी नहीं और सामान्य का अन्वय हो सकता था, वह दृष्टिगोचर नहीं होता। फलतः इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ का अन्वय सम्भव नहीं। इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों में सामान्य तत्त्व की पृथक् प्रतीति नहीं होती, क्योंकि सामान्य का आकारान्तर प्रतीत नहीं होता, अतः व्यक्तियों से भिन्न उसकी पृथक् सत्ता नहीं मानी जा सकती और व्यक्तियाँ तो अन्वयिनी नहीं, अतएव सामान्य को भिन्नाभिन्न या अवाच्य नहीं माना जा सकता।

अनन्वयीरूप से प्रतिभासमान स्वलक्षणों में सामान्यरूपता सम्भव नहीं, क्योंकि वे विशेष पदार्थ असाधारण और विषम हैं, अतएव उन (स्वलक्षणों) में शब्दों की वृत्ति

कहा—"आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां न व्यक्ताविति निर्णयः" परिशेषतः सत्यकल्पना का संकेत सामान्यकल्पना के साथ ही होगा या विकल्प के साथ ॥ १२८ ॥

अस्येदमिति सम्बन्धे यावर्थौ प्रतिभासिनौ ।
तयोरेव हि सम्बन्धो न तदिन्द्रियगोचरः ॥ १२९ ॥

'अस्य अर्थस्य इदं वाचकम्' इस प्रकार का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध शब्द-कल्पना और सामान्य-कल्पना के साथ ही होता है। उनमें से कोई भी पदार्थ इंद्रिय का विषय नहीं होता। न तदिन्द्रियगोचरः ॥ १२९ ॥

विशदप्रतिभासस्य तदार्थस्याविभावनात् ।
विज्ञानाभासभेदो हि पदार्थानां विशेषकः ॥ १३० ॥

शब्द का सम्बन्ध संकेतित अर्थ का विशद अवभासन ही होता, यदि शब्द का

वार्तिकालङ्कारः

न्यथा व्यसनमेव भवेत् । धर्मार्थं इति चेत्, क एवम्प्रत्येष्यति । तस्मान्न देशकालप्रति-नियते संकेतवृत्तिः । तेन न विशेषः शब्दविषयः । यतः—विषयो यश्च शब्दानामिति ।

ततः संयोज्यग्रहणान्निर्विशेषस्य । ततो न विशेषग्राही प्रत्ययः सविकल्पकः । यश्च सविकल्पको न स विशेषग्राही । सामान्यस्य शब्देन योजनात् । कस्मादित्याह—अस्येद-मिति सम्बन्ध इति ।

दृष्टेऽप्यर्थेऽस्यायं वाचकोऽस्यायं वाच्य इति ययोः प्रतिभासः सम्बन्धकारिणि विज्ञाने तयोरेव वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धो न च तदेन्द्रियगोचरः कुतः । अस्येदं वाच्यमिति कोऽर्थः । अस्मादिदम्प्रत्येतव्यम् । केन प्रत्ययेन । किं सविकल्पकेन परोक्ष-वस्तुनाऽथ प्रत्यक्षेण साक्षात्कारिणा । यदि साक्षात्कारिणाऽध्यक्षेण प्रत्येतव्यम् । वैफल्य-मेवेन्द्रियसंहतेः प्राप्तम् । अथ परोक्षतया तदेन्द्रियगोचरस्यार्थस्य न सम्बन्धो न हि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(अभिधा या वाच्यता) नहीं हो सकती, क्योंकि व्यवहारार्थी पुरुषों के द्वारा विभिन्न देश-कालान्वयी जाति आदि पदार्थों में शब्द-संकेत स्थापित किया जाता है। यदि उससे व्यवहार का निर्वाह नहीं होता, तब वह संकेतकरण एक दुर्व्यसनमात्र बनकर हो रह जाता है। संकेतकरण केवल धर्मार्थ है—ऐसे कथन पर कौन विश्वास करेगा? फलतः तत्तद्देश-काल-नियत स्वलक्षण के साथ शब्द का संकेतकरण सम्भव नहीं, अतः स्वलक्षणतत्त्व शब्द का विषय नहीं, अतः निर्विशेष (सामान्यलक्षण) का ही शब्द-योजनापूर्वक ग्रहण होता है, अतः विशेष (निर्विकल्पक) का ग्राहक ज्ञान सविकल्पक नहीं और जो सविकल्पक है, वह निर्विकल्पक-ग्राही नहीं, क्योंकि शब्द की योजना सामान्यलक्षण केसाथ ही होती है। ऐसा क्यों? इसका उत्तर है—अस्येदमित्यादि। अर्थात् दृष्ट अर्थ में भी "अस्यायं वाचकः", "अस्यायं वाच्यः"—ऐसा सम्बन्ध जिन दो पदार्थों में प्रतीत होता है, उन्हीं में वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध इन्द्रिय का विषय नहीं। क्यों नहीं? इसके उत्तर में पूछा जाता है कि "अस्येदं वाच्यम्"—इसका क्या अर्थ? इसका उत्तर है कि इस ज्ञान के द्वारा यह प्रत्येतव्य है इस ज्ञान के द्वारा अर्थात् क्या सविकल्पक ज्ञान के द्वारा अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा। यदि साक्षात्कारी प्रत्यक्ष के द्वारा प्रत्येतव्य है तब इन्द्रिय-सम्बन्ध व्यर्थ हो जाता है,

वाच्य कोई वस्तु पदार्थ होता तो उसका भी विशदावभासन होना चाहिए था। शब्द के द्वारा प्रतीयमान सामान्यलक्षण जैसा अभेद पदार्थ यदि विषयवस्तु का धर्म माना जाता है तब समस्त विश्व में एकता प्रसक्त होगी ॥ १३० ॥

चक्षुषार्थावभासेऽपि यं परोऽस्येति शंसति ।
स एव योज्यते शब्दैर्न खल्विन्द्रियगोचरः ॥ १३१ ॥

चक्षु के द्वारा स्वलक्षण का प्रत्यक्ष हो जाने के पश्चात् जो वाचक शब्द की कल्पना होती है—"अस्यायं वाचकः" । वह शब्द उस स्वलक्षण का वाचक न होकर

वार्तिकालङ्कारः

तदेन्द्रियगोचरोऽर्थोऽस्तीति । अथ वाच्यगतेऽप्यर्थे शब्दे चास्येदं वाचकमिति सम्बन्धकरणात् । तथा हि—विशदप्रतिभासस्येति ।

इन्द्रियगोचरो ह्यर्थो विशदप्रतिभासः । विप्रकृष्टे चार्थेऽस्पष्टप्रतिभासिता । न च प्रतिभासभेदेऽप्येकता । अथ दूरासन्नतया स्पष्टतरप्रतिभासभेदस्यैकविषयतैव ज्ञानानां कथम्प्रतिभासभेदेन भेदः । अर्थक्रियाभेदेन भेदात् ।

नन्वर्थक्रियाभेदेऽपि प्रतिभासभेद एव न व्यतिरिक्तकार्यभेदो भेदलक्षणः । न हि कार्यभेदेन कारणस्य भेदः प्रतिभासभेदविना कृतस्य, प्रतिभासभेदोऽप्यस्त्येवेति चेत् । तत एव तर्हि भेदोऽस्तु किं कार्यभेदेन । यदि च कार्यभेदाद् भेदः कारणस्य कार्यस्य कुतो भेदः । कार्यभेदान्तराच्चेत्, अनवस्था । प्रतिभासभेदाच्चेत्, कारणेऽप्यपि तत एव भेदोऽस्तु किं कार्यभेदेन । अथ क्रियाभेदेनापि भेदे स एव प्रतिभासभेदो भेदकः । स्पष्टप्रतिभासस्यैवार्थक्रियाकरणात् । तस्मान्न दूरदेशव्यवस्थितस्यास्पष्टप्रतिभासो

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

और यदि परोक्षतया बोद्धव्य है तब इन्द्रिय-विषयीभूत अर्थ का उसके साथ सम्बन्ध नहीं, क्योंकि शब्द का सम्बन्धि सामान्यलक्षण इन्द्रिय का विषय नहीं, यदि वाच्यगत अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्धकरण होता है, वैसा सम्भव नहीं, क्योंकि इन्द्रिय का विषयीभूतपदार्थ का विशदावभास होता है, और विप्रकृष्ट अर्थ का अस्पष्ट प्रतिभास का भेद होने पर उनकी एकता कदापि नहीं हो सकती । यदि एक ही वस्तु का दूर से अस्पष्ट प्रतिभास और समीप से स्पष्ट प्रतिभास माना जाता है, तब ज्ञानों का प्रतिभास भेद से भेद कैसे ? इसका उत्तर है अर्थक्रिया भेद के द्वारा भेद सिद्ध होता है । अर्थात् गङ्गागत जल अर्थक्रिया साधक होने से सत् और मरुमरीचिगत जल कार्यकारी न होने से असत् है ।

आक्षेप—कार्यकारित्व-तदभाव-स्थल पर भी ज्ञान के प्रतिभास (आकार) का भेद होता ही है, क्योंकि प्रतिभास-भेद-रहित कारण का भेदक कार्य-भेद नहीं माना जाता । अतः कार्य-भेद-स्थल पर भी प्रतिभास का भेद होता ही है ।

समाधान—यदि प्रतिभास-भेद अनिवार्य है, तब उसी से विषय-भेद मान लेना चाहिए, कार्य-भेद को विषय का भेदक मानने की क्या आवश्यकता ? यदि कार्य के भेद से कारण का भेद होता है, तब कार्य का भेद कैसे ? इसका उत्तर है—कार्य के कार्यान्तर के भेद से कार्य का भेद होगा । फलतः अनवस्था होती है और यदि प्रतिभास-भेद से कार्य-भेद माना जाता है, तब उसी (प्रतिभास-भेद) से ही कारण का भेद सिद्ध हो जाता है, उसके लिए कार्य-भेद की क्या आवश्यकता ? यदि अर्थक्रिया-भेद-

बुद्धि-कल्पित अन्य-व्यवच्छेदरूप अर्थ का वाचक होता है। शब्द-कल्पना-काल में स्वलक्षण नष्ट हो जाने के कारण शब्द के साथ जुड़ नहीं सकता ॥ १३१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वस्तुविषयः। अविसंवादादेकविषयतेति चेत्, अनुमानस्यापि सोऽस्त्येव तत्रापि प्रतिभासभेदादेव भेदः। तस्मात् प्रतिभासभेदादेव भेदः।

यदा तर्हि समुन्मीलितलोचनस्तथाभूताय संकेतं करोति तदा भविष्यति वस्तुविषयता शब्दस्य। तत्र निर्णयः—चक्षुषोऽर्थाऽवभासेऽपीति।

यद्यपि नाम चक्षुषः श्रोत्रयोः शब्दघटाद्योः प्रतिभासस्तथापि स्वरूपेण प्रतिभासमात्रेण न सम्बन्धः। तस्येदं वाचकमिति यं व्यतिरेकविभक्त्या शंसति स एव त्याज्यते। न च प्रत्यक्षे विभक्त्यर्थः प्रतिभाति। प्रातिपदिकार्थमात्रस्य प्रतिभासनात्। विभक्त्यर्थस्तु विकल्पप्रतिभासविषय एव। तथा ह्यस्येति सम्बन्धः। उपकार्योपकारकभावमन्तरेण न भवति। ततः कदाचिद् बुद्धिविषयाच्छब्दोऽर्थात् कदाचिच्छब्दादर्थो बुद्धिस्थो

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्थल पर भी वही (प्रतिभास-भेद ही) भेदक है, तब यह सिद्ध हो जाता है कि विशदावभास के विषयीभूत निर्विकल्प में ही अर्थक्रियाकारित्व होने से दूरस्थ अर्थ को विषय करनेवाला अविशदावभास सद्वस्तु को विषय न करके सामान्यलक्षण को ही विषय करता है। दूरस्थविषयक ज्ञान भी अविसंवादी है, अतः पूर्व-ज्ञान का समानविषयक क्यों नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि फिर तो अनुमान भी संवादी होने से प्रत्यक्ष का समानविषयक (निर्विकल्पविषयक) हो जायगा। निष्कर्ष यही निकला कि प्रतिभास के भेद से ही विषय का भेद होता है।

प्रश्न—जब चक्षु के द्वारा घटादिस्वलक्षण का भान होते ही चाक्षुष-व्यापार के विद्यमान रहते 'अस्य अर्थस्य घटादिशब्दो वाचकः" एवं श्रोत्र के द्वारा शब्दस्वलक्षण के साक्षात्कार होते हैं। श्रोत्रव्यापारकाल में 'अयं शब्द तस्य अर्थस्य वाचकः' ऐसी शब्दसंकेत-योजना होती है तब चाक्षुष स्वलक्षण में वाच्यता, श्रावण शब्द में वाचकता क्यों नहीं मानी जा सकती?

उत्तर—चक्षु के द्वारा अवभासित निर्विकल्पकनिर्वाच्यता और श्रोत्र के द्वारा प्रत्यक्षीकृत शब्दस्वलक्षण में वाचकता संभव नहीं। यद्यपि चक्षु के द्वारा अर्थस्वलक्षण अवभासित है तथापि उस काल में वाचकत्वेन संमत शब्दस्वलक्षण का भान नहीं होता, एवं शब्दस्वलक्षण के प्रतिभास काल में वाच्यत्वेन संमत घटादि स्वलक्षण का प्रतिभास नहीं होता, किन्तु शब्द और अर्थ स्वलक्षण का स्वरूप यों ही अवभास होता है, वाचकत्वेन और वाच्यत्वेन नहीं, "तस्य अयं वाचकः" यहाँ पर तत्पदार्थ के उत्तर भेदगर्भित सम्बन्ध वाचक षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। स्वरूपतः अवभासित पदार्थ में भेद संभव नहीं क्योंकि भेद भी एक कल्पना है। निर्विकल्प स्वलक्षण में विकल्प नहीं होता, जैसे दण्ड का ग्रहण न होने पर दण्डी का ग्रहण नहीं होता वैसे ही वाच्य सम्बन्ध का ग्रहण न होने पर वाचक का वाचक-सम्बन्ध-रहित वाचक का वाच्य के ग्रहणमात्र से वाच्यवाचक-विशिष्ट या सविकल्प अर्थ का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं हो सकता। क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विकल्प के अर्थ का भान नहीं होता प्रातिपदिकार्थमात्र का साक्षात्कार होता है। विभक्त्यर्थ विकल्प प्रतिभास का विषय है। अस्य या तस्य शब्द का प्रयोग उपकारी-उपकारभाव या गुण-

अव्यापृतेन्द्रियस्यान्यवाङ्मात्रेणाविभावनात् ।
न चानुदितसम्बन्धः स्वयं ज्ञानप्रसङ्गतः ॥ १३२ ॥

इन्द्रिय-व्यापार के बिना वाङ्मात्र से स्वलक्षण का भान नहीं होता। अगृहीत शब्द की वाच्यता स्वलक्षण में नहीं हो सकती, अन्यथा संकेत-ग्रह के बिना ही शब्द से अर्थावबोध प्रसक्त होता है ॥ १३२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भवेदिति बुद्धिरूपविज्ञप्त्योः कार्यकारणलक्षणं सम्बन्धमाश्रित्य विभक्तिर्भवति न च प्रत्यक्षप्रतिभासनमेव सम्बन्धकरणे निमित्तम्। तदन्तरेणापि भावात्। यदि च स्वलक्षणे चक्षुरादिजनितप्रतिभासिनि सङ्केतः। तदा तदेव प्रतिभासेत। न चैवम्। यतो हि—अव्यापृतेन्द्रियस्यान्येति।

अथापि स्याद्। यदि नाम न स्वलक्षणे सङ्केतस्तथापि तदेव वाच्यमिति को विरोधः। तथा हि—न चानुदितसम्बन्ध इति।

अथवा स्वलक्षणे यदि सङ्केतः कथं सामान्यप्रतीतिरेवमेवेति चेत्, तत्राह—न चेत्यादि। तस्मादिन्द्रियज्ञानमवाच्यमेवासम्बन्धम्प्रत्येतीत्यविकल्पकम्। कथन्तर्हि सोऽयङ्गौरहिरहिरिति विकल्पप्रत्ययः स्पष्टावभासी प्रतीयते। न च विकल्पः पृथगेवात्रेति शक्यं ग्राहकस्य परस्यानुपलक्षणात्। न च विकल्पस्य परोक्षमत्र ग्राह्यम्। स्पष्टेतर-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रधान भाव के लिए सम्भव है। परिशेषतः कदाचित् कल्पना बुद्धि के विषयीभूत शब्द या अर्थ को लेकर ही संकेत-योजना हो सकती है। जो कि सविकल्पक प्रतिभास का विषय निर्विकल्पक प्रतिभास के लिए है। सम्बन्धकरण प्रत्यक्ष प्रतिभास पर ही निर्भर नहीं है, अपितु परोक्षार्थ के साथ ही शब्दसम्बन्ध या अर्थसम्बन्ध स्थापित हो जाता है। आशय यह है—चक्षुरादि-जनित विशदावभास के विषयीभूत स्वलक्षण में शब्द-संकेत होता है तब वाच्यवाचक भाव स्वलक्षणों में हो सकता था, किन्तु वैसा कदापि संभव नहीं, क्योंकि चाक्षुष व्यापार के रहते पर श्रावणादि व्यापार और श्रावणादि व्यापारकाल में चाक्षुषादि व्यापार नहीं होते। इन्द्रिय-व्यापार आदि रहित अवस्था का ग्रहण ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष क्योंकर होगा ?

प्रश्न—यद्यपि स्वलक्षण में शब्द-संकेत नहीं हो सकता तथापि उसमें वाच्यता मान लेने पर क्या विरोध है ?

इस प्रश्न का उत्तर है—"न चानुदितसम्बन्धः" अर्थात् जब तक किसी अर्थ के साथ शब्द का संकेत नहीं किया जाता तब तक उसमें वाच्यता नहीं मान सकते। अथवा स्वलक्षण में यदि शब्द-संकेत किया जाता है, तब वाच्यता सामान्यलक्षण में कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर है—'न चेत्यादि" अर्थात् सामान्यलक्षण में ही वाच्यता मानने के लिए उसी में ही शब्द-संकेत की योजना माननी होगी, स्वलक्षण में नहीं। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान शब्द-संकेत-रहित है, अतएव अवाच्यरूप निर्विकल्पक को विषय करता है।

शंका—यदि निर्विकल्पक विषयक ज्ञान ही स्पष्टावभासी (विशदावभासी) होता है, तब "सोऽयं गौः"—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञा-विकल्प एवं "अहिः-अहिः"—इस प्रकार का धारावाहिक विकल्प स्पष्टावभासी कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिभासद्वयप्रसङ्गात् । अथ पूर्वमपि तत्प्रतिभासितमविकल्पयतः । न च विकल्पकाले ग्राह्यताविशेषः । ग्राह्ये च विशेषमनारचयन् कथं ग्राहकः । तदप्यसत् । यतः—

निश्चितानिश्चितत्वेन विशेषस्योपलब्धितः । कथं विशेषो नास्त्यत्र न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥३०१॥

न हि प्रतीयमानमेव प्रतिषेधविषयः । विकल्पिका प्रतीतिरसत्येति चेत् , तदसत् ।

असत्यत्वङ्कुतस्त्विदं विकल्पत्वात् प्रमात्र का । निर्विकल्पकबोधेऽपि तदसत्यत्वमुच्यताम् ॥३०२॥

न हि सविकल्पकमित्येवासत्यम् । अविकल्पकत्वेऽप्यसत्यत्वप्रसंगात् । अविकल्पकत्वान्नेति चेत् , सविकल्पकत्वेऽपि समानमेतदिति न विशेषः । किञ्च साक्षात्करणं कथमसत्येव अविकल्पके हि निश्चयाभावादसत्यत्वम्भवेदपि । निश्चितरूपसाक्षात्करणे तु कथमसत्यत्वाशंका ।

अथानुमानिकोऽयन्निश्चयस्तदसत्यमपरोक्षविषयत्वेनानुमानत्वासम्भवात् । विषयभेदादेव प्रमाणभेदस्य साधनात् । प्रमाणसम्प्लवाभावस्य च प्रतिपादनात् । तदेतत्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विकल्पविषयक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं, अपितु विकल्पात्मक विषय की पृथक् उपस्थिति है। तब इसका ग्राहक प्रत्यय पृथक् होना चाहिए। यदि कहा जाय कि जिसे विशदावभासी बोध माना जाता है, वह विकल्पविषयक परोक्ष ज्ञान मात्र है। तब उसमें वैशद्यावभासता नहीं होनी चाहिए। यदि कहा जाय कि धारावाहिक श्रृङ्खला में द्वितीय ज्ञान प्रथम ज्ञान के विषय पर किसी प्रकार का विकल्प या विशेषता का आधान न करके जैसे-का-तैसा विषय अवभासित कर देता है। तो वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि ग्राहक ज्ञान जब तक अपने विषय पर कोई विशेषता का आधान नहीं करता तब तक वह ग्राहक ही नहीं माना जा सकता। वहाँ विकल्प नहीं। यदि है तो परोक्ष ज्ञान ही है—ऐसा कहना नितान्त असत् है, क्योंकि धारावाहिक ज्ञान पूर्वार्ध में निश्चितत्व और उत्तरार्ध में अनिश्चितत्व के द्वारा निर्विकल्पक और सविकल्प का संवलन स्पष्ट प्रतिलक्षित है एवं उसकी विशदात्मता भी अनुभूत हो रही है, उसका निषेध कथमपि नहीं हो सकता ॥३०१॥ कहीं भी प्रतीति के द्वारा प्रतीयमान पदार्थ का निषेध नहीं होता। तब विकल्प-प्रतीति के द्वारा विकल्प का निरास क्योंकर होगा? विकल्पिका प्रतीति असत्य होती है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रतीति में असत्यत्व क्यों? इसके उत्तर में यदि कहा जाता है कि "विकल्पत्वात्"। तब ऐसा मानने में प्रमाण क्या? ऐसा प्रमाण का प्रश्न उठता है। प्रमाण के बिना निर्विकल्प के बाध (असत्यता-ख्यापन) में भी कहा जा सकता है—"निर्विकल्पत्वात्।" ॥३०२॥ सविकल्पज्ञान यदि ज्ञान होने के नाते असत्य है तब निर्विकल्पज्ञान भी असत्य क्यों नहीं। यदि अविकल्पकत्व रूप विशेष धर्म के कारण अविकल्प ही सत्य है तब सविकल्पज्ञान में भी सत्यत्व प्रसक्ति समान है। दूसरी बात यह भी है कि निर्विकल्पक में संमुग्धाकारता होने के कारण विशदावभास नहीं होता, अतः असत्यत्व हो सकता है। किन्तु नाम, जाति, द्रव्य, क्रियादि पदार्थों का स्फुटावभास होने के कारण सविकल्पक को सत्य ही मानना चाहिए। यदि कहा जाय सविकल्पक विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमानात्मक है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अपरोक्षविषयक अनुमान नहीं होता। विषय के भेद से ही प्रमाणों का भेद! एक ही विषय में परोक्षापरोक्षात्मक प्रमाणों का संप्लव बौद्ध मत में नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें प्रमाणसंप्लववाद न मानकर व्यवस्थित

मनसो युगपद्वृत्तेः सविकल्पकाविकल्पयोः ।
विमूढो लघुवृत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति ॥ १३३ ॥

"अहिः-अहिः"—इस प्रकार का धारावाहिक ज्ञान विकल्पविषयक होने पर भी विशदावभासी कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष के अनन्तर विकल्पाविकल्पोभय को युगपद् ग्रहण करने वाला जहाँ मानस बोध उत्पन्न होता है। उसका हेतु प्रत्यय-निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष और समनन्तर-प्रत्यय है—निर्विकल्पात्मक स्वलक्षण वस्तु। यद्यपि वैसा मानस बोध अधिक युक्तिसङ्गत नहीं, तथापि अनुभव के अनुरोध पर मान लिया जाता है। वहाँ दोनों विषय भिन्न-भिन्न हैं, तथापि उनमें एकता का भ्रम होकर वैसा भाव होने लगता है, वस्तुस्थिति वैसी नहीं। यदि निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों को विषय करनेवाली एक वृत्ति नहीं हो सकती अपितु दो मानस वृत्तियाँ हैं, तथापि दोनों को लघुवृत्तिता (निरन्तर शीघ्रभाविता) के कारण विषयों में एकता का भ्रम हो जाता है ॥ १३३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सकलमसत्। यतः—मनसो युगपद्वृत्तेरिति।

अस्यायमर्थः। यदि खल्वविकल्पो गौरिति गकारादिवर्णाध्यवसायी स्वलक्षणग्रहणप्रवणो भवेत् सविकल्पक एक एवायम्प्रत्यक्षप्रत्यय इति युक्तम्भवेत्। यावता वर्णाकारावग्रहो हि पूर्वदर्शनबलायातवासनाबीजसुबोधादस्पष्टवर्णावभासी प्रत्ययस्ततोऽन्य एव स्पष्टपुरोवर्त्तिस्तम्भावभासी तु प्रत्यक्षस्तत्र विकल्पासम्भवात्। स एव प्रत्यक्षः प्रत्ययः। कथन्तर्ह्येकताध्यवसायः। नास्त्येव। न तावदयं गौरिति प्रत्ययः शावलेयगकारादिवर्णानामेकतामध्यवस्यति। प्रतिभासभेदेन भेदस्यैव गतेः। गकारादिवर्णविकल्पानामपि क्रमेणोदयमासादयतामेकत्वाभावः। न च वर्णावभास एव प्रत्ययः शावलेयावलम्बनस्तदभावेऽपि शावलेयप्रतिभासनात्। तस्यापि वर्णावभासस्य चक्षुर्निमीलनेऽपि प्रतिभासात्। तदभावेऽपि प्रतिभासनमनिश्चयात्मकम्। ततो निश्चयो विशेष इति चेत्, कोऽयन्निश्चयो नाम। रूपस्य स्फुटस्य प्रतिभासनमिति चेत्, न, प्रागेव प्रतिभासनात्। पूर्वत्वेन प्रतिभासने तदाकारान्तरमेवास्पष्टम्। तत्कथमाकारान्तरप्रति-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रमाणवाद माना जाता है।

समाधान—ऊपर की शंका सर्वथा अनुचित है क्योंकि यदि 'अयं गौः' इस प्रकार से अविकल्प का ग्रहण माना जाता है तब वह सविकल्पक और प्रत्यक्षप्रत्ययी माना जायेगा। क्योंकि वर्णाकारों का निश्चय पूर्वपूर्वदर्शन एवं संकेतक ग्रहजनित वासनाओं के आधार पर जो विकल्प प्रत्यय होता है उससे पूर्ववर्ती वस्तुविषयक विशदावभास प्रत्यय भिन्न, उसमें विशदावभास नहीं हो सकता, वही प्रत्यक्ष है, उसमें विकल्प संभव नहीं। तब विकल्प और सविकल्प का अध्यवसाय कैसे ? इसका उत्तर है—नहीं होता। क्योंकि गकारादि वर्ण क्रमशः प्रतीत होते हैं, उनमें एकता नहीं। शावलेयादि व्यक्तियों को विषय करने वाले वर्णों का प्रतिभास चाक्षुष व्यापार के समाप्त हो जाने पर अर्थात् आँख को बन्द करने के पश्चात् प्रतिभास होता है। उसमें भी एकता सम्भव नहीं, अतः कहना होगा कि यह एक निश्चय विशेष है। वह विशेष निश्चय क्या है ? यदि रूप का स्फुट प्रतिभास कहा जाता है, वह तो पहले ही प्रतिभासित है। यदि

विकल्पव्यवधानेन विच्छिन्नं दर्शनं भवेत् ।
इति चेद्, भिन्नजातीयविकल्पेऽन्यस्य वा कथम् ॥ १३४ ॥

यदि पहले अविकल्प-दर्शन, उसके अनन्तर विकल्पोपस्थिति और उसके पश्चात् दर्शन होता है, तब विकल्पोपस्थिति से व्यवहित हो जाने के कारण दर्शन विच्छिन्न हो जाता है, अतः धारावाहिक दर्शन क्योंकर होगा ? इसके उत्तर में प्रश्न उठता है कि जहाँ गौ का निर्विकल्पक साक्षात्कार होने के अनन्तर अश्वादि विजातीय पदार्थ का विकल्प होता है, वहाँ धारावाहिक ज्ञान का विच्छेद क्यों नहीं होगा ? उसी प्रकार प्रकृत में भी धारा विच्छिन्न नहीं होती ॥ ६३४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भासेऽन्यन्निश्चितन्नाम । तदेकतानिश्चयान्निश्चय इति चेत्, कथमभेदेन प्रतिभासमानयोरेकत्वेन निश्चयः सत्यः । कथन्तर्ह्येकत्वव्यवहारः । प्रवर्त्तनस्यैकस्य कार्यस्य । भावादेव कार्यतया तदेकत्वाध्यवसायः । कथन्तर्हि क्रमेण ग्रहणन्न भवति । युगपद्विषयसन्निधानादेव । न हि वर्णविकल्पकाले प्रत्यक्षार्थो न सन्निहितः । यथा च भवतो लघुवृत्तेर्विषयसन्निधानेन क्रमेण ग्रहणाध्यवसायस्तथा ग्रहणमपि समेत्यविशेषः ।

ननु यदि विकल्पोऽन्यत्र एव कथन्तस्य विषयः स्पष्टतया न प्रतिभाति वाच्यरूपः । नास्त्येव तस्य विषयोऽपर इति चेत्, यदि तर्हि निर्विषयस्तत्रार्थेऽप्यसिद्धत्वात्, यत् तेन व्यवधाने दर्शनच्छेदः स्यात् । न व्यवधानाभावात् । न हि समानकालेन व्यवधानसम्भवः । किञ्च—विकल्पव्यवधानेनेति ।

यस्य हि सविकल्पकमेवाध्यक्षन्तस्य न विच्छेदः । न हि तेनैव तस्य व्यवधानम् । निर्विकल्पकवादिनस्तु विकल्पोऽन्य एव ततो व्यवधानमिति चेत्, भिन्नजातीयविकल्पसम्भवे पदार्थान्तरदर्शनं कथन्न विद्यते । न ह्यसौ भिन्नजातीयो विकल्पः प्रत्यक्षप्रत्यय-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वही पूर्वतन निर्विकल्प द्वितीय क्षण में पूर्ववृत्तित्वेन प्रतिभासित माना जाता है, तब पूर्वत्व-कल्पना से युक्त होने के कारण सविकल्प हो जाता है, विशदावभासी नहीं रहता । पूर्वतन से एकता निश्चय होने के कारण स्फुटाभासता सुरक्षित मानी जाय, तब प्रश्न उठता है कि भेदेन प्रतिभासित विषयों में एकता का निश्चय सत्य कैसे ? एवं एकत्व-व्यवहार कैसे ? उन दोनों से प्रवृत्तिरूप एक कार्य होने से एककार्यकारित्वेन एकता का निश्चय हो जाता है । वस्तुतः वे दोनों क्रम भावी हैं, अतः उनमें पौर्वापर्यरूप क्रम का भान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर है—युगपद्विषय-सन्निधान । वर्ण विकल्परूप द्वितीय क्षण में भी प्रत्ययार्थ सन्निहित ही है । जैसे क्रमिक ज्ञानवाद में लघुवृत्तिता (शीघ्रता) के कारण विषय-सन्निधान बना रहता है, वैसा युगपद्ग्रहण में क्यों नहीं ?

शंका—यदि निर्विकल्प दर्शन के अनन्तर विकल्प होता है और उसके अनन्तर धारावाहिक दर्शन । तब विकल्प का व्यवधान हो जाने से धारा विच्छिन्न हो जाती है, तब विशदावभास न होकर विकल्पविषयक अस्पष्टावभास होना चाहिए । विकल्प का व्यवधान हो जाने से विशदावभासधारा का विच्छेद हो जाना चाहिए ।

समाधान—धारावाहिता का विच्छेद अनुभव-सिद्ध है, अतः व्यवधान नहीं होता । व्यवधान तो ज्ञान के समानकाल में भी हो सकता है । दूसरी बात यह भी है कि मीमांसक सविकल्प ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानता है, उसके मत में धारावाहिता का

अलातदृष्टिवद् भावपक्षश्चेद् बलवान् मतः ।
अन्यत्रापि समानं तद् वर्णयोर्वा सकृच्छ्रुतिः ॥ १३५ ॥

धारावाहिक ज्ञान वहाँ विच्छिन्न हो जाता है जहाँ धारापतित दो ज्ञानों के मध्य में एक विजातीय तृतीय वस्तु के मध्य में हो जाता है। इस व्यवधानवाद का प्रतिवाद अलातचक्र के निदर्शन से किया जाता है। यद्यपि अलात व्यक्तियाँ अनन्त हैं और उनके मध्य में विजातीय कणों का व्यवधान होने पर भी अलातरूप भावपदार्थ की प्रबलता के कारण व्यवधान नगण्य-सा रह जाता है। धारा का विच्छेद नहीं होता। हाँ, इसमें अलात जैसे भावपदार्थ का प्राबल्य अवश्यम्भावी है। वैसे ही सविकल्प निर्विकल्प स्थल पर विकल्प का व्यवधान रहते हुए भी निर्विकल्प का धारावाहिक ज्ञान सुरक्षित रह जाता है। यदि मौलिक भावपदार्थ प्रबल हो, एक वाक्य में अनेक भरण उनके श्रावण ज्ञानों में वर्णान्तर का व्यवधान रहने पर भी सभी वर्णों को मलाकर एक पद या एक वाक्य का श्रवण जैसे माना जाता है, वैसे स्वल्प व्यवधान रहने पर भी धारावाहिक ज्ञान सुरक्षित रहता है॥ १३५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्वभावः परस्य, दृश्यमानरूपविकल्पनाभावात्। अथास्त्येवात्र विच्छेदः। किन्तु दर्शनद्वयभावेनान्तरालवर्त्यदर्शनम्बलवता तिरस्कृतं न स्वव्यवहारं लभते। तेनाविच्छिन्नाध्यवसायः। तदनक्षसमम्। यतः- अलातदृष्टिवदिति।

यदि भावपक्षो बलवान् समानजातीयविकल्पेऽपि निर्विकल्पकवादिनः समानत्वादव्यवधानमेवेति न दोषः। अभ्युपगम्य चैतदुक्तम्। न च व्यवधानसम्भवः। न हि लाघवाद् व्यवधानेऽप्यव्यवधानप्रत्ययः। यतो लाघवाद् वर्णयोरप्याशूच्चारितयोः सकृच्छ्रुतिप्रसङ्गो न चास्ति। तस्मान्न लाघवमत्र क्रमेऽप्यव्यवधानप्रतिपत्तिकारणम्। अथ तत्र लाघवमेव नास्ति तेनासंकृच्छ्रुतिः अत्र लाघवमस्तीति कुतः? मनसोर्युगपद्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विच्छेद कभी नहीं हो सकता। विकल्प-प्रत्यक्ष में विकल्प का व्यवधान कैसा? विषयीभूत विकल्प से भिन्न विकल्प के द्वारा व्यवधान क्यों नहीं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि भिन्न जातीय विकल्प सम्भव होने पर ही धारा का विच्छेद होता है किन्तु यहाँ जो विकल्प पदार्थ व्यवधायक है, वह विजातीय नहीं, अपितु परमत में प्रत्यक्ष प्रत्यय के स्वभाव का ही है, दृश्यमान रूप का विकल्पमात्र है। यद्यपि यहाँ धारा का विच्छेद है, तथापि दो दर्शनों का मध्यपाती अदर्शन किसी बलवान् प्रतिबन्धक के द्वारा तिरस्कृत (बाधित) होकर विच्छिन्न-व्यवहार का साधक नहीं होता। फलतः अविच्छिन्नाध्यवसाय माना जाता है।

समाधान—उक्त आशङ्का अयुक्त है, क्योंकि यदि दर्शनरूप भाव पक्ष प्रबल है अर्थात् निर्विकल्प-दर्शन के अनन्तर समानजातीय विकल्प है, तब निर्विकल्पवादी को दृष्टि में अव्यवधान ही है, कोई दोष नहीं। दर्शन के अनन्तर विकल्प और उसके अनन्तर दर्शन शीघ्र प्रवृत्ति के कारण अव्यवहित है—ऐसा मानकर कहा गया है, वस्तुतः शीघ्र प्रवृत्ति व्यवहित को अव्यवहित नहीं बना सकती, क्योंकि एक वाक्य के घटकीभूत विविध वर्णों का कितनी ही शीघ्रता से उच्चारण क्यों न कर लिया जाय, कभी अव्यवधान या प्रथम वर्ण की ही अव्यवहित एकश्रुति नहीं होती। फलतः क्रमभावी

सकृत् सङ्गतशब्दार्थेष्विन्द्रियेष्विह सत्स्वपि ।
पञ्चभिर्व्यवधानेऽपि भात्यव्यवहितेव या ॥ १३६ ॥

वसन्त ऋतु का पूर्ण साम्राज्य है, वहीं रसिक-हृदय जागरूक महाकवि पूर्ण विकसित वनवृक्षों पर खिले हुए फूलों को देखता है, उन पर मनोहर गीत गाते हुए भ्रमरों के शब्द कान में गुञ्जरित हो रहे हैं, पुष्पगन्धों से घ्राण पूरित हैं, किरात-बालक खेल-खेल में मधुमक्खियों के छत्ते तोड़कर लाते हैं और उसका आस्वाद महाकवि करते हैं। फूलों की माला पहनाते हैं। लोकोत्तर रसास्वादन इस प्रकार अपनी पाँचों इन्द्रियों से उनके विषय का सेवन करता है। एक इन्द्रिय की प्रवृत्ति इन्द्रियान्तर-प्रवृत्ति से व्यवहृत है तथापि महाकवि अपने समस्त चाक्षुषादि विषयों को समेटकर सुन्दर श्लोक की रचना कर डालता है। वहाँ सभी इन्द्रियों के समस्त विषयों का सन्निकर्ष पाँचों इन्द्रियों तथा उनके विषयों के मध्य में व्यवधान रहने पर भी एकधारा धारावाहिक-स्फूर्ति, श्रुति और अभिव्यक्ति जैसे सुरक्षित रहती है वैसे ही सविकल्पक और निर्विकल्पक स्थल पर भी धारावाहिक ज्ञान क्यों नहीं होगा ? ॥ १३६ ॥

सा मतिर्नामपर्यन्तक्षणिकज्ञानमिश्रणात् ।
विच्छिन्नमिति तच्चित्तं तस्मात् सन्तु सकृद्धियः ॥ १३७ ॥

नाम (पदादि के घटकीभूत वर्णात्मक शब्दों) से जनित बुद्धि क्षणिक होती है अतः वर्णान्तर से व्यवहित वर्णों से भी वर्णसमूह की एकता या धारा बनी रहती है।

वार्तिकालङ्कारः

वृत्यभावादिति चेत्, एतदुत्तरत्र प्रतिपादयिष्यते । यौगपद्यप्रतिपत्तिरेवान्यथा न स्यादिति चेत्, न, यौगपद्यस्यैव भावात् । उत्पलपत्रशतवेधेऽपि तर्हि यौगपद्यमेवास्तु किं क्रमकल्पनया । न तत्र क्रमेण देशप्राप्तिरनुमानेन गम्यते । नेह तदनुमानमिति कथं क्रमकल्पना । अक्रमकल्पनायाः । किन्निमित्तमिति चेत्, प्रतिभास एव प्रत्यक्षात्मा । न साक्षात्प्रतिभासनादपरमपि साधनम्परमीक्ष्यते । यदपि प्रागभिहितम् लाघवमेव वर्णसकृच्छ्रवणनिमित्तन्नास्ति । तत्रोच्यते—सकृत् सङ्गतसर्वार्थेष्विति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पदार्थों में लाघव अव्यवधान-प्रतिपत्ति का कारण नहीं बन सकता। प्रवृत्ति में कितनी भी शीघ्रता क्यों न हो, अनेक ज्ञानों में योगपद्य सम्भव नहीं, क्योंकि मन की युगपत् अनेक विषयों में प्रवृत्ति सम्भव नहीं—यह आगे चलकर कहा जायगा।

तब यौगपद्य की प्रतिपत्ति कैसे होती है ? इसका उत्तर है—जहाँ वस्तुतः यौगपद्य है, वहाँ ही प्रतिपत्ति होती है। तब सैकड़ों कमल-पत्रों के क्रमिक वेधन को भी युगपत् ही मान लेना चाहिए—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ एकपत्र का वेधन हो जाने के अनन्तर ही पत्रान्तर का वेधन, इस प्रकार क्रमिक वेधन का ही अनुमान हो जाता है किन्तु प्रकृत में वैसा अनुमान नहीं हो सकता। तब यौगपद्य कल्पना का क्या निमित्त ? इसका उत्तर है—प्रत्यक्षरूप प्रतिभास। केवल प्रतिभास ही नहीं, लाघव प्रवृत्ति को जो अव्यवधान-प्रतीति का निमित्त बताया गया, वह भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जहाँ पर चक्षुरादि पाँचों इन्द्रियों से अपने विषय का ज्ञान होता है, वहाँ विजातीय-व्यवधान के कारण प्रवृत्ति-लघुता के न होने पर भी सकृत् ग्रहावभास होता

किन्तु विजातीय इन्द्रियों के ज्ञान से व्यवहित ज्ञानधारा विविध विषयक होती है अतः कहा है "सन्तु सकृद्धियः" जैसे समूहालम्बनज्ञान विविध विषयक होता है वैसे ही विविधवृत्तियों की एककालीनता सम्भावित है ॥ १३७ ॥

प्रतिभासाविशेषश्च सान्तरानन्तरे कथम् ।
शुद्धे मनोविकल्पे च न क्रमग्रहणं भवेत् ॥ १३८ ॥

पाँचों इन्द्रियों से जनित ज्ञान परस्पर व्यवहित होने के कारण सान्तर और "सरो रसः" के समान अनन्तर ज्ञानों में विजातीय-व्यवधान न होने के कारण इन प्रतिभासों में विशेषता का भान नहीं होना चाहिए किन्तु विशेषता अनुभव-सिद्ध है ॥ १३८ ॥

योऽग्रहः सङ्गतेऽप्यर्थे क्वचिदासक्तचेतसः ।
सक्त्यान्योत्पत्तिवैगुण्याच्चोद्यं वै तद् द्वयोरपि ॥ १३९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यस्य मतन्न युगपद् बुद्धय उपजायन्ते । यत्र तु युगपद् भावाध्यवसायो न तत्राशुवृत्तेरपरं कारणम् । लघुवृत्तित्वात् तथाध्यवसायः । तत्रेदमुच्यते—वर्णानान्द्रुतोच्चारणेऽपि कथन्न भवति ।

ननु लाघवमेव तथाभूतन्नास्तीति परः । इहापि तर्हि ततोऽपि न्यूनतरं लाघवं यत्र पञ्चविषयी समवधानं विकल्पषाड्गुण्यञ्च । यथा सुरभिकमनीयकामिनीवक्त्रसर्वास्वादनम्मधुरगीतिमाकर्णयतः । तत्रपञ्चभिरेकैकस्य व्यवधानञ्चेतसः । तत्र तादृशस्य सुतरां लाघवस्याभावोऽथ च सकृद्ग्रहावभासस्तथा वर्णानामपि स्याद् । यत्र हि पञ्चभिर्व्यवधानेऽपि लाघवस्य सकृदध्यवसायसाधनसामर्थ्यन्तत्र किं वर्णविषयक्षणिकज्ञानव्यवधाने न स्यात् । तस्मात् सकृदेव धियामुदयो युक्तोऽन्यथायं विरोधः समर्थयितुमशक्य एव । तत उपपन्नमेतत् । मनसोर्युगपद्वृत्तेरिति । किञ्च—प्रतिभासाविशेषश्चेति ।

क्वचित् सान्तरं यत्र धीर्जातीयव्यवधानं क्वचिदनन्तरं विजातीयविकल्पाव्यवधानेन । ते सान्तरान्तरे विज्ञाने कथम्भवतः प्रतिभासस्य चेदविशेषः । मनोविकल्पस्य च यः शुद्धः प्रबन्धस्तत्र प्रतिभासः क्रमवान्न भवेदाशुसम्भवात् ।

ननु यदि युगपद् विज्ञानसम्भवः । सङ्गतेऽप्यर्थे ग्रहणाभावः कथं कदाचिद् भवेत् । अत्र प्रत्युत्तरम्—योऽग्रहः सङ्गतेऽप्यर्थ इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है । फलतः सकृत् अनेक ज्ञानों का एक साथ उदय होने के लिए मन की युगपद्वृत्तिता मानना परमावश्यक है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—"मनसो युगपद्वृत्तेः" (प्र० वा० २ १३३) ।

दूसरी बात यह भी है कि प्रतिभास की एकता सर्वत्र सम्भव भी नहीं, क्योंकि लोक में दो प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—(१) सान्तर और (२) अनन्तर । जहाँ विजातीय व्यवधान है, वहाँ सान्तर और जहाँ बिजातीय विकल्प का व्यवधान होता है, उसे अनन्तर विज्ञान कहा जाता है । इसी प्रकार मनोविज्ञान की जो शुद्ध सन्तति है, वहाँ प्रतिभास क्रमवान् नहीं होगा, क्योंकि वह आशु प्रवृत्त होता है ।

प्रश्न—यदि अनेक विज्ञान युगपत् सम्भव है, तब अन्य विषयासक्त चित्तवाला

अनेक ज्ञानों की युगपत् उत्पत्ति मानने पर अन्यत्रासक्त मनवाले व्यक्ति को अन्य इन्द्रिय के द्वारा संयुक्त पदार्थ का भी ज्ञान होना चाहिए किन्तु एकत्र आसक्ति के द्वारा भिन्न विषय के ज्ञान की उत्पत्ति विगुणित (बाधित) देखी जाती है॥ १३९॥

शीघ्रवृत्तेरलातादेरन्वयप्रतिघातिनो ।
चक्रभ्रान्तिं दृगाधत्ते न दृशां घटनैव सा ॥ १४० ॥

३-४ फुट की पतले बाँस की लाठी के दोनों सिरों पर लोहे की जाली से बने दो लाटू टाँग दिये जाते हैं, उनमें कोयला भर कर आग लगा दी जाती है। लाठी को इस ढंग से घुमाते हैं कि घूमते हुए लाटुओं से दो चक्र बन जाते हैं। उनके लिए पहले जो कहा गया है कि चक्राकार परिधि के प्रत्येक बिन्दु पर दृश्यमान लाटुओं के प्रकाश-बिन्दुओं को जोड़ देने पर वस्तुतः चक्राकृति निष्पन्न हो जाती है।

वह कहना उचित नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि शीघ्र गति से घूमते हुए लाटुओं

वार्तिकालङ्कारः

अन्यासक्तिवैगुण्यसम्भवे हि न स प्रत्ययस्समनन्तरप्रत्ययो भवति। सकलसन्निहितविज्ञानोदये द्वयोरपि समानः पर्यनुयोगः। न समानो मनस एकत्र सक्तेः। तथापि सकृद् ग्रहावसायो भवतु। यत्रासक्तिर्महती नास्ति तत्र भवत्येवेति चेत्, वयमप्येवम्ब्रूमः। यत्रासक्तिस्तत्र क्रमग्रहोऽपरत्र युगपत्। न तु सर्वत्र क्रमग्रह इति प्रमाणमत्र। न चान्यत् मनःपूर्वकविज्ञानव्यतिरिक्तम्प्रमाणविषयः।

नन्वलाभे क्रमग्रहणसम्भवेऽपि युगपत् प्रतिभाससम्भवः। नैतदपि सत्यम्। न हि तत्र क्रमप्रतिभासिनां सङ्घटनेन सा बुद्धिः। अपि तु युगपत् प्रतिभास एव तत्र। यतः—शीघ्रवृत्तेरलातादेरिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यक्ति कदाचित् संगत (इन्द्रिय-संयुक्त) पदार्थ का ज्ञान नहीं कर पाता, वह सम्भव कैसे होगा ?

उत्तर—अन्य विषय की आसक्ति एक ऐसा वैगुण्य (दोष) है, जिसके कारण सकल सन्निकृष्ट अर्थ विषयक ज्ञान की उत्पत्ति में समनन्तर प्रत्यय का अभाव हो जाता है। यदि समनन्तर प्रत्यय नहीं, तब इन्द्रिय से संयुक्त दोनों विषयों की अज्ञानापत्ति समान क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि एक विषय में तो मन सक्त-परम्परया संगत (संयुक्त) है। तथापि यदि मन युगपत् अनेक विषयों से जुड़ सकता है, तब युगपत् अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति होनी चाहिए। जहाँ आसक्ति स्वल्प है, वहाँ युगपत् अनेक ज्ञान होते ही हैं—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि जहाँ आसक्ति होती है, वहाँ क्रमिक ज्ञान और जहाँ आसक्ति नहीं, वहाँ युगपत् अनेक ज्ञान होते हैं। सर्वत्र क्रमशः ज्ञान होते हैं—ऐसे नियम में कोई प्रमाण नहीं। मनःपूर्वक विज्ञान से भिन्न और कोई ज्ञान प्रमाण का विषय होता ही नहीं।

शंका—युगपत् विषय-लाभ न होने या क्रमिक भान में भी युगपत् प्रतिभास हो सकता है।

समाधान—नाना देशों में क्रमिक अलात-दर्शनों की संकलित अवस्था चक्राकार नहीं होती, अपितु शीघ्र भ्रमण-जनित चक्र-प्रतिभास भ्रान्तिमात्र है किन्तु 'अहिः', 'अहिः'—यह धारावाही ज्ञान भ्रम नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रमा है, क्योंकि शीघ्र भ्रमणा-

के अन्वय से प्रतिहत दृष्टि चक्र-भ्रान्ति-बुद्धि को उत्पन्न कर देती है, आलोक-खण्डों के जोड़-मेल से चक्राकृति नहीं बनती ॥ १४० ॥

केचिदिन्द्रियजत्वादेर्बालधीवदकल्पनाम् ।

आहुर्बालाविकल्पे च हेतुं संकेतमन्दताम् ॥ १४१ ॥

शङ्करस्वामी आदि बौद्ध विद्वानों का कहना है कि "प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्, इन्द्रियजन्यत्वाद् बालबुद्धिवत्"—ऐसा अनुमान प्रस्तुत किया करते हैं और बाल-बुद्धि की निर्विकल्पकता का उपपादन वाच्य-वाचक भाव रूप संकेतात्मक विकल्प के ग्रहण की अक्षमता से किया करते हैं ॥ १४१ ॥

तेषां प्रत्यक्षमेव स्याद् बालानामविकल्पनात् ।

संकेतोपायविगमात् पश्चादपि भवेन्न सः ॥ १४२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

शीघ्रपरिवर्त्तिनां ह्यलातक्षणानामन्वयादुपहतञ्चक्षुरेव चक्रावभासनीन्धियञ्जनयति । न त्वसौ मनसः प्रत्ययो भावपक्षस्य बलवत्त्वेन अथ त्रापि पञ्चविषयीसन्निधाने भ्रान्तिरेव युगपत्प्रतिभासः । सर्वत्र तर्हि युगपत् प्रतिभासो भ्रान्त एव । इष्यत एवेति चेत्, न, भ्रान्तत्वे प्रमाणाभावात् । युगपत्प्रतिभासो हि प्रत्यक्षत एवाभ्रान्तात् प्रतीयते । स तथा प्रतीयमानोऽपि बाधकमन्तरेणापि यदि भ्रान्तः सकलप्रत्ययानामेष प्रसङ्गः । तस्मात् सकृदुपलभ्यमानम्बाधकाभावात् विज्ञानपञ्चकं युगपदेवेति सिद्धम् । ततो निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षम् । इदानीम्परमतमुपन्यस्य निरस्यति—केचिदिन्द्रियजत्वादेरिति ।

इन्द्रियजत्वादनुभवाकारप्रवृत्तत्वादमानसत्वादित्यादेरकल्पकम्प्रत्यक्षमित्याहुरन्ये बालेन्द्रियज्ञानवत् । बालस्य चेन्द्रियविज्ञानमविकल्पकं संकेतग्रहणासमर्थत्वात् । तथा हि—तेषाम्प्रत्यक्षमेव स्यादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्रान्त अलात क्षणों के सम्बन्ध से उपहत चक्षु ही चक्रावभासक ज्ञान को उत्पन्न कर देता है। वह मानस ज्ञान नहीं, क्योंकि भाव-पक्ष प्रबल है। यदि कहा जाय कि कथित रूपादि पाँचों विषयों के सन्निधान से जनित युगपत् प्रतिभास भ्रान्ति है, तब सर्वत्र ही युगपत् प्रतिभास को भ्रम ही मान लेना चाहिए। भ्रान्तिरूप माना ही जाता है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उस भ्रान्त होने में कोई प्रमाण नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि युगपत् ज्ञान अभ्रान्त प्रत्यक्षतः प्रतीत होते हैं। यदि वे ज्ञान किसी बाधक के बिना ही भ्रमात्मक हैं, तब सकल ज्ञानों में भ्रान्तता प्रसक्त होती है। फलतः सकृत् (युगपत्) उपलभ्यमान विज्ञान-पञ्चक भ्रमात्मक हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही सिद्ध होता है।

परकीय मत—अब पर-मत (शङ्करस्वामी आदि के मत) का उपन्यास किया जाता है—केचिदित्यादि से। कतिपय शङ्करस्वामी आदि बौद्धाचार्य निर्विकल्पक ज्ञान के दृष्टान्त के रूप में बालकों के ज्ञान को प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि उनके ज्ञान में वाच्य-वाचकरूप कल्पना का अभाव होता है [सम्भवतः उसी मत का अनुवाद कुमारिल भट्ट ने किया है (श्लो० वा० पृ० १६८)]—

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।

बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥"

परकीयमत निरास—शङ्करस्वामी के मतानुसार बालकों को सदैव निर्विकल्पक

उन विद्वानों का कहना उचित नहीं, क्योंकि बालक तो सदैव ही संकेत-ग्रहण में अक्षम रहता है, अतः उसका सविकल्पक ज्ञान भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही माना जायगा ॥ १४२ ॥

मनो व्युत्पन्नसंकेतमस्ति तेन स चेन्मतः ।

एवमिन्द्रियजेऽपि स्यात् शैशवच्चेदमीदृशम् ॥ १४३ ॥

जन्मान्तर से आया हुआ बालकों का मन व्युत्पन्न है, उसके द्वारा बालकों की संकेताभिज्ञता मानी जाती है, तब इन्द्रिय-जनित ज्ञान में भी कल्पना माननी होगी। फलतः निर्विकल्पकता का दृष्टान्त बालक ज्ञान नहीं रहता, इस प्रकार का साध्याभाव-समानाधिकरण इन्द्रिय-जन्यत्व हेतु विरुद्ध या शैशवत् नाम का हेत्वाभास कहलाता है। (प्र० स्वार्थानु० वृत्ति० का० १४) ॥ १४३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तेषामेवंवादिनाम्बालानाम्प्रत्यक्षमेव भवेत्। भवतु बालस्य सकलमेवाविकल्पक-मिष्यत एव। न बालस्यापि स्वार्थक्रियासु पूर्वापरपरामर्शो विद्यत एव। अथ नास्ति तदा पश्चादपि विकल्पेन न भवितव्यम्। सकेतग्रहणस्योपायस्याभावात्। विकल्पेन हि संकेतग्रहणं स च बालस्य नास्ति। अथ मनोऽव्युत्पन्नसंकेतमिति।

यदि बालानामपि मनोव्यवहारपतितं विचारकं विद्यते। बालानान्तेन संकेत-ग्रहणात् पश्चाद् विकल्पकता मनसः। यद्येवमियमिन्द्रियजेऽपि स्याद्। इन्द्रियजमपि विकल्पकम्भवेत् पश्चात् केन निवार्यम्। तदपि चेन्द्रियज्ञानन्न संकेतग्रहणसमर्थम्बाल-स्येति कुतः ? इन्द्रियजत्वादेवेति चेत्, न, प्रतिबन्धाभावात्। अपि च यदि नाम बाल-स्याविकल्पकमिन्द्रियज्ञानं सर्वत्र तथा भवतीति कुत एतत्। न हि बाधकप्रमाणप्रतिब-न्धसिद्धिमन्तरेण हेतोर्गमकता दृष्टा दृष्टान्तमन्तरेण। अथेन्द्रियजं यत् तत्सन्निहितमात्र-ग्रहणात् पूर्वापरपरामर्शशून्यमिति न सविकल्पकम्। तदैव पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वमस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रत्यक्ष ज्ञान ही होना चाहिए, सविकल्प ज्ञान कभी नहीं होना चाहिए। बालक को सदैव अविकल्पक ज्ञान ही होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि रोता हुआ बालक अपनी माता की गोद पाकर चुप हो जाता है, अतः उसे भी पूर्वापर-परामर्शरूप विकल्प का प्रतिभास होता है। यदि नहीं, तब पश्चात् भी कभी विकल्प-बोध नहीं होगा, क्योंकि विकल्प के वाच्य-वाचकभाव संकेतरूप उपाय का उसमें अभाव है। अर्थात् विकल्पतः ही संकेत-ग्रहण होता है, वह उसे नहीं होता।

यदि बालकों को भी मनोव्यवहार-पतित विकल्प होता है, उन्हें भी संकेत ग्रहण के पश्चात् मानस सविकल्प ज्ञान होना चाहिए। मानस विकल्प के समान इन्द्रिय-जनित ज्ञान भी विकल्पपूर्वक होता है, तब उसकी भी सविकल्पकता का निवारण कौन कर सकता है ? वह ज्ञान संकेत ग्रहण समर्थ नहीं, क्योंकि इन्द्रिय-जन्य है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "यत् ज्ञानम् इन्द्रिय-जन्यम्, तन्न संकेतग्रह-समर्थम्"—ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं।

यहाँ यह भी एक प्रश्न उठता है कि बालक को इन्द्रिय-जनित ज्ञान वैसा (निर्विकल्पक) ही क्यों होता है ? किसी दृष्टान्त में इष्ट अन्वय-व्यतिरेक के बिना हेतु-मात्र से किसी साध्य की सिद्धि नहीं मानी जाती। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय-जन्य

यदेव साधनं बाले तदेवात्रापि कथ्यताम् ।
साम्यादक्षधियामुक्तमनेनानुभवादिकम् ॥ १४४ ॥

यदि किसी अन्य हेतु के द्वारा बालक के ज्ञान में निर्विकल्पकता सिद्ध की जाती है, तब वैसे किसी अव्यभिचारी हेतु का प्रयोग करना चाहिए । इन्द्रिय-जन्यत्व हेतु के समान ही मानसत्वादि हेतुओं में दोष की ऊहा कर लेनी चाहिए ।। १४४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कथं सिद्धम् । साक्षात्करणस्य पूर्वापरयोरभावादसाक्षात्कारि च न प्रत्यक्षम् । एवन्तर्हीन्द्रियजत्वाद् बालविज्ञानवदिति च व्यर्थम् । प्रत्यक्षप्रसिद्धमेव स्यादविकल्पकत्वम् । साक्षात्करणस्य प्रत्यक्षेण प्रतिनियतस्यानुभवात् । अन्यथा यदि न क्वचित् प्रत्यक्षं साधनमविकल्पकत्वस्य तदनुसारि कथमनुमानम्प्रवर्त्तते ।

अथ साक्षात्करणाकारम्बालविज्ञानन्ततोऽन्यदपीन्द्रियविज्ञानन्तथाभूतमेव । एवन्तर्हि—यदेव साधनम्बाल इति ।

साक्षात्करणस्य परोक्षेऽदर्शनादन्यत्र च दर्शनात् प्रत्यक्षमपरोक्षविषयत्वादविकल्पकमिति । सामान्येन साध्यतां किमिन्द्रियजत्वादिहेतुना । तच्च साक्षात्करणमविकल्पकत्वेन कथितम् । अविकल्पकत्वस्य सविकल्पकत्वबाधाद् यत्साक्षात्कारि तदविकल्पकत्वेन व्याप्तम् । ततो विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरेषा । अथवाऽविकल्पकत्वेन साक्षात्करणं साध्यते । ततोऽपि प्रत्यक्षत्वं यद्यविकल्पकत्वेन साक्षात्करणं साध्यते तेन प्रत्यक्षत्वन्द्वि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञान सदैव सन्निहित विषयमात्र का ग्राहक होने से पूर्वापर-परामर्शरूप विकल्प से शून्य होता है, अतः सविकल्पक नहीं होता । तब प्रश्न उठता है कि उसमें पूर्वापर-परामर्श की शून्यता क्योंकर सिद्ध होती है ? इसके उत्तर में यदि कहा जाता है कि साक्षात्करण वर्तमान मात्र का होता है, उसमें पूर्वापर-परामर्श नहीं होता और पूर्वापर-परामर्श-विशिष्ट ज्ञान असाक्षात्कारी होता है, प्रत्यक्ष नहीं । तब "इन्द्रियजत्वाद् बालविज्ञानवत्"—ऐसा नहीं कहना चाहिए अपितु अविकल्पकत्व प्रत्यक्ष-सिद्ध धर्म है। साक्षात्करण नियमतः प्रत्यक्ष से व्याप्त होता है, अन्यथा यदि अविकल्पकत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता, तब तदनुसारी अनुमान कैसे प्रवृत्त होगा ?

यदि बालक का विज्ञान साक्षात्करणाकार नहीं, तब अन्य इन्द्रिय-जनित विज्ञान भी वैसा ही होगा । यदि ऐसा है, तब साक्षात्करणाकारत्व परोक्ष ज्ञान में नहीं देखा जाता, अपितु अपरोक्ष में देखा जाता है, अतः "प्रत्यक्षम् अविकल्पकम्, अपरोक्षविषयत्वात्"—इस प्रकार सामान्यतः प्रयोग करना चाहिए, इन्द्रियजत्व हेतु की क्या आवश्यकता ? वह साक्षात्कारित्व अविकल्पकत्व हेतु से सिद्ध किया गया है । अविकल्पकत्व के द्वारा सविकल्पकत्व का बाध हो जाता है, अतः साक्षात्कारित्व अविकल्पकत्व से व्याप्त होता है, फलस्वरूप यह विरुद्धव्याप्तोपलब्धि है [आचार्य धर्मोत्तर ने इसका अर्थ किया है—"प्रतिषेध्यस्य यद् विरुद्धम्, तेन व्याप्तस्य धर्मान्तरस्य उपलब्धिः" (न्या० वि० प्र० २३३) उसके अनुसार सविकल्पकत्व के विरोधी अविकल्पकत्व से व्याप्त साक्षात्कारित्व की उपलब्धि प्रस्तुत की गई है] । अथवा अविकल्पकत्व के द्वारा साक्षात्कारित्व सिद्ध किया जाता है । इससे भी यदि अविकल्पकत्व के द्वारा साक्षात्कारित्व सिद्ध किया जाता है, उससे द्विचन्द्रादि भ्रम ज्ञानों में भी प्रत्यक्षत्व

वार्तिकालङ्कारः

चन्द्रादिवेदनानामपि स्यात् । अभ्रान्तत्वे सतीति वाच्यम् ।

ननु भ्रान्तमित्येवास्तु किमविकल्पकत्वेन । न परमतापेक्षत्वाद्विशेषणस्य । तथा चाह—विशेषणं लक्षणे परमतापेक्षम् । सर्वे त्वविकल्पका एव । सर्व एवाभ्रान्ताः प्रत्यया अविकल्पका एव । अभ्रान्तत्वञ्चाचार्येणापवादद्वारेण प्रतिपादितम् ।

अथवाऽक्षम्प्रतिवर्त्तत इति प्रत्यक्षम् । तेन साक्षात्करणमुपलभ्यते । तत्सर्वं साक्षात्करणाकारप्रवृत्ताः प्रत्यया अविकल्पका एवाथवाऽश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षम् । विषयस्वरूपव्याप्तिश्च साक्षात्करणमेव ततः सर्वेऽक्षजा अविकल्पका एव ।

अथवा नास्त्येवाभ्रान्तग्रहणमाचार्यस्य "कल्पनापोढमि"त्येव लक्षणम् । कथन्तर्हि भ्रान्तविज्ञानविच्छेदः । सर्वस्य साक्षात्करणस्य प्रत्यक्षत्वात् । द्विचन्द्रादिज्ञानस्यापि प्रतिभासमाने द्वित्वे प्रत्यक्षतैव । तेन यत्र यत् साक्षात्कारि तत्र तत्प्रत्यक्षम् । बाह्ये हि तत् भ्रान्तस्तत्र च न साक्षात्कारि प्रतिभासमानरूपव्यतिरेकेणापरमस्तीति कल्पनैवेयम् । तथा चाह—मनोभ्रान्तिविषयत्वाद् व्यभिचारिणः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतिव्याप्त होता है, उसकी व्यावृत्ति के लिए "अभ्रान्तत्वे सति"—यह विशेषण दिया गया है ।

शंका—यदि निर्विकल्प ज्ञान प्रमात्मक ही होता है, भ्रमात्मक नहीं, तब अभ्रान्तत्व विशेषण किसलिए एवं यदि अभ्रान्तज्ञान नियमतः निर्विकल्पक ही होता है, तब "अभ्रान्तं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" इतना ही लक्षण पर्याप्त है, अविकल्प पद व्यर्थ है ।

समाधान—मीमांसकादि सविकल्पक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते हैं, जैसा कि कहा है—"सोऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मतः" (वा० पृ०) । उसकी व्यावृत्ति के लिए निर्विकल्पक विशेषण है, जैसा कि कहा भी है—"विशेषणं लक्षणे परमतापेक्षया" । समप्रत्यक्ष ज्ञान अविकल्पक ही होते हैं । या यूं कह दिया जाय कि सभी अभ्रान्त ज्ञान निर्विकल्पक ही होते हैं । प्रत्यक्ष ज्ञानगत अभ्रान्तता का उपपादन आचार्य ने भ्रम-बाधकत्वेन किया है ।

अथवा "अक्षं प्रतिवर्तते"—इस व्युत्पत्ति से सम्पन्न 'प्रत्यक्ष' शब्द साक्षात्कारकारी ज्ञान का वाचक है । वे साक्षात्कारात्मक सभी ज्ञान अविकल्पक ही होते हैं । अथवा अश्नुते (व्याप्नोति) इति 'अक्षम्'—इस प्रकार इन्द्रियगत विषय जिस व्यापकता का लाभ होता है । व्यापकता का अर्थ साक्षात्करण ही है, अतः सभी अक्षज (इन्द्रियजन्य) ज्ञान अविकल्पक ही सिद्ध होते हैं ।

अथवा आचार्य दिङ्नाग के मतानुसार प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का ग्रहण नहीं किया जाता 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्"—इतना ही लक्षण पर्याप्त माना जाता है । इतने से भ्रान्त विज्ञान की निवृत्ति कैसे होगी ? सभी साक्षात्करणात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । द्विचन्द्रादि का ज्ञान भी ज्ञानगत द्वित्वांश में प्रत्यक्ष ही है । इस प्रकार "यत्र यत् साक्षात्कारी, तत्र तत् प्रत्यक्षम्"—यह नियम पर्यवसित हो जाता है । बहिर्देश में द्वित्व भ्रान्त है, वहाँ वह साक्षात्कारी नहीं, क्योंकि प्रतिभासमान रूप से भिन्न बाह्य रूप की कल्पनामात्र है जैसा कि कहा है—"मनोभ्रान्तिविषयत्वाद् व्यभिचारिण" अर्थात् बाह्यार्थ-प्रतीति केवल मानस भ्रान्ति है ।

विशेषणं विशेष्यञ्च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम् ।
गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा ॥ १४५ ॥

"दण्डी पुरुषः"—इत्यादि विशिष्ट बुद्धि दण्डरूप विशेषण, पुरुषरूप विशेष्य तथा उनके संयोग सम्बन्ध को संकलित (जोड़) कर बनती है। इसी योजना का नाम कल्पना है ॥ १४५ ॥

यथा दण्डिनि जात्यादेर्विवेकेनानिरूपणात् ।
तद्वता योजना नास्ति कल्पनाप्यत्र नास्त्यतः ॥ १४६ ॥

"दण्डी'—इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि जैसे योजना या कल्पना है, वैसे जाति आदि की योजना सम्भव नहीं ॥ १४६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नन्वभ्रान्तमपि बाह्येऽर्थे कल्पनाज्ञानमेव । सत्यमेतत् । तथा हि—

"इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः । यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥"

इति वक्ष्यते (प्र० वा० २।२०९) ॥

(९) सामान्यनिरासः—

अपि च—विशेषणविशेष्यञ्चेति ।

संयोज्य ग्रहणं हि कल्पना प्रत्येकञ्च विशेषणादीनां ग्रहणमन्तरेण न संयोजनम् । यथा द ण्डीति प्रतीतौ जात्यादीनाञ्च विवेकेनानवधारणात् तद्वता योजना नास्तीति कथं विकल्प कमिन्द्रियज्ञानम् । तथा हि—

अभि न्नप्रतिभासस्य योजनं कस्य केन वा । विभिन्नप्रतिभासस्य योजनं न प्रतीतिभाक् ॥३०३॥

अभिन्नप्रतिभासे हि तदेकमेव कस्तत्र योजनार्थं उभयापेक्षत्वाद् योजनायाः । अथ भिन्नप्रति भासन्द्वयन्तदा परस्परविवेकेन प्रतिभासना नेतरां योजनेत्यसम्भवो योजनायाः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—आन्तरिक ज्ञानगत द्वित्व भी तो बाह्य अर्थ में कल्पित ही है।

समाधान—आपात प्रतीयमान पदार्थों की गहराई से खोज करने पर कुछ हाथ नहीं लगता वार्तिककार ने भी आगे चलकर कहा है—

"इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथार्थाः चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥ (प्रत्यक्ष २।११०)

(९) सामान्य-योजनाभाव—

विकलित पदार्थों को जोड़कर ग्रहण करना कल्पना है। प्रत्येक बिखरे हुए विशेषण आदि पदार्थों की संयोजना उनके ज्ञान के बिना सम्भव नहीं, जैसे—"दण्डी"—इस प्रकार की प्रतीति में जाति, द्रव्य, गुणादि का विवेकावधारण न होने के कारण जाति आदि युक्त पदार्थों की योजना नहीं हो सकती, अतः इन्द्रियज ज्ञान सविकल्प क्योंकर होगा ? अर्थात् अभिन्न रूप से प्रतिभासित पदार्थों में किसकी किसके साथ योजना की जायगी। भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिभासित पदार्थों की योजना प्रतीत नहीं होती ॥ ३०३ ॥

अभिन्नरूप से प्रतिभासित पदार्थ तो अभिन्न या एक ही होता है, एक में योजना कभी सम्भव नहीं, क्योंकि योजना दो पदार्थों की ही होती है, एक की नहीं। यदि गोत्वादि का भिन्न या परस्पर-निरपेक्षरूप से भान होता है, तब भी योजना

वार्तिकालङ्कारः

तस्मान्न पारमार्थिकी योजना।

भवतु वा। यदि प्रत्येकम्प्रतिभासनं विशेषणादीनाम्। न च जातिजातिमदादीनामेतत् सम्भवति। न जातिगुणक्रियास्तद्वतो भेदेनावभासन्ते। अत एव संसृष्टप्रतिभासनं योजनेति चेत्, न, भिन्नयोः संसृष्टप्रतिभासायोगात्। समानदेशकालत्वादेवमिति चेत्, न, समानदेशकालानामपि स्वरूपस्य भेदात्। भिन्नदेशकालानामपि हि स्वरूपभेदादेव तथाप्रतिभासो न देशकालभेदात्। यदि हि तत्र न स्वरूपभेदो देशादिभेदेऽपि न भेदप्रतिभासनम्। देशाभेदेऽपि परेषां स्वर्णसंस्थानयोरवभासत एव भेदो वातातपयोश्चेति न देशाद्यभेदादवभासभेदो हीयते।

अथ समवायसम्बन्धबलादेकलोलीभावेन प्रतिभासनन्तथा सति सर्वत्र तथात्वकल्पनाप्रसङ्गः। सर्व एवाभेदप्रतिभासोऽभेदसाधनन्न भवेत्।

ननु गौरिति विशिष्टप्रत्ययादेव योजनारूपा बुद्धिरेषा। विशिष्टप्रत्ययो हि न विशेषविशेषणमन्तरेण क्वचिदुपलब्धो दण्डीति प्रत्ययवत्। इदन्तदिति न निर्दिश्यते। विवेकेनाप्रतिभासनात्। न हि दण्डीत्यपि प्रत्यये दण्डस्य विवेकेन प्रतिभासः। पुरुषमात्रस्यैव तत्र प्रतिभासनात्। प्रागेव दण्डसम्बन्धात् कस्मान्न भवतीति चेत्, न, सामग्र्यभावेन विशिष्टत्वस्याभावात्। विशिष्टत्वञ्च नापरम्पुरुषे तस्याप्रतीतेर्दण्ड एव तु

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सम्भव नहीं, फलतः गोत्व, गौ और समवायादि की योजना (कल्पना) असंभव है, फलतः योजना (जाति-कल्पना) पारमार्थिक नहीं।

"दण्डी पुरुषः"—यहाँ पर यदि पृथक् भासित दण्डादि पदार्थों की योजना कल्पित हो तो हो सकती है किन्तु जाति, व्यक्ति और समवाय की योजना सम्भव नहीं, क्योंकि जाति, गुण और क्रिया का उनके आश्रय (द्रव्य) से भेद अवभासित नहीं होता। अतएव संसृष्ट-प्रतिभासन को भी योजना नहीं कह सकते, क्योंकि भिन्न या निरपेक्ष पदार्थों का संसृष्ट प्रतिभास युक्ति-युक्त नहीं। समानदेशकाल के पदार्थों का स्वरूप-भेद होने से ही वैसे ही भिन्न प्रतिभास होता है, जैसे भिन्न देश-काल के पदार्थों का स्वरूप भेद होने के कारण ही प्रतिभास-भेद होता है, देश-काल के भेद से नहीं। स्वरूप-भेद न होने पर देश-काल के भेद से भेद-प्रतिभास नहीं हो सकता। वैशेषिकादि के मत में एक देश में रहनेवाले वायु और आतपादि पदार्थों का स्वरूप-भेद होने से भेद अवभासित होता है। फलतः देशादि का अभेद होने से अवभास-भेद निवृत्त नहीं होता। यदि गोत्व और गौ का समवाय सम्बन्ध "गौः" इस प्रकार के एकलोलीभूत (अभेदावगाही) प्रतिभास का कारण माना जाता है तब सर्वत्र वैसी ही कल्पना करनी चाहिए, अभेद-प्रतिभास के लिए अभेदसाधन की आवश्यकता न होगी।

शंका—"गौः"—इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि के कारण ही जातिविषयिणी यह योजना ज्ञान हो गया है क्योंकि विशिष्ट-ज्ञान विशेष्य-विशेषण के बिना नहीं होता, सदैव विशेष्य-विशेषण ज्ञानसापेक्ष ही होता है, जैसे "दण्डी"—यह ज्ञान। "इदं तत्"—ऐसा निर्देश नहीं, क्योंकि दण्ड और पुरुष का विविक्तरूप से प्रतिभास नहीं होता। केवल पुरुष का ही प्रतिभास होता है। तब दण्ड-सम्बन्ध से पहले 'दण्डी'—ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विशेषण-ज्ञानरूप सामग्री के बिना पहले

वार्तिकालङ्कारः

विशिष्टत्वम् । यथा बीजस्य सहकारिण एव जलादयः शक्तिः । यदि तु दण्डप्रतिभासोऽपि भवेद्दण्डपुरुषाविति प्रत्ययः स्यात् । तदेतत्सकलमयुक्तम् । केवलप्रतिभासश्चेत्, अप्रतीतिविशेषणन्न भवेत् । प्रतिभासे तु स्याद् दण्डपुरुषाविति । यथैव हि पुरुषप्रतिभासे केवलस्य न विशिष्टताप्रतीतिस्तथा दण्डीत्यपि । अथ विशिष्टप्रत्ययविषयत्वमेव विशिष्टता । अत्राप्युच्यते—

स्वगतेन विशेषेण विशिष्टः प्रत्ययो भवेत् । प्रमेयस्य विशेषाद्वा द्वयथ्यापि न सत्यता ॥३०४॥

यदि तावत् स्वगतो विशेषः । प्रत्ययस्य तदा नार्थस्य योजनारूपा कल्पना । न खलु सुखादिना स्वगतेन विशेषेण सविकल्पकतेन्द्रियज्ञानस्य । विषयमन्तरेण स एव विशेषः प्रत्ययस्य नेति चेत्, न, समनन्तरप्रत्ययादपि विशेषप्रसिद्धेरिति प्रतिपादयिष्यामः । विषयगते तु विशेषे दण्डपुरुषयोः द्वयोरपि प्रतीतिरिति कथम्पुरुषमात्रविषयता । दण्डिप्रत्ययस्य द्वयोरपि प्रतीतिरिति व्यवहारमात्रत एतदुच्यते न हि परमार्थतः । विकल्पस्य निर्विषयत्वादिति द्वयोरपि विषयत्वे कथन्न द्विवचनम् । व्यवहारमात्रमेतत् पूर्वपूर्ववासनाविशेषप्रभवमिति न दोषः । अप्राधान्याद विशेषणस्य प्रतीयमानमपि तन्न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वैसा ज्ञान नहीं होता । अर्थात् पुरुष में विशिष्टता दण्ड की ही है, अतः उसके ज्ञान से पहले "दण्डी"—यह ज्ञान क्योंकर होगा ? जैसे बीज के सहायक जलादि पदार्थ ही बीज की शक्ति हैं, वैसे ही दण्ड पुरुषगत विशिष्टता है। यदि दण्ड का भी प्रतिभास स्वतन्त्र होता तब "दण्डपुरुषौ"—ऐसी प्रतीति होती ।

समाधान—उक्त शङ्का नितान्त अयुक्त है। यदि यहाँ केवल पुरुष का प्रतिभास होता है, दण्ड का नहीं, तब अप्रतीत दण्ड पुरुष का विशेषण न हो सकेगा । स्वतन्त्र प्रतिभास मानने पर "दण्डपुरुषौ"—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। जैसे केवल पुरुष का प्रतिभास मानने पर विशिष्टता की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही केवल दण्ड का प्रतिभास होने पर भी ।

प्रश्न—विशिष्टज्ञान-विषयत्व को विशिष्टता क्यों न मान लिया जाय ?

उत्तर—ज्ञान चाहे स्वगत विशेष आकार से विशिष्ट हो चाहे प्रमेयगत विशेषता से विशिष्ट हो, दोनों में सत्यता नहीं ।।३०४।। यदि स्वगत विशेषण से विशिष्ट है, तब ज्ञान के साथ अर्थ (विषय) की योजना की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि स्वगत (ज्ञानगत) सुखाकारता आदि विकल्पों के सम्बन्ध से इन्द्रिय-जन्य ज्ञान (प्रत्यक्ष) कभी सविकल्पक नहीं माना जाता। बाह्य विषय के बिना ज्ञानगत दण्डाकारतादि विशेषण भी उत्पन्न नहीं हो सकते ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आलम्बन प्रत्यय के न रहने पर भी समनन्तर प्रत्यय के द्वारा ज्ञानगत विशेषाकार मान लिया जाता है—ऐसा आगे चलकर कहा जायगा । विषयगत विशेषण-पक्ष में दण्ड और पुरुष—इन दोनों की प्रतीति होती है, केवल पुरुष विषयक प्रतीति नहीं। दण्डी—ऐसे ज्ञान में दण्ड और पुरुष—दोनों का भान होता है—ऐसा व्यवहारमात्र के आधार पर कहा जाता है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि विकल्प निर्विषयक होता है। यदि दण्ड और पुरुष दोनों की प्रतीति मानी जाय, तब "दण्डपुरुषौ"—इस प्रकार द्विवचन होना चाहिए । यह व्यवहार मात्र पूर्व-पूर्व वासना से उत्पन्न होता है, अतः कोई दोष नहीं। विशेषण सदैव अप्रधान होता है, अतः वह प्रतीयमान भी अविवक्षित है, फलतः दण्डी—ऐसा एकवचन

यद्यप्यन्वयिविज्ञानं शब्दव्यक्त्यवभासि तत्।
वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं गोत्वं हि वर्ण्यते ॥ १४७ ॥

यदि 'गोत्व' जाति नहीं, तब सभी गोव्यक्तियों में 'अयं गौः'—'अयं गौः' इस प्रकार अन्वयी (अनुगत) प्रतीति कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो अन्वयी ज्ञान अनुभव में आता है, वह किसी जाति को विषय नहीं करता, अपितु शब्द

वार्तिकालङ्कारः

विवक्षितमिति पुरुषमात्रसङ्ख्ययैकत्वम्। यद्यनेन न्यायेन पुरुषमात्रविषयत्वमुच्यते, उच्यतान्न तु प्रतिभासनाभावेन। अथापि स्यात्—

दिक्कालादिविशिष्टानां कैवल्यप्रतिभासनम्। न च तत्र विशिष्टत्वं ज्ञानस्य न विभाव्यते ॥३०५॥

तत्रापि समाधिः।

पदार्थान्तरसाङ्गत्यं स्वभावो वा विलक्षणः। विशिष्टता तदा सर्वः परपक्षः प्रहीयते ॥३०६॥

यदि तावत् पदार्थान्तरसहितताविशिष्टत्वं यथालङ्करणविशिष्ट इति। तदेतत् पूर्वपरादिप्रत्ययप्रतिभासिनि नास्ति। न खलु तत्र दिगपरा प्रतिभाति। अथ विलक्षणत्वन्तदा पूर्वपरयोर्घटयोर्न विलक्षणता विभाव्यते।

वैलक्षण्यञ्च स्वरूपमेव पदार्थस्य तत्प्रतिभासने निर्विकल्पकत्वमेव। विशिष्टप्रत्ययविषयत्वन्तु प्रत्युक्तम्। तस्माद् यदि द्वयोः प्रतिभासने योजना ततः कल्पनेति न्याय एषः। न च द्वयोः प्रतिभासनमात्रं कल्पनाऽपि तु योजनापूर्वप्रत्येकदर्शनपूर्विका। ननु जात्यादयः प्रतिभासन्त एव। अन्वयिप्रत्ययस्योपलम्भात्। तदाह—यद्यप्यन्वयि विज्ञानमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मात्र का प्रयोग किया जाता है। यदि इस दृष्टि से पुरुषमात्र की प्रतीति कही जाती है, तब भले ही कही जाय किन्तु दण्ड का प्रतिभास नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते।

शंका—दिक्कालादि से विशिष्ट घटादि पदार्थों में तो दण्डी पुरुष के समान विशिष्टता (संयुक्तता) प्रतीत नहीं होती, अपितु केवलता का ही प्रतिभास होता है किन्तु ज्ञान में विशिष्टता अविभावित नहीं ॥ ३०५ ॥

समाधान—यदि भिन्न पदार्थ में भिन्न पदार्थ की सहितता या विलक्षण स्वभाव को विशिष्टता पदार्थ माना जाता है, तब समस्त परपक्ष प्रहीण हो जाता है ॥ ३०६ ॥

यदि कुण्डली पुरुष में कुण्डल-सहितता के समान ही पदार्थान्तर में पदार्थान्तर-सहितता को विशिष्टता पदार्थ माना जाता है, तब "सोऽयं देवदत्तः"—पूर्व और ज्ञानों में प्रतिभासित एक देवदत्त में विशिष्टता न बन सकेगी, क्योंकि वहाँ पदार्थान्तर-सहितता प्रतीत नहीं होती। यदि विलक्षणता को विशिष्टता कहा जाता है, तब भी पूर्व-पर काल-भावी घटादि पदार्थों में विशिष्टता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उनमें कोई विलक्षणता अवभासित नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि विलक्षणता तो वस्तु का स्वरूप है, उसका प्रतिभास होने पर भी निर्विकल्पकत्व सुरक्षित रहता है। विशिष्ट ज्ञान-विषयत्वरूप विशिष्टता का तो निरास किया जा चुका है। अतः यदि विशेषण और विशेष्य—दोनों का प्रतिभास होने पर योजना की जाती है, तब कल्पना होगी—ऐसा मानना ही न्यायोचित है। दोनों प्रतिभासन मात्र कल्पना नहीं, अपितु योजनापूर्वभावी प्रत्येक के दर्शन से जनित विशिष्टता कल्पना है।

(गौः), व्यक्तिगत वर्ण (रूप) संस्थानाकारादि के आकार को विषय करता है। गोत्व जाति उन आकारों से रहित है ॥ १४७ ॥

समानत्वेऽपि तस्यैव नेक्षणं नेत्रगोचरे।
प्रतिभासद्वयाभावाद् बुद्धेर्भेदश्च दुर्लभः ॥ १४८ ॥

अन्वयी ज्ञान में जो वर्ण-संस्थान (आकार) आदि प्रतीत होता है, उसे सामान्य (जाति) नहीं कह सकते, अन्यथा वर्णादि का इन्द्रिय-जनित ज्ञान में भान नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयीभूत निर्विकल्प का स्पष्टावभास और जाति विकल्प का अस्पष्टावभास होता है। इन्द्रिय-जनित एक विज्ञान में स्पष्टास्पष्ट दोनों अवभास सम्भव नहीं, अन्यथा ज्ञानों का भेद मानना होगा ॥ १४८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यत् खल्वन्वयि विज्ञानन्तत्तु न सामान्यपरम्प्रतिभाति। अनुगतरूपम्प्रतिभातीति चेत्, न, शब्दव्यक्तिव्यतिरेकेणापरस्याप्रतिभासनात्। शब्दात् समानाकारः प्रत्ययः प्रतिभातीति चेत्, न, यथा दृष्टवर्णसंस्थानतया स्मरणात्। न चात्रानुगमोऽपरः प्रतिभासते। वर्णसंस्थानाकारमात्रस्य प्रतिभासनात्। नाममात्रसङ्गम एव सर्वेषामनुयायी। अयमपि गौरयमपि च गौरिति नाम समानमर्थक्रिया च। अथवा परामर्शप्रत्ययस्यैव समानता नार्थस्य कस्यचित्।

अथ स एव शब्दादुपजायमानोऽस्पष्ट आकारः सामान्यम्। सर्वत्र समानत्वात्। न तस्यापि प्रतिनियतविकल्परूपत्वात्। गौरित्युक्ते कदाचिच्छावलेयः कदाचिद् बाहुलेय इत्यादि प्रतीतेः। न समानाकारताप्रतीतिर्यथानुभवस्मरणात्। अनेन शब्देन सर्वेषाम्प्राक् सम्बन्धदृष्टेः। नवस्वर्थेषु गोशब्दवत्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—जाति (गोत्वादि) पदार्थ पृथक् प्रतिभासित होता है, क्योंकि "अयं गौः"—"अयं गौः"—इस गोत्वान्वयी प्रतीति सर्व-प्रसिद्ध है।

समाधान—जो जात्यन्वयी विज्ञान कहा जाता है, उसमें कोई सामान्य (जाति) पदार्थ पृथक् प्रतीत नहीं होता। सभी गो व्यक्तियों में अन्वयी धर्म तो गोत्व ही प्रतीत होता है-ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सामान्य या जाति शब्द से कोई भिन्न वस्तु प्रतिभासित नहीं होती। "गो" शब्द के द्वारा जो समानाकार प्रतीति होती है, वह प्रथम गो व्यक्ति में दृष्ट व्यक्ति के आकार-प्रकार का स्मरण मात्र है। उससे भिन्न अन्य कोई अनुगत पदार्थ नहीं, केवल वर्ण (रूप) और अवयव-सन्निवेश मात्र प्रतिभासित होता है। सभी गो व्यक्तियों में "गौः" शब्द मात्र प्रयुक्त होता है। "अयमपि गौः"—"अयमपि गौः"—यहाँ केवल नाम की समानता को छोड़कर और क्या प्रतीत होता है? अथवा स्मरण प्रत्यय की समानता ही सर्वत्र प्रतीत होती है, कोई पदार्थ प्रतीत नहीं होता।

शङ्का—सर्वत्र 'गो' शब्द के द्वारा जो अस्पष्ट आकार प्रतीत होता है, वही तो सामान्य (गोत्व जाति) है, क्योंकि सर्वत्र गोत्व समानरूप से विद्यमान है।

समाधान—प्रत्येक व्यक्ति में रहनेवाले आकार की सर्वत्र अन्वयता एक कल्पना है, क्योंकि "गौः"—ऐसा कहने पर कभी 'शावलेय' नाम के व्यक्ति की और कभी 'बाहुलेय' नाम के व्यक्ति की प्रतीति होती है, किसी अनुगत पदार्थ की नहीं। जब

वार्तिकालङ्कारः

ननु प्रतिनियतत्वाद्वागादीनान्नवानामर्थानान्तदुपदर्शनेन संकेतः सम्भवति क्रिया-ग्रहणयोर्विषयः। अप्रतिनियमे तु व्यक्तीनां कथं संकेतग्रहः करणं वा। एतदुत्तरमत्र वक्ष्यामः। तस्यैव वा समानत्वे नेक्षणं नेत्रविषयत्वे। न हि नेत्रविज्ञाने स्पष्टप्रतिभा-सिनि मन्दप्रतिभासः स एवायमिति प्रत्ययो भवत्येवेति चेत्, न, स्पष्टास्पष्टप्रतिभासे एकत्वायोगात् कारणभेदाच्चाचक्षुरादिवासनानिमित्तत्वात्। अतश्चक्षुरादिजनिताया-म्बुद्धौ प्रतिभासद्वयस्याभावः।

अथ स्पष्टास्पष्टप्रतिभासिनी बुद्धिरेकैवासौ यदि नामाकारहेत्वभेदः। तत्रेद-मुच्यते—यदि प्रतिभासकारणभेदेऽपि न भेदो बुद्धीनामन्यत्रापि भेदो दुर्लभः स्यात्। सर्वत्र समानकालभाविनी प्रत्यक्षानुमानबुद्धिरेकैव स्यात्।

ननु समवायसम्बन्धस्य कथमग्रहः। जात्यादेर्हि विवेकेनावधारणन्नास्ति। सम-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यक्ति का अनुभव में भान होता है, तब स्मरण में भी उसी का भान होगा। "अनेन शब्देनायमर्थो बोद्धव्यः" इस प्रकार के संकेत से व्यक्तिविशेष के साथ ही 'गो' शब्द का वाच्यता सम्बन्ध वैसे ही स्थापित किया जाता है, जैसे कोशकारों ने नौ अर्थों में 'गो' शब्द का प्रयोग माना है –

"गौः स्वर्गे च बलीवर्दे रश्मौ च कुलिशे पुमान्।
स्त्री सौरभेयीदृग्बाणदिग्वाग्भूष्वप्सु भूम्नि च॥" (मेदिनी)

शङ्का—जिन वागादि नौ अर्थों में 'गो' शब्द का संकेत किया गया है, वे सभी अपने-अपने रूप में प्रतिनियत (व्यवस्थित) हैं, अतः उनके साथ वाच्य-वाचक भावरूप संकेत-ग्रहण सुकर है, किन्तु व्यक्तियाँ अव्यवस्थित हैं, अतः उनमें संकेत-ग्रह क्योंकर हो सकेगा? इसी प्रकार उनमें "अनेन शब्देनायमर्थो बोद्धव्यः" इस प्रकार का संकेत-करण भी सम्भव नहीं। यह आगे कहा जायगा। यदि "अयमपि गौः" "अयमपि गौः"– इस प्रकार अस्पष्ट प्रतीयमान गोत्व ही सामान्य है, तब सर्वगतत्वरूप अस्पष्ट प्रति-भास नहीं होना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान सदैव विशदावभासी होता है, उस विकल्प का अस्पष्ट प्रतिभास नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय-जन्य "स एवायम्" इस प्रत्यभिज्ञान में अस्पष्ट पौर्वापर्य-परामर्श होता है, तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि स्पष्ट प्रतिभास और अस्पष्ट प्रतिभास की एकता कहीं नहीं बन सकती। दोनों प्रतिभासों का कारण-भेद होने के कारण भी एकत्व नहीं हो सकता। स्पष्ट प्रति-भास के कारण चक्षुरादि और अस्पष्ट प्रतिभास के कारण संस्कार (वासना) हैं। फलतः चक्षुरादि-जनित बुद्धि में दो विरुद्ध प्रतिभास नहीं हो सकते।

आक्षेप—गो व्यक्तियों का भेद होने पर भी "गौः—गौः" इस प्रकार की शब्दाका-रता एक है, अतः स्पष्टास्पष्ट-प्रतिभासिनी बुद्धि को एक ही क्यों न मान लिया जाय?

समाधान—यदि प्रतिभास-कारण का भेद होने पर भी प्रतिभास का भेद नहीं होता, तब कहीं भी ज्ञान-भेद न हो सकेगा। एककालभावित्व का अभेद होने से प्रत्यक्ष और अनुमान रूप ज्ञानों की भी एकता प्रसक्त होगी।

शंका—जाति और व्यक्ति के समवाय सम्बन्ध का जो अग्रहण कहा जाता है, वह कैसे? जाति और व्यक्ति का विविक्त अवधारण इसी लिए नहीं हो पाता कि उनमें समवाय सम्बन्ध है।

(१०) अवयवी का निरास—

समवायग्रहादक्षैः सम्बन्धादर्शनं स्थितम् ।

पटः तन्तुष्विहेत्यादिशब्दाश्चेमे स्वयं कृताः ॥ १४९ ॥

जाति-व्यक्ति का समवाय सम्बन्ध अतीन्द्रिय है, अतः इन्द्रियों के द्वारा न तो सम्बन्ध का और न जाति आदि सम्बन्धी पदार्थों का ग्रहण हो सकता है। यदि समवाय नहीं, तब "इह तन्तुषु पटः"—यह प्रतीति कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर है—"इह तन्तुषु पट इत्यादि"। अर्थात् यह वस्तु-स्थिति नहीं, अपितु समवाय के आग्रही व्यक्तियों के द्वारा स्वयं रचित हैं—ये शब्द ॥ १४९ ॥

एवं गवीति लोके स्यात् शृंगे गौरित्यलौकिकम् ।

गवाख्यपरिशिष्टाङ्गविच्छेदानुपलम्भनात् ॥ १५० ॥

लोक-व्यवहार में तो "गवि शृङ्गं तिष्ठति"—ऐसा बोला जाता है, किन्तु "शृङ्गे गौः"—ऐसा अलौकिक प्रयोग वैशेषिकादि किया करते हैं, जो कि प्रमाण-प्रसिद्धि की सीमा से सर्वथा बाहर है। यदि गौ के अवयवों से शृङ्ग को निकाल दिया जाता है तब भी शेष अवयवों के समूहरूप गौ से विच्छेद (वियोग) उपलब्ध नहीं होता, अतः 'गोः शृङ्गम्'—यह व्यवहार नहीं हो सकता ॥ १५० ॥

वार्तिकालङ्कारः

वायसङ्गावादेव । नेदं सधीयो यतः—समवायग्रहादक्षैरिति ।

अतीन्द्रियत्वात् समवायस्य न चक्षुरादिना वेदनसम्भव इति स्वयमेवैतद् व्यवस्थितं वः। अथेह तन्तुषु पट इति व्यवहारात् समवायः। नैतदस्ति । यतः—पटस्तन्तुष्विहेत्यादीति ।

न खलु तन्तुषु पटः शृङ्गादिषु गौरिति क्वचिद् बुद्धयः। तदभावात् कथं समवायगतिः। यतः—शृङ्गङ्गवीति लोक इति ।

गवि शृङ्गमिति हि बुद्धयः प्रवर्त्तन्ते न च तेऽत्र समवेताः सास्नादयः। यश्च तेषु समवेत इष्यते स नाधेयतया प्रतीयते। तस्मादियम्बुद्धिर्न समवायाद् ।

(१०) अवयविनिरासः—

अपितु—गवाख्यपरिशिष्टाङ्गविच्छेदानुपलम्भनादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—उक्त शङ्का युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि समवाय सम्बन्ध अतीन्द्रिय होता है। अतः चक्षुरादि से उसका वेदन सम्भव नहीं।

प्रश्न—"इह तन्तुषु पटः"—इस प्रकार का व्यवहार समवाय का साधक क्यों नहीं ?

उत्तर—कथित व्यवहार एक कल्पनामात्र है, क्योंकि "इह तन्तुषु पटः" और "शृङ्गादिषु गौः"—ऐसा भान कभी नहीं होता, क्योंकि लोक-व्यवहार तो सदैव "गवि शृङ्गादिकम्", "पटे तन्तवः"—ऐसा ही होता है, विपरीत नहीं। पटादि में तन्तुओं की आधेयता प्रतीत नहीं होती, अपितु आधारता ही प्रतीत होती है, फलतः "इह तन्तुषु पटः' ऐसा ज्ञान समवाय-प्रयुक्त नहीं।

(१०) अवयवी का निरास—

दूसरी बात यह भी है कि समवाय के न होने पर भी "इह"—ऐसी बुद्धि उप-

तैः तन्तुभिरियं शाटीत्युत्तरं कार्यमुच्यते ।
तन्तुसंस्कारसम्भूतं नैककालं कथञ्चन ॥ १५१ ॥

तन्तुओं की दो अवस्थाएँ हैं—(१) पूर्वकालिक असंस्कृत अवस्था और (२) उत्तरकालभावी कुविन्दादि के द्वारा संस्कृत (बुनी हुई रूप-रेखा)। प्रथम कारण और द्वितीय शाटी आदि पटावस्था । कार्य और कारण समान काल में न होने से "इह तन्तुषु पटः"—यह व्यवहार सर्वथा असत् (कल्पनामात्र) है ॥ १५१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

समवायाभावेऽपीह बुद्धिरुपलभ्यत एव । अस्तमयसमये वृक्षे सूर्य इति यथा। परिशिष्टाङ्गस्य गोरिति कल्पनायां शृङ्गस्याधेयकल्पनाच्छृङ्गं गवीति प्रत्ययः । तथा हि न शृङ्गादिसमुदायव्यतिरेकेणापरो गौरस्ति यस्याधाराधेयभावः । कल्पनामात्रमेवैतत् ।

अथापि स्याद् । एषु तन्तुषु पट इति भवत्येवायम्प्रत्यय इति । नैतदस्ति । यतो हि—तैस्तन्तुभिरियं शाटीति ।

तन्तुशब्दो हि पटप्राग्भाविन्यवस्थाविशेषे वर्त्तते । तदुत्तरकालभावी त्ववस्था-विशेषः पट इति । ततस्तैस्तन्तुभिरियं शाटीति तदुत्तरकालभावि कार्यं व्यपदिश्यते । न तु तन्तुसमानकालः । ततः कुत आधाराधेयभावः । न हि भिन्नकालानामाधाराधेयभावः । कार्यकारणभाव एव केवलोऽसम्बद्धता वा । तस्मादाधाराधेयभावोऽपि कार्यकारणभाव-विशेष एव । एकसामग्रयधीनतया । एकसामग्रयधीनयोरेव कुण्डतदाधेयाभिमतयोस्तथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लब्ध होती है, । जैसे सूर्य छिपते समय "वृक्षे सूर्यः"—ऐसा व्यवहार होता है । शृङ्गपादादि निखिल अवयवों से भिन्न गौ नाम का अवयवी पदार्थ है नहीं, तब "गोः शृङ्गम्"—ऐसा भेद-व्यवहार क्योंकर होगा ? यदि शृङ्ग को पृथक् रख कर परिशिष्ट (शेष) अवयवों के समूह को गो का विग्रह माना जाता है । तब कथञ्चित् 'गोः शृङ्गम्'—ऐसा भेद-व्यवहार बन सकता है किन्तु जब शृङ्गादि समस्त अवयवों का समूह गौ है, तब शृङ्ग का विच्छेद उससे होगा ही कैसे ? अपने अवयवों से अभिन्न गौ का अवयवों के साथ आधाराधेयभाव सर्वथा असंगत कल्पना है ।

आक्षेप—अवयवावयवी का आधाराधेयभाव लोक-प्रसिद्ध है—"एषु तन्तुषु पटः" ।

समाधान—उक्त व्यवहार में 'तन्तु' शब्द पट की पूर्वभाविनी विशेष अवस्था को कहता है और उसी की उत्तरभाविनी अवस्था पट है, अतः ["तन्तुषु पटः" इसका अर्थ है—"पटपूर्वावस्थात्मकेषु तन्तुषु सत्सु एव पटः, तद्व्यतिरेकेणाभावः।" वस्तुतः तन्तुसमूह ही पट है, उससे भिन्न नहीं] । "तन्तुभिरियं शाटी" इस व्यवहार में भी तन्तुपुञ्ज की शाटीरूप उत्तरावस्था को तन्तु का कार्य कहा गया है । तन्तुसमानकालभावी शाटी नहीं । इस प्रकार तन्तु और पटादि का आधाराधेयभाव कैसे होगा ? क्योंकि भिन्नकालीन पदार्थों का आधाराधेयभाव नहीं होता । केवल कार्यकारणभाव या असम्बद्धता अवश्य प्रतीत होती है । फलतः प्रकृत में प्रतीयमान आधाराधेयभाव कार्यकारणभावमात्र है, क्योंकि तन्तु-समूह और पट—दोनों ही तन्तुरूप एक सामग्री के अधीन हैं । "कुण्डे बदराणि" यहाँ पर भी केवल्यावस्था ही संयुक्तावस्था है, उससे भिन्न नहीं । तन्तुसमूह का ही पट एक विशेष रूप है, उससे भिन्न नहीं । तन्तु-पट में

कारणारोपतः कश्चिद् एकापोद्धारतोऽपि वा ।
तन्त्वाख्यां वर्तयेत् कार्ये दर्शयन् नाश्रयं श्रुतेः ॥ १५२ ॥

यदि तन्तु और पट का भेद नहीं, तब "एते तन्तवः" "अयं पटः"—ऐसा भेद-व्यवहार कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर है—"कारणारोपतः" । एक तन्तु को तन्तुसमूह से पृथक् कर उसमें पटरूपता और शेष तन्तु-समूह में कारणत्व का आरोप करके भेद-व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः तन्तु से भिन्न पट की सत्ता प्रमाणित नहीं होती ॥ १५२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

व्यवहारात् । न खल्वन्या स्थितिस्तत्स्वरूपविशेषात् । तन्तुपटयोः पुनरेषापि कल्पना नास्ति । ततो यथाकथञ्चित् कल्पनैव केवला न त्वाधाराधेयभावो भेदाभावात् । न हि पटावस्थायान्तन्तवः सन्ति ।

ननु यदि नास्ति भेदः पटावस्थायान्तन्त्वभावात्कथमेते तन्तव इति प्रत्ययोऽयम्पट इति च । नैतदस्ति । न परमार्थतस्तत्र द्वयमस्ति । यतः—कारणारोपतः कश्चिदिति ।

तन्तुकार्यो हि पट एव । तदानीन्न तन्तवः । तन्तुप्रत्ययस्तु कारणस्वरूपारोपतो न परमार्थतः । तथा हि पूर्वस्मरणे सत्येते तन्तव इति प्रत्ययः । एकापोहेन वा । न ह्येकैकतन्त्वपोहे पटो नामापरोऽस्ति । त एव समुदिताः सेनावनादिवत् पटव्यपदेशभाज इति । संवृतिसन्नेव पटः । तेनाधाराधेयभावः कल्पित एव । यदि तर्हि पटो नाम नास्ति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कार्यकारणभाव को भी कल्पना नहीं कर सकते, फलतः तन्तु और पट में भेद न होने से आधाराधेयभाव की वास्तविक सत्ता नहीं, अपितु कल्पनामात्र है। पटावस्था में जब तन्तु हैं ही नहीं, तब वे पट के आधार क्योंकर बनेंगे ?

प्रश्न—यदि पटावस्था में तन्तुओं का अभाव होने के कारण तन्तु और पट का भेद नहीं, तब "एते तन्तवः", "अयं पटः"—इस प्रकार की प्रतीति कैसे होती है ?

उत्तर—परमार्थतः वहाँ तन्तु और पट—दोनों हैं, क्योंकि पट तन्तुओं का कार्य है। पटावस्था में "पट केवल है, तन्तु नहीं, किन्तु तन्तुओं की प्रतीति कारणस्वरूप का आरोप करके ही होती है, परमार्थतः नहीं" । अर्थात् पट की पूर्व अवस्था (तन्तुरूपता) का स्मरण करके ही "एते तन्तवः"—ऐसी प्रतीति होती है । यदि "पटस्य तन्तुरयम्"—ऐसी प्रतीति का निर्वाह करने के लिए एक तन्तु को पृथक् किया जाता है. तब एक-एक तन्तु को निकाल देने पर न पृथक् तन्तु-समह रह जाता है और न पट । वे समस्त तन्तु ही मिलकर "इयं सेना०" "इदं वनम्"—ऐसी पूर्वोक्त प्रतीति के समान ही "अयं पटः" के रूप में प्रतीत होते हैं । पट की सांवृतिक (आविधिक) सत्ता ही मानी जाती है। फलतः पट और तन्तुओं का आधाराधेयभाव कल्पित ही है ।

प्रश्न—यदि पटरूप अर्थ है ही नहीं, तब उसके वाचक 'पट' शब्द का प्रयोग क्योंकर होगा ? वाच्य-वाचक-निबन्धन (संकेत) के बिना "अयं पटः"—ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता ।

उत्तर—उक्त प्रश्न का ही उत्तर दिया गया है—'उपकार्योपकारित्वेत्यादि" से । अर्थात् तन्तु-समूह में अवस्थित उपकार्योपकारित्व अथवा एकावयविद्रव्य की कल्पना

उपकार्योपकारित्वं विच्छेदाद् दृष्टिरेव वा।
मुख्यं यदस्खलज्ज्ञानमादिसंकेतगोचरः ॥ १५३ ॥

एक तन्तु आच्छादन या शीत-निवारण की क्षमता नहीं रखता, अपितु परस्पर उपकार्योपकारकरूप से सञ्चित तन्तु-समूह में पटरूपता या तन्तुओं में सामूहिक वनादि के समान औपचारिक एकता दृष्टि का आरोप करके तन्तु और पट का भेद-व्यवहार किया जाता है ॥ १५३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कथम्पटशब्दः प्रवर्त्तते। न हि निबन्धनं विना शब्दाः प्रवर्त्तन्ते। तत्रोत्तरम्—उपकार्योपकारित्वमिति।

पटव्यपदेशस्य निबन्धनमित्युपकारः। अत्रोपकार्योपकारित्वम्। त एव तन्तवः परस्परमुपकार्योपकारकभावेन व्यवस्थिताः। संयोगविशेषतो वा प्रावरणादिकामर्थक्रियामुपजनयन्तः पटव्यपदेशभाज इति तेषामुपकार्योपकारकभावः पट इति व्यपदिश्यते। यथा च तन्तवस्तुरिवेमाद्युपकारविरहे विच्छिन्नानायासेन परस्परतो नीयन्ते न तथा पटावस्थाः। ततोऽसौ विच्छेदादृष्टिर्निबन्धनमिति न व्यपदेशादेवार्थान्तरङ्कल्पनीयम्। प्रमाणं हि पदार्थकल्पनानिबन्धनम्। व्यपदेशाः पुनरन्यथापि प्रवर्त्तन्ते प्रायशः।

यदि तर्हि व्यतिरिक्तं व्यपदेशस्य निबन्धनन्नास्ति तथा सति पटव्यपदेशो न मुख्यः स्यात्। वाहीके गोव्यपदेशवत्। वाहीके हि निःशौचतादिनिबन्धनोऽपि ततो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्य गोत्वस्याभावादमुख्यो गोव्यपदेशः। तथोपकार्योपकारकत्वादिनिबन्धनोऽपि पटव्यपदेशः स्यात्। अत्र परिहारः—मुख्यं यदस्खलज्ज्ञानमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दृष्टि पट व्यवहार का निबन्धन (निमित्त) है। आशय यह है कि प्रत्येक तन्तु आच्छादन या शीत-निवारण में सक्षम न होने से उपकारी नहीं, परस्पर उपकार्योपकारकरूप में अवस्थित होकर तन्तु-समूह उपकारी है, यही उपकारिता पट-व्यवहार का निमित्त (प्रवृत्ति-निमित्त या शक्यतावच्छेदक) है। अथवा तन्तुवाय के द्वारा सम्पादित वह विशेष संयोग जो प्रावरणादि कार्य का साधक होता है, उससे युक्त तन्तु-समूह पट-व्यवहार का विषय होता है। जैसे तन्तु तुरि-वेम आदि के द्वारा सञ्चित न होकर बिखरे हुए विशेष प्रयत्न के बिना एकत्र नहीं होते, वैसी परावस्था नहीं—ऐसी विच्छेद-दृष्टि पट-व्यवहार का निमित्त है, फलतः व्यवहार-विशेष के द्वारा तन्तु और पट का भेद शंकनीय नहीं। प्रमाण पदार्थों के भेदाभेद का व्यवस्थापक होता है, शब्द-व्यपदेश नहीं, क्योंकि उसकी अन्यथा भी प्रायशः प्रवृत्ति हो जाती है।

शंका—यदि शब्द-व्यवहार का विषय भिन्न नहीं होता, तब पट-व्यवहार कहीं भी अपने मुख्य अर्थ में न होकर वैसे ही गौणार्थक ही रहेगा, जैसे "गौर्वाहीकः"—यहाँ पर वाहीक (असभ्यदेश वासी) के लिए ही 'गौ' शब्द का प्रयोग होता है। उसके आधार पर शौच-स्वच्छतादि से रहित असभ्य पुरुष के लिए ही 'गौ' शब्द का प्रयोग होगा, गोत्व-युक्त प्राणी के लिए नहीं, क्योंकि गोत्व की सत्ता पृथक् नहीं मानी जाती।

परिहार—मुख्यार्थ और गौणार्थ में से यह तभी मुख्य अर्थ होगा, जब कि तन्तुओं से भिन्न हो—यह आवश्यक नहीं, अपितु मुख्य सिंह में 'सिंह' शब्द का आदिम (प्रथम)

(११) अनुमान से जाति की सिद्धि नहीं—

अनुमानं च जात्यादौ वस्तुनो नास्ति भेदिनी ।
सर्वत्र व्यपदेशो हि दण्डादेरपि सांवृतात् ॥ १५४ ॥

'दण्डी'—इस प्रकार व्यवहार में वस्तुतः दण्ड निमित्त नहीं, अपितु सांवृत (आविधिक) निमित्त होता है, जैसे कि स्वाप्न व्यवहार में । यदि दण्डस्वलक्षण को उक्त व्यवहार का निमित्त माना जाता है, तब स्वाप्न व्यवहार में भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए । यदि दण्ड और पुरुष के संयोग-सम्बन्ध को उक्त व्यवहार का निमित्त माना जाता है, तब 'दण्डी पुरुषः' के समान 'पुरुषी दण्डः'—ऐसा भी व्यवहार होना चाहिए । परिशेषतः कल्पित दण्डरूप विशेषण है उक्त विशिष्ट व्यवहार का निमित्त मानना पड़ता है ॥ १५४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदादितः संकेतविषयन्तन्मुख्यम् । आदिसंकेतगोचरत्वेनास्खलत् ज्ञानत्वात् ।

यत्तु संकेतविषयवस्तुसाधर्म्येण प्रवर्त्तते तत्त्वाध्यारोपात् तदमुख्यम् । स्खलत् प्रत्ययविषयत्वात् । ऋजुप्रक्रमाभावे सादृश्यादाधेयान्तरानुसरणेन स्खलनम् । तत्सादृश्यं हि न तदनुसरणं विना । तस्मान्न मुख्यामुख्यभेदादर्थान्तरन्निमित्तम्पटादिशब्दानाम् ।

अथाऽनुमानाज्जात्यादिसाधनम् । तथा हि—

तद्रूपः प्रत्ययोऽन्यत्र स समानान्निमित्ततः । यथा दण्डीति संवित्तिः समानादेव दण्डतः ॥३०७॥

समानदण्डनिमित्तता हि विलक्षणेष्वपि पुरुषेषु दण्डीति समाना संवित्तिः । शाबलेयादिषु गौरिति बुद्धिर्विलक्षणेषु तत्र गोत्वन्निमित्तन्दण्डवत् । तदनुत्तरम् ।

(११) नानुमानतः सामान्यसिद्धिः ।

यतः—अनुमानञ्च जात्यादाविति ।

यदि सांवृतन्निमित्तं समानमाश्रित्य गवादिप्रत्ययाः शाबलेयादिषु वर्त्तन्ते । तदेतत् सिद्धसाधनमेव । यतो दण्डीत्यपि प्रत्यये न दण्डनिमित्तता । अन्यथा सर्वं एव दण्डिनः स्युः । अथ सम्बन्धाद् भवति । सम्बन्धोऽपि सम्बद्ध इति प्रत्ययादेव गम्यते ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

संकेत और माणवक में सिंह शब्द का पश्चाद् संकेत होता है । 'पट में पट' शब्द का आदि संकेत होने के कारण मुख्यार्थता ही है । माणवक में सिंहत्व का आरोप होने के कारण गौणार्थता है । ज्ञान का ऋजु (सीधा) सम्बन्ध न होना ही स्खलन है, माणवक में सादृश्य-मूलक सिंह-ज्ञान स्खलित माना जाता है । तत्सादृश्य तदनुसरण के बिना नहीं होता, फलतः पटादि शब्दों में मुख्यार्थता या गौणार्थता भेद या अभेद पर निर्भर नहीं । 'गौ' शब्द का विषयीभूत गोत्व सामान्य भी व्यक्ति से भिन्न नहीं ।

पूर्वपक्ष—अनुमान प्रमाण से जाति की सिद्धि इस प्रकार की जाती है—विभिन्न व्यक्तियों में "गोशब्द-जन्य विशिष्ट 'प्रतीतिः' विशेषणज्ञानजन्यः, विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डीपुरुषप्रतीतिवत्" ॥ ३०७ ॥ अर्थात् दण्ड-विशिष्ट पुरुष की प्रतीति जैसे दण्ड-ज्ञान से जनित है, वैसे ही गोत्व-विशिष्ट प्रतीति भी गोत्वरूप विशेषण के ज्ञान से जनित है । गोत्व जाति गो व्यक्तियों से पृथक् सिद्ध हो जाती है ।

(११) जाति की सिद्धि अनुमान से भी नहीं—

सिद्धान्त—उक्त अनुमान के द्वारा जाति की पृथक् सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि शाबलेयादि विभिन्न व्यक्तियों में सांवृतिक सामान्य को निमित्त मानकर समान

वार्तिकालङ्कारः

तत्रापि संबंधान्तरकल्पनायामनवस्था। अथ सम्बन्धमन्तरेण संबंधीति प्रत्ययः। तथा सति सम्बन्धोऽपि कल्पित एव ततः सांवृतादेव निमित्ताद् दण्डीति प्रत्ययः। स एव संबंधः समानः सर्वस्य। अथ दण्डसंश्लेषः सत्य एव न सांवृतः। तदप्यसत्। तद्व्यतिरेकेण संश्लेषाभावात्। द्वयमात्रे च संश्लेषे यथा दण्डी पुरुषस्तथा पुरुषी दण्ड इत्यपि स्यात्। अथवा द्वयमात्रप्रतिभासने परस्परं संसृष्टावेताविति भवेत् प्रत्ययो न तयोर्विशेष्यविशेषणभावः। अथ दण्ड उपकारकत्वादप्रधानन्तथा सति स एवोपकारकभावः सांवृतस्तत्र निमित्तम्। स च प्रत्यक्षेन प्रतिभाति ततो न तद्विशिष्टप्रत्यय ऐन्द्रियकः।

अथापि स्याद्। विशेषणभावः सांवृतः विशेषणस्तु दण्डः पारमार्थिक एव तथा गोत्वादिकमपि। न, दण्डस्य पारमार्थिकत्वं विवेकेन प्रत्यक्षेण ग्रहणात्। परमार्थत्वन्नैवञ्जात्यादेः समवायतो न विवेकेन ग्रहणमिति चेत्, समवायस्य कुतो भेदेनाप्रतिभासनम्। समवायान्तराच्चेत्, अनवस्था। किञ्च—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतीति मानी जाती है, तब सिद्ध-साधनता दोष है। 'दण्डी' इस प्रकार की प्रतीति में भी दण्डनिमित्तता नहीं, अन्यथा सभी दण्डी हो जायेंगे। दण्ड के संबंध से दण्डी क्यों न होगा? इस प्रश्न पर प्रश्न उठता है कि दण्ड का जो सम्बन्ध दण्ड और पुरुष को जोड़ता है, वह पुरुष से संबंधित है? या नहीं? यदि संबंधित है, तब जिस संबंध से संबंधित है, वह अन्य संबंध से संबंधित होगा—इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है। यदि किसी सम्बन्ध के बिना ही दण्ड को पुरुष-सम्बन्धी माना जाता है, तब सम्बन्धिता के समान ही सम्बन्ध को भी कल्पित या सांवृतिक मानना होगा। फलतः सांवृत निमित्त से ही दण्डी-प्रतीति सिद्ध होती है। सांवृत सम्बन्ध तो जाग्रत और स्वप्नादि में सर्वत्र समान है। दण्ड का पुरुष के साथ संश्लेश (संयोग) सत्य ही है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सम्बन्धियों से व्यतिरिक्त (भिन्न) सम्बन्ध होता ही नहीं, अन्यथा 'दण्डी पुरुषः'—इसके समान 'पुरुषी दण्डः'—ऐसी भी प्रतीति प्रसक्त होगी। अथवा दोनों सम्बन्धियों का समानरूपेण प्रतिभासन होने पर 'परस्परं संसृष्टावेतौ'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, 'दण्डी पुरुषः'—इस प्रकार विशेष्य-विशेषणभावापन्न नहीं। यदि प्रश्न किया जाय कि दण्ड उपकारक होने से पुरुष का विशेषण ही रहेगा, विशेष्य नहीं, तब पुरुषी दण्डः'—ऐसी प्रतीति प्रसक्त क्यों होगी? एवं दण्डगत उपकारभाव ही सांवृत रूप में उक्त प्रतीति का निमित्त होगा। सांवृत विकल्प होने से प्रत्यक्ष में प्रतिभासित नहीं होता, अतः 'दण्डी पुरुषः'—इस प्रकार का विशिष्ट प्रत्यय (ज्ञान) ऐन्द्रियक नहीं।

शंका—दण्डगत विशेषभाव सांवृत है किन्तु दण्डरूप विशेषण तो पारमार्थिक ही है, उसी प्रकार गोत्वादि जातियाँ भी परमार्थ हैं।

समाधान—दण्ड और गोत्वादि का महान् अन्तर है, क्योंकि पुरुषरूप विशेष्य की अपेक्षा दण्डपरमार्थतः विविक्त (पृथक्) सिद्ध है किन्तु गोत्वादि जातियाँ व्यक्तियों से परमार्थतः पृथक् सिद्ध नहीं। जाति व्यक्तिस्वरूप नहीं, अपितु व्यक्ति में जाति का समवाय सम्बन्ध है—ऐसा मानने पर समवाय का व्यक्ति के साथ सम्बन्धान्तर एवं उसका सम्बन्धान्तर इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है।

दूसरी बात यह भी है कि गोत्वादि पदार्थ पारमार्थिक ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि

वस्तुप्रासादमालादिशब्दाश्चान्यानपेक्षिणः ।
गेहो यद्यपि संयोगः तन्माला किन्तु तद्भवेत् ॥ १५५ ॥

"दण्डी पुरुषः"—इत्यादि विशिष्ट प्रतीतियाँ जिस दण्डरूप विशेषण के ज्ञान से जनित हैं, वह दण्ड दण्डी पुरुषरूप विशेष्य से भिन्न है, अतः यहाँ यह अनुमान फलित होता है—"विशिष्टज्ञानम् विशेष्यव्यतिरिक्तविशेषणज्ञानसापेक्षम्, विशिष्टज्ञानत्वाद् दण्डी पुरुषः इत्यादिवत्" । इस अनुमान का दो स्थलों पर व्यभिचार दिखाया जाता

वार्तिकालङ्कारः

पारमार्थिकतार्थस्य तत्राप्यस्त्येव सङ्गता । वाहदोहादिकङ्कार्यस्य परमार्थतयास्तु तत् ॥३०८॥

यथैव हि दण्डः पारमार्थिकः समानो दण्डीति प्रत्ययनिमित्तन्तथा वाहादयोऽपि गोत्वादिनिमित्तं शृङ्गादयो वा । शृङ्गादीनाम्भेद इति चेत्, दण्डादेरपि समानो भेद इति कथन्दण्डीति दृष्टान्तः । तस्माद् भिन्नमेवाभेदेन प्रतीयमानम् ।

जातिर्वाहादि सम्बन्धादपरा क्वचिदीक्ष्यते । तेषु गोत्वङ्क्रिमत्रेति शृङ्गादि व्यपदिश्यते ॥३०९॥

यथैव हि ब्राह्मणादिजातिप्रश्ने गोत्राध्ययनादयो व्यपदिश्यन्ते । न तु जातिस्तथा गोत्वेऽपि वाहदोहादिव्यपदेश इति नापरा जातिरस्ति प्रमाणविषयस्तस्मात् पारमार्थिकन्निमित्तन्नास्त्येव क्वचिदव्यपदेशविषयः साक्षादिति न जातिः परमार्थः व्यपदेशनिमित्तमेव जातिरिष्यते । स च सांवृतादेवेति व्यर्थिका जातिः ।

किञ्च । यदि सर्वत्र व्यपदेशः पारमार्थिकन्निमित्तमाश्रित्य प्रवर्त्तते तदाऽनपेक्षता शब्दस्य न स्याद्, दृश्यते च । यतः—वस्तुप्रासादमालादीति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थक्रिया-जनक पदार्थ को परमार्थ सत् माना जाता है । गोजातीय बैल हलशकटादि का वहन एवं गोयें दूध देती हैं ॥३०८॥ अर्थात् जैसे दण्ड पारमार्थिक होकर ही दण्डी-प्रत्यय का निमित्त होता है, वैसे ही वहन दोहनादि पारमार्थिक गोत्व के निमित्त होते हैं । अथवा शृङ्गादि परमार्थ हैं और परमार्थ गोत्व के निमित्त (गमक) हैं । गोव्यक्तियों में शृङ्गादि का भेद है, अतः वे एक अभिन्न गोत्व के निमित्त क्योंकर होंगे ? दण्डादि का भी तो भेद होता है । तब दण्डी—इस प्रकार की दृष्टान्तीभूत एक प्रतीति क्योंकर होगी, अतः यह मानना होगा कि शृङ्गादि भिन्न होने पर भी अभेदेन प्रतीयमान हैं, अतः अभिन्न गोत्व के निमित्त बन जाते हैं ।

वस्तुतः वाह-दोहादि के निमित्त से शृङ्गादि-समह-भिन्न कोई गोत्वजाति नहीं देखी जाती । 'गोषु गोत्वम्'—ऐसी प्रतीति गोगत शृङ्गादि को ही विषय करती है ॥३०९॥ जैसे ब्राह्मणादि जाति के विषय में प्रश्न किये जाने पर गोत्र और वेदाध्ययनादि निमित्तों का निर्देश किया जाता है, पृथक् किसी ब्राह्मणत्व जाति का नहीं, वैसे ही गोत्व के लिए वाह-दोहादि का ही व्यवहार किया जाता है, उससे भिन्न कोई गोत्व जाति प्रमाण का विषय नहीं । फलतः पारमार्थिक निमित्त कहीं भी व्यवहार का विषय नहीं, अतः जाति परमार्थतः पृथक् नहीं, निमित्त-समूह को ही जाति मान लिया जाता है । सांवृत निमित्त से सांवृत जाति की सिद्धि न्यायसंगत ही है । जातितत्त्व को पृथक् मानना व्यर्थ है ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि शब्द-व्यवहार पारमार्थिक निमित्त को लेकर ही प्रवृत्त होता है, तब शब्दों का विशेषण से निरपेक्ष प्रयोग न हो सकेगा किन्तु देखा

है—(१) 'द्रव्यं वस्तु' 'गुणो वस्तु'—इत्यादि विशिष्ट प्रतीतियाँ जिस वस्तुत्वरूप विशेषण की अपेक्षा रखती हैं, वह द्रव्यादि से भिन्न नहीं। (२) प्रासाद-माला (प्रासाद-पंक्तिः) इत्यादि स्थलों पर माला पदार्थ प्रासाद से भिन्न नहीं। माला को द्रव्यादिरूप मानने पर गृहादि में उसकी अवृत्तिता प्रसक्त होगी, क्योंकि गुणादि में द्रव्य नहीं रहता॥ १५५॥

जातिश्चेद् गेह एकोऽपि मालेत्युच्येत वृक्षवत्।
मालाबहुत्वे तच्छब्दः कथं जातेरजातितः॥ १५६॥

माला पदार्थ यदि जातिरूप है, तब प्रत्येक गेह को माला वैसे ही कहा जायगा, जैसे कि वृक्षत्व जाति रहने के कारण प्रत्येक वृक्ष को वृक्ष कहा जाता है किन्तु प्रत्येक गेह को माला न कहकर गेह-समूह को ही गेहमाला कहा जाता है। जहाँ गेहमालाएँ (गृह-पंक्तियाँ) बहुत होती हैं, वहाँ गेहमाला शब्द का प्रयोग होता है किन्तु माला को जातिपदार्थ मानने पर जाति में जाति नहीं रहती, अतः "मालानां माला"—इत्यादि प्रयोग क्योंकर होंगे ?॥ १५६॥

वार्तिकालङ्कारः

षट्सु पदार्थेषु यो व्यपदेशः प्रासादमालादिव्यपदेशश्च यः प्रासादादिषु स नापर-न्निमित्तमपेक्षते। न हि द्रव्यादिपदार्थेषु वस्तुत्वन्नामापरम्। न तावद् द्रव्यं वस्तुत्वम् हि द्रव्यं गुणादिषु समवेतं संयुक्तं वा। न च प्रासादोऽपि द्रव्यम्। संयोगो भविष्यति विजातीयानारम्भात्। अत्राह—यद्यपि गेहो नाम संयोगो माला तु किम्। तदाह—गेहो यद्यपि संयोग इति।

न द्रव्यन्न गुणो न कर्म द्रव्यस्य गुणेऽभावात्। न गुणस्तत एव। न च कर्म द्रव्या-श्रितत्वात् कर्मणः। न समवायविशेषौ तत्कार्याभावात्। ननु जातिर्माला भविष्यति जातेर्गुणेऽपि भावात्। तदाह—जातिश्चेद् गेह इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है, जैसे कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छः पदार्थों को वैशेषिकगण 'वस्तु' शब्द से अभिहित किया करते हैं। 'प्रासाद-माला' शब्द प्रासाद से अतिरिक्त निमित्त की अपेक्षा नहीं करता। 'वस्तु' शब्द द्रव्यादि से भिन्न किसी वस्तुत्व पदार्थ को निमित्त नहीं बनाता। द्रव्य को वस्तुत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुत्व तो गुणादि में भी है किन्तु वहाँ द्रव्य न समवेत है और न संयुक्त। प्रासाद को भी द्रव्य नहीं मान सकते, इष्टकादि का संयोग तो प्रासाद कहा जा सकता है। प्रासाद के आधारभूत विजातीय पदार्थ द्रव्य के आरम्भक नहीं हो सकते।

प्रश्न—प्रासाद या गेह तो इष्टकादि का संयोग है, किन्तु यह माला क्या है ?

उत्तर—'माला' न द्रव्य है, न गुण और न कर्म, क्योंकि माला गुणादि में है किन्तु उनमें द्रव्य नहीं रहता। अतएव माला को गुण भी नहीं कह सकते, क्योंकि गुणादि में गुण भी नहीं रहता। माला को कर्म भी नहीं कह सकते, क्योंकि कर्म में कर्म नहीं रहता अपितु द्रव्य में कर्म रहता है। समवाय और विशेष को भी माला नहीं कह सकते, क्योंकि वे सर्वत्र नहीं रहते।

शंका—माला को जातिस्वरूप माना जा सकता है। जाति, द्रव्य, गुण और कर्म सर्वत्र रहता है।

वार्तिकालङ्कारः

यथैकोऽपि वृक्षो धवादिक उच्यते वृक्षजातियोगात् तथा मालैकोऽपि गेहो जाते-रेकैकव्यपदेशनिमित्तत्वात्। अथ सन्निवेशविशेषो माला। एकदिङ्मुखावस्थितयो हि भावा युगपद्भाविनो मालाव्यपदेशभाजः। सोऽपि सन्निवेशो न द्रव्यादिव्यतिरिक्तः। तदभ्युपगमे सप्तमपदार्थान्तरप्रसङ्गात्। तदन्तर्भावे चोक्तो दोषः। यदि च माला जाति-स्तदा—मालाबहुत्वे तच्छब्द इति।

मालाबहुत्वे तच्छब्दः कथम्माला एता इति। जातेरजातितः। न हि जातौ जाति-रभ्युपगम्यते। अभ्युपगमे वा जातिरिति तत्रापि व्यपदेशो निर्निबन्धनो भवेत्। जाति-निबन्धनत्वे तत्राप्यपरा जातिरित्यसमञ्जसम्। तथा हि—

जातिर्जातिषु सामान्यव्यवहाराय कल्पिता। अत्रापि व्यवहारोऽसौ परजातिनिबन्धनः ॥३१०॥

सापि जातिर्व्यवहृतेर्विषयः परजातितः। इत्यनन्तप्रत्ययत्वात् प्रतीतेर्न समञ्जसम् ॥३११॥

ततो न मालादिशब्दवृत्तिः सनिबन्धना। किञ्च। मालादौ महती मालेत्यादि-र्महत्वादिव्यवहारो यः स कथम्भवेत् महत्त्वगुणस्य द्रव्यसमवायान्न च मालादिकन्द्रव्यम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—"जातिश्चेद् गेह एकोऽपि स्यात्"। अर्थात् जाति तो प्रत्येक व्यक्ति में रहती है, वैसे ही गेहमाला—यहाँ मालापदार्थ प्रत्येक गेह में रहता है, तब प्रत्येक गेह को माला कहना चाहिए किन्तु प्रत्येक को गेहमाला न कहकर गेह-समूह को ही गेहमाला कहा जाता है।

यदि गेहादि के सन्निवेश (अवस्थाविशेष) को माला कहा जाय, तब भी उसे द्रव्यादि से भिन्न नहीं मान सकते, अन्यथा सप्तम भावपदार्थ मानना होगा। द्रव्यादि के अन्तर्गत मानने पर गुणादि में द्रव्यादि के समान अवृत्तित्व प्रसक्त होता है।

माला को जातिस्वरूप मानने पर यह भी एक और दोष होता है कि जहाँ किसी बड़े नगर में गेहमालाएँ (गेहपंक्तियाँ) बहुत हैं, वहाँ 'गेहमालानां माला"—ऐसा माला में माला का व्यवहार होता है, वह कैसे होगा, क्योंकि जब जाति में जाति नहीं रहती, तब माला में माला कैसे रहेगी? वैशेषिकगण जाति में जाति नहीं मानते, जैसा कि प्रशस्तपादाचार्य ने कहा है—"द्रव्यादीनां त्रयाणामेव सत्तासम्बन्धः" (प्र० भा० पृ० ६)। किन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि घटत्व-पटत्वादि जातियों में जातित्व नाम की जाति न मानने पर सर्वत्र 'जाति' पद का प्रयोग प्रवृत्ति-निमित्त के बिना नहीं हो सकता। जातित्व को जाति मानने पर जाति में जाति और उसमें भी जाति-परम्परा-रूप अनवस्था प्रसक्त होती है। अर्थात् अनेक जातियों में 'जाति' पद की प्रवृत्ति के लिए यदि अन्य जाति मानी जाती है, तब जाति में जाति परम्परा की कल्पना से अनवस्था होगी ॥३१०॥ अनवस्था इसलिए कि सर्वजातियों में अनुस्यूत जातित्व में जाति पद की प्रवृत्ति के लिए अन्य (जातित्वत्व) नाम की जाति—इस प्रकार अनन्त जाति-प्रतीतियों के लिए अनन्त जाति की कल्पना बड़ी असमञ्जसता है ॥३११॥ इस प्रकार मालादि शब्दों का प्रयोग निर्निमित्तक ही सिद्ध होता है।

माला को जातिरूप मानने में एक अन्य आपत्ति यह है कि यदि गेहमाला बहुत लम्बी है, तब उसके लिए "महतीयं माला"—ऐसा व्यवहार होता है, वह क्योंकर होगा? क्योंकि महत्त्वरूप गुण तो द्रव्य में रहता है किन्तु माला द्रव्य नहीं। माला में महत्त्व-व्यवहार को औपचारिक (गौण) व्यवहार भी नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ यह

मालादौ च महत्त्वादिरिष्टो यश्चौपचारिकः ।
मुख्याऽविशिष्टविज्ञानग्राह्यत्वान्नौपचारिकः ॥ १५७ ॥

माला द्रव्य नहीं, अतः उसमें महत्त्व गुण नहीं रह सकता, अतः "महती माला"– यह प्रयोग औचारिक माना जाता है किन्तु उसे औपचारिक कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि "महती माला" यह प्रयोग मुख्य के समान ही असन्दिग्ध सर्वसम-सिद्ध है ॥ १५७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

उपचारादिति चेत् , तदसत् । यतः—मालादौ च महत्त्वादिरिति ।

मालादिषु महत्त्वोपचार इति कुत एतत् । न ह्यसावुपचरितत्वेन प्रतीयते । न चाप्रतीयमानन्तथा तथेति शक्यमभ्युपगन्तुम्प्रतीतिनिबन्धनत्वादुपगमस्य । अर्थान्तरभूतस्य महत्त्वस्याभावादिति चेत् , स एवाभावः कुतः ? अभावे सिद्धे उपचार उपचारे चाभाव इति सोऽयमितरेतराश्रयदोषः । मालाया अद्रव्यत्वान्महत्त्वं द्रव्यं धर्मो नेति चेत् , न, अद्रव्यत्वस्यैवासिद्धेः । क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणन्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमस्ति । क्रियावत्त्वन्नास्तीति चेत्, न, समुदितस्यालक्षणत्वात् । नाकाशादीनां क्रियावत्त्वं क्वचित् क्रियावदादिसमुदायः क्वचित् किञ्चिल्लक्षणमिति । अथ महत्त्वमेव नास्ति परमार्थतो विचार्यमाणमिति न द्रव्यम् । प्रत्ययस्य भावान्नास्तीति कुत एतत् । अमुख्यत्वात् प्रत्ययस्येत्यपि न सङ्गतम् । मुख्याविशिष्टत्वात् । यदि मुख्याविशिष्टस्यापि न मुख्यत्वम्मुख्यामुख्यविभाग एव न स्यात् । तस्माद् विशेषाभावात् सकलम्मुख्यन्न वा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रश्न उठता है कि मालादि में महत्त्व का उपचार है—ऐसा क्यों ? 'महती माला'—यहाँ पर औपचारिक रूप से महत्त्व की प्रतीति नहीं होती । प्रतीति के विपरीत कल्पना उचित नहीं मानी जाती । माला की अपेक्षा महत्त्व पृथक् नहीं, अतः उसमें उसकी प्रतीति औपचारिक है—ऐसा कहने पर जिज्ञासा होती है कि महत्त्व का माला से पृथक् अभाव क्यों ? पृथक् अभाव सिद्ध होने पर उपचार और उपचार होने पर पृथक् अभाव—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयता दोष प्रसक्त होगा । यदि कहा जाय कि माला द्रव्य नहीं, अतः उसमें रहने वाला महत्त्व द्रव्य का धर्म नहीं हो सकता । तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि माला में अद्रव्यत्व ही असिद्ध है । वैशेषिकगण द्रव्य का लक्षण करते हैं—"क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम् ।" माला में क्रियावत्त्व न होने से द्रव्यत्व का अभाव क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि क्रियावत्त्व, गुणवत्त्व और समवायिकारणत्व —ये तीनों जिसमें रहें, वह द्रव्य है, ऐसा यहाँ अभीष्ट नहीं, अन्यथा आकाश में क्रियावत्व न होने से द्रव्यत्व अव्याप्त हो जायगा । वस्तुतः उक्त तीनों धर्मों में से कोई धर्म किसी में और कोई किसी में, इस प्रकार कोई एक धर्म सुलभ हो जाने से द्रव्यत्व माना जाता है । माला में भी महत्वादि गुण होने से द्रव्यत्व सिद्ध हो जाता है । यदि कहा जाय कि माला में महत्त्व गुण है ही नहीं । विचार करने पर परमार्थतः उसकी सिद्धि नहीं होती, तब माला में द्रव्यत्व कैसे सिद्ध होगा ? इस पर प्रश्न उठता है कि जब माला महत्त्व की प्रतीति होती है, तब द्रव्यत्व क्यों नहीं ? प्रतीति मुख्य नहीं, गौण है—ऐसा कहना भी संगत नहीं, क्योंकि प्रतीति मुख्याविशिष्ट या मुख्यात्मक ही है । यदि मुख्याविशिष्ट प्रतीति में मुख्यता नहीं, तब मुख्यामुख्य-

अनन्यहेतुता तुल्या सा मुख्याभिमतेष्वपि ।
पदार्थशब्दकं हेतुमन्यं षट्सु समीक्षते ॥ १५८ ॥

विशेष्य से भिन्न विशेषण मुख्य और अभिन्न विशेषण गौण है—ऐसा कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि "दण्डी पुरुषः" इत्यादि मुख्य प्रयोगों में भी गौण के समान ही अभिन्ननिमित्तता ही मानी जाती है, वार्तिकार ने स्पष्ट कहा है—"सर्वत्र व्यपदेशो हि दण्डादेरपि सांवृतात् (प्र० वा० ३।१५४)। उसी प्रकार वैशेषिकों का द्रव्यादि छः में पदार्थत्व-व्यवहार का भी कोई भिन्न निमित्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वैशेषिकों के मत में द्रव्यादि छः पदार्थों से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं होता ॥ १५८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

किञ्चिदिति न्याय एषः। तस्मान्न स्वविहितैयन्द्रव्यादिप्रक्रिया परस्य। न च मालानाम काचिद् वृक्षादि व्यतिरेकेणोपलभ्यते प्रत्ययमात्रमेतदवस्था न विशेषतः। तस्मान्न मालादौ महत्त्वादिशब्द उपचरितो न मुख्यः। मुख्यस्तावन्नास्त्यर्थान्तरनिमित्तत्वाभावात्। नाप्युपचरित उपचारनिमित्तस्याभावात्। यथा हि वनं कुसुमितमिति वने कुसुमितत्वोपचार एकार्थसमवायतः। वृक्षेषु वनस्य कुसुमितत्वस्य समावेशात्। तथा हि—अनन्यहेतुता तुल्येति।

यदुक्तम्—अन्यहेतुर्मुख्योऽनन्यहेतुस्तदितर इति तदसम्भवि। यतो मुख्यार्थत्वेनापि येऽभिमता दण्डीत्येवमादयस्तेष्वपि नान्यो हेतुरिदानीमेव दण्डादेरपि सांवृतादित्युक्तम्। पदार्थशब्दश्च प्रवर्त्तमानः कमन्यं हेतुं षट्स्वपेक्षते द्रव्यादिषु। स्वरूपे च प्रवृत्तिनिबन्धने सैवानन्यहेतुता बलादापतेत्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विभाग ही न हो सकेगा। फलतः मुख्य से कोई अन्तर न होने से सकल प्रतीति मुख्य है या कोई भी मुख्य नहीं—यही न्याय है। अतः वैशेषिकगणों को यह स्वकपोल-कल्पित द्रव्यादि-प्रक्रिया उचित नहीं। 'गेहमाला', 'वृक्षमाला'—इत्यादि स्थलों पर गेह और वृक्षादि से भिन्न कोई माला पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, प्रतीतिमात्र है, अतः मालादि में महत्त्वादि शब्द औपचारिक हैं, मुख्य नहीं। मुख्य प्रतीति इसलिए नहीं कि गृह और माला का जो भेद मुख्य प्रतीति का निमित्त है, वह सिद्ध ही नहीं और उपचार का निमित्त कोई गुण सिद्ध न होने से उक्त प्रतीति औपचारिक भी नहीं। जैसे कि 'वनं कुसुमितम्'—यहाँ पर वन में कुसुमितत्व का उपचार होता है, क्योंकि वन में कुसुमितत्व का उपचार एकार्थसमवाय से है अर्थात् वृक्षों में वन और कुसुमितत्व—दोनों का समावेश होता है।

ऊपर यह जो कहा गया है कि विशेष्य से भिन्न विशेषण मुख्य और अभिन्न विशेषण अमुख्य या गौण होता है, वह असम्भव है, क्योंकि मुख्यार्थत्वेनाभिमत दण्डीगत दण्ड विशेषण भी परमार्थ नहीं, अपितु सांवृत है—यह अभी-अभी ऊपर कहा गया है। "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः" (प्रशस्त० पृ० २) इस प्रशस्तपाद-भाष्य के अनुसार द्रव्यादि के लिए प्रयुक्त 'पदार्थ' शब्द का कोई पारमार्थिक विशेषण या धर्म निमित्त नहीं बन सकता। उसे द्रव्यादिस्वरूप मानने पर भिन्नरूप मुख्य हेतुता न बन सकेगी और द्रव्यादि से भिन्न मानने पर सप्तम पदार्थ प्रसक्त होता है।

यो यथा रूढितः सिद्धस्तत्साम्याद् यस्तथोच्यते ।
मुख्यो गौणश्च भावेष्वभावस्योपचारतः ॥ १५९ ॥

वस्तुस्थिति यह है कि जो शब्द रूढि के आधार पर अनादि संकेत के माध्यम से जिस अर्थ का बोधक है, वह मुख्य और उसकी सदृशता को लेकर प्रवृत्त शब्द गौण कहलाता है। भावार्थक शब्द को मुख्य मानने पर कुपुत्र में प्रवृत्त अपुत्र शब्द भी मुख्य हो जायगा, क्योंकि कुपुत्ररूप भाव को ही वह विषय करता है ॥ १५९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथापि स्यात् । पदार्थशब्दो निमित्तान्तरेणैव प्रवृत्तः । स तत्र मुख्य इति युक्तम् । यस्तु पुनर्महदादिव्यपदेशः स गुणनिमित्तको यत्र निमित्तमन्तरेण प्रवृत्तिमान् अवश्यमेव तत्र गौणस्तस्मात् सदर्थो मुख्यस्तदितरस्तु गौणः । तदप्यसत् । यतः—यो यथा रूढित-स्सिद्ध इति ।

रूढितया निमित्तमन्तरेणान्यथा च प्रवृत्तो मुख्य एव तेन समानत्वमपेक्ष्य यत्र प्रवृत्तस्तत्रामुख्यस्तथाभावेऽपि पुत्रादावभावोपचारदर्शनाद् रूढिरेव मुख्यतानिबन्धनं सदर्थतायामितरथा चान्यथा च विपर्ययो दृश्यते । निमित्ताभावो ह्यन्यथाभावे निबन्धन-मुपचारस्य स्यात् ।

यत्तु पुनरुक्तम्—अनिबन्धन एव पदार्थशब्दः स तथैव मुख्य इति । एवन्तर्हि निमित्तप्रयुक्तता न मुख्यता निबन्धनन्तदभावेऽपि भावात् । यदभावे हि यद् भवति तत्तस्य निबन्धनन्न भवति । अन्वयव्यतिरेकलक्षणत्वात् कार्यकारणतायाः । कारणञ्च निबन्धनम् । अथ सैव रूढिः शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमन्तरेण कथम् । तदप्यसत् । यतः—संकेतान्वयिनी रूढिरिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—द्रव्यादि में प्रवृत्त 'पदार्थ' शब्द का निमित्त (शक्यतावच्छेदक) पदार्थत्व है और वह मुख्य है, गौण नहीं, किन्तु 'महती माला'—यहाँ प्रयुक्त 'महत्' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त महत्त्व गुण है। यदि माला द्रव्य नहीं, तब वह गुणवत्ता मुख्य नहीं गौण ही माननी होगी। फलतः सदर्थक (भावार्थक) विशेषण को मुख्य और उससे भिन्न (असदर्थक) विशेषण को गौण मानना चाहिए।

समाधान—उक्त शङ्का भी उचित नहीं, क्योंकि जो शब्द रूढ़ि (अनादि संकेत-सिद्धि) के द्वारा जिस अर्थ का बोधक है, वह मुख्य और उसका सादृश्य लेकर अन्य अर्थ में प्रवृत्त होता है, वह गौण—यह व्यवस्था ही सर्वोत्तम है। सदर्थक (भावार्थक) शब्द को मुख्य मानने पर कुपुत्र के लिए अपुत्रता का उपचार मुख्य ही हो जायगा, क्योंकि वह भी कुपुत्ररूप भाव को ही विषय करता है। रूढ़ि ही मुख्यता की निमित्त है। सदर्थत्व और असदर्थत्व में मुख्यता और गौणता की निमित्तता व्यभिचरित एवं बाधित भी है। मुख्यता के निमित्त का अभाव उपचार का निमित्त होगा।

यह जो कहा गया कि द्रव्यादि में प्रयुक्त पदार्थ शब्द निर्निमित्तक है। वह वैसे ही मुख्य है। तब यह मानना होगा कि निमित्त-प्रयुक्तता मुख्यता नहीं, क्योंकि निमित्त के अभाव में भी मुख्यता रह जाती है। जिसके अभाव में जो होता है, वह उसका निमित्त नहीं होता, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से कार्यकारणभाव सदैव आबद्ध रहता है। कारण कार्य का निमित्त होता है।

संकेतान्वयिनी रूढिर्वक्तुरिच्छान्वयी च सः ।
क्रियते व्यवहारार्थं छन्दः शब्दाङ्गनामवत् ॥ १६० ॥

रूढ़ि अनादि संकेत पर और वह वक्ता की अपनी इच्छा पर निर्भर है। उसका एकमात्र प्रयोजन व्यवहार का निर्वहन है। गायत्री आदि छन्दों में प्रकृति-प्रत्ययादि से व्यतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति-निमित्त प्रतीत नहीं होता ॥ १६० ॥

वार्तिकालङ्कारः

यत्र संकेतवृत्तिः स रूढोऽर्थः संकेतोऽपि वक्तुरिच्छानिबन्धनः। न हि शब्दाः प्रवृत्तिनिमित्तमस्तीत्येव वक्तुरिच्छामन्तरेणापि प्रवर्त्तन्ते। प्रवृत्तिनिमित्तमन्तरेणापीच्छयापि प्रवर्त्तमाना उपलभ्यन्त एव। यदा सिंहादिसंज्ञाः पुरुषे प्रवर्त्तन्ते। तस्मादिच्छायाः स्वातन्त्र्यात् सैव प्रवृत्तिनिबन्धनमिति न्याय्यम्। स एव निमित्तमन्तरेण कस्मात् संकेतेन शब्दः प्रवर्त्यते। निमित्तेऽपि कस्मात्। व्यवहारार्थमिति चेत्, सोऽयं व्यवहारः प्रवृत्तिनिमित्तमन्तरेणापि समानः। अर्थक्रियाविषये हि व्यवहारः। न च निमित्तमन्तरेणार्थक्रिया न भवति। निमित्तमन्तरेण न भवतीति चेत्, न हि ब्राह्मणा जातिमन्तरेणार्थक्रियासमर्थाः। न। अत्र प्रमाणाभावात्। न हि काचिज्जातिरस्तीति प्रमाणम्। यावदेव दृश्यते रूपमन्वयव्यतिरेकाभ्यां समर्थन्तावदेवोपयोगवदिति युक्तमन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तस्मान्निमित्तमन्तरेणापि व्यवहारार्थसंकेतकरणम्। यथा छन्दःशब्दस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जो रूढ़ि मुख्यता को प्रवृत्ति-निमित्त कही गई, वह अन्य प्रवृत्ति-निमित्त के बिना रूढ़ि कैसे? यह प्रश्न उचित नहीं, क्योंकि जिस अर्थ में शब्द-प्रवृत्ति अनादि संकेत-सिद्ध है, वह अर्थ रूढ़ कहलाता है। संकेत भी वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है क्योंकि वक्ता की इच्छा के बिना केवल प्रवृत्ति-निमित्त को देखकर शब्द अपने आप प्रवृत्त नहीं होते। इसके विपरीत इच्छा हो जाने पर प्रवृत्ति-निमित्त के बिना भी शब्द-प्रयोग देखा जाता है। जैसे कि पुरुष में सिंहादि शब्दों का प्रयोग। अतः पुरुष की इच्छा स्वतन्त्र है, वही शब्द-प्रवृत्ति-निमित्त है—ऐसा ही मानना न्यायसंगत है। यह जो कहा कि इच्छा होने पर निमित्त के बिना भी शब्द-प्रयोग उपलब्ध होता है, वह किसलिए? यदि कहा जाय व्यवहार के लिए। व्यवहार तो प्रवृत्ति-निमित्त के बिना भी सांवृतिक निमित्तमात्र से चल जाता है। अपनी अर्थक्रिया (प्रयोजन की सिद्धि) के लिए ही व्यवहार किया जाता है। प्रयोजन-सिद्धि निमित्त के बिना नहीं होती—ऐसा नहीं, स्वप्नादि में निमित्त के बिना ही अर्थक्रिया देखी जाती है।

आक्षेप—निमित्त के बिना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता, जैसे कि ब्राह्मणत्व जाति के बिना अध्यापनादि कार्य नहीं हो सकता।

समाधान—किसी भी जातितत्त्व की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं। पटादि पदार्थों का जितना स्वरूप दिखाई देता है—तन्तु एवं उनका विशेष आतान-वितान, बस इतना ही रूप अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा पटादि-व्यवहार में समर्थ (नियामक) है, उससे अतिरिक्त पटत्वादि जातियों की कोई परमार्थ सत्ता नहीं। अन्यथा कोई उसे पट कहता और कोई कुछ-और। निष्कर्ष यह है कि पटत्वादि निमित्तों के बिना ही जाति, गुण, द्रव्य, क्रियादि के व्यवहार सांवृतिक संकेतों पर निर्भर हैं। गायत्री आदि छन्द एवं प्रकृति-प्रत्यय आदि और उनके संकेत। गायत्री आदि छन्दों एवं प्रकृति आदि की

वार्तिकालङ्कारः

गायत्र्यादिनामसङ्केतः प्रकृत्यादिसङ्केतश्च। न हि तत्र किञ्चिन्निमित्तम्। गायत्र्यादीनाम्प्रकृत्यादीनाञ्च यथेष्टम्परिकल्पनात्। न हि वर्णक्रमे किञ्चिन्निमित्तमस्त्यन्यथाऽगृहीतसङ्केतोऽपि प्रतीयात्। विद्यमानं हि यत् प्रतीयते किन्तत्र सङ्केतेन। सङ्केतेन व्यज्यत इति चेत्, न, प्रतीतिमन्तरेण तस्यैवाभावात्। न ह्यप्रतीते सङ्केतः। सङ्केतादेव प्रतीतिरिति चेत्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्।

न यावद् दृश्यते वस्तु सङ्केतस्याप्रवर्त्तनम्। संकेतस्याप्रवृत्तौ च कुतो दर्शनसम्भवः ॥३१२॥

प्रकृत्यादयस्तु न व्यवस्थितरूपाः। तथा हि—

केषाञ्चित् सम्भवीत्येष धातुः पश्चादडागमः। अपरेषामसम्भवि सन्तीत्यादावलोपिता ॥३१३॥

तस्मादेवंविधे विषये व्यवहारमात्रप्रयोजन एव सङ्केतो न व्यतिरिक्तनिमित्तप्रयुक्तः। न च सङ्केत इच्छानुबन्धी निमित्त एव जातिर्भवति। व्यभिचारदर्शनेन व्यभिचारात् तस्माद् वस्तुप्रासादादिशब्दा न वस्तुभूतव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनास्ततो व्यपदेशसाम्यसद्भावान्न सामान्यम्परिकल्पनीयम्। कथन्तर्हि बुद्धिशब्दयोरनुगम इत्याह—न वस्त्वन्वयात् प्रत्ययस्यान्वयोऽपि तु वासनाबीजप्रबोधादन्वयः। यथाऽशोभनेऽपि वस्तु-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यथेष्ट कल्पना बिना किसी निमित्त के ही कर ली गई है। वर्ण-क्रमादि भी गायत्री आदि नामकरण के निमित्त नहीं हो सकते, अन्यथा कथित सङ्केत से अनभिज्ञ व्यक्ति भी वर्ण-क्रम देखकर छन्द समझ लेता। विद्यमान वस्तु तो प्रतीत होती है, संकेत की क्या आवश्यकता ? संकेत से वस्तु की अभिव्यक्ति होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतीति के बिना संकेत ही नहीं हो सकता। संकेत से प्रतीति मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है—संकेत से प्रतीति और प्रतीति से संकेत होगा। अर्थात् जब तक वस्तु दिखाई नहीं देती, तब तक संकेतकरण की प्रवृत्ति कैसे ? संकेत-प्रवृत्ति के विना वस्तु का दर्शन सम्भव नहीं ॥ ३१२ ॥

प्रकृति आदि पदार्थ तो व्यवस्थित ही नहीं, क्योंकि एक ही धातु से कभी अडादि का आगम, उसी से कभी अडादि का लोप और उसी से कभी अडादि का अलोप विहित होता है ॥ ३१३ ॥

केवल व्यवहार-निर्वाह के लिए ही संकेत किये जाते हैं, उनका अन्य कोई निमित्त नहीं होता। "गोत्वजातिर्गोशब्दनिमित्तं भवतु"—इस प्रकार इच्छा को भी निमित्त-नियामिका नहीं कह सकते, क्योंकि "गौर्वाहीकः" इत्यादि स्थलों पर उसका व्यभिचार देखने में आता है, जैसा कि कहा गया है—"गोत्वानुषङ्गो वाहीके" (वाक्यप. २।२५५)। फलतः द्रव्यादि के लिए 'वस्तु' शब्द और गृह के लिए 'प्रासाद' शब्द सब बिना किसी निमित्त के ही प्रयुक्त होता है। समान व्यक्तियों की आकार-समता को लेकर ही 'गौ-गौ' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति हो जाती है, गोत्वादि सामान्य की कल्पना सम्भव नहीं।

यदि विविध गो व्यक्तियों में 'गोत्व' जाति नहीं, तब सभी व्यक्तियों में एक 'गो' शब्द का प्रयोग एवं एकाकार ज्ञान क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है कि किसी जाति वस्तु का अन्वय होने से शब्द और ज्ञान का अनुगम नहीं होता, अपितु अनादि वासनाओं के प्रबोधन से वैसे ही होता है, जैसे कि किसी अशोभन वस्तु में भी अभ्यास-वश शोभनता का अनुगम होता है।

वस्तुधर्मतयैवार्थाः ताद्दग्विज्ञानकारणम् ।
भेदेऽपि यत्र तज्ज्ञानं ताँस्तथा प्रतिपद्यते ॥ १६१ ॥

यदि व्यक्तियों से सामान्य (गोत्वादि जाति) भिन्न नहीं, तब सभी व्यक्तियों में "गो:-गौः"—इस प्रकार का अनुगम (अन्वयबोध) कैसे होता है ? इसका उत्तर है— "स्वभावतः"। अर्थात् कुछ पदार्थों का ऐसा स्वभाव होता है कि उनका परस्पर भेद रहने पर भी वे उनमें एक अतद्व्यावृत्तिरूप अनुगत प्रतीति के कारण हो जाते हैं। स्वभाव से अतिरिक्त एक सामान्यवस्त्व कथित अन्वय-बोध का हेतु नहीं ।।१६१।।

ज्ञानान्यपि तथा भेदेऽभेदप्रत्यवमर्शने ।
इत्यतत्कार्यविश्लेषस्यान्वयो नैकवस्तुनः ॥ १६२ ॥
वस्तूनां विद्यते तस्मात् तन्निष्ठा वस्तुनि श्रुतिः ।

व्यक्तियों के भेद से उनके ज्ञानों का भी भेद है, तब अनुगत एक ज्ञान कैसे ? इसका उत्तर यह है कि उन ज्ञानों का भेद होने पर भी पदार्थों के समान ही वे स्वभावतः अभेद-भान के निमित्त हो जाते हैं। फलतः पदार्थों और उनके ज्ञानों में भी अतत्कार्यव्यावृत्ततया अनुगम हो जाता है, किसी एक सामान्य (जाति) वस्तु के कारण नहीं ।।१६२।। निष्कर्ष यह निकला कि व्यक्तिरूप वस्तुओं में ही अतद्व्यावृत्तिरूपेण अनुगति होने के कारण ही वह अनुगति वस्तुविषयिणी प्रतीत होती है, सामान्यविषयकत्वेन नहीं, क्योंकि सामान्य कोई पृथक् वस्तु ही नहीं है।

वार्तिकालङ्कारः

न्यभ्यासवशाच्छोभनत्वान्वयः। तथा हि—वस्तुधर्मतयैवार्था इति।

वस्तुनि हि तथाभूतं विज्ञानञ्जनयन्ति येन वासनाप्रबोधप्रक्रमेणैकाकारस्सर्वत्र-परामर्शप्रत्यय उदयमासादयति सुखादिवेदनमिव। न हि सुखादिविज्ञानानां सुखत्वं नाम पदार्थगतन्निबन्धनमस्ति। तथात्वे दुःखस्यानुदयप्रसङ्गात्। अथ तत्त्वमप्यस्ति। तदोभयरूपप्रतीतिप्रसङ्गो वर्णसंस्थानप्रतीतिवत्।

अथादृष्टेन निबन्धनान्नैवम्। तथा सत्यदृष्टमेव तथाभूताम्प्रतीतिमेव जनय-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यद्यपि गोव्यक्तियाँ भिन्न हैं, तथापि उनमें समानाकार विज्ञान-जनन सामर्थ्य मान लिया गया है, उसी के संस्कार-सन्तति के उद्बोधन से एकाकार प्रतीति हो जाती है, गोत्व-जाति उसका निमित्त नहीं। सुख-दुःखादि वेदनाओं में सुखत्व जाति न रहने पर भी केवल सुखादि-विज्ञान-सन्तान उस अनुगति का निमित्त है, सुखत्व जाति नहीं, अन्यथा दुःख का समुदय न हो सकेगा। यदि सुखत्व के साथ दुःखत्व को भी माना जाय, तब सुखा वेदना, दुःखा वेदना और अदुःखसुखा वेदना—इन तीनों में सुख और दुःख—दोनों का भान वैसे ही होना चाहिए जैसे विविध वर्णों और संस्थानों का करम्बित रूप।

शङ्का—एक ही घट में द्रव्यत्व, पृथिवीत्व और घटत्व की नौ जातियाँ रहती हैं किन्तु अदृष्ट के आधार पर व्यवस्था रहती है, सर्वत्र सबकी प्रतीति नहीं होती। वैसे ही सुखत्व व दुःखत्व दोनों जातियों के रहने पर भी समस्त वेदनाओं में उनकी प्रतीति नहीं होती, क्योंकि अदृष्ट उसका विधायक है।

वार्तिकालङ्कारः

तीति किन्नेष्यते। नियमकार्यदृष्टन्न विधानकारीति चेत्, न, प्रमाणाभावात्। विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्। नियमे अनेककल्पनाश्रयसम्भवात्। तथा हि—

सुखाद्यन्विततार्थस्य कल्पनीया तथाऽपरम्। अदृष्टं विधिकल्पे तु केवला दृष्टकल्पना ॥३१४॥

तस्माद् भेदे सत्येव क्वचिदभेदपरामर्शः। तदन्वयादेव सामर्थ्यादर्थसाधनम्। किमन्तर्गडुना सामान्येन। अन्तरकारणनिमित्तन्तु प्रत्ययानामवश्याभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा सामान्यतद्वतोराकारद्वयप्रतीतिप्रसङ्गात्। समवायादेकलोलीभाव इति चेत्, न, समवायस्यापि तृतीयाकारप्रतीतिप्रसङ्गात्। तस्मात् प्रतीत्य शक्तिरेव तत्रान्तरकारणाधीनाभ्युपगन्तव्या। तथा ज्ञानान्यपि तदेकपरामर्शजननादेवान्वयीनि जातयश्चेति, न, अपरजात्यभ्युपगमो युक्तः। शेषः प्रसङ्ग उक्त एव। तेनाभेदप्रत्यवमर्शेन कार्यत्वात् सामान्यव्यवहारः। तदेव तत्कार्यत्वं सामान्यमिति चेत्, न, स्वरूपव्यतिरेकेण तत्कार्यत्वस्याभावात्। अथापि स्यात्। तथा सति क्षित्युदकादीनामप्यङ्कुरकार्यत्वसद्भावादेकताप्रतीतिः स्यात्। तत्कार्यत्वप्रतीतिरस्त्येव सामान्यप्रतीरिति चेत्,

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—तब तो उसी अदृष्ट को ही सर्वत्र अनुगत प्रतीति का निमित्त मान लेना चाहिए, जाति मानने की क्या आवश्यकता ? अदृष्ट नियम कारक होता है, विधायक नहीं—ऐसा नियम प्रमाण-रहित है। जहाँ पर विधि और नियम—दोनों सम्भव हैं, वहाँ अवश्य विधि-पक्ष ही श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि नियम-पक्ष में अनेक कल्पनाओं का आश्रयण करना पड़ता है। जैसे कि "व्रीहीनवहन्ति" (आप० १।२१।७) यहाँ नियम्यमान अवघात पदार्थ में नख-विदलनादि साधनों की अपेक्षा सुखपूर्वक क्रियमाणता (सुकरता) की कल्पना, अवहन्यादेव—ऐसे नियम की कल्पना एवं नियम-जन्य अदृष्ट की कल्पनादि अनेक कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं किन्तु विधि-पक्ष में दृष्ट (श्रुत) साध्य-साधनभाव से अतिरिक्त अन्य किसी की भी कल्पना नहीं की जाती ॥ ३१४ ॥

यद्यपि एक गोव्यक्ति का अन्य गोव्यक्तियों से वैसा ही भेद है, जैसे कि अश्वादि व्यक्तियों से। तथापि गोव्यक्तियों का भेद अवभासित नहीं होता। भेद की अनवभासिता ही सामान्य-प्रतीति का साधन है, मध्यपाती सामान्य (जाति) की क्या आवश्यकता ? कहीं भेद अवभासित होता है और कहीं नहीं—इस अन्तर की निमित्तता समनन्तर प्रत्ययादि में माननी होगी। सामान्य को उसका निमित्त मानने पर सामान्य और सामान्य की आश्रयीभूत व्यक्ति—इन दोनों के दो आकारों का भान होना चाहिए, किन्तु होता नहीं। यदि कहा जाय कि जाति और व्यक्ति के समवाय के सम्बन्ध से जाति-व्यक्ति का एकलोलीभाव (एकाकारता) हो जाता है। तब जाति और व्यक्ति के साथ समवाय का भी एक तीसरा आकार भी प्रतिभासित होना चाहिए। फलतः व्यक्तिगत अवयव-समूह में कल्पित शक्ति ही वहाँ अन्तर (भेद) की नियामिका मानी जाती है। निष्कर्ष यह है कि 'अयं गौः', 'अयं गौः' यह सर्व व्यक्तियों में अन्वयी जातितत्त्व है, उससे भिन्न कोई जाति पदार्थ का अभ्युपगम उचित नहीं। शेष प्रसङ्ग कहा जा चुका है। सभी व्यक्तियों में अभेद-परामर्श के द्वारा ही सामान्य-व्यवहार उपपन्न हो जाता है। कथित परामर्श-कार्यत्व को ही सामान्य (जाति) मान लेना चाहिए—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि गवादि व्यक्तियों में उन स्वरूप से व्यतिरिक्त उक्त परामर्श-कार्यत्व देखने में नहीं आता।

वार्तिकालङ्कारः

न, गोत्वप्रत्ययवदेव स्यात्। तस्माद् भेदानुपलक्षणात् सामान्यप्रतीतिर्नान्यथेति स्थितमेतत्।

अथ सामान्यमेव तत्र प्रतीयत इति किन्नेष्यते। न वात्र नास्ति सामान्यमिति बाधकप्रत्ययोदयः। न च विवादायासेन प्रयोजनम्। अथैवानेककल्पनायासस्तथा विवादायासोऽपि समानः प्रसङ्गः। तदप्यसत्। यतः—

विवादमात्रसांकर्यमिति सामान्यमिष्यते। यदि संवृतिसत् प्राप्तमविचारैकगोचरः ॥३१५॥

न हि सामान्यं विद्यते विचार्यमाणम्। विचाराभावादभ्युपगम्यमानम् विचारैकणीमयमिति प्राप्तम्। एककार्यता तु—वस्तूनां विद्यते तस्मादिति।

तदैवैककार्यतालक्षणमतत्कार्येभ्यो व्यावर्त्तमानं सामान्यं विद्यते शावलेयादीनाम्। ततस्तत्प्रवृत्तिनिमित्तप्रयुक्तैव वस्तुनि श्रुतिः प्रवर्त्तताम्।

कथन्तर्हि विश्लेषस्यानाकारत्वादाकारवती सामान्यबुद्धिः। अत्र परिहारः—आकारवद् बुद्धिसम्बन्ध एव नियतस्तदन्यविश्लेषः सा च वासनासङ्गमादाकारवती

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—यदि तत्कार्यत्व को जाति माना जाता है, तब यव-व्रीहि आदि के अंकुरों में क्षित्यादिकार्यत्व के द्वारा अभेद-व्यवहार क्यों नहीं हो जाता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि सभी अङ्कुरों में अभेद-व्यवहार नहीं होता, तथापि क्षित्यादि-कार्यत्वरूप सामान्य की प्रतीति होती है।

समाधान—क्षित्यादि-कार्यत्वरूप सामान्य की प्रतीति तो सांवृतिक गोत्व की प्रतीति के समान मानी जा सकती है। फलतः व्यक्तियों में भेद का भान न होना ही सामान्य की प्रतीति है, अन्य कुछ भी नहीं।

शङ्का—"अयं गौः", "अयं गौः"—ऐसे स्थलों पर 'गोत्व' सामान्य की प्रतीति होती है—ऐसा क्यों नहीं मान लिया जाता? 'नास्त्यत्र सामान्यम्'—ऐसी कोई बाध प्रमा भी नहीं होती। व्यर्थ के विवाद से कोई लाभ भी नहीं। अथवा जैसे अनेक-कल्पना का प्रयास किया जाता है, वैसे ही विवादायास भी सही।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि यदि किसी विवादायास के संक्रमण (उभयपक्षगत समानदोष) से बचने के लिए सामान्य (जाति) मान लेते हैं, तब वह अविचारपूर्वक कल्पित सामान्य तत्त्व सांवृतिकमात्र होगा ॥३१५॥ क्योंकि गम्भीर विचार करने पर सामान्य की वस्तुतः सिद्धि नहीं होती। सम्यक् विचार की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण सामान्य पदार्थ आपात-रमणीय मात्र रह जाता है, क्योंकि पाद-पुच्छ-ग्रीवादि वस्तु की समानता से अतिरिक्त कोई गोत्व जाति उपलब्ध नहीं होती। सभी गो व्यक्तियों में एक 'गो' शब्द की प्रवृत्ति अगोभिन्नत्वेन हो जाती है। वही एकाकार्यता (एक गो शब्द-वाच्यता) है। उसी में ही सामान्य (जाति) का व्यहवार हो जाता है।

प्रश्न—अगोभिन्नत्वरूप विश्लेष (अपोह) का कोई आकार नहीं, उससे सामान्य में आकारवत्ता की प्रतीति क्योंकर होगी?

परिहार—वस्तुतः आकारवत्ता विज्ञान में है, वही आकारवत्ता परम्परया संस्कार-संगमन से अन्यापोहात्मक (गोभिन्नभिन्नत्व) में अवभासित होती है।

(१२) अन्यापोह पर विचार—

बाह्यशक्तिव्यवच्छेदनिष्ठाभावेऽपि तच्छ्रुतिः ॥ १६३ ॥
विकल्पप्रतिबिम्बेषु तन्निष्ठेषु निबध्यते ।
ततोऽन्यापोहनिष्ठत्वादुक्तान्यापोहकृत् श्रुतिः ॥ १६४ ॥

यद्यपि "गौः-गौः"—इत्यादि अनुगत व्यवहारों में अतद्व्यावृत्ति (अन्यापोह) का वाचक कोई पृथक् शब्द नहीं, तथापि प्रत्येक वस्तु में अतत्कार्य के व्यवच्छेद की शक्ति नैसर्गिक होती है, अतः गवादि शब्द भी अगोव्यवच्छेद या अन्यापोह के बोधन की शक्ति रखते हैं, अतः अन्यापोह का स्वतः भान हो जाता है।

विज्ञान में प्रतिबिम्बित घटादि-आकारों में संकेतिक घटादि शब्दों के द्वारा अघट-भिन्नत्वरूप विकल्प उत्पन्न किया जाता है। अतः घटादि शब्दों के द्वारा अघट-भिन्नत्वेन घटादि का बोध एवं अघट-भिन्नत्व घटादि में पुरुष-प्रवृत्ति कराई जाती है, फलतः प्रत्येक शब्द की अन्यापोहरूप अर्थ में शक्ति पर्यवसित होती है ॥ १६४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

पूर्वपूर्वताभूतप्रत्ययपरम्परायाता हि सा बुद्धिः। न च गौरयमिति प्रत्यये शाबलेयादि-व्यतिरिक्तमपरम्प्रमेयमस्ति। प्रमेयाकारप्रतिभासेन च प्रमेयव्यवस्थानं प्रमेयाकारशून्य-प्रत्ययमात्रात्। यदि तर्हि वासनाऽनादितासामर्थ्यादियम्प्रत्ययस्तत्र प्रतिबद्धत्वात् तदविसंवाद्येवास्तु कथं वस्तुसंवादः। तस्मान्न तत्कार्यव्यावृत्तिपरिच्छेदेन भवितव्यम्। सा च तत्कार्यता तस्य बाह्यस्य शक्तिरेव व्यावृत्तिर्वा बाह्यस्वरूपमेव। तस्य चान्वये सैव जातिर्न जातिप्रतिक्षेपः। तस्य च परिच्छेदे बाह्यमेव परिच्छिन्नम्भवेत्। न बाह्य-रूपस्य व्यवच्छेदस्याभावात्।

(१२) अन्यापोहचिन्ता—

बाह्यशक्तिव्यवच्छेदनिष्ठेति।

यद्यपि नाम बाह्यस्वरूपासंस्पर्शी विकल्पः शब्दादुदयवान्। तथापि तद्विकल्प-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

'गौरयम्'—इस प्रतीति में शाबलेयादि गो व्यक्तियों से अतिरिक्त अन्य (जाति आदि) प्रमेय का भान नहीं होता। किसी प्रमेय तत्त्व की व्यवस्था उसके आकार-प्रतिभास से होती है, आकार-शून्य प्रत्ययमात्र से नहीं।

शङ्का—यदि केवल अनादि वासनाओं के बल पर ही 'अयं गौः'—'अयं गौः' ऐसी प्रतीति होती है, तब ज्ञानाकार मात्र वस्तु की बाहर उपलब्धि न होने के कारण वह ज्ञान अविसंवादी न होकर विसंवादी ही होगा, किन्तु वह बाह्यार्थ-संवादी है—ऐसा क्यों ? फलतः 'गो' शब्द को प्रवृत्ति-निमित्त या गो-परिच्छेदक गोत्व पदार्थ बाहर व्यक्तियों में विद्यमान मानना होगा। वही सभी गोव्यक्तियों में अन्वयी धर्म ही जाति पदार्थ सिद्ध होता है, अतः जाति का प्रतिक्षेप (निराकरण) सम्भव नहीं। गो आदि व्यक्तियों का वह परिच्छेदक पदार्थ बाहर ही मानना उचित होगा।

(१२) अन्यापोह-चिन्ता—

यद्यपि 'गौः' आदि शब्दों के द्वारा बाह्य देशस्थ गवादि व्यक्तियों से असंस्पृष्ट जाति विकल्प उत्पन्न होता है। तथापि वह विकल्प बाह्यव्यक्तिनिष्ठ ही मानना

व्यतिरेकीव यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम् ।
शब्दात् तदपि नार्थात्मा भ्रान्तिः सा वासनोद्भवा ॥ १६५ ॥

घटादि शब्दों से जनित ज्ञान में जो अर्थाभासरूप बाह्यार्थ-प्रतीत होता है, वह बाहर न होकर अनादि संस्कारों से उभरा हुआ ज्ञानगत आकार ही होता है, उसी का केशोण्डुक के समान बाहर भ्रममात्र होता है। इसी का स्पष्टीकरण अद्वैत वेदान्त के "पञ्चदशी" ग्रन्थ में किया है—

"ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते ।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥
मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥" (४।२४।२५)

अर्थात् एक ही स्त्री में पुत्री, माता, भगिनी आदि की जो विभिन्न प्रतीतियाँ होती हैं, वहाँ केवल ज्ञान ही भिन्न होते हैं, ज्ञान का विषयरूप (स्त्री-आकार) भिन्न

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिबिम्बकम्बाह्यनिष्ठम्बाह्यद्वारेणोत्पत्तेः पारम्पर्येणोत्पत्तेरर्थासंस्पर्शि बाह्यनिष्ठमपि । तच्च प्रतिबिम्बकमन्यव्यावृत्तपदार्थजनितमन्यव्यावृत्तमेव प्रतिभाति । तदव्यतिरिक्तैव व्यावृत्तिः शब्दात्प्रतीयते न बाह्यव्यतिरिक्ता । तेनान्यव्यावृत्ताकारविकल्पजननादन्यापोहकृच्छ्रुतिरुक्ता । अन्यव्यावृत्तेषु प्रवर्त्तनाच्च । ततो हि विकल्पादबाह्यसंस्पर्शिनोऽप्यन्यव्यावृत्तेषु व्यवहारिणां वृत्तेरन्यव्यावृत्तिर्विषय उच्यते ।

ननु बुद्धिव्यतिरिक्तं विकल्पस्य ग्राह्यन्तत्कथन्तस्य बुद्धिरूपता । न हि तद्व्यतिरेकेण प्रतिभासमानन्तदेव भवति । भेदप्रतिभासो हि भेदलक्षणन्तदन्यस्य भेदनिबन्धनस्याभावात् । नाभेदप्रतिभासमात्रस्यातल्लक्षणत्वात् । अभ्रान्तो हि भेदप्रतिभासो भेदलक्षणन्न तु यः कश्चित् । इदन्तु पुनः—व्यतिरेकीव यज्ज्ञान इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होगा, क्योंकि बाह्य पदार्थ के द्वारा वह उत्पन्न ज्ञान का विषय है। बाह्य व्यक्ति-दर्शन-जनित संस्कार का विषय होने से वह परम्परया बाह्यार्थ से जनित है। ज्ञान-प्रतिबिम्बित वह (सामान्याकार) अन्य-व्यावृत्ति (अन्यापोह) रूप है। 'अयं गौरेव, न तु अगौः'—ऐसी प्रतीति के आधार पर वह जातिविकल्प अन्य-व्यावृत्तिस्वरूप ही सिद्ध होता है, उससे भिन्न नहीं। वह अन्य व्यावृत्तिरूपता बाह्य व्यक्तियों से भिन्न नहीं, अपितु अव्यतिरिक्त ही शब्दों (गवादि पदों) से वही प्रतीयमान है। फलित अर्थ यह निकला कि 'अयं गौः'—इत्यादि शब्दों के द्वारा व्यवहार करनेवाले पुरुषों को उसी (अन्यापोह) की प्रतीति होती है, अतः गोत्व जाति का स्वरूप है—अगोभिन्नत्व (गोभिन्न-भिन्नत्व)। इसी अन्यापोह का संक्षिप्त नाम अपोह या व्यावृत्ति है।

शङ्का—जब कि ज्ञान से भिन्न जाति विकल्प अवभासित होता है, तब वह विज्ञानस्वरूप क्योंकर होगा? जो जिससे भिन्न अवभासित होता है, वह उसका स्वरूप नहीं होता, जैसे घट से भिन्न पट। भेद का प्रतिभास ही भेद का लक्षक होता है, उससे भिन्न अन्य कोई भेद का साधक नहीं होता।

समाधान—भेद का भ्रम-प्रमा-साधारण प्रतिभास भेद का साधक नहीं होता, अपितु अभ्रान्त (प्रमात्मक) प्रतिभास ही भेद का गमक होता है। किन्तु यह जाति-

नहीं होता—इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर दिया गया है कि प्रकृत में स्त्री के दो आकार हैं—(१) मांसमयी और (२) मनोमयी आकार। मांसमयी आकार के एक होने पर भी पिता, पुत्रादि के द्वारा कल्पित पुत्री, माता आदि आकार भिन्न हैं। ये मानस कल्पनाएँ अपने संस्कारों से वैसे ही प्रसूत हैं, जैसे तैमिरिक-द्वारा कल्पित केशोण्डुक ॥ १६५ ॥

तस्याभिधाने श्रुतिभिरर्थे कोऽशोऽवगम्यते।
तस्यागतौ च संकेतक्रिया व्यर्था तदर्थिका ॥ १६६ ॥

उस (ज्ञानाकार) का श्रुतियों (गवादि शब्दों) के द्वारा अभिधान होने पर बाह्य अर्थ का कौन-सा अंश प्रतीत होगा? अर्थात् कोई भी नहीं। उसका भान न होने पर "अस्य शब्दस्यायमर्थः"—इस प्रकार की संकेत क्रिया भी सम्भव नहीं, क्योंकि वह तदर्थिका (अन्यापोहार्थिका) मानी जाती है ॥ १६६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यद्यपि वर्णसंस्थानप्रतिभासि तत्तथापि न तद्वस्त्वपि तु तत्प्रतिबिम्बकम्। को विरोध इति चेत्, यतो वासनालक्षणाद्धेतोरुत्पत्तिरस्य तथापि कस्मादवस्तु। आन्तर-कारणमात्राधीनत्वात् तैमिरिकोपलब्धकेशादिवत्। अथ वासनाबलादुत्पद्यमानमपि वस्त्विव। नैवं वस्तु भवतीति वक्ष्यामः।

तदेव तर्हि बुद्धिलक्षणं वस्तुशब्देन विधीयते। तदेवान्यापोहो वस्तुभूत इति केचित्। तथा हि—तस्याभिधाने श्रुतिभिरर्थं इति।

अपि नाम शब्दाद् वस्तुलेशप्रतिपत्तिः स्यादिति सङ्केतः क्रियते न बुद्धिप्रति-बिम्बकमात्रप्रतिपादनाय। अतः सङ्केतक्रियाव्यर्थिका वस्त्ववबोधनार्थत्वात् तस्याः। न तर्ह्यन्यापोहोऽपि शब्दार्थः। ततस्तत्रापि सङ्केतक्रिया न भवेत्। तस्याप्यन्यापोहस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिभास भ्रमात्मक है। अर्थात् यद्यपि 'अयं गौः' इत्यादि शब्दों के द्वारा रूप और आकार-समन्वित सामान्य तत्त्व बाह्य प्रतिभासित होता है, तथापि वह कोई वस्तु नहीं, अपितु केशोण्डुक के समान भ्रममात्र है। उसे परमार्थ मानने में क्या विरोध? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह स्वाप्न पदार्थों के समान केवल वासनाओं से उत्पा-दित आभासमात्र है। वासना के बल पर उत्पद्यमान पदार्थ वस्तुरूप क्यों नहीं? इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

वह सामान्य विकल्प ही ज्ञानाकार वस्तु माना जाता है, उसे ही कतिपय विद्वान् कहते हैं—"अन्यापोहो वस्तुभूतः"। अर्थात् अन्यापोह वस्तुभूत पदार्थ है। दूसरी बात यह भी है कि गवादि का संकेत इसीलिए किया जाता है कि उनसे किसी वस्तुभूत अर्थ की प्रतीति हो, न कि स्वाप्नार्थ के समान केवल बुद्धिप्रतिबिम्ब मात्र का प्रतिपादन करने के लिए, क्योंकि उसका बोध कराने के लिए संकेत क्रिया ही नहीं बनती जब कि संकेतकरण वस्तु का बोध कराने के लिए किया जाता है।

शङ्का—यदि ऐसा है, तब अन्यापोह भी शब्दार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें भी संकेत-क्रिया सम्भव नहीं, वह भी तो केवल बुद्धिगत एक प्रतिबिम्बमात्र है।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि अन्यापोह वस्तुभूत शब्दार्थ है, क्योंकि यदि अन्यापोह भी बुद्धि-प्रतिबिम्बमात्र है तब उसके प्रतिपादन में 'अन्यापोह'

शब्दोऽर्थांशं कमाहेति तत्रान्यापोह उच्यते ।
आकारः स च नार्थोऽस्ति तं वदन्नर्थभाक् कथम् ॥ १६७ ॥

'गौ' शब्द का अर्थ जब बहिर्देश में है ही नहीं, तब 'गामानय'—ऐसा कहने पर बाह्यार्थ में श्रोता की प्रवृत्ति क्यों होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि 'गोशब्दः कमर्थांशमाह ?'—इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—अन्यापोह । अर्थात् 'गो' शब्द जिस अगोभिन्नत्वरूप अर्थ को कहता है, वह बाहर विद्यमान सभी गो व्यक्तियों में अनुस्यूत है, अतः उस शब्द के सुनने पर श्रोता की बाह्यार्थ में प्रवृत्ति हो जाती है, किन्तु जो ज्ञान का आकार है, वह अर्थ का नहीं, अतः शब्द बाह्यार्थ का अभिधायक कैसे होगा ? ॥ १६७ ॥

शब्दस्यान्वयिनः कार्यमर्थेनान्वयिना स च ।
अनन्वयी धियो भेदाद् दर्शनाभ्यासनिर्मितः ॥ १६८ ॥

दूसरी बात यह भी है कि अन्वयी अर्थ के साथ अन्वयी शब्द का संकेत-सम्बन्ध व्यवहार-निर्वाहार्थ किया जाता है, किन्तु उक्त बुद्धिगत आकार स्वलक्षण-दर्शनाभ्यास-जनित संस्कारों से निर्मित है अतएव अनन्वयी है, क्योंकि अनन्वयिनी बुद्धि से अभिन्न है ॥ १६८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

बुद्ध्याकारत्वात्, न, शब्दार्थाशब्दस्यैवान्यापोहत्वात् । यतः—शब्दोऽर्थांशक माहेतीति ।

यदि स एवान्यापोहस्तदा तस्य प्रतिपादने नार्थांशताऽन्यापोहस्य स्यात् । अर्थांश एव ह्यन्यापोहोऽर्थांशं शब्दः कमाहेति प्रश्ने प्रतिवचनमन्यापोह इति । स चार्थे नास्त्याकारो बुद्ध्याकारत्वात् । यो हि नार्थेन तत्प्रतिपत्त्यार्थप्रतिपत्तिस्तिमिरिककेशादिप्रतिपत्तिवत् । किञ्च । सामान्यमन्यापोह इतीष्यते । यतः—शब्दस्यान्वयिनमिति ।

शाब्दो हि शावलेयादिष्वन्वयी दृश्यते । तस्य चान्वयिनोऽन्वयिनार्थेन प्रयोजनेन भवितव्यम् । स चाकारोऽनन्वयी धियो भेदाभावात् । दर्शनाभ्यासेन जनितत्वाद् बुद्धि-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शब्द किसी वस्तुभूत अर्थांश को न कह सकेगा । अन्यापोहशब्दः कमर्थांशमाह ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है—शब्द अन्यापोह को कहता है, अतः अन्यापोह वस्तुभूत अर्थ होना चाहिए । वह अन्यापोह बाह्य अर्थ का आकार नहीं, क्योंकि वह आन्तरिक ज्ञान का आकार है । जो आकार बाह्यार्थ में नहीं, उसकी प्रतिपत्ति से अर्थ का बोध नहीं होता, जैसे तैमिरिक पुरुष को दिखनेवाला केशोण्डुक । दूसरी बात यह भी है कि सामान्य (गोत्वादि जाति) को अन्यापोहात्मक (अगोभिन्नत्वरूप) माना जाना ही उचित है, क्योंकि शाब्दबोध का विषयीभूत अन्यापोह पदार्थ शाबलेयादि गोव्यक्तियों में अनुस्यूत प्रतीत होता है, किन्तु अन्वयी पदार्थ का ही अन्वयी के साथ सम्बन्ध सार्थक होता है, अनन्वयी का नहीं । अन्यापोह पदार्थ बाह्य पदार्थों का अन्वयी नहीं, क्योंकि वह ज्ञान का आकार एवं ज्ञान से अभिन्न है । वस्तु-दर्शन-जनित संस्कारों से जनित होने के कारण ज्ञान के समान ही अर्थानन्वयी है । जैसे मृत्तिकारूप कारण घटादिरूप-सर्वकार्यान्वयी होता है, वैसा घटादि कार्य अन्वयी नहीं होता, क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद होता है, फलतः अन्यापोहरूप कार्य भी अन्वयी

तद्रूपारोपगत्यान्यव्यावृत्ताधिगतेः पुनः ।
शब्दार्थोऽर्थः स एवेति वचने न विरुध्यते ॥ १६९ ॥

यदि अर्थ शब्द का विषय नहीं, तब उसका अन्यापोहरूप धर्म कैसे वाच्य होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—बुद्धिगत आकार में अपोहांश का आरोपगत्या एकत्वाध्यवसायतः अन्यव्यावृत अर्थ की अधिगति हो जाती है, अतः अन्यापोह शब्दार्थ कहा जाता है। यदि बुद्धिगत आकार की अन्यव्यावृत्तार्थत्वेन प्रतीति होने के कारण वह आकार ही शब्दार्थ है—ऐसा कहा जाता है, तब कोई विरोध नहीं रह जाता, क्योंकि अनन्वयी बुद्ध्याकार में शब्दार्थता अभीष्ट नहीं ॥ १६९ ॥

मिथ्यावभासिनो वैते प्रत्ययाः शब्दनिर्मिताः ।
अनुयान्तीममर्थांशमिति चापोहकृत् श्रुतिः ॥ १७० ॥

शब्द-जनित प्रतीतियाँ मिथ्या हैं, क्योंकि शब्द का सम्बन्ध जिस ज्ञानाकार से है, वह बाहर नहीं और जो बाहर है, उससे शब्द का सम्बन्ध नहीं। तब प्रश्न उठता है कि यदि शब्द से अन्यापोहरूप अर्थांश का सम्बन्ध नहीं, तब "अन्यापोहकृत् श्रुतिः"-ऐसा कहना क्योंकर संगत होगा ? इसका उत्तर है—"इममन्यापोहमर्थांशं शब्दा अतत्प्रतिभासित्वेऽपि अनुयान्ति"। अर्थात् अर्थ-दर्शन-जनित संस्कारों की देन होने के कारण कैसा व्यवहार होता है ॥ १७० ॥

वार्तिकालङ्कारः

वदेवानन्वयी। न हि कार्यस्यान्वयित्वं युक्तं कारणभेदेन भेदात्। तस्मादनन्वयित्वादेव नापोहः प्रतिबिम्बकम्। तस्मान्न वस्त्वन्यापोहो नापि बुद्ध्याकारः। कथन्तर्हि शब्दादर्थप्रतीतौ सामान्यप्रतीतिः। वस्तुगतव्यावृत्तिप्रतीतौ हि वस्त्वेव प्रतिपन्नन्न च तत्सामान्यम्।

अथ वस्तु न प्रतीयते कथं वस्त्वंशरूपान्यापोहगतिः। अत्राह—तद्रूपारोपगत्यति।

बुद्धिरूपमेव वस्त्वारोपेण तदेकत्वाध्यवसायात् प्रत्येति न परमार्थतः। तच्चान्यव्यावृत्तमित्यन्यापोहः शब्दार्थः। तच्च सर्वत्र बुद्धिरूप(बाह्यैर्थेनारोप)मध्यारोप्यते। ततः सामान्यमन्यपोहो वस्त्वंशश्चेति प्रतीयते। तथा हि—मिथ्यावभासिनो वेत इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं, अनन्वयी होने के कारण अपोह वस्तु नहीं अपितु आभासमात्र है। उसके लिए इतना ही कहा जा सकता है कि "न वस्तु अन्यापोहो नापि बुद्ध्याकारः"। तब शब्द से अर्थ की प्रतीति होने पर सामान्य (जाति) की प्रतीति कैसे होती है ? इसका उत्तर यह है कि गवादि व्यक्तिरूप वस्तु में अनुस्यत अन्यव्यावृत्ति की प्रतीति होने पर व्यक्ति-पदार्थ ही प्रतिपन्न होता है, सामान्य (जाति) नहीं।

प्रश्न—यदि शब्द के द्वारा बाह्यार्थ की प्रतीति नहीं होती, तब उसके स्वरूपभूत अन्यापोह की प्रतीति कैसे होगी ?

उत्तर—"बुद्धिरूपमेव वस्तु"—इस प्रकार का एकत्वाध्यवसाय होने के कारण ही उसकी प्रतीति होती है, परमार्थतः नहीं, वह अन्य-व्यावृत्तरूप है। अतः अन्यापोह-पदार्थ है। उसी बुद्धिरूप पदार्थ में बाह्यरूपता का अध्यारोप करके तद्गत सामान्यरूप अन्यापोह वस्तु है—ऐसी प्रतीति हो जाती है। वह प्रतीति मिथ्यावभास होने के कारण

वार्तिकालङ्कारः

मिथ्यावभासत्वान्न वस्तुविषयः। अन्यापोहस्य च सत्यत्वान्न हि तत्र बाधकमस्ति। यथा वस्त्वाकारे बाधको हि न तत्र प्रवर्त्तते। अन्यव्यावृत्तोऽयन्न भवतीति। ततो बाधकभावाभावाभ्यामप्रतिपन्नेतरव्यवस्था संव्यवहारतो न परमार्थतः।

तस्मादबाधितत्वादन्यापोहप्रतिपादनस्य बाधितत्वादितरस्यापोहः शब्दार्थ इत्यवगम्यते। तेन तमन्यापोहं शब्दार्थमनुयान्ति शब्दा अनिष्टपरिहारेण च वर्त्तयन्तीति सामान्यापोहकारिणी श्रुतिः।

अथवा विकल्पप्रतिबिम्बकमेवान्यापोहो बाह्यत्वेनाध्यवसितो भवतीति न दोषो न तु स्वेन रूपेण। तस्मान्न किञ्चित् स्वेन रूपेणाविधेयं शब्दस्येति न विधिः शब्दार्थः।

ननु स्वरूपे प्रतिभासमाने ज्ञानस्य कथं बाह्ये प्रवर्त्तते। बाह्यत्वेनाध्यवसायात्। कोऽयमध्यवसायः। तद्व्यवहारविषयतया व्यवस्थानम्। कथमन्योन्यव्यवहारविषयः। तत्रानुरागाभ्यासात् सादृश्याद् गोत्रस्खलनवत्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वस्तुविषयिणी नहीं, अन्यापोह व्यवहार-काल में सत्य है, क्योंकि उसका बाध नहीं होता। अर्थात् "अन्यव्यावृत्तोऽयं न भवति"--इस प्रकार का बाध नहीं, अतः वह सत्य है। फलतः अर्थात् व्यवहार-काल में जिस ज्ञान का बाध नहीं उपलब्ध होता उसे सत्य और जिसका बाध उपलब्ध होता है, उसे मिथ्या मान लिया जाता है परमार्थतः वह वैसा नहीं होता। फलतः अन्यापोह का प्रतिपादन अबाधित तथा अन्यापोह से भिन्न अन्यत्व का बाध हो जाने के कारण अन्यापोह ही गवादि शब्दों का अर्थ पर्यवसित होता है। अतएव गवादि शब्द अन्यापोह का ही अनुगमन करते हुए अनिष्ट (इतर) अर्थ का परिहार करते हुए अन्यापोह का बोध कराते हैं। इसी का निष्कर्ष वाक्य है—"अन्यापोहकृत् श्रुतिः"।

अथवा अन्यापोह वस्तुरूप न होकर एक विकल्प प्रतिभास है। आन्तरिक होने पर भी बाह्यत्वेन अध्यवसित (आरोपित) होता है, स्वरूपतः प्रतीयमान नहीं। अतएव गवादि शब्दों के द्वारा कोई (सामान्यादि) विधेय पदार्थ नहीं, अतः शब्द का संकेत किसी विधेयार्थ में न होकर अन्यापोह में ही है।

प्रश्न—अन्यापोह यदि ज्ञान का स्वरूप है, तब उसकी प्रतीति से बाह्य पदार्थ में श्रोता की प्रवृत्ति क्योंकर होगी ?

उत्तर—यद्यपि अन्यापोह आन्तरिक है, तथापि बाह्यत्वेन अध्यवसित है, अतः उसके ज्ञान से बाह्यार्थ में प्रवृत्ति हो जाती है।

प्रश्न—यह अध्यवसाय पदार्थ क्या है ?

उत्तर—अध्यवसाय का अर्थ यहाँ अध्यारोप है। जैसे—शुक्ति में रजत का अध्यारोप होता है, अतएव जैसे शुक्ति में 'रजतमिदम्'—इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता आ जाती है, वैसे ही अन्यापोह में बाह्य गवादि व्यक्तियों की वृत्तिता का व्यवहार होने लगता है।

प्रश्न—शुक्ति में रजत-व्यवहार की विषयता कैसे होगी ?

उत्तर—यद्यपि शुक्ति में रजतरूपता या रजतपदार्थता कभी नहीं रही, तथापि पूर्वपूर्वाध्यास-जनित उत्तरोत्तर व्यवहार होता जाता है, शुक्ति और रजत दोनों सदृश (चमकीले) हैं, अतः जैसे दो सदृश (समानरूपरंग के) छात्रों में समानगोत्रता का भ्रम हो जाता है, वैसे ही शुक्ति में रजत-व्यवहार हो जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

ननु तत्रान्यरूपाध्यारोपोऽध्यवसायः। न, अध्यारोपस्यापि ज्ञानान्तरत्वात्। यदि तेन तद् वस्तुप्रतिपन्नं कोऽध्यारोपः। अन्यत्र प्रतिपन्नमिति चेत्, किन्तदन्यत्रास्ति। तथेति चेत्, नाध्यारोपः सत्यत्वात्। अथ नास्ति ज्ञानमेव तर्हि कथमन्यस्याध्यारोपः। यत्रापि तदध्यारोप्यते तदपि ज्ञानरूपमर्थरूपं वा। तदा तत्रारोप इति कोऽर्थः। तत्र तत्प्रतिपन्नन्तेन सह प्रतिपन्नन्तदा च नाध्यारोपः। अथाविद्यमानमेव विद्यमानतया प्रतीयते। किमविद्यमानता प्रतिपन्ना। अन्येन प्रतिपन्ना तद्रूपस्यानुपलम्भादिति चेत्, न, तस्यागोचरत्वात् कथमभावः। गोचरीभूतस्य हि वस्तुनोऽनुपलम्भो गमकः। इन्द्रिय-वैगुण्यात् तथा प्रतिपत्तिरिति चेत्, अपूर्वप्रतिपत्तिरेव सा, नाविद्यमानप्रतिपत्तिः। तस्य तदैव विद्यमानत्वात्।

अथाप्राप्यव्यवहारन्न करोति प्राप्यव्यवहारकरणात्। एवन्तर्हि तदन्यव्यवहार-करणमेव तदन्याध्यारोप इति, तदेवायातमन्यव्यवहारविषयीकरणमध्यारोपः। तस्मा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—यह जो कहा गया कि अन्य (अरजतादि) विषय में अन्यरूप (रजतादि) का अध्यारोप अध्यवसाय (अध्यारोप) कहलाता है, वह उचित नहीं, क्योंकि 'इदं रजतम्'—यहाँ 'इदम्' की अपेक्षा 'रजतम्'—यह ज्ञान भिन्न है, पूर्व ज्ञान के विषय में किसी प्रकार का अध्यारोप नहीं। यदि द्वितीय ज्ञान के द्वारा रजत प्रतिपन्न है, तो क्या हुआ? इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि वह रजत अपने विषय में ज्ञात न होकर भी अन्यत्र (अरजतरूप शुक्ति में) प्रतिपन्न है, अतः अध्यारोप है। तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि अध्यारोप तो भिन्न ज्ञान होता है किन्तु यह वही शुक्ति का ज्ञान है। यदि वहाँ रजत का ही ज्ञान है, तब वह भ्रम कैसे? इसका उत्तर यदि यह दिया जाता है कि रजत अन्यत्र (शुक्ति में) ज्ञात होने से वह भ्रम (अध्यारोप) है। तब प्रश्न उठता है कि क्या अन्यत्र रजत है? यदि है, तब रजत-ज्ञान (अध्यारोप) नहीं, क्योंकि वह सत्य है। यदि रजत अन्यत्र नहीं, तब वह केवल ज्ञानस्वरूप है, उसका (अध्यारोप) ज्ञान ही कैसे होगा? जिस अरजत (शुक्ति) में रजत का अध्यारोप है, वह शुक्ति भी ज्ञानात्मक है? या अर्थरूप? यदि ज्ञानमात्र है, तब 'अध्यारोप' शब्द का क्या अर्थ? यदि ज्ञान ही रजताकार प्रतिपन्न है या रजत ज्ञान के सहित प्रतिपन्न है, तब वह अध्यारोप नहीं। यदि कहा जाय कि अविद्यमान रजत ही विद्यमानतया प्रतीत होता है, तब यह प्रश्न होता है कि क्या अविद्यमानता निश्चित है? या नहीं? अन्य व्यक्ति के द्वारा अविद्यमानता प्रतिपन्न है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो अविद्यमानता केवल ज्ञानस्वरूप है, वह दूसरे व्यक्ति का गोचर (विषय) ही नहीं, उसका अभाव कैसे? सदैव गोचरीभूत वस्तु का ही अनुपलम्ब गमक होता है, अगोचर का नहीं। इन्द्रिय के वैगुण्य (दोष) से भी वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह (रजत-ज्ञान) एक अपूर्व ज्ञान है, अविद्यमान वस्तु की वैसी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। वह रजत अपनी प्रतीति-काल में विद्यमान है।

व्यवहार (शब्द-योजना) सदैव प्राप्य (निर्दिष्ट) अर्थ के साथ होता है। 'पट' शब्द की योजना अन्यापोह के साथ क्योंकर होगी, जब कि निर्दिष्ट पटत्व जाति है? इसका समाधान केवल यही है कि प्राप्य अर्थ में अन्यापोह अध्यस्त है, यही मूलकार ने कहा है—तस्मात् संकेतकालेऽपि।

तस्मात् संकेतकालेऽपि निर्दिष्टार्थेन संयुतः ।
स्वप्रतीतिफलेनान्यापोहः सम्बध्यते श्रुतौ ॥ १७१ ॥

शब्द का अर्थ के साथ संकेत-ग्रहण पहले होता है और शब्द-व्यवहार पश्चात् । व्यवहार-काल में पटादि शब्द के द्वारा अपट-भिन्नत्वरूप अन्यापोह की प्रतीति होती है, अतः संकेत-काल में अन्यापोह ही शब्द-वाच्यतया स्थिर होता है, वही शक्यार्थ है । यद्यपि लोक-व्यवहार में वही पटादि पदार्थ ही शक्यार्थ माना जाता है, जिसका उँगली-निर्देश बाहर किया जाता है, तथापि वही अन्यापोह पटादि से अभिन्न होकर अवभासित होता है । क्योंकि अन्यापोह की प्रतीति कराना ही शब्द-प्रयोग का एकमात्र उद्देश्य होता है । अन्यापोह का सम्बन्ध शब्द के साथ ही है, अर्थ में तो उसका अध्यासमात्र होता है ।। १७१ ।।

वार्तिकालङ्कारः

दन्यापोहः शब्दार्थः । अत एवाह—तस्मात् संकेतकालेऽपीति ।

संकेतयन्नपि न विधिमुखेन संकेतकारः संकेतं करोति । अपि त्वन्यापोहमुखेनैव, यतः संकेतकालेऽप्यन्यापोह एव श्रुतौ सम्बध्यते न वस्तु ।

नन्वयन्देवदत्त इति संकेते स्वलक्षणमेव सम्बध्यमानमीक्ष्यते । नेदं साधीयः । निर्दिष्टोऽप्यर्थः प्रतिबिम्बकमेवोपलक्षयति । तथा हि—

संकेतोऽर्थप्रतीत्यर्थमभिप्रेतो द्वयोरपि । प्रतीतिः प्रतिबिम्बस्य न त्वध्यक्षस्य वस्तुनः ।।३१६।।

अस्येदन्नामेत्यस्मादिदमन्यदपि प्रतिपत्तव्यम् । ततोऽन्यत् कालप्रत्ययतीत्यवस्थाव्याप्त्यैव संकेतो नियमेन द्वयोरपि स्वपरयोरभिप्रेतः । ततोऽन्यापोह एव सम्बध्यते श्रुतौ न स्वलक्षणम् ।

अथापि स्याद् । अस्येदन्नामेति न व्याप्तिः प्रतीयते । प्रतिबिम्बस्य केवलमस्येदन्नामेति स्वलक्षणमेव संकेतविषयतया प्रतीयते । न, अत्यन्ताभ्यासादेवम्प्रतीतेरपेक्षापूर्वकारित्वाद्वा । विपर्यये तु नियमेनैव प्रतिबिम्बकप्रतीतिः । यस्तु पुनर्व्यवहारात् संकेत-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आशय यह है कि यद्यपि संकेत कर विधिमुखेन संकेत करना है—'अयमस्य वाच्यः' तथापि उसका तात्पर्य—'अयमेवास्य वाच्यो नान्यः' । 'अन्यापोहो वाच्यः ।' इस प्रकार संकेत-ग्रहण काल में अन्यापोह ही शब्द के साथ वाच्यत्वेन सम्बन्धित होता है, अर्थ (वस्तु) नहीं ।

"अयं देवदत्तः"—ऐसे संकेत में स्वलक्षण वस्तु ही शब्द से सम्बन्धित होता प्रतीत होता है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि अंगुली-निर्दिष्ट वस्तु अपने में तादात्म्येन अध्यस्त अन्यापोह को ही इङ्गित करता है । आशय यह है कि वाच्यार्थ की प्रतीति कराने के लिए किया गया निर्देश—"अयमस्य वाच्यः"—वस्तु और तत्तादात्म्यापन्न अन्यापोह—इन दोनों को प्रदर्शित करना है । उस सर्वत्रान्वयी अन्यापोह ही वाच्य होता है, वस्तु नहीं ।।३१६।। अर्थात् "अस्येदं नाम"—यहाँ पर 'इदम्'—यह वर्तमान निर्देश अतीतकालिक स्वलक्षण का स्पर्श न पाकर अन्यापोह के वर्तमान कलेवर को ही वाच्यत्वेन ग्रहण करता है, स्वलक्षण को नहीं ।

शङ्का—"अस्येदं नाम"—यहाँ पर कोई व्याप्ति प्रतीत नहीं होती कि कालव्याप्त अन्यापोह का ही ग्रहण हो । स्वलक्षण तत्त्व ही संकेत का विषय होता है ।

अन्यत्रादृष्टयपेक्षत्वात् क्वचित्तद्दृष्टयपेक्षणात् ।
श्रुतौ सम्बध्यतेऽपोहो नैतद् वस्तुनि युज्यते ॥ १७२ ॥

'पट' शब्द की शक्ति अपटवृत्तित्व (पट-भिन्न-भिन्न-वृत्तित्व) में है—इस प्रकार शक्ति के ज्ञान का साधन अन्वय-व्यतिरेक-दर्शन है—पट-भिन्न घटादि में पट शब्द का प्रयोग न देख, और किसी एक पट में देख लेने मात्र से उक्त शक्तिग्रह हो जाता है । फलतः अन्यापोह का सम्बन्ध पटादि शब्दों के साथ है, अर्थ से नहीं ॥१७२॥

वार्तिकालङ्कारः

म्प्रतिपन्नवांस्तस्य नियमेन संकेतकालरूपाध्यवसायः प्रतिबिम्बरूपः । तथा हि—

अस्येदन्नाम संकेतादस्मादेतत् प्रतीयते । प्रेक्षावतो भवत्येतत् प्रेक्षावानन्यथा कथम् ॥३१७॥

अथ—

इदमानयेति वचनात् तस्यानयनदर्शने । नामास्येदं मयाप्येतत् प्रत्येयमिति शब्दतः ॥३१८॥

अथवा निर्दिष्टोऽर्थो यः प्राक् प्रतिपादितः प्रतिबिम्बस्वभावः । तेन संयुतोऽन्यापोहो व्यावृत्तिरूपः । तस्य च प्रतिबिम्बस्य व्यावृत्तिप्रतिपादनमेव फलन्न स्वरूपप्रतिपत्तिः । स्वरूपस्यार्थेऽभावात् । व्यावृत्तेश्च भावात् । अन्या सा व्यावृत्तिरिति चेत्, न, अपोद्धारकल्पनया तदेकत्वव्यवहारात् । अपि च—अन्यत्रादृष्टरूपत्वादिति ।

शब्दस्य ह्यन्यत्र तद्विजातीये दृष्टत्वात् क्वचित्तु तज्जातीये दर्शनादपोह एव संकेत इति ज्ञायते । सामान्ये व्यक्तौ वा संकेत इति किन्न भवति । न, तथा सति विधिरूपेणैव संकेते सर्वत्र दर्शनप्रसङ्गात् सामान्येऽपि दर्शनमात्रापेक्षा स्यात् । अन्यत्रादर्शनापेक्षा न स्यात् । सामान्यस्य सव्यतिरेकस्य प्रतीत्यर्थमिति चेत् । स एव तर्हि तदन्यव्यति-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—अत्यन्त अभ्यास हो जाने पर वैसा प्रतीत होता है अथवा स्वलक्षण प्रसक्त एवं अपेक्षित हो । इसकी विपरीत अवस्था में अन्यापोह ही शब्दार्थ प्रतीत होता है । जिस व्यक्ति ने व्यवहार के द्वारा शक्ति-ग्रह किया है । वह नियमतः संकेतकालभावी अन्यापोह का ही शब्दवाच्यत्वेन ग्रहण करता है—"अस्यार्थस्य इदं नाम" इस प्रकार का संकेत संकेतकालभावी पदार्थ के द्रष्टा को ही होता है, अद्रष्टा पुरुष को कैसे होगा अर्थात् नहीं होगा ॥३१७॥ अथवा "इदमानय"—ऐसा कहने पर निर्देश और आनयन क्रिया—इन दोनों का समन्वय एक में न होकर पूर्वतन स्वलक्षण और उसमें आरोपित अन्यापोह—इन दोनों का तादात्म्याध्यास ही शब्दार्थत्वेन अवसित होता है ॥३१८॥ अर्थात् ज्ञान में प्रतिबिम्बित जो घट, उससे संयुक्त अपोह—इन दोनों का बोध कराना अभीष्ट होता है। वैसा स्वरूप केवल अर्थ में नहीं, अन्यापोह में ही होता है ।

व्यावृत्ति (अन्यापोह) पदार्थ से अन्य है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक-दर्शन के द्वारा वैसा ही स्थिर होता है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—अन्यत्रादृष्टरूपत्वादित्यादि । अर्थात् घटादि शब्दों का घट से अन्यत्र (पटादि में) प्रयोग नहीं, किन्तु घट में प्रयोग यह सिद्ध करता है कि अघट-भिन्नत्वरूप अन्यापोह ही 'घट' शब्द का अर्थ है । घटत्वादि सामान्य या घट व्यक्ति में संकेत (शब्द-शक्यता) क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वैसा मानने पर केवल विधिरूप अन्वय ("यत्र-यत्र घटसामान्यम्, तत्र-तत्र घटशब्दः प्रवर्तते") ही शक्ति-ग्रह के लिए

वार्तिकालङ्कारः

रेकोऽस्तु किं सामान्यकल्पनया। व्यक्तिरेव हि तदन्यव्यतिरेकवती प्रतीयतां किं सामान्येन। व्यक्तेरप्रतीतिरिति चेत्, न। व्यक्तिमन्तरेण सामान्येन प्रतीतेनापि किम्। लक्षितलक्षणाद् व्यक्तिरपि प्रतीयते इति चेत्। किं द्वयमत्र क्रमेण प्रतीयते। प्रतीयत एव प्रथमं गोत्वमात्रम्प्रतीत्या विषयीकरोति पश्चाच्छावलेयादिविशेषम्। नैतदस्ति। न हि शावलेयादीनामवान्तरविशेषप्रतिपत्तिसम्भवः। ततस्तदपि सामान्यमेव। ततो न व्यक्तीनां सामान्येन लक्षणं सामान्यस्यैव लक्षणात्। अवश्यं केनचिद् विशेषेण भवितव्यमत्रेति लक्षणमेवेति चेत्, न, शब्दस्यात्र व्यापाराभावात्। प्रतिपन्नमेतत् भवति न वेति नात्र प्रमाणम्। न च सामान्यमपि लक्षणभूतम्प्रतीयते। तेन बुद्धिरेव सा वस्तुरहितत्वात्। कथन्तर्ह्यन्यापोहः शब्दार्थः। अत एवान्यव्यावृत्तावेव प्रवर्त्तनात्। यदि तु सामान्यं व्यक्तिर्वा प्रतीयेत न विसंवादो भवेत् न हि प्रतिपन्ने विसंवादः। विसंवादे सति कथमन्यव्यावृत्तिरपि शब्दार्थः। अन्यदर्शनेऽपि तदन्यानयनात्। तत् तावन्नानयति। अन्यत्तु तेनानेतव्यमिति नास्ति नियमः। अत एव शब्दप्रत्ययसमानाकारत्वादनुमानमपि व्यवच्छेदमात्रस्य साधकम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर्याप्त होता, अन्यत्रादर्शन की अपेक्षा न रहती। यदि कहा जाय अन्यावृत्तित्वविशिष्ट सामान्य की प्रतीति के लिए वैसा आवश्यक है, तब केवल अन्यापोह को ही शक्यार्थ मान लेना चाहिए, सामान्य-कल्पना की क्या आवश्यकता? अथवा अन्यापोहविशिष्ट व्यक्ति ही शब्दार्थ है, सामान्य का क्या काम?

यदि मीमांसक कहता है कि सामान्य-वाचक शब्द के द्वारा ही लक्षित-लक्षणा से व्यक्ति का भान हो जाता है व्यक्ति में शक्ति मानने की क्या आवश्यकता? तब प्रश्न उठता है कि जाति और व्यक्ति—दोनों की क्रमशः प्रतीति होती है? अर्थात् पहले गोत्वरूप सामान्य की प्रतीति होती है, पश्चात् शावलेयादि व्यक्तियों की, तब जिज्ञासा होती है कि शावलेयादि की क्या अन्य अवान्तर सामान्य के बिना ही प्रतीति होती है? यदि हाँ, तब सामान्यरहित पदार्थ भी सामान्य ही होता है, फलतः सामान्य से सामान्य में लक्षणा कैसे होगी? यदि कहा जाय कि व्यक्तियों में अवश्य ही विशेषान्तर धर्म है, अतः लक्षणा हो जाती है, तब प्रश्न होता है कि विशेषान्तर का निश्चित बोध किससे होगा? शब्द का इस विषय में कोई व्यापार नहीं, अतः विशेषान्तर की प्रतिपत्ति में कोई अन्य प्रमाण भी सुलभ नहीं। सामान्य तत्त्व भी पदार्थ से पृथक् सिद्ध नहीं होता। परिशेषतः सामान्य भी विज्ञानमात्रत्वरूप है, क्योंकि वह विषय-रहित निरालम्बन मात्र है। तब अन्यापोह कैसे शब्दार्थ होगा? वह ऐसे होगा कि शब्द की प्रवृत्ति उसी (अन्यापोह) में ही होती है। इसी प्रकार यदि सामान्य (जाति) और व्यक्ति में भी शब्द की प्रवृत्ति होती, तब उसमें कोई विसंवाद न होता, क्योंकि निश्चित तथ्य में किसी प्रकार का विसंवाद नहीं होता। विसंवाद तो अन्यापोह में भी है, अतः वह शब्दार्थ कैसे सिद्ध होगा? जिस घटलक्षण का दर्शन होता है, उसका आनयन नहीं—ऐसा कोई नियम नहीं। शब्द से अन्यापोह का दर्शन होता है और उसी का आनयन। शब्दज्ञान का ही समानाकार अनुमान ज्ञान है, अतः अनुमान भी अन्यापोह का ही साधक है।

वार्तिकालङ्कारः

अथवाऽन्यत्रावृत्त्यपेक्षत्वादिति व्यवहारेण संकेतग्रहणेऽन्यत्रादृष्टमपेक्षते। क्वचिच्च सजातीये दृष्टमपेक्षते संकेतस्य ग्रहीता। ततो यत्र न दृष्टस्तस्य तावद् व्यवच्छेदञ्जानीते। यत्र तु दृष्टो व्यवहारस्तदस्ति न वेति विवेकेन न जानाति। तथा हि तथैव संकेतग्रहणम्। यतः, आनयेदं वस्तु बाह्यस्यानयने व्यापारो नास्तित्वे वस्तुनः। अविद्यमानन्नानेतुं शक्यमिति चेत्। यदीयं राजाज्ञा तदाऽवश्यमानयति। स तु प्रमाणान्तरात पर्यालोचयन्नास्तित्वम्प्रतिपत्त्या विषयीकरोति। अर्थापत्त्या वा। अर्थापत्तिसहितः शब्दोऽस्तित्वे प्रमाणमिति चेत्, न, अर्थापत्तेरसम्भवात्। अर्भकाभिप्रेतयाच्ञावदेतत् स्यात्। ततः सति सम्भवे आनीयते नान्यथा। अन्यत्तु नानीयत एव।

अन्ये तु पुनः सर्वतो विजातीयाद् व्यावृत्तिं क्वचिद् विधेये वृत्तिमपेक्षत इति व्यतिरेकितात्पर्यमन्वये तु नेति व्यतिरेक एव प्राधान्येन प्रत्याय्यते। तदसत्। यदि नामान्वयव्यतिरेकयोः प्राधान्यमेकस्य तथापि न विधिशब्दार्थव्यतिक्रमः। न चाप्राधान्यमन्वयस्य प्रतिपादयितुं शक्यम्। एकव्यक्तिदर्शनेनापि सामान्यस्य सर्वात्मना प्रतिपादनात् तदन्वयस्याप्राधान्यमिति न युक्तम्।

अथवा क्वचिद् दृष्टयपेक्षणादिति। अस्यैदन्नामेति न सर्वदाऽनेन भवितव्यम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अथवा १७२ वीं कारिका का अन्वयार्थ ऐसा करना चाहिए कि "अन्यत्रावृत्त्यपेक्षत्वात्" अर्थात् व्यवहार के द्वारा संकेत-ग्रहण करने में अन्यत्रादर्शन अपेक्षित होता है। कहीं सजातीय पदार्थ में संकेत-ग्रहीता पुरुष दर्शन की अपेक्षा करता है। जहाँ शब्द-प्रवृत्ति दृष्ट नहीं, उसके व्यवच्छेद (अपोह) को समझ लेता है, अर्थात् जिसमें व्यवहार दृष्ट है, उसको विवेकपूर्वक नहीं जानता कि वह है या नहीं ? क्योंकि वहाँ संकेत-ग्रहण भी वैसा ही होता है। "आनयेदं वस्तु"—इस शब्द का व्यवहार वस्तु के आनयन में है, वस्तु की सत्ता में नहीं। जो वस्तु विद्यमान ही नहीं, उसका आनयन क्योंकर होगा ? यदि यह कोई राजाज्ञा (अकाट्य नियम) है, तब आप अवश्य वस्तु ले आयेंगे। वस्तु की सत्ता का निश्चय प्रमाणान्तर की पर्यालोचना से हो जाता है। अथवा अर्थापत्ति के द्वारा निश्चित होगा। यदि अर्थापत्ति की अपेक्षा की जाती है तब अर्थापत्ति सहित शब्द को अर्थ की सत्ता में प्रमाण मानना होगा। ऐसी आशंका उचित नहीं, क्योंकि अर्थापत्ति यहाँ सम्भव ही नहीं, केवल बालक की याचना को पूरा करने के लिए वैसा कह दिया गया है। वस्तुसत्ता सम्भव होने से ही उसका आनयन होगा असत् का आनयन सम्भव नहीं।

अन्य आचार्य—सर्वतः विजातीय पदार्थ से व्यावृत्ति क्वचित् विधेय अर्थ में अपेक्षित है, व्यतिरेक में प्रधानतया अपेक्षा नहीं। यह जो कहा गया कि व्यतिरेक (अन्यापोह) प्रधानतया ज्ञापित होता है, यह कहना उचित नहीं। यद्यपि अन्वय-व्यतिरेक में किसी एक की प्रधानता मानी जाती है। तब भी विधि शब्दार्थ का व्यतिक्रम नहीं होता। विधि शब्दार्थतः व्यवस्थित रहती है। अन्वय-व्यतिरेक में अन्वय अप्रधान है। उसका प्रतिपादन सम्भव नहीं। घटादि में से किसी एक व्यक्ति का दर्शन होने पर सामान्य का प्रतिपादन सम्भव हो जाता है। अतः अन्वय को भी अप्रधान नहीं माना जा सकता।

अथवा उक्त कारिका के भाग का ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि

वार्तिकालङ्कारः

शब्दप्रयोगे अस्य तु नाभेदमित्येतन्मात्रमस्मादेतद् व्यवहर्त्तव्यमिति। अन्यत्र तु व्यवहाराभावादन्यापोहविषयता शब्दानाम्। अथ यत्र वस्तु प्राप्यतेऽनुमानेन तज्ज्ञानस्य कथमन्यापोहविषयता। तत्राप्यन्यापोहविषयतेष्यते एव। न तत्र विशेषे सन्देहादेव हि तत्र प्रतीतिरनग्निस्तावदयन्न भवति। अग्निस्तु किम्भूत इति न ज्ञायते।

ननु यदि सामान्यन्न परिच्छिन्नं कथमग्निविशेषे सन्देहः। प्रतीतिमात्रेण सन्देहात्। प्रतीतिस्तावदियमस्ति विशेषो न ज्ञायते किमग्निरस्ति नेति किम्भूतो वात्राग्निः।

ननु यत्र कार्यहेतुस्तत्र नियमेनाग्निः। न स्पर्शविशेषस्याग्नित्वात्। तत्र च न नियमः कथमग्निप्रतीतिः। उष्णतामात्रस्य प्रतीतेः। सामान्यम्प्रतीयत इति चेत्, न, तारतम्यस्यैव भावात्। न च तरतमादिभेदव्यतिरेकेणोष्णसामान्यन्नाम। तत्र च न प्रतीतिः।

ननु प्रतीतिरपि तारतम्यमेवालम्बते। आलम्बतान्न त्वेकैव बुद्धिः। कदाचिदेवं कदाचिदेवमित्यपरापरबुद्ध्युत्पत्तेरेकमेवैकदा नानारूपमालम्बत इति चेन्नैकेनासत्येन नियमेन भवितव्यम्। तस्मात्तत्रापि प्रतीतिमात्रमेव सत्यन्नान्यदित्यन्यापोहमात्रं शब्दार्थोऽनुमानस्य च न चैतद् वस्तुनि युक्तम्। लिङ्गेऽपि सम्बध्यतेऽपोह इत्यपि द्रष्टव्यम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

'दृष्ट्यपेक्षणात् अस्य इदं नाम' यहाँ पर अन्य पदार्थ को सर्वदा रहने की आवश्यकता नहीं। केवल शब्दव्यवहार काल में उसकी सत्ता अपेक्षित होती है अन्यत्र व्यवहार न होने के कारण शब्द अन्यापोह को ही विषय किया करते हैं। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जहाँ पर वस्तु अनुमान के द्वारा प्राप्त की जाती है, वहाँ अनुमान ज्ञान को अन्यापोह विषय क्योंकर माना जा सकता है। उस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि विशेष अर्थ में सन्देह होने पर "अग्निमानयं पर्वतः" का अर्थ किया जा सकता है कि "अयं अनग्निमान् न भवति"। अग्नि कैसी है इसका निर्णय नहीं होता।

यदि सन्देह हो कि सामान्य तत्त्व निश्चित नहीं तब अग्निविशेष में सन्देह कैसे होगा, उसका उत्तर यह है कि प्रतीति के द्वारा संदेह हो जाता है। उसका स्वरूप यह है कि ऐसी विशेषता वहाँ पर अवगत नहीं होती कि वहाँ अग्नि है या नहीं ? यदि है तो यह कैसी ?

जहाँ पर अनुमान प्रयोग कार्यहेतु के द्वारा प्रवृत्त होता है वहाँ नियमतः अग्नि को रहना होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्पर्शविशेष को अग्नि माना जाता है वह जहाँ नहीं तब अग्नि की प्रतीति कैसे होगी ? उष्णता मात्र की प्रतीति हो जाने से अग्नित्वसामान्य की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर है कि वहाँ केवल तारतम्य का सद्भाव होता है। तरतमादि भेद के बिना उष्णता और कुछ भी नहीं।

"अयमग्निः"—ऐसी प्रतीति भी प्रकाश की तारतम्य-धारा को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति को विषय नहीं करती, अतः व्यक्ति तत्त्व भी सिद्ध नहीं होता। तरतमरूप में प्रतीत होनेवाले पदार्थ को भी व्यक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि एक ही व्यक्ति कभी ऐसा, कभी वैसा—यह असम्भव है, यदि एक ही व्यक्ति कभी शुक्ति और कभी रजत है, तब उनमें एक सत्य और दूसरा असत्य अवश्य होगा। फलतः व्यक्ति को भी प्रतीति मात्र ही मानना होगा। प्रतीति (ज्ञान) से भिन्न व्यक्ति कुछ भी नहीं। परिशेषतः अन्यापोह ही शब्दार्थ पर्यवसित होता है। अनुमान का भी वही विषय है।

तस्मात् जात्यादितद्योगा नार्थे तेषु च न श्रुतिः ।
संयुज्यतेऽन्यव्यावृत्तौ शब्दानामेव योजनात् ॥ १७३ ॥

वस्तु-ग्राहक निर्विकल्पक बोध में जाति, गुण और क्रियादि विशेषणों का भान नहीं होता। फलतः जात्यादि एवं उनका योग (सम्बन्ध) अर्थ के साथ नहीं, अतः उनके बोध में शब्द उपयोगी नहीं। परिशेषतः प्रतीति-सिद्ध अन्य-व्यावृत्ति में ही शब्दों की योजना होती है ॥ १७३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तथा हि—तस्माज्जात्यादीति ।

तेन जात्यादीनामप्रमाणाभावादसत्वे न जात्यादिसम्बन्धकल्पना द्रव्यसम्बन्धकल्पनापि द्वयोः स्वरूपेण प्रतिभासमानयोः कैव। संयोगस्य प्रतिभासनादिति चेत्। न, अकल्पयतोऽप्यन्यदर्शनेन (अन्यकल्पनेन) तद्रूपस्य प्रतिभासनात्। तावन्मात्रकेण कल्पनासम्भवः। सैव कल्पनेति चेत्। इष्टत्वान्न किञ्चिद् बाधितम्। उभयकर्मजोऽन्यतरकर्मजः। संयोगजश्च संयोग इति न प्रतीतिरस्ति। स्वरूपमात्रेण प्रतीतिरिति चेत्, न, संयोगस्वरूपस्याप्रतिभासनात्। वस्तुद्वयमेव तथाभूतमुत्पन्नम्प्रतिभासविषयो न संयोगः। तदेव वस्तुद्वयं संयुक्तमिति तु प्रतीतिरपि न ततोऽपरः संयोगः। न, पूर्वेण सहैकत्वप्रतीतेरभावात्। न हि प्रत्यक्षम्पूर्वापरभावे व्याप्रियते। मा भूत् पूर्वप्रतीतिस्तथापि संयुक्तप्रतीतिरस्तीति चेत्, न। यतो हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यही कहा गया है—"तस्माज्जात्यादि"।

प्रमाणाभाव के कारण जात्यादि का असत्त्व निश्चित होने पर जात्यादि के सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं हो सकती। दो घट द्रव्यों का सम्बन्ध (संयोग) भी कोई पृथक् पदार्थ नहीं, केवल दो द्रव्यों की ही वहाँ प्रतीति होती है। दो द्रव्यों का सम्बन्ध (संयोग) प्रतीत होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सम्बन्ध-कल्पना के बिना भी तो केवल दो द्रव्यों की ही प्रतीति होती है। उतने मात्र से अधिक अर्थ की कल्पना नहीं कर सकते। सम्बन्धादि की कल्पना कल्पनामात्र है—ऐसा मानना ही एक तथ्य है। (१) उभय कर्म-जन्य, (२) अन्यतर कर्म-जन्य तथा (३) संयोग-जन्य संयोग-भेद से जो वैशेषिकों ने तीन प्रकार का संयोग कहा है, उसकी प्रतीति तो होती नहीं। स्वरूपमात्र ही प्रतीति है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि संयोग के स्वरूप का कोई प्रतिभास ही नहीं होता। केवल दो द्रव्य वस्तु की ही प्रतीति होती है—"वस्तुद्वयं तथाभूतम्, उत्पन्नम्"। इससे अतिरिक्त संयोग का प्रतिभास नहीं होता। पूर्वोत्पन्न घट का उत्तरोत्पन्न घट के साथ सम्बन्ध कैसा ? अतः "वस्तुद्वयं संयुक्तम्"—ऐसी प्रतीति ही प्रतीति है, उससे अतिरिक्त कोई संयोग पदार्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पूर्व के साथ उत्तर की एकत्व-प्रतीति हो ही नहीं सकती। प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्वापर उत्पन्न पदार्थों को विषय ही नहीं कर सकता। पूर्व-प्रतीति के विना भी संयुक्त प्रतीति होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि असंयुक्त पदार्थों का ही संयोग होता है—ऐसा ही देखा जाता है किन्तु एक ही कपाल से पीट-पीट कर घट हो जाता है, अन्य कपाल और उसके संयोग की क्या आवश्यकता ? ॥३१९॥ संयोग की कल्पना करने पर भी यदि 'संयुक्तम्'—ऐसी प्रतीति नहीं होती, तब संयोग की कल्पना ही व्यर्थ है। एक ही

(१३) प्रत्यक्ष में शब्द-कल्पना का निरास—

संकेतस्मरणोपायं दृष्टसंकलनात्मकम् ।

पूर्वापरपरामर्शशून्ये तच्चाक्षुषे कथम् ॥ १७४ ॥

पूर्वापर-परामर्श-रहित निर्विकल्पक विषयक चाक्षुष ज्ञान में जात्यादि-कल्पनाओं के समान शब्द-कल्पना भी सम्भव नहीं ॥ १७४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

असंयुक्तं हि संयुक्तम्पुनरेतद्धि योक्ष्यते । एकेन कार्यङ्कर्त्ताहमिति तद्वित्तिरिष्यते ॥३१९॥
यदि नेयम्प्रतीतिः स्याद् वृथा संयोगकल्पना । एकमेतद्धि भवति ततोऽयोगोऽर्थवान् भवेत् ॥३२०॥

(१३) प्रत्यक्षे शब्दकल्पनानिरासः

शब्दयोजनापि नास्ति शब्दस्य तत्राभावात् संकेतकाले शब्द आसीदिति चेत् । तेनापि योजनन्नास्ति । यतः—सङ्केतस्मरणोपायमिति ।

अयं गौरिति न गोशब्द एवायं गोशब्दवाच्योऽयमित्यर्थः । सामानाधिकरण्यन्तु तत्सम्बन्धाद् यष्टीः प्रवेशयेति यथा । अथवा गौः शब्दो यस्य स गोशब्दः । तत्र यदैकदेशप्रयोगात् गौरयमिति । तत्र गोशब्दवाच्योऽयमिति गोशब्दादयम्प्रत्येष्यते । अयं स गौरिति तु गोशब्दोऽत्र सङ्केतितः । तच्चैवम्भूतं वस्तु पूर्वापरपरामर्शशून्यात्मनाऽध्यक्षेण कथं गृह्यते । यत उक्तमेतत्—

योग्यदेशस्थितेऽक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि । अक्षाश्रितञ्च विज्ञानमक्षव्यापारगोचरम् ॥३२१॥

यदि पूर्वापरयोरपि चक्षुराद्यक्षवृत्तिरतीतानागतं सकलम्प्रतीयेत । सर्वं हि कथञ्चित् केनचित् सम्बद्धम्पूर्वगृहीतं प्रतीयत एवेति चेत् , न, सर्वदा प्रतीतेरभावात् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्रव्य में असंयुक्तमेतन्न—ऐसी अन्यापोह की कल्पना ही अर्थवान् है ॥ ३२० ॥

(१३) प्रत्यक्ष में शब्द-कल्पना का निरास—

प्रत्यक्ष के विषयीभूत स्वलक्षण में वाचक शब्द का योजन नहीं हो सकता। क्योंकि वहाँ भी अन्य कल्पनाओं के साथ-साथ शब्दकल्पना का भी अभाव है । यदि कहा जाय कि संकेतकरण के समय शब्द रहता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सविकल्पवस्तु में "अस्यायं शब्दो वाचकः" इस प्रकार की कल्पना होती है किन्तु निर्विकल्पक में नहीं ।

निर्विकल्पक में शब्द की कल्पना क्यों नहीं हो सकती है ? इसका उत्तर वार्तिककार ने दिया है—संकेतश्रवण···इत्यादि से । जैसे 'अयं गौः' इस संकेत का अर्थ होता है कि 'अयं गोशब्दवाच्यः' है । वाचक शब्द का वाच्य अर्थ के साथ सम्बन्ध उपस्थापित करना ही संकेत कहलाता है । गोशब्द का यह वाच्य है इसका अर्थ है गोशब्द के वाच्य से इस अर्थ की प्रतीति होगी । गोशब्द का वाच्यार्थ पूर्वापरपरामर्श से युक्त होता है । पूर्वापर की कल्पना सकृदवभासी स्वलक्षण में सम्भव नहीं । अतः प्रत्यक्षज्ञान के विषयीभूत स्वलक्षणतत्त्व में वाचक शब्द की योजना सम्भव नहीं । उसका कारण यह है कि इन्द्रियों की वृत्ति केवल वर्तमानकाल को ही विषय करती है अतीत और अनागत को नहीं । अतः अक्षाश्रित प्रत्यक्षज्ञान अक्षव्यापार की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ ३२१ ॥ यदि इन्द्रियों की वृत्ति अतीत और अनागत में भी होती तब उनका भी वर्तमान के समान ही ग्रहण होना चाहिए था । यह जो कहा जाता है सभी

वार्त्तिकालङ्कारः

स्मरणे सतीति चेत् । स्मरणमेव तदिति प्राप्तम् । स्मर्यमाणेन सहैकत्वम्प्रत्यक्षेण प्रतीयत एवेति चेत् , न, स्मरणस्याप्रमाणत्वात् । स्मर्यमाणमसदेव कथन्तेनैकता प्रतीतिः सत्या।

अथापि स्यात् । स एवायन्तदर्थक्रियाकरणात् । ननु सार्थक्रियेत्यपि स्मरणमेव तच्छब्दवाच्य इति च । तेनैव चार्थक्रिया कर्त्तव्येति कुतः । तस्माद् व्यवहारमात्रमेवैतत् । नैकता हि प्रमाणमस्ति । व्यवहाराविसंवादादेव प्रमाणमिति चेत् । नैकत्वेऽविसंवादोऽपि त्वर्थक्रियायाम् । सा चास्त्येव । अर्थक्रियाकारित्वादर्थता तस्य न त्वेकता पूर्वेण । अथेदमनुसाधनम्भविष्यति स एवायमिति । यदि पूर्वापरयोरेकता नास्ति कोऽनुसन्धाता भवेत् । अनुसन्धातुरेकत्वे पूर्वापरग्राहि प्रत्यक्षमनुसन्धातर्याश्रितम् , न, स्मरणदर्शनाकारव्यतिरेकेणापरस्यानुसन्धानस्याभावात् । प्रत्यक्षञ्च यद्यप्यात्मन्याश्रितन्न तावता तस्य प्रमाणत्वम् । अक्षाश्रयेण प्रामाण्यमात्माश्रयेणैकताग्रहणमिति चेत् , न, अक्षानुसारेण तस्य वृत्तेरक्षस्य च पूर्वापरत्वेऽवृत्तेः । तदनुसारिणो ज्ञानस्यानुवृत्तिरिति चेत् , न, तदनुसारित्वायोगात् । न हि पूर्वत्र पूर्वज्ञानानुसरणमन्तरेण वृत्तिः । तदन्या-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वस्तुयें कथञ्चित् पूर्वपरकाल से सम्बद्ध होती हैं, यह कहना उचित नहीं क्योंकि ऐसी प्रतीति नहीं होती—"न सर्वदा प्रतीतेः अभावात्" ।

स्मरण में वैसी प्रतीति अवश्य होती है किन्तु वह ज्ञान स्मरण कहलाता है, प्रत्यक्ष नहीं । स्मरण के साथ प्रत्यक्ष की एकता भी प्रतीत होती है ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि स्मरणात्मक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता, अतः प्रत्यक्ष से उसका सम्बन्ध क्योंकर होगा । अर्थात् स्मर्यमाण वस्तु असत् होती है असत् का वर्तमान प्रत्यक्ष क्योंकर होगा ।

यदि "स एवायं गौः" का अर्थ यह किया जाता है कि यह भी गौ है, क्योंकि गौ ही अर्थक्रिया का कारण है । तब भी यह अर्थक्रिया वही है—ऐसा ज्ञान स्मरणात्मक ही है । उसी प्रकार "अयं तच्छब्दवाच्यः"—यह भी स्मरण ही है । अर्थक्रिया उसी के द्वारा की जाती है, ऐसा भी क्यों ? फलतः संकेतकरण एक व्यवहार मात्र है । "सोऽयं गौः"—ऐसी एकता प्रमाण भी नहीं । यदि व्यवहाराविसंवाद से प्रमाणता मानी जाती है, तब भी एकत्व में अविसंवाद नहीं, अपितु एकता में अविसंवाद भी नहीं, अपितु अर्थक्रिया में है, वह अर्थक्रिया तो है ही । अर्थक्रियाकारित्व के कारण अर्थवत्ता ही होती है, पूर्व के साथ एकता नहीं । यदि 'स एवायं' को अनुसन्धान माना जाय, तब भी उचित नहीं, क्योंकि जब पूर्वापर की एकता ही नहीं, तब अनुसन्धाता कौन होगा ? यदि अनुसन्धाता एक है, तब पूर्वापरग्राही प्रत्यक्ष एक अनुसन्धाता के आश्रित मानना होगा । वह उचित नहीं, क्योंकि स्मरण दर्शनाकार से पृथक् अनुसन्धान पदार्थ सम्भव नहीं । प्रत्यक्ष यद्यपि स्वाश्रित है तथापि उतने मात्र से उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता । अक्षाश्रित होने से प्रमाणता होती है और स्वाश्रयण से एकता का ग्रहण होता है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अक्षानुरूप प्रत्यक्ष की वृत्ति होती है और अक्ष (इन्द्रिय) की पूर्वापरवृत्ति होती नहीं । अक्षानुसारी ज्ञान की पूर्वापरवृत्ति यदि मानी जाती है, तब ज्ञान में अक्षानुसारित्व सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि पूर्व इन्द्रियरूप कारण का अनुसरण किये विना पूर्वानुसारित्व नहीं बनता । तदन्यानुसारी तदनुसारी कहा जाय—ऐसा कभी नहीं हो सकता । एक-प्रतीति अक्ष-

अन्यत्र गतचित्तोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते।
तत्संकेताग्रहस्तत्र स्पष्टस्तज्जा च कल्पना ॥ १७५ ॥

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि अन्यमनस्क द्रष्टा चक्षु के द्वारा केवल रूप का दर्शन ही करता है, संकेत (वाचक शब्द) का स्मरण नहीं किया करता। इस प्रकार के नितान्त स्पष्ट संकेत स्मरण से चाक्षुष ज्ञान में शब्द-कल्पना असम्भव होकर रह जाती है ॥ १७५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नुसारि तदनुसारीति साहसम्। एकत्वप्रतीतिस्तु नाक्षव्यापारमन्तरेण भवति। ततो नैकताप्रतीतिरक्षजा। प्रत्यक्षे या सा भवत्येवेति चेत्, नैकताया विशेषाभावात्। स्पष्टतयाविशेष इति चेत्। ननु स्पष्टतयैकत्वं भवत्वस्पष्टतया तु कथमेकत्वमध्यक्षगम्यम्।

ननु तस्यानेन सहैकत्वमनध्यक्षगम्यम्। तेन त्वस्य कथन्न स्यात् न समानत्वात्। द्वयोरध्यक्षेणाग्रहणे कथन्तदेकत्वमध्यक्षविषयः। एकत्वमध्यक्षगम्यन्न पदार्थ इति चेत्। तत्तर्ह्येकत्वन्न पदार्थगतम् एकत्वस्य स्वतन्त्रस्यासम्भवात् तद्वानाक्षिप्यते। आक्षेपो हि नामानुमानम्। ततः प्रत्यक्षेण स्वतन्त्रस्य ग्रहणेऽनुमानतोऽन्यथा ग्रहणमित्ययुक्तम्। प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य। तस्मात् पूर्वापरपरामर्शाभावादयं गौरिति न प्रत्यक्षा प्रतीतिः। किञ्च। मृतेऽपि पूर्वापरपरामर्शः। सम्भवी तत्कथमस्य प्रमाणता। तस्मात् सन्निहितमात्रग्रहणमिति प्रमाणम्। तत्र च न योजनेत्यविकल्पकमध्यक्षम्। किञ्च—अन्यत्रगतचित्ताऽपीति।

न खलु विकल्पयन्नेव रूपादिकमीक्षते येन स्मरणसहकारिता भवेदिन्द्रियस्य।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यापार के बिना सम्भव नहीं, अतः एकता प्रतीति अक्षता नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष प्रतीति में एकता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एकता में कोई विशेषता नहीं होती। स्पष्टता को भी विशेषता नहीं कह सकते, क्योंकि स्पष्टतया एकत्व होने पर भी अस्पष्टता में कैसे होगी ?

तत्पदार्थ का इदं पदार्थ की एकता अवश्य ही प्रत्यक्ष-गम्य नहीं किन्तु तत्पदार्थ से इदं पदार्थ का एकत्व प्रत्यक्ष-गम्य क्यों नहीं ? ऐसा इसलिए नहीं कि दोनों पदार्थ समान हैं। दोनों पदार्थ यदि प्रत्यक्ष-गम्य नहीं, तब उनकी एकता प्रत्यक्ष-गम्य कैसे होगी ? यदि कहा जाय कि पदार्थों का एकत्व तो प्रत्यक्ष-गम्य है किन्तु पदार्थ प्रत्यक्ष-गम्य नहीं। तब तो वह एकत्व पदार्थगत क्योंकर होगा ? पदार्थ-निरपेक्ष स्वतन्त्र एकत्व धर्म सम्भव नहीं। एकत्व धर्मि-निरपेक्ष नहीं हो सकता, अतः वह धर्मी (पदार्थ) का आक्षेपक हो जाता है और उसका पूरा अर्थ होता है पदार्थों का एकत्व। यहाँ आक्षेप का अर्थ अनुमान है। फलित अर्थ यह होता है कि प्रत्यक्ष के द्वारा स्वतंत्र एकत्व का ग्रहण होता है और अनुमान के द्वारा अन्यथा ग्रहण होता है किन्तु ऐसा युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अनुमान सदैव प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। अतः निष्कर्ष यह है कि पूर्वापर-परामर्श न होने के कारण 'अयं गौः"—यह प्रतीति प्रत्यक्ष नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह भी है कि 'पूर्वापर-परमितो मृतगौः' में भी होता है तब "अयं गौः" यह प्रमाण क्योंकर होगा ? फलतः 'अयं गौः' इस प्रकार सन्निहितमात्र का ग्रहण

वार्तिकालङ्कारः

न हि यः सहकारी यस्य तमन्तरेण स्वकार्यकरणे सामर्थ्यन्तस्य क्षित्यादिविरह इव बीजस्याङ्कुरकरणे। अथ कार्यकरणमात्रेण न सहकारिता स्मरणस्यापि तु सविकल्पकजनने। तदप्यसम्यक्।

(१४) चित्रैकत्वचिन्ता

व्यतिरिक्तेन कल्पेन यदि तत् सविकल्पकम्। सिद्धसाधनमन्यत्र विरुद्धाव्यासम्भवः ॥३२२॥

यदि सहविकल्पेन परेण वर्त्तत इति सविकल्पकतायान्तथाभूतायां स्मरणं सहकारि सिद्धमेव साध्यते। अथात्मभूतेन विकल्पेन तदा न युक्तम्। यतो हि—

तस्मिन् सत्यपि यन्नास्ति तदभावेऽपि विद्यते। विरुद्धधर्मसंसर्गे तेन तस्यैकता कथम् ॥३२३॥

अन्यदेव तत् सविकल्पकमन्यत् प्रागविकल्पकमिति। तथा सति भवतः प्रत्यभिज्ञा विशीर्यते। अतिप्रसङ्गश्चेत्युक्तम्। तस्माद् यदेकदाऽन्यत्रगतचित्तावस्थायामविकल्पकमन्यदपि तत्तथैवेति युक्तम्। अथान्यविकल्पेनैव सविकल्पकम्। तथासति श्रोत्रविज्ञानेनापि सविकल्पकम्प्राप्नोति श्रोत्रस्यापि सहकारित्वात्।

अथ पृथगेव तानि ज्ञानानि। समानमन्यत्रापीति न विशेषः। अथान्योऽपि तद-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होने से प्रमाणरूप है। शब्द-योजना न होने के कारण निर्विकल्पक है।

दूसरी बात वार्तिककार ने कही है कि यह आवश्यक नहीं कि रूपादि का दर्शक विकल्पपूर्वक ही हो कि स्मरण ज्ञान की सहायता इन्द्रिय-ज्ञान में हो जाती। सहकारी कारण के बिना कार्य वैसे ही नहीं होता, जैसे क्षित्यादि की सहायता के बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

यह जो कहा जाता है कि कार्य-कारण मात्र से स्मरण में सहकारिता नहीं आती, अपितु सविकल्पक ज्ञान के जनन से सहकारिता आती है। वह कहना भी समीचीन नहीं, क्योंकि—

(१४) चित्रैकत्व-विचार—

अतिरिक्त कल्पना को लेकर यदि सविकल्पक माना जाता है, तब हेतु में सिद्धसाधनता होती है, अन्यथा विरुद्धाव्यभिचारिता दोष होता है ॥३२२॥ अर्थात् परेण विकल्पेन सह वर्तते प्रविकल्प कहा जाता है और सविकल्पता में स्मरण सहायक होता है, तब सिद्धार्थ का ही साधन होता है। यदि आत्मभूत विकल्प के द्वारा सविकल्पता होती है, तब सर्वथा अयुक्तता होती है, क्योंकि विशेषण के रहने पर भी वह विशिष्ट नहीं होता, क्योंकि विशेषण विशेष्य का स्वरूप ही है। विरुद्धार्थ का संसर्ग मानने पर विरुद्धा व्यभिचारिता होती है ॥३२३॥ अर्थात् सविकल्पकत्व से पूर्व अविकल्पकत्व यदि अन्य है, तब आपकी "सोऽयम्"—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा विशीर्ण हो जाती है। अतिप्रसंग भी कहा जा चुका है। अतः जो वस्तु अन्यमनस्क व्यक्ति के द्वारा जैसी निर्विकल्पक गृहीत होती है, वह अन्यथा भी वैसी ही होती है। यदि स्वरूपभूत विकल्प से भिन्न विकल्प के द्वारा क्षीण कल्पना मानी जाती है, तब श्रोत्र विज्ञान के द्वारा भी सविकल्पकता प्रसक्त होती है, क्योंकि श्रोत्र भी सहायक हैं।

यदि वे दोनों ज्ञान पृथक्-पृथक् हैं, तब अन्य ज्ञानों से कोई विशेषता नहीं रह जाती। यदि कोई अन्य प्रकार का भी विकल्प माना जाता है, वह भी वहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि वैसा कोई विकल्प अनुभव में नहीं आता।

वार्तिकालङ्कारः

वस्थस्यास्ति विकल्पः । तदसत् । अनुपलम्भात् ।

अथ व्यवहारादनुपलभ्यमानमपि साध्यते । न ह्यविकल्पयतो व्यावहारो दृष्टः ।

कार्यकारणता सिद्धा व्यवहारविकल्पयोः । कार्यानुमानमत्रेति तत्सङ्केताग्रहः कथम् ।।३२४।।

न खल्वनुमानेन शब्दयोजना न प्रतीता भवति । तस्यापि प्रामाण्यात् । अथानैनैव व्यभिचारः । न । पक्षेण व्यभिचाराभावात् । अन्यथा धूमादग्न्यनुमानेऽपि व्यभिचारः पक्षेणैव भवेत् । न । तदानुमानेनोपलम्भात् । स्पर्शपरव्यवहारादपि प्रतीतेः ।

परोक्षः स्पर्शविज्ञानाच्छीततनुद्व्यवहारतः । प्रतीयते पावकात्मा तदप्यत्यन्तदुर्घटम् ।।३२५।।

यद्यनुमीयमानवह्न्यदर्शनमाशङ्काविषयः । कदाचिदिदानीमेव धूमो वह्निं विना भवेदिति । तत्र स्पर्शविज्ञानेन धूमरूपप्रतिपत्तेर्वितपनव्यवहारेण वा व्यभिचारपरिहारः । तदप्यसत् । यतः—

स्पर्शविद्व्यवहाराभ्यामनुमानेन तद्गतौ । तस्यापि चानुमानस्याव्यभिचारोऽनुमान्तरात् ।।३२६।।
समानत्वनुमितेरनवस्था तथा सति ।

यद्यनुमाने व्यभिचाराशङ्कायामनुमानमेवाव्यभिचारसाधनन्तथा सति समानमेवानुमानमिति तल्लक्षणे सर्वत्राशङ्का भवेदिति । तदिदमसिद्धमसिद्धेन साध्यत इति । न च स्पर्शेन रूपस्य साधनम् । स्पर्शस्य पीतशङ्खाज्ञानविषयेऽपि सम्भवत् । यत्र

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि कहा जाय कि व्यवहार के द्वारा अनुपलभ्यमान वस्तु की भी सिद्धि हो जाती है। कोई भी व्यवहार विकल्प के बिना सिद्ध नहीं होता। कार्यकारणभाव कल्पना के द्वारा ही बनता है। कार्यानुमान में भी शब्द-योजना आवश्यक है ।।३२४।।

अनुमान के द्वारा शब्द-योजना नहीं सिद्ध होती—ऐसा नहीं कह सकते। अनुमान भी प्रमाण माना जाता है। यदि इसी अनुमान में व्यभिचार दिया जाता है, तब भी संगत नहीं, क्योंकि "पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारो न दोषभाक्"। अर्थात् पक्ष में व्यभिचार दोषाधायक नहीं होता। अन्यथा धूम से अग्नि का अनुमान करने पर भी पक्ष में व्यभिचार होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसी अनुमान के द्वारा वहाँ अग्नि का उपलम्भ हो जाता है। स्पर्श एवं परकीय व्यवहार से भी अग्नि की प्रतीति हो जाती है। स्पर्श विज्ञान, शीताभावलिङ्गक अनुमान में वह्नि का परोक्ष बोध होता है, वह भी अत्यन्त दुर्घट है ।।३२५।।

यदि अनुमीयमान वह्नि का अदर्शन शंका का विषय है कि कदाचित् धूम अग्नि के बिना होगा। उस शंका की निवृत्ति स्पर्श के द्वारा वह्नि के ज्ञान से हो जाती है। व्यवहारतः अग्निसत्ता निश्चित हो जाती है और व्यभिचार का परिहार हो जाता है ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि स्पर्श और व्यवहार के द्वारा अनुमानपूर्वक वह्नि की अवगति होती है और उस अनुमान में व्यभिचाराभाव अनुमानान्तर से हो जाता है ।।३२६।। इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है।

यदि अनुमान में व्यभिचार-शंका होने पर अनुमान ही अव्यभिचारता का साधक माना जाता है तब सभी अनुमानों में व्यभिचार-शंका होती जायगी। इसको ही असिद्धेनासिद्धं साध्यते कहा जाता है। स्पर्शरूप की भी सिद्धि पीतशङ्ख विज्ञान के समान भ्रमात्मक हो सकती है। जहाँ भी धूम में व्यभिचार-शङ्का होती है, वहाँ ही वह्निपूर्वक वितपनादि व्यवहार पाये जाते हैं। अतः अनुमान के द्वारा विकल्प का

वार्तिकालङ्कारः

च धूमस्य व्यभिचारशङ्का तत्र वह्निपूर्वकृतानां वितपनादिव्यवहाराणां सुतरामेव। तस्मादनुमानेन विकल्पसाधने यदि पक्षेणैव व्यभिचारः सर्वत्रानुमाने स्यादिति नेयं साध्वी कल्पना तदसत्। । एवं हि—

परो वस्तुबलाद् धूमादनुमानम्प्रवर्त्तते। तच्च दृष्टाविसंवादन्न तथा कल्पसाधनम् ॥३२७॥

अग्न्यनुमानं हि परोक्षविषये प्रवर्त्तमानन्न प्रत्यक्षेण बाध्यते। प्रत्यक्षस्यातद्विषयत्वात्। विकल्पसाधने तु विकल्पस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षविषयत्वान्न दूरादिति सूक्ष्मतापि परोपलम्भापेक्षया। आत्मरूपे तु यथा सूक्ष्मतोपलभ्यस्य तथोपलम्भकस्यापीति। न श्वपचः श्वपचाद् बिभेति। स्वसंवेदनस्यापि चायमेव वा भावो यदसंवेदन्नाम। न चानुमानं विकल्पे प्रवर्त्तते वह्न्यादाविव। तथा प्रतीतेरभावात्।

ननु विकल्पं विना व्यवहारायोगात् प्रतिबन्धग्रहणं कथन्नानुमानम्। न, प्रतिबन्धग्रहणस्यैवान्यथाभावात्। तथा हि—

विचारादि विना भावादनभ्यासस्य सम्भवी। व्यवहारो न तत्त्वे तु व्यवहारो बिनापि सः ॥३२८॥

व्यवहारो हि पूर्वापरपर्यालोचनमन्तरेणानभ्यासस्य नेति प्रतिबन्धपरिग्रहोऽभ्यासे तु सत्यन्यथापीति नान्यथा।

अतोऽभ्यासाद्विनाप्येष व्यवहारः प्रवर्त्तते। प्राणिनान्दृष्टिरत्रैव व्यवहारेण नामुना ॥३२९॥

प्रतिबन्धग्रहणानुरूपैवानुमानस्य प्रवृत्तिरन्यथानुमाने प्रतिबन्धग्रहणन्नोपयोगी।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

साधन करने पर सर्वत्र व्यभिचार दर्शन हो और "नेयं साध्वी कल्पना"—ऐसी प्रतीति तो वह उचित नहीं, क्योंकि जैसे धूम से अग्नि का अनुमान वस्तु के बल पर सिद्ध किया जाता है, वैसा विकल्पानुमान नहीं हो सकता ॥३२७॥ आशय यह है कि अग्नि का अनुमान परोक्ष विषय में प्रवृत्त होने के कारण प्रत्यक्ष-बाधित नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष तद्विषयक नहीं होता किन्तु विकल्प-साधन में विकल्प स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण प्रत्यक्षबाध की कुछ दूर सीमा में आ जाता है। परोक्षोपलब्धि की अपेक्षा उसमें सूक्ष्मता भी मानी जाती है। उपलब्धि और उपलम्भक तद्रूप होने के कारण प्रत्यक्ष में वह वैसे ही भयभीत नहीं होता जैसे श्वपच से श्वपच नहीं डरता। स्पर्शवेदन का भी यही भाव है। विकल्प के विषय में अनुमान वैसे प्रवृत्त नहीं होता जैसे वह्नि के विषय में, क्योंकि उसकी वैसी प्रवृत्ति नहीं होती।

शङ्का—विकल्प के विना कोई व्यवहार प्रचलित नहीं होता। व्यवहार और विकल्प का प्रतिबन्धग्रहण (व्याप्तिग्रह) होता है अतः उसे अनुमान क्यों नहीं कह सकते।

समाधान—वहाँ प्रतिबन्धकग्रहण ही अन्यथा होता है जैसा कि कहा गया है कि विचारादि के विना प्रकट होने के कारण अभ्यास सम्भव नहीं, अतः विकल्प के बिना भी व्यवहार प्रचलित हो जाता है ॥३२८॥ अर्थात् व्यवहार पूर्वापरपर्यालोचन के विना सम्भव नहीं। अतः विकल्प के साथ प्रतिबन्धग्रहण सम्भव नहीं, अतः अभ्यास के विना भी यह व्यवहार प्रवृत्त होता है। सभी प्राणी की दृष्टि ऐसी ही होती है। व्यवहार के विना अनुमान नहीं होता, व्याप्तिग्रह के अनुरूप ही अनुमान की प्रवृत्ति होती है ॥३२९॥ अन्यथा उसके ग्रहण से प्रतिबन्ध ग्रहण का उपयोग नहीं। वह प्रतिबन्ध अनभ्यास अवस्था में ही ग्रहण होता है। अतः विचारादि से अनुमान व्यवहार नहीं

वार्तिकालङ्कारः

स च प्रतिबन्धोऽनभ्यासावस्थायामेव गृह्यते नान्यत्र।

ततो नास्ति विचारादेरनुमाव्यवहारतः । व्यवहारो हि नामायमन्यथाप्युपलभ्यते ॥३३०॥

अन्यथा ।

रूपवत्यां विलासिन्याङ्कामिनां वृत्तिदृष्टितः । विरूपायामपि ततो रूपवत्तानुमीयताम् ॥३३१॥

तस्मात् संकेतकालोपलब्धशब्दाग्रहणमन्यविकल्पने परिस्फुटमेवेति तज्जा कल्पनापि नास्त्येव।

ननु प्रत्यक्षेण यदि शब्दसम्बन्धो न गृह्यते कथमयं स तस्य शब्दस्य वाच्य इति कृत्वा व्यवहारः। न। भ्रान्त्यापि व्यवहारसम्भवात्। भ्रान्तिरपि च वस्तुसम्बन्धेन प्रमाणमेव। यथा तरुष्वपिण्डादिग्राहिणः प्रत्ययाः। तत्रापि न पिण्डता नामास्ति। तथापि वृक्षव्यवहारोऽविसंवादी। एवन्न योजनन्नामास्ति तथापि योज्यव्यवहारोऽवितथः। तथा हि गौरयमिति समानाधिकरणार्था प्रतीतिरन्यस्य गोशब्दोऽस्य वाचक इत्यर्थः। ततोऽविसंवादिनी प्रतीतिरियमेवम्भूता। एवं विषयेऽस्य प्रयोगस्य दर्शनात्। यथा वृक्षविषये पिण्डप्रतिपत्तेर्भावो नान्यत्रेति प्रतिबन्धादविसंवादः। यदि तर्हि गोशब्दात् स्वलक्षणन्न प्रतिपन्नं कथन्तद्दर्शने सोऽयमिति प्रतिपत्तिः। यत्तन्मया प्रतिपन्नमासीदभिधानादिदन्तदिति लोके प्रतीतिः। न। दृष्टे प्रत्यभिज्ञानाभावात्। सोऽयमिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता, विचार अन्यथा-भर होता है ॥३३०॥ अन्यथा रूपवती विलासिनी में कामियों की प्रवृत्ति देखी गई है। विरूप में भी रूपता का अनुमान किया जा सकता था वैसा नहीं होता। इसी प्रकार 'अयं गोपदवाच्यः' इस प्रकार के संकेत-काल में गृहीत नहीं, अतः व्यवहारजन्य कल्पना सम्भव नहीं ॥ ३३१ ॥

शङ्का—प्रत्यक्ष के द्वारा यदि शब्दसम्बन्ध गृहीत नहीं होता तब 'अयं सः' 'अयं तच्छब्दवाच्यः" इस प्रकार का व्यवहार कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—भ्रान्ति से भी वैसा व्यवहार सम्भव हो जाता है। भ्रान्ति भी वस्तु के सम्बन्ध से प्रमाण मानी जाती है। जैसे दो वृक्षों में एकता के भ्रम से एकोऽयं वृक्षः—ऐसी प्रतीति। वहाँ भी वस्तुतः एकता नहीं है। फिर भी वृक्ष-व्यवहार में संवाद पाया जाता है। उसी प्रकार यद्यपि शब्द-योजन वहाँ, तथापि योजना-व्यवहार अविनाश होता है। अर्थात् "गोरयम्"—ऐसी समानाधिकारक प्रतीति हो जाती है—"अस्ति अस्य गोशब्दो वाचकः"। इस प्रकार यह प्रतीति अविसंवादिनी हो जाती है। ऐसे विषय में ऐसा प्रयोग देखा जाता है। यथा दो वृक्षों में एकता या एक वृक्ष में मनुष्य पिण्डाकारता प्रतीति अन्यत्र न होने के कारण अविसंवाद है। यदि गो शब्द से स्वलक्षण प्रतिपन्न नहीं, तब उसके दर्शन से "सोऽयम्"—ऐसी प्रतिपत्ति ? लोक में तो ऐसा ही व्यवहार होता है—"तत् मया प्रतिपन्नमासीत्, अतः "इदं तत्"। प्रत्यक्ष-दृष्ट अर्थ में किसी को विवाद नहीं होता। "सः"—इस प्रकार की परोक्षाकारी प्रतीति है, दर्शनाकारा प्रतीति है, दर्शनाकारा नहीं, तब अन्योऽन्य-विलक्षण प्रतीति होने से एक विषयता क्योंकर होगी ? प्रतिभास-भेद ही प्रतीतियों का भेदक माना जाता है। यदि प्रतीतियाँ अभिन्न हैं, तब भेद नहीं होगा। यदि प्रतिभास-भेद से नहीं, अर्थक्रिया के भेद से भेद माना जाता है, तब वह उचित न होगा, क्योंकि प्रतिभास-भेद के बिना अर्थक्रिया-भेद सम्भव नहीं। अर्थक्रिया-विशिष्ट प्रतिभास-भेद से भेद मानने पर यदि अर्थ-क्रिया-रहित

जायन्ते कल्पनास्तत्र यत्र शब्दो निवेशितः ।
तेनेच्छातः प्रवर्तेरन्नेक्षेरन् बाह्यमक्षजाः ।। १७६ ।।

संकेत के समय जिस विषय में शब्द-योजना की जाती है, उसमें शब्द-कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। ऐन्द्रियक विषय के साथ शब्द-योजना नहीं की जाती, अतः इन्द्रिय-जन्य ज्ञान शाब्द ज्ञान नहीं। यदि इन्द्रिय-विषय में शब्द-योजना की जाती, तब इच्छातः अक्ष-जन्य प्रत्यय उसी प्रकार प्रवृत्त होते—जैसे विकल्प में। किन्तु ऐसा नहीं, अतः बाह्य अर्थ को अक्ष-जन्य प्रत्यय नहीं विषय करते विकल्पवत् ।। १७६ ।।

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यभिज्ञानन्नायमिति । स इति च परोक्षाकारा प्रतीतिर्न दर्शनाकारा । ततोऽन्योऽन्यविलक्षणत्वात् प्रतीत्योर्नैकविषयत्वम् । प्रतिभासभेदो हि भेदक इति । तस्याभेदात्मकत्वेन भेदो भवेत् । अथार्थक्रियाभेदाद् भेदो न प्रतिभासभेदात् । न । प्रतिभासभेदव्यतिरेकेणार्थक्रियाया अभावात् । अर्थक्रियाविशिष्टप्रतिभासभेदादिति चेत् । यद्यर्थक्रियारहितः प्रतिभासस्तर्त्तहि निरालम्बनविज्ञानमन्यदेवाक्षजप्रत्ययात् । स इति हि वासनामात्रभावितया नार्थक्रियाकारिवस्तुग्राहि ज्ञानम् । अतो वस्तुसंस्पर्शाभावात् स एवायमिति प्रत्यययोर्न सामानाधिकरण्यम् । अयमित्यपि प्रतिभास इदन्तदिति सकलपुरोवर्त्तिसाधारणरूपाध्यवसायी । साधारणताविरहेण तु निर्विकल्पक एव । यदि च कल्पनारूपमिन्द्रियविज्ञानन्तदाप्यपरो दोषः । तथा हि—जायन्ते कल्पनास्तत्रेति ।

शब्दो हि परोक्षार्थे निवेशितस्तत्र च कल्पनानान्निवेशस्ततो न बाह्यदर्शिस्यादिन्द्रियविज्ञानमनालम्बनं शाब्दवदेव भवेत् । न हि परोक्षे प्रवर्त्तमानं सालम्बनं स्वरूपस्यासंस्पर्शात् । स्वरूपसंस्पर्शे वर्त्तमानं स्पष्टग्रहणादयमित्येव स्यात् । न स इति । स्मरणस्य वा सकलस्येन्द्रियज्ञानता विशेषाभावात् ।

न खलु शाब्दाः प्रत्यया बाह्यरूपसंस्पर्शिनः । अथ बाह्येऽर्थे शब्दनिवेशस्तथा सति शाब्दप्रत्ययो यथेच्छया प्रवर्त्तते तथेन्द्रियजोऽपि । ततो बहिरर्थाभावेऽपि प्रवर्त्तमानो

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भास है, तब वह निरालम्बन विज्ञान अक्ष-जन्य प्रत्यय से भिन्न ही होगा। "सः" ऐसी प्रतीति वासनामात्र से उद्भूत है, अतः अर्थक्रियाकारी वस्तु की ग्राहिका नहीं। फलतः वस्तु का संस्पर्श न होने से "स" और "अयम्"—इन दोनों प्रत्ययों में सामानाधिकरण नहीं। "अयम्"—ऐसा प्रतिभास भी "इदं तद्"—इस प्रकार सकल पुरोवर्ती साधारण रूप का अध्यवसायी है। साधारणता का विरह होने से निर्विकल्पक है। यदि इन्द्रिय विज्ञान कल्पनारूप है, तब यह शब्द का संकेत परोक्षार्थ के साथ किया जाता है। शब्द का वास्तविक सम्बन्ध नहीं। यह भी एक पाँचवीं कल्पना मात्र है। अतः शब्द के वाच्यार्थ का बाह्य दर्शन सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष के विषय में यदि शब्द योजना मानी जाती है तो शाब्दज्ञान के साथ प्रत्यक्ष भी निरालम्बन हो जाता है। परोक्षार्थ में संकेतिक ज्ञान सालम्बन नहीं कहलाता, कारण है वह वस्तुस्वरूप का स्पर्श नहीं करता। स्वरूप का संस्पर्श होने पर 'अयम्' इस प्रकार की अनुभूति होनी चाहिए, 'स' ऐसा नहीं। यदि 'स' इस प्रकार के ज्ञान को 'इन्द्रियजन्य' माना जाता है तो सभी स्मरण ऐन्द्रिय ज्ञान हो जायेंगे। शाब्दज्ञान बाह्यवस्तु का संस्पर्श नहीं करते। यदि बाह्यार्थ के साथ शब्द सम्बन्ध किया जाता है तब शब्द प्रत्यय इच्छानुरूप प्रवृत्त

वार्तिकालङ्कारः

निरालम्बनो भवेद् विशेषाभावात्। अथ यत्रेच्छानुविधानन्नास्ति तत्रार्थानुविधानाद् बाह्यार्थालम्बनता। यद्येवमर्थानुविधानम्प्रत्यक्षलक्षणन्तदा निर्विकल्पकमेवेन्द्रियविज्ञानम्। शब्दाकारताया इच्छापराधीनत्वान्न सा बाह्यार्थान्वयिनी वासनान्वयित्वात्। अथ यद्यपि वासनान्वयः शब्दाकारस्य तथापि वासनेन्द्रियसामग्रीत एकमेव तदिति सविकल्पकम्प्रत्यक्षम्। एवं हि व्यवहारोऽन्यथा परामर्शेनाविषयीकृते व्यवहार एव न स्यात्। निश्चिन्वतो हि सुखसाधनमेवमेतदिति लोकस्य व्यवहारो दृष्टः। तदप्यसदेव। यतः—

यथैव खलु सामग्र्याः प्रत्ययोदय इष्यते। व्यवहारस्तथैवास्तु प्रमाऽत्रैव हि विद्यते ॥३३२॥

यतः कारणभेदादभेदः। कारणञ्च वासनादिभिन्नमेव शब्देन्द्रियजप्रत्ययार्थाकारयोर्व्यवहारस्तु नैकत्वेन। सामग्रीमात्रेण प्रत्ययद्वयस्य व्यवहारोपपत्तेरन्यविकल्पनेऽपि च व्यवहारसम्भवात्। न ह्यन्यविकल्पसम्मुखीभावे तस्य परामर्शेन विषयीकरणम्। न च शब्दयोजनामात्रेण व्यवहारोऽर्थक्रियायोजनेन। व्यवहारादर्थक्रिया च पूर्वानुभूतानुभविष्यते च। न सेन्द्रियविज्ञानविषयोऽनुमानाभावप्रसङ्गात्। नेक्षेरन् बाह्यमक्षजा इति कोऽर्थः। नेक्षेरन् ये बाह्यन्तेऽप्यक्षजाः प्राप्नुवन्ति विशेषाभावादिति। एवं व्यवधानादिभावेऽपि जायेतेन्द्रियजा मतिरिति। व्यवधानादिभावेऽपि या मतिः सापीन्द्रियजा स्यात्। यथा स इत्यङ्कश इति। एतच्च प्रागेव प्रत्यपादि। कथन्तर्हीदं वस्त्विति निश्चयो वस्तुनः। पुरोवृत्तेऽनिश्चायकः। न ह्यत्र परोक्षविषयता निश्चयस्य। इदञ्च प्रत्यक्षं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होकर इन्द्रियजन्य ज्ञान के समान ही हो जाता है, अतः बाह्यार्थ के अभाव होने से प्रवर्तमान ज्ञान निरालम्बन माना जाता है। जिस अर्थ के साथ इच्छा का अभिधान नहीं होता है वहाँ बाह्यार्थ आलम्बनता नहीं मानी जाती है तब इन्द्रिय ज्ञान को निर्विकल्पक मानना होगा। शब्दाकारता इच्छापराधीन होने के कारण बाह्यार्थानुबन्धि न होकर वासनान्विनी होती है। यद्यपि शब्दाकार में वासना अन्वित होती है तथापि वासना और इन्द्रिय सामग्री के मिश्रण से एक ही तत् इस प्रकार का ज्ञान सविकल्पक उत्पन्न होता है। परामर्श का विषय न होने के कारण वैसा व्यवहार ही न हो सकेगा। लौकिक व्यवहार देखा जाता है 'सुखसाध्यं तत्' इस प्रकार का वह व्यवहार केवल अध्यास पर निर्भर करता है, क्योंकि जैसे सामग्री के आधार पर प्रत्यक्ष का उदय होता है व्यवहार भी वैसा ही देखा जाता है उसे ही प्रमा कहते हैं ॥३३२॥ क्योंकि कारण के अभेद से कार्य का अभेद होता है किन्तु यहाँ कारण भिन्न ही है। शब्द और इन्द्रियरूप सामग्री के भेद से जायमान ज्ञान में एकत्व-व्यवहार नहीं होता। सामग्रीमात्र से कारणद्वय का व्यवहार होता है। सामग्रीमात्र में कल्पित सामग्री भी है। अर्थक्रिया की योजना शब्दादि योजना के समान कल्पना मात्र है। अर्थक्रिया पूर्वोद्भूत अनुभव-विषयिणी होती है। वह भी इन्द्रिय विज्ञान-विषयिणी नहीं होती। अन्यथा उसका अनुमान न हो सकेगा। वार्तिककार ने भी कहा "नेक्षेरन् बाह्यमक्षजाः" इसका क्या अर्थ "नेक्षेरन् बाह्यान् तेऽपि अक्षजा न प्राप्नुवन्ति विशेषा भावात्।" अर्थात् व्यवधान होने पर भी इन्द्रियजन्य बुद्धि होती है। जैसे कि 'स' इस प्रकार की बुद्धि। इसका स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है। यदि इन्द्रियज्ञान कल्पनामात्र है तब इन्द्रियज्ञान से इदं वस्तु का निश्चय कैसे होगा। इह न मृत्तिका पूर्व वस्तु का निश्चायक नहीं माना जा सकेगा। इदम् आकार निश्चय परोक्ष वस्तु का निश्चायक नहीं होता।

रूपं रूपमितीक्षेत तद्धियं किमितीक्षते।
अस्ति चानुभवस्तस्याः सोऽविकल्पः कथं भवेत् ॥ १७७ ॥

सभी विकल्पवादियों के मत में "रूपम्"—इस प्रकार विकल्प बुद्धि रूप का ईक्षण करती है। वहाँ कल्प्यमान रूप-बुद्धि को ज्ञाता क्यों देखता है? रूप-बुद्धि का अनुभव नहीं है ऐसा युक्त नहीं, क्योंकि सभी को उसका अनुभव होता है। रूप के समान रूप-बुद्धि में कल्पना अनुभूत नहीं होती। अन्यथा रूप-बुद्धि का अविकल्प अनुभव क्योंकर होगा? ॥ १७७ ॥

तथैवानुभवे दृष्टं न विकल्पद्वयं सकृत्।
एतेन तुल्यकालान्यविज्ञानानुभवो गतः ॥ १७८ ॥

उसी रूप-बुद्धि के द्वारा रूप एवं स्वयं का अनुभव स्वीकार करने पर "रूपम्" एवं स्वानुभव—इस प्रकार विकल्प-द्वय सकृत् उत्पन्न होंगे। वैसा होता नहीं, क्योंकि अनुभव से बाधित है। सकृत् कल्पना का निरास हो जाने से तुल्यकालिक अन्य अनुभव भी गतार्थ हो जाता हैं ॥ १७८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सन्निहितार्थत्वात् तदसत्। मानसम्प्रत्यक्षमेतदिति प्रतिपादयिष्यामः। यदि च प्रत्यवमर्शमन्तरेण व्यवहारो नास्ति। नापरामृष्टो गृहीतः। तदा—रूपं रूपमितीक्षेतेति।

सकलसविकल्पकप्रत्ययवादी हि रूपमितीक्षेत रूपन्तद्धियन्तु कथमीतते न हि तत्र तद्धीरिति विकल्पः। अथानुभव एव नास्ति तथापि व्यवहारोऽस्ति। नात्राननुभूयमानेऽपि यावद् व्यवहारः संवेदने भवन्मते नार्थापत्यादेः सम्भवति। किम्पुनरविकल्पकत्वेन स्पष्टाकारतयाऽनुभूयमाने। न चानुभवस्तस्या नास्ति। अन्यथा रूपदर्शनम्ममेदमिति विकल्पस्य कुतः सम्भवः। सुखादयश्च तदानीमनुभूयन्त एव। न च तत्र सुखादिकमिदमिति विकल्पकानुभवः। ततोऽविकल्पक एव बुद्धेरनुभवः। अविकल्पानुभवे नापि व्यवहारे बुद्धिवद् रूपादिष्वपि व्यवहारेऽस्तु। अथायमपि विकल्पो रूपदर्शनं ममेदमिति प्रत्यक्षमेव सविकल्पकमत्रोच्यते। तत्सविकल्पकम्प्रत्यक्षं रूपदर्शनमेव अथान्यद्रूपदर्शनादिति द्वयी गतिः। तत्र—तथैवानुभवे दृष्टन्नेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

"इदमाकारज्ञानं प्रत्यक्षं सन्निहितविषयत्वात्"। ऐसा अनुमान उचित नहीं क्योंकि मानस प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष है। वह भी व्यवहार का साधक है। यदि प्रत्यवमर्श के विना व्यवहार नहीं होता तब रूपाकार विषय का द्रष्टापुरुष उसके ज्ञान का द्रष्टा क्योंकर होगा? सकल विकल्प प्रत्यय रूप को विषय करता है। ज्ञान को नहीं क्योंकि ज्ञान वहाँ विकल्पात्मक नहीं। यदि कहा जाय कि रूपज्ञान का अनुभव ही नहीं होता तथापि व्यवहार होता है। विषयवस्तु का अनुभव न होने पर उसका व्यवहार अर्थापत्ति से सम्भव नहीं। तब अविकल्पकत्वेन स्पष्टाकारतया अनुभूयमान होने पर क्यों होगा? उसका अनुभव हो नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, अन्यथा "ममेदं रूपदर्शनम्"—ऐसा विकल्प सम्भव क्योंकर होगा सुखादि तो उस समय अनुभव में आते ही हैं। किन्तु "सुखादिकमिदम्"—इस प्रकार का विकल्पानुभव नहीं होता। अतः बुद्धि का अविकल्पक अनुभव ही होता है। अविकल्पक अनुभव के द्वारा भी बुद्धि के समान

स्मृतिर्भवेदतीते च साऽगृहीते कथं भवेत् ।
स्याच्चान्यधीपरिच्छेदाऽभिन्नरूपा स्वबुद्धिधीः ॥ १७९ ॥

उत्तरकाल भावी विकल्प ज्ञान से अनुभव होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि रूपानुभव के अतीत हो जाने पर पश्चात्तनविकल्प के द्वारा स्मृति नहीं हो सकेगी और अनुभव भी नहीं होगा। अनुभव के गृहीत न होने पर स्मृति क्योंकर होगी? यदि अतीत बुद्धि विकल्पित होती है, तब अन्य पुरुष की बुद्धि के परिच्छेद से परोक्ष बुद्धि-विकल्प के रूप में स्वकीय बुद्धि का ज्ञान होना चाहिए किन्तु उससे विलक्षण अनुभव होता है। अतः वह अविकल्प ही है ॥ १७९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि स एव रूपप्रत्यय आत्मानं विकल्प्य प्रत्येति तदा सकृद् विकल्पद्वयप्रसङ्गः। एकस्य क्रमायोगात्। न च दृश्यते। सैव क्रमेण रूपादिस्वरूपानुभवात्मिकेति चेत्। यद्येका बुद्धिः क्रमं स्वीकरोति क्रमोऽप्यक्रमः प्राप्तः। तमपि क्रमेण स्वीकरोतीति चेत्। अनवस्था स्यात्। रूपाभिनिवेशावस्थायां स्वाभिनिवेशाभावात् कथमेकता। न ह्यभिनिवेशमन्तरेणापरा बुद्धिः। तस्य भेदबुद्धिरपि भिन्नेति कथमेकस्याः क्रमः। अभिनिवेष्टाऽभिन्न इति चेत्। तत्रापि स्वरूपाभिनिवेशेऽपरेणाभिनिवेष्ट्रा भवितव्यमिति सैवानवस्था। तस्मात् तयैवानुभवे सकृदेव विकल्पद्वयप्रसङ्गः। तथा हि—एतेन तुल्यकालान्येति।

तुल्यकालविज्ञानानुभवभावेऽपि सकृद् विकल्पद्वयप्रसङ्गः। ततश्च तत्राप्यपरेण विकल्पेन भवितव्यमित्यनन्तविकल्पप्रसङ्गः।

अथापि स्याद्। उत्तरकालभाविना बुद्ध्यन्तरेणानुभूयते प्रत्यक्षेणार्थापत्त्या वा। न सदेतद्। यतः—स्मृतिर्भवेदतीते चेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रूपादि में भी व्यवहार हो सकता है। यह विकल्प भी "रूपदर्शनं ममेदम्"—इस प्रकार प्रत्यक्ष ही सविकल्पक कहा जाता है। वह सविकल्पक प्रत्यक्ष रूपदर्शन ही है अथवा रूप-दर्शन से भिन्न। दो ही प्रकार हो सकते हैं। उनमें उस रूप-बुद्धि के द्वारा रूप और ज्ञान दोनों का अनुभव मानने पर रूप और रूपानुभव—दोनों का सकृत् विकल्प-द्वय होंगे किन्तु वैसा दिखता नहीं अनुभव से बाधित है। यदि रूपादि और स्वरूप (ज्ञान) का क्रमशः माना जाता है, तब यदि एक बुद्धि भी क्रम स्वीकार करती है, तब क्रम भी अक्रम हो जायगा। उसको भी यदि क्रमशः स्वीकार करती है, तब अनवस्था होगी। रूपादि निवेश की अवस्था में स्वाभिनिवेश हो नहीं सकता उनकी एकता क्योंकर होगी? अभिनिवेश के बिना अन्य बुद्धि नहीं हो सकती। उसकी भेद-बुद्धि भी भिन्न है, अतः एक में क्रम कैसा? यदि अभिनिवेश व्यक्ति अभिन्न है, तब भी स्वरूपाभिनिवेष्टा की अपेक्षा भिन्न अभिनिविष्टा होना चाहिए फलतः वहीं अनवस्था प्रसक्त होती है, अतः उसी बुद्धि के द्वारा दोनों का परामर्श होने पर सकृत् दो विकल्प प्रसक्त होते हैं।

एक काल में ही दो विज्ञानानुभवों के होने पर भी सकृत् विकल्प-द्वय की प्रसक्ति होती है। फलतः विकल्प में विकल्प होकर अनन्त विकल्प प्रसक्त होते हैं।

शङ्का—उत्तरकाल-भावी अन्य बुद्धि के द्वारा अनुभव किया जाता है, प्रत्यक्ष या

वार्तिकालङ्कारः

यद्यतीतं संवेदनन्न तत्र प्रत्यक्षं विद्यमानविषयत्वात् । तदापि विद्यमानमेव संवेदनमिति चेत् । न तर्हि रूपग्रहणस्वभावग्रहो न चान्या बुद्धिः । अथ बोधरूपा बुद्धिस्तस्यां यो य एव सन्निहितोऽर्थः स एव प्रतिभाति स्फटिकदर्पणादिवत् । तदसत् । अतीतमेव तर्हि तदा रूपग्रहणम् । बोधरूपता तु तदा सत्यपि क्वोपयोगिनी । ततो रूपग्रहणम्ममेतमिति न स्यात् । आसीदिति स्यान्न च तथा प्रत्यक्षवृत्तिः । अथ रूपग्रहणस्यातीतत्वमप्यस्ति । वर्त्तमानत्वमपि । तथा सति पूर्वमप्यतीतत्वमस्तीति दुर्घटम्भवेत् । तथा हि—

सर्वदातीतभावेन वर्त्तमानः सदा स न । तथा सति सदैवास्ति रूपग्रहणमित्यसत् ॥३३३॥

सदैवातीतत्वे ततोऽपि प्रागस्तीति सर्वदा रूपग्रहणन्न भवेत् । अथ पूर्वं वर्त्तमानता पश्चादतीतता । तथा सति तदेकं ज्ञानमिति न स्यात् । अथैकता । तथा सति सकृदुभयग्रहणम्भवेत् । क्रमेण ग्रहणे एक एव न स्यात् । एकत्वं क्रमश्चेति विरुद्धम् । एकस्य त्यागे परस्योपादानमिति क्रमार्थः । एतच्च प्रागेव प्रतिपादितमिति नोच्यते पुनः । तस्मादतीतस्य ग्रहणाभाव एव । स्मृतिरपि ग्रहणन्नान्तरेणेत्यभाव एव प्रसक्तो रूपग्रहणप्रतिपत्तेः । यदि च संवेदनमतीतन्न संवेदनमेतदिति प्रतीतिः । तथा सति न ज्ञायते कस्येदं संवेदनमिति । अन्यधीप्रतिपत्तितुल्यता भवेदतीतत्वस्मरणस्याविशेषात् । कथमिदं विज्ञायतेऽन्यधीपरिच्छेदादिति किमन्यधिया परिच्छेदः । किंवाऽन्यस्य धियः परिच्छेदः । यदि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थापत्ति के द्वारा ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि यदि वहाँ संवेदन अतीत है तब वह प्रत्यक्ष नहीं, स्मृतिरूप होगा । उत्तर काल में भी यदि संवेदन विद्यमान ही है, तब वह रूपग्रहणस्वभावक नहीं होगा, क्योंकि उससे भिन्न बुद्धि होती नहीं । यदि बोधरूपा बुद्धि है, उसमें जो सन्निहित अर्थ है, उसी का भान वैसे ही होगा, जैसे स्फटिक या दर्पणादि में । किन्तु वैसा कहना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उस काल में रूपग्रहण तो अतीत हो जाता है । उस समय बोधरूपता के होने पर भी उसका क्या उपयोग ? तब तो रूपग्रहणमेतद् ऐसा नहीं होगा । "आसीत्"—ऐसा भान अवश्य होगा किन्तु वैसी प्रत्यक्ष वृत्ति नहीं होती ? यदि रूपग्रहण में अतीतत्व भी है, वर्तमानत्व भी, तब तो पहले भी अतीत्व होगा जो कि नितान्त दुर्घट है—

यदि अतीतभाव सर्वदा है, तब सदैव रूपग्रहणम् अस्ति—यह असत् हो जायगा ॥३३३॥ यदि अतीतत्व सर्वदा है, रूपग्रहण का सर्वदा अभाव मानना होगा । यदि पहले वर्तमानता, उसके पश्चात् अतीतता है । तब ज्ञान एक न रह सकेगा । यदि एकता है, तब सकृत् उभयरूप का ग्रहण होना चाहिए । क्रमशः ग्रहण मानने पर एक भी न रहेगा । एकत्व भी हो और क्रम भी—यह अत्यन्त विरुद्ध है । एक का त्याग और अपर का उपादान—यह है क्रम पदार्थ । यह तो पहले ही प्रतिपादित हो चुका है, अतः पुनः नहीं कहा जाता । अतः अतीत के ग्रहण का भाव ही सिद्ध होता है । स्मृति भी अनुभव के विना नहीं हो सकती, फलतः रूपग्रहण प्रतिपत्ति का अभाव ही प्रसक्त होता है । यदि संवेदन अतीत है, तब एतद् संवेदनं न—ऐसी प्रतिपत्ति प्रसक्त होती है । अतः यह नहीं जाना जाता कि "कस्येदं संवेदनम्" । विरुद्ध अर्थों में तुल्यता प्राप्त होती है, क्योंकि अतीतत्व और स्मरण में कोई विशेषता नहीं । यह वस्तु अन्य बुद्धि से परिच्छिन्न है—यह कैसे जाना जा सकता है ? क्या यह अन्य बुद्धि से परिच्छिन्न है ?

अतीतमपदृष्टान्तमलिङ्गं चार्थवेदनम् ।
सिद्धं तत्केन तस्मिन् हि न प्रत्यक्षं न लैङ्गिकम् ॥ १८० ॥

निर्विकल्पक का जो स्वसंवेदन नहीं मानता, उसके मत में अतीतार्थ का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं, अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वह लिङ्ग-रहित है। अर्थात् ज्ञानरूप धर्मी के असिद्ध होने से लिङ्ग आश्रयासिद्ध है। अनुमान से ज्ञान की

वार्तिकालङ्कारः

तावदन्यंधिया परिच्छेदस्तदेतद्दिष्टमेवास्वसंवेदनवादिनः। अन्यथाऽन्यस्य धियः परिच्छेदः। तदसत्। अन्यधियः परिच्छेदासम्भवात्। अनुमानेन ह्यन्यधीपरिच्छेदः। न चात्मधियामनुमानम्परिच्छेदकम्। अतः कथन्तुल्यता परिच्छेदस्य। अत्रोच्यते—

अतीतस्व परोक्षत्वमभिप्रेत्येदमुच्यते। साक्षात्सिद्धौ तु नातीतपरोक्षत्वस्य सम्भवः ॥३३४॥

यदि हि तत्साक्षात् प्रतीयते तदा रूपादिवदस्य न परोक्षता नाप्यतीत्वम्। साक्षात्क्रियमाणस्य वर्त्तमानत्वादन्यथा वर्त्तमानतैव न स्यात्। तस्मात् परोक्षं सकलमनुमानत एव प्रत्येयम्। तच्च स्मरणरूपमिति समानता बुद्धिसंवेदनस्य भवेत्।

अथ पक्षस्याप्यात्मबुद्धिरनुमानादन्येन मानेन मीयते तथा सति सैव समानता प्राप्ता। अथ परबुद्धिः परसम्बन्धित्वेन प्रतीयते नात्मबुद्धिस्तस्याः स्वसम्बन्धित्वेनैव प्रतीतिः। न ह्यन्यदन्यथा प्रत्येतुं युक्तम्। तदसत्। यतो हि—

साक्षात्करणरूपे हि ग्रहणे सम्भवेदिदम्। अनुमानस्मृतौ पूर्वग्रहणस्यानुवृत्तितः ॥३३५॥

तदेव दर्शयति—अतीतमपदृष्टान्तमिति।

न ह्यतीतप्रतिपत्तौ दृष्टान्तोऽस्ति प्रत्यक्षाभावात् ततो न लैङ्गिकं ज्ञानमात्मपर-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अथवा अन्य की बुद्धि से परिच्छिन्न है ? यदि अन्य बुद्धि से परिछिन्न है, तब तो यह दृष्ट ही है असंवेदनवादी के लिए। अथवा अन्य की बुद्धि में परिच्छेद। वह उचित नहीं, क्योंकि अन्य की बुद्धि का परिच्छेद सम्भव नहीं। अनुमान के द्वारा अन्य की बुद्धि का परिच्छेद होता है किन्तु स्वकीय बुद्धि का अनुमान नहीं होता, अतः परिच्छेद में तुल्यता कैसे होगी ?

इस प्रश्न का उत्तर है—अतीत की परोक्षता मानकर यह कहा जाता है कि साक्षात् सिद्धि में तो अतीत परोक्षता सम्भव ही नहीं ॥ ३३४ ॥

यदि वह साक्षात् प्रतीत होती है, तब रूपादि के समान इस (संवित्) में न परोक्षता है और न अतीतत्व। साक्षात् क्रियमाण पदार्थ वर्तमान होता है, अन्यथा वर्तमानता ही सम्भव न होगी। फलतः सकल परोक्ष ज्ञान अनुमान से ही प्रत्येय है। वह स्मरणरूप है, अतः बुद्धि और उसके संवेदन की समानता ही होगी।

शङ्का—यदि पक्षभूत स्वकीय बुद्धि अनुमान से अन्य प्रमाण के द्वारा प्रमित होती है, तब वही समानता प्राप्त होती है। यदि पर बुद्धि परकीय सम्बन्धित्वेन प्रतीत होती है, तब वह उचित न होगा, क्योंकि वह स्वकीय बुद्धि है, अतः उसकी स्वसम्बन्धित्वेन ही प्रतीति होगी। अन्य वस्तु की अन्यथा प्रतीति नहीं हो सकती।

समाधान—उक्त शङ्का समीचीन नहीं, क्योंकि ऐसा साक्षात्काररूप ग्रहण में ही सम्भव होगा। अनुमान और स्मृति में पूर्वग्रहण की अनुवृत्ति होती है ॥ ३३५ ॥

अतीत प्रतिपत्ति में कोई दृष्टान्त नहीं होता प्रत्यक्ष का अभाव होने से। अतः

सिद्धि माननेवाले वादी के मत में कोई भी ज्ञान प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं। अनुमान की सिद्धि अस्थिर होने से अपदृष्टान्त है। दृष्टान्त की सिद्धि न होने पर व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती, अतः लिङ्ग-रहित अतीत रूपादि-दर्शन किस काम का? वह किसी प्रयत्न से सिद्ध नहीं। फलतः समस्त जगत् प्रतिपत्ति-रहित हो जाता है॥ १८०॥

तत्स्वरूपावभासिन्या बुद्ध्यानन्तरया यदि।

रूपादिरिव गृह्येत न स्यात् तत्पूर्वधीग्रहः॥ १८१॥

पूर्व बुद्धि के द्वारा उत्पादित बुद्धि यदि अपनी अव्यवहित पूर्व बुद्धि का वैसे ही ग्रहण करती है, जैसे सौत्रान्तिक के मत में रूपोत्पादित ज्ञान उसी रूप का ही ग्रहण करता है, तब विगत बुद्धि का परम्परा के ग्राहक प्रत्यक्ष से विरोध होता है॥ १८१॥

वार्तिकालङ्कारः

संबन्धितया प्रत्येति वेदनम्। तथा प्रत्यक्षाभावात्। भावे वातीतता न स्यादित्युक्तम्। ततश्च लिङ्गं सम्बन्धग्रहणानुमापकमिति बुद्धिमात्रपरिच्छेदक एव प्रसक्तः। स्वसंवेदने तु तदितरत्वकृत एव विभागः। अथ सम्बन्धमन्तरेण यथानुमानन्तथा विभागानुमानमपि। नैतदपि युक्तम् यतो हि—

रूपग्रहणमत्रासीद् येन तद्बुद्धिरीक्ष्यते। यथाग्निरत्र प्रागासीत् देशे दाहस्य दर्शनात्॥३३६॥

न चाग्निर्मया कृतोऽन्येन वेति तत्र विभागः। अथ परदेहसम्बन्धितयाऽनुमीयते सा परबुद्धिरन्यथान्येति विभागः। तदेतदात्मनि बुद्धेः प्रत्यक्षेण ग्रहणे युक्तम्। तथा हि। स्वसंविदितं यद्रूपग्रहणन्तदास्तीयमन्यदन्यथेति युक्तो विभागः। अथ यथा सौत्रन्तिकस्य रूपादयस्तदनन्तरभाविना तद्रूपावभासविज्ञानेन गृह्यन्तेऽतीता एव सन्तस्तथा रूपग्रहणमपि। तदसद्यतः—तत्स्वरूपावभासिन्येति।

न हि रूपादयः पूर्वरूपतयाऽवभासन्ते वर्त्तमानबुद्धिसङ्क्रान्ता वर्त्तमानतयैवाव-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वह आनुमानिक नहीं होती। ज्ञान स्व-पर-सम्बन्धित्वेन प्रतीत होता है। वैसा प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि प्रत्यक्ष हो, तब उसमें अतीतता न होगी। अतः लिङ्ग सम्बन्धग्रहण के बिना अनुमापक होगा, अतः बुद्धिमात्र का परिच्छेदक ही प्रसक्त होता है। स्वसंवेदन में तत्त्व और इतरत्व प्रयुक्त ही विभाग होता है। यदि सम्बन्ध के बिना ही अनुमान के समान ग्राहक है, तब विभागानुमान भी होगा—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि यह रूपग्रहणमात्र है, जिसके द्वारा उसकी बुद्धि ईक्षित होती है, जैसे अत्र अग्निः प्रागासीत्, क्योंकि दग्ध तृणादि विद्यमान हैं॥ ३३६॥

अग्नि मैंने किया है अथवा अन्य व्यक्ति ने ऐसा विभाग यहाँ प्रतीत नहीं होता।

शंका—परकीय देह से सम्बन्धित अग्नि का अनुमान करना अभीष्ट है, अतः वह परकीय बुद्धि है, अन्यथा अन्य है ऐसा विभाग बन जाता है। ऐसा तो स्वकीय बुद्धि के प्रत्यक्ष होने पर ही बनेगा। अर्थात् जो स्वसंविदित है, और जो रूप-ग्रहण है, वह अतीत है और उससे भिन्न अन्यथा है—ऐसा विभाग उचित है। जैसे सौत्रान्तिक के मत में रूपादि तदनन्तरभावी एवं तद्रूपावभासी विज्ञान से गृहीत होते हैं। अतीत होकर ही, वैसा रूप-ग्रहण भी है।

समाधान—वह शङ्का उचित नहीं, क्योंकि रूपादि पदार्थ पूर्वरूपत्वेन अवभासित नहीं होते। हाँ, वे वर्तमान बुद्धि में संक्रान्त हैं। अतः वर्तमानत्वेन ही अवभासित होते

सोऽविकल्पः स्वविषयो विज्ञानानुभवो यथा ।
अशक्यसमयन्तद्वदन्यदस्त्वविकल्पकम् ॥ १८२ ॥

अन्य बुद्धि-ग्राहकत्व अनुभूत है, जिसके बल पर "चिरमहमद्राक्षम्"—ऐसा द्रष्टा को अनुभव होता है। अतः विज्ञानों का स्वरूपालम्बनक अविकल्प अनुभव होता है। उसी प्रकार अन्य ज्ञान भी अविकल्पक समझ लेना चाहिए। सकल स्वरूप शब्द-संकेत का अविषय है, विकल्प-ग्राह्य नहीं ॥ १८२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भासिनः। तद्रूपबुद्धिग्रहणमेव च रूपग्रहणम्। नत्वेवम्बुद्धेर्बुद्धिर्बुद्धिग्रहणाभावात्। अथ तदा बुद्धिर्बुद्धिरपि गृह्यते। तथा सति तदपरापि बुद्धिर्ग्राह्येत्यनवस्था। तथा सत्यग्रहणमेव सकलस्य। अथ बुद्धिबुद्धेरग्रहणमेव। तथा सति तत्सङ्क्रान्तस्य ग्राह्यस्याप्यग्रहण-प्रसङ्गः। यदनन्तरभाविनी बुद्धिर्बुद्धिः सैव गृह्येत न ततः पूर्विका। अथ पूर्वबुद्ध्यनन्तरमपि बुद्धिरुत्पत्तिमतीष्यते। तथा सति निरन्तररूपबुद्ध्यादिग्रहणाभाव इति वक्ष्यते। अथैकैव प्रबन्धेन बुद्धिरुत्पद्यते तदनन्तरं सर्वपूर्वबुद्धिग्राहिका बुद्धिरुदेति। तथापि क्रमवत्सर्वबुद्धिप्रतिपत्तिर्न स्यात्। अक्रमेण बुद्धिबुद्धावभासनात्। अथ क्रमेणैवावभासनन्तथा सति प्रत्यक्षत एकत्वप्रतिपत्तिर्न स्यात्। त्रुट्यत्तया ग्रहणात् स्मृतिरेवेति दोषः प्रागुक्त एव।

यदि नाम स्वरूपं स्वेन गृह्यमाणमविकल्पकेन गृह्यते व्यतिरिक्तस्य तु ग्राह्यस्य सविकल्पकेन ग्रहणे को विरोधः। न कश्चित्। किन्तु—सोऽविकल्पः स्वविषय इति।

तत्तावत् स्वरूपग्रहणं कस्मादविकल्पकग्रहणग्राह्यम्। तत्रापीदमेवोत्तरम्। न हि स्वरूपेण स्वरूपस्य योजना शब्देनान्येन वा धर्मेण सम्भवति। एवञ्चेद् रूपादिकमपि न योजयितुमपरेणापरेण शक्यं स्वरूपेण प्रतिभासमानस्य योजनाऽसम्भवात्। न हि स्व-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हैं। तद्रूप-बुद्धि का ग्रहण ही रूप-ग्रहण है। किन्तु बुद्धि की बुद्धि नहीं, क्योंकि बुद्धि-ग्रहण का अभाव है। यदि वहाँ बुद्धि की बुद्धि भी गृहीत होती है। तब अन्य बुद्धि भी गृहीत होती। इस प्रकार अनवस्था होती है। फिर तो सबका अग्रहण ही हो जाता है। यदि बुद्धि की बुद्धि का अग्रहण ही है, तब तत्संक्रान्त ग्राह्य का भी अग्रहण-प्रसङ्ग उपस्थित होता है। अर्थात् जिसके अनन्तर बुद्धि-बुद्धि है, वही गृहीत होगी, उससे पूर्व की नहीं। यदि पूर्व बुद्धि के अनन्तर भी बुद्धि उत्पन्न होती है, तब निरन्तर रूप-बुद्ध्यादि के ग्रहण का अभाव हो जाता है—ऐसा कहा जायगा। यदि एक ही प्रबन्ध (सन्तान) में बुद्धि उत्पन्न होती है और उसके अनन्तर सर्वपूर्वबुद्धि की ग्राहिका बुद्धि उत्पन्न होती है, तब भी क्रमशः सर्व बुद्धि-प्रतिपत्ति नहीं होगी, क्योंकि समस्त विषय बुद्धि की बुद्धि में अवभासित होता है। यदि बुद्धियों का क्रमशः अवभासन होता है, तब प्रत्यक्षतः एकत्व की प्रतिपत्ति नहीं होगी। टूट-टूट कर विषय गृहीत होता है। स्मृति ही वह हो जाती है—इस प्रकार पूर्व दोष ही प्रसक्त होता है।

यदि स्वरूप अपने द्वारा गृहीत होकर निर्विकल्प के द्वारा गृहीत होता है किन्तु व्यतिरिक्त ग्राह्य का सविकल्पक के द्वारा ग्रहण मानने पर क्यों विरोध? कोई विरोध नहीं किन्तु वह स्वरूप-ग्रहण अविकल्पक ग्रहण-ग्राह्य क्यों? यहाँ भी वही उत्तर है कि स्वरूप के साथ स्वरूप की योजना शब्द या अन्य के द्वारा सम्भव नहीं।

सामान्यबाधिनः शब्दास्तदेकार्था च कल्पना।
अभावे निर्विकल्पस्य विशेषाधिगमः कथम्॥ १८३॥

विशेष संकेत न होने एवं व्यवहारानुयायी होने के कारण शब्द सामान्य के वाचक होते हैं। उन शब्दों के द्वारा जो अर्थ-योजना होती है, वह शब्दार्थ है। अन्यान्य मतों में निर्विकल्प ज्ञान का अभाव होने के कारण विशेष का अधिगम क्योंकर होगा ?॥ १८३॥

वार्तिकालङ्कारः

रूपेण प्रतिभासमानमपरेण प्रतिभासमानेन योज्यते। स्वरूपप्रतिभासनव्यतिरेकेण योजनानुपलक्षणात्। अप्रतिभासमानञ्च स्वेन रूपेण योज्यत इति न परमार्थः। अथायं गौरिति प्रत्ययप्रतिभासेनैव योजना। अत्र प्रतिपादितम्। अयं गौरिति। न चायं गोशब्दस्वभाव इति प्रत्ययोऽपि तु गोशब्दवाच्योऽयमेव निश्चयानुभवात्।

किञ्च। यस्य सामान्यविषया एव मीमांसकस्य शब्दास्तदेकार्था च कल्पना। तस्याभावे निर्विकल्पस्य विशेषाधिगमः कुतः। यतः—सामान्यविषया इति।

अथ तदेकार्था न भवति कल्पना तथा सति न शब्देन योज्यते विशेष इत्ययं गौरिति सविकल्पकः प्रत्ययो विशेषग्राही न भवेत्। अन्यो हि योजनाप्रत्ययोऽन्यश्च विशेषग्राहीति प्राप्तम्। परिस्फुटेतरस्वभावभेदात्। कारणभेदाच्च। तथा हि—

कारणं शब्दसामान्याकारतायाः स्ववासना। स्पष्टरूपादिनिर्भासश्चक्षुरादेरुदीयते॥ ३३७॥

शब्दाकारता हि सङ्केतसमयानुभूतशब्दभावनाबलादेवोदयमासादयति न चक्षु-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि ऐसा है, तब रूपादि का भी अपरापर के साथ नियोजन सम्भव नहीं, क्योंकि स्वरूपेण प्रतिभासन की योजना असम्भव है। स्वरूपेण प्रतिभासमान अन्य प्रतिभासमान के साथ योजित नियोजित नहीं होता। स्वरूपतः प्रतिभासमान के बिना योजना नहीं देखी जाती। अप्रतिभासमान स्वरूपेण योजित होता है—ऐसा भी परमार्थ नहीं। यदि कहा जाय कि "अयं गौः"—इस प्रकार के प्रत्यय-प्रतिभास के द्वारा ही योजना क्यों नहीं ? इसका उत्तर दिया जा चुका है—"अयं गौरित्यादि" से। अयं गोशब्द का स्वभाव है—ऐसा प्रत्यय भी तो "गोशब्दवाच्योऽयमेव"—इस प्रकार के निश्चयानुभव से होता हैं।

दूसरी बात यह भी है कि जिस सामान्यार्थवादी मीमांसक के मत में शब्द और अर्थ की एकार्थकता की कल्पना होती है—"अयं गौ"। उसके मत में निर्विकल्पक का अभाव होने पर विशेषार्थ का अधिगम कैसे होगा ?

यदि एकार्थकता की कल्पना नहीं होती, तब विशेष के साथ शब्द-योजना नहीं होती– "अयं गौः"। अतः सविकल्पक प्रत्यय विशेषग्राही नहीं होता, क्योंकि योजना-प्रत्यय कुछ और है तथा विशेष-ग्राही कुछ और ऐसा प्राप्त होता है। परिस्फुट और अपरिस्फुट का स्वभाव भिन्न होता है एवं कारण का भी भेद है। अर्थात् शब्द की सामान्याकारता का कारण है—स्वकीय वासना (संस्कार) और स्पष्ट रूपादि का निर्भास चक्षुरादि से उत्पन्न होता है॥ ३३७॥

अर्थ में शब्दाकारता संकेत-समय अनुभूत शब्द-भावना के बल से उत्पन्न होता है, चक्षुरादि से नहीं और सामान्याकारता भी। आशय यह है कि चक्षुरादि के बिना

वार्तिकालङ्कारः

रादिकात् । तथा सामान्याकारतापि । तथा हि चक्षुरादिकमन्तरेणापि भवति पूर्वानुभूतवासना संस्कृतचेतसः । सत्यपि चक्षुरादिके तदनुरूपवासनाविनाकृतचेतसस्तदभावाच्चक्षुरादिहेतुकत्वाभावः ।

अथ चक्षुरादिकारणप्रतिबद्धप्रतिभासपदार्थसमानाधिकरणता न भवत्येव चक्षुरादिकमन्तरेणेति मतिः । तदपि यत्किञ्चित् ।

अनुमानप्रतीतेन रूपेणापि हि दृश्यते । सोऽयमग्निरितिज्ञानसामानाधिकरण्यतः ॥३३८॥

न खलु तेन सामानाधिकरण्यमात्रादेव तद्ग्राहिप्रत्ययैककारणाधीनप्रत्ययग्राह्यता । प्रत्ययान्तरानुमानादिगृहीतेनापि सामानाधिकरण्यसम्भवात् । न च तदाकारद्वयानुभवव्यतिरेकिणी समानाधिकरणता । कस्तर्हि समानाधिकरणेतरयोर्विशेषः । रूपद्वयानुभवो हि भिन्नाधिकरणयोरपि पदार्थयोर्नासम्भवी । तदपि सुगमम् । यतः—

एकार्थक्रियैकत्वव्यवहारस्य जातितः । सामानाधिकरण्यस्य व्यवहारोऽप्यदुर्घटः ॥ ३३९ ॥

व्यवहारस्य यथाकथञ्चित् कारणमात्रतो भावः । अनादिव्यवहारपरंपरायातो हि सामानाधिकरण्यादिव्यवहारः परीक्षणाऽक्षम एव । यतः परीक्ष्यमाणो विशीर्यत एव । तथा हि—

सोऽयमग्निरिति ज्ञानं द्वयमेवात्र केवलम् । तत्स्वरूपावभासान्न समानाधारता परेति ।३४०। सङ्ग्रहः

कस्मादन्यत्रापि द्वितयप्रतिभासेन सामानाधिकरण्यव्यवहारो वासनानियमेन व्यवहारनियमात् । प्रबोधोऽपि वासनाया एकार्थक्रियाकृतो नियत एव । प्रत्ययद्वयप्रति-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी सामान्याकारता-प्रतीति उन्हें हो जाती है, पूर्वानुभूतवासना से जिनका चित्त संस्कृत है । चक्षुरादि के रहने पर भी तदनुरूप वासना से रहित चित्तवालों में कारण के अभाव से चक्षुरादिहेतुकत्व का अभाव होता है ।

यदि कहा जाय कि चक्षुरादिकारण-प्रतिबद्ध प्रतिभास पदार्थ की समानाधिकरणता चक्षुरादि के विना नहीं होती । तो वह भी उचित नहीं, क्योंकि अनुमानप्रतीत रूप के द्वारा भी "सोऽयमग्निः" इस प्रकार ज्ञान की समानाधिकरणता देखी जाती है ॥३३८॥ केवल वस्तु के सामानाधिकरणतामात्र से तद्विषयक प्रत्ययैककारण के अधीन प्रत्यय-ग्राह्यता नहीं होती, अपितु प्रत्ययान्तर के द्वारा अनुमित पदार्थ के द्वारा भी समानाधिकरण्य सम्भव हो जाता है किन्तु तदाकारद्वयानुभव के विना सामानाधिकरणता नहीं होती। तब सामानाधिकरण और असमानाधिकरण की विशेषता क्या ? इसका उत्तर यह है कि रूपद्वय का अनुभव भिन्नाधिकरणों का भी सम्भव नहीं । वह भी सुगम है, क्योंकि एकार्थक्रिया (एककार्यकारित्व) के द्वारा समुद्भूत संस्कार "स" और "अयम्" (सोऽयं गौः) का जातितः सामानाधिकरण्य स्फोरित कर देते हैं ॥३३९॥ व्यवहार तो यथाकथञ्चित् कारणमात्र से हो जाता है । अनादि व्यवहार परम्परा से प्रचलित व्यवहार ("अयं गौः" इस प्रकार का सामानाधिकरण्य-व्यवहार) परीक्षणाक्षम ही होता है, क्योंकि परीक्षा करने पर वह विशीर्ण हो जाता है । अर्थात् "सोऽयमग्निः" इस प्रकार के ज्ञान दो ही प्रकार के होते हैं । तत्स्वरूपावभास से भिन्न समानाधारता और कुछ भी नहीं ॥३४०॥ क्योंकि अन्यत्र (स्वप्न में) भी द्वित्व के प्रतिभास में सामानाधिकरण्य-व्यवहार वासना-नियन्त्रित ही होता है । प्रबोध भी वासना की एकार्थक्रिया से नियत ही होता है । दो प्रतीतियों का

वार्तिकालङ्कार

भासे कस्माद् भेदव्यवहार एव न भवति । वासनानियमादित्युक्तम् । तस्मान्न सामानाधिकरण्यतः सविकल्पकैकप्रत्ययता । अथ सामान्यविशेषयोर्नात्यन्तम्भेदस्तत एकार्थत्वेऽपि विशेषाधिगतिः सविकल्पिका । तदसत्—

सामान्यतो विशेषस्य वेदनं यद्यभेदतः । सर्वात्मना कथञ्चिद्वा सर्वा वित्समतामव्रजेत् ।।३४१।।

यदि कल्पनायां सामान्यप्रतिभासने तद्भेदाद् विशेषस्यापि प्रतिभासः शाब्दप्रत्ययेऽपि प्रतिभासो भवेत् । न्यायस्य समानत्वात् । न खलु न्यायसमानतायां न्यायस्यासमानता । न्याय्यताऽभावप्रसङ्गात् । अथ चक्षुरादिकारणाभावादप्रतिभासः सविशेषस्य । कथन्तर्हि तदभिन्नम् । न हि तेन सहाननुप्रवेशेऽभिन्नमिति शक्यं विज्ञातुम् । पश्चादनुप्रवेशादिति चेत् । तदेव तदानीन्नास्ति । न तु तस्यानुवेशस्तेनैव हि रूपेण तस्य तत्त्वम् ।

तच्चेत् तेनावभासेतानुप्रवेशगतिः कथम् । नो चेत् तेनावभासेतानुप्रवेशगतिः कथम् ।। ३४२ ।।

येन रूपेण स पूर्वन्दृष्टस्तेनैव यद्यवभासमानता कथमनुप्रवेशगतिः पूर्ववत् । न चेत् तेन रूपेणावभासते तत्त्वमस्य नास्तीति कथन्तस्यानुप्रवेश इति गतिः ।

तस्मादप्रतिभासमानन्नैकन्न च नाना । ततः पूर्वम्भेदेन प्रतिभासितस्य पश्चादनुप्रवेश इति यत्किञ्चिदेतत् । तेन कारणाभावेनाप्यप्रतिभासितस्यैकत्वेन नानात्वमेव ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

'अवभास होने पर भेद-व्यवहार क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर है—वासनानियमात् । यह पहले भी कहा जा चुका है । सामानाधिकरण्यतः सविकल्पैकप्रत्यता क्यों नहीं ?

यदि कहा जाय कि सामान्य (जाति) और विशेष (व्यक्ति) का अत्यन्त भेद नहीं, तब एकार्थत्व के होने पर विशेषाधिगति सविकल्पिका मान ली जाय । तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सामान्य से विशेष का ज्ञान यदि अभेदतः है, तब प्रश्न उठता है कि सर्वात्मना अभेदः ? अथवा कथञ्चित् ? ।।३४१।। यदि कल्पना में सामान्य का प्रतिभास होता है, तब उसके भेद से विशेष का भी प्रतिभास शाब्द प्रत्यय में भी होना चाहिए, क्योंकि न्याय समान है । न्याय की समानता न्येय की असमानता नहीं होती, अन्यथा नेयता ही नहीं रहेगी ।

यदि कहा जाय कि चक्षुरादि कारणों के अभाव में सविशेष का अप्रतिभास होता है, तब सामान्य और विशेष का अभेद कैसे ? तत्स्वरूपापत्ति के विना अभेद कहा नहीं जा सकता । पश्चात् तत्स्वरूपाभिनिवेश से—यदि ऐसा कहा जाय, तो उचित नहीं, क्योंकि उस समय तत्स्वरूपाभिनिवेश ही तो नहीं है ।

जो वस्तु जिस रूप में पहले देखी गई है, उसी रूप में दृष्ट होती है, तब तत्स्वरूपानुप्रवेश कैसे ? यदि उसका अवभास ही नहीं होता, तब तदनुप्रवेश-गतिः कैसे होगी ? ।।३४२।। फलतः अप्रतिभास वस्तु को न एक कह सकते हैं और न नाना । पहले भेदेन प्रतिभासित अर्थ का पश्चात् तत्स्वरूपानुप्रवेश कहना अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि कारण का अभाव होने पर भी एकत्वेन अप्रतिभासित में नानात्व ही पर्यवसित होता है, अतः निर्विकल्प का अभाव होने पर विशेषाभाव कैसे रहेगा ?

यदि कल्पनारूप का परित्याग करके अक्षुरादि कारणों से आहित विशेष संवेदन से विशेषाधिगम प्राप्त किया जाय । तब उसके कारण से उत्पन्न सविकल्पक अविकल्पक ही रहेगा । कारण-भेद का अवलम्बन किये बिना भाव का भेद प्रमाणपथ में नहीं

अस्ति चेन्निर्विकल्पकं च किञ्चित् तत्तुल्यहेतुकम् ।
सर्वं तथैव हेतोर्हि भेदाद् भेदः फलात्मनाम् ॥ १८४ ॥

विशेषानुभव के आधार पर यदि कोई निर्विकल्पक ज्ञान है, तब उसी के समान सभी ज्ञान समान स्वभाववाले अविकल्पक होते हैं, स्वलक्षणविषयक कोई सविकल्पक नहीं होता ॥ १८४ ॥

अनपेक्षितबाह्यार्था योजना समयस्मृतेः ।
तथानपेक्ष्य समयं वस्तुशक्त्यैव नेत्रधीः ॥ १८५ ॥

योजना (शब्द-कल्पना) किसी बाह्य अर्थ की अपेक्षा न करके ही पूर्वगृहीत संकेत के स्मरण से होती है । उसी प्रकार संकेत की अपेक्षा न करके स्वलक्षण की शक्ति से स्वाकारानुकारी विज्ञानजनन शक्ति के द्वारा यदि नेत्र-धी उत्पन्न होती है, तब क्या विरोध ? ॥ १८५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तस्माद्—अभावे निर्विकल्पस्येति ।

अथ कल्पनारूपम्परित्यज्य विशेषाधिगमश्चक्षुरादिकारणाहितविशेषसंवेदनात् । तथा सति तत्कारणाधीनं सविकल्पकमविकल्पकमेव । न खलु कारणभेदमनवलम्ब्य भावभेदः स प्रमाणको युक्तः । ततस्तज्जातीयकारणासङ्गितज्जातीयमेव न च सविकल्पकेतरप्रत्यययोः समानकारणता । तथा हि—अनपेक्षितबाह्यार्थयोजनेति ।

परस्परपरिहारव्यवस्थितस्वभावसामग्रीबलादुपजाते हीन्द्रियविज्ञानयोजनास्वभावकल्पने कथमिव स्वभावसामग्रीभावभाजा स्वभावेन संसर्गवती भवेताम् । बाह्यानपेक्षसमयस्मरणबलादेव योजना । बाह्यसापेक्षं समयानपेक्षमिन्द्रियविज्ञानम् । न तत्र कल्पनाकारणाभावात् कल्पनात्वम् । न हि कारणमन्तरेण कार्योदयः ।

अथ बाह्यस्य शब्दसामान्यादिसम्बन्धस्य सामर्थ्यादुपजायमानमिन्द्रियविज्ञानं सविकल्पकम्भवेत् । तदप्यसत् यतः—

यस्य येनाभिसम्बन्धः स तेन सह भासते । नियमादिति नैवेदम्प्रमाणगोचरतां गतम् ॥ ३४३ ॥

एवं किमत्रापि दर्शने सकलसम्बन्धिप्रतिभासनप्रसङ्गः । अथ यद् यत्र व्यवस्थितं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आता । अतः तज्जातीय कारण-रहित कार्य तज्जातीय ही नहीं होता । सविकल्पक और अविकल्पक प्रत्ययों की समानाकारता नहीं देखी जाती ।

अर्थात् परस्पर विरुद्ध सामाग्री से उपजात इन्द्रिय-विज्ञान-योजना स्वभाव की दो कल्पनाएँ स्वरूप-विशेष से संवलित होकर परस्पर संसर्गवती होंगी ? बाह्यार्थ-निरपेक्ष समय-स्मरण के बल पर ही उनमें योजना कल्पित होती है । किन्तु इन्द्रिय-विज्ञान बाह्यार्थ-सापेक्ष होता है । उसमें कल्पना का कारण न होने से कल्पनात्व नहीं होता । कारण के बिना कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता ।

यदि कहा जाय कि शब्दसामान्यादि-सम्बन्ध के सामर्थ्य से उत्पन्न इन्द्रिय-विज्ञान सविकल्पक हो जाता है, तो वह कहना भी समुचित नहीं, क्योंकि जिस अर्थ का जिस अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है, वह उससे सम्बन्धित नियमतः प्रतीत होता है— ऐसा प्रमाणित नहीं होता ॥३४३॥ इसी प्रकार इस दर्शन में सकल सम्बन्धी प्रति-

संकेतस्मरणापेक्षं रूपं यद्यक्षचक्षुषि ।
अनपेक्ष्य न चेच्छक्तं स्यात् स्मृतावेव लिङ्गवत् ॥ १८६ ॥

रूप का अक्ष-ज्ञान में निवेश करने के लिए संकेत-स्मरण की अपेक्षा होती है। इस प्रकार तो शब्द में रूप शक्त होगा। इन्द्रिय-बुद्धि में लिङ्ग के समान नहीं। अर्थात् जैसे लिङ्ग लिङ्गज बुद्धि में साक्षात् शक्त नहीं किन्तु लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध की स्मृति में ही। वैसे ही संकेत-स्मरण में रूप निमित्त होगा। अगृहीत अर्थ स्मृति का प्रतिबोधक नहीं होता। प्रथमतः निर्विकल्पक-ग्रहण, तब स्मृति और उसके पश्चात् शब्दयोजना—ऐसा क्रम होता है॥ १८६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सामान्यादि तत् तत्र प्रतिभासमानं प्रतिभासत एव। तदप्यसत्। शब्दस्याग्रहणप्रसङ्गात्। न हि शब्दः पटादिके विद्यते। अन्यथाऽगृहीतसङ्केतस्यापि पट इति प्रत्ययो भवेत्। न चास्ति वाच्यतायां सन्देहदर्शनात् तदर्थसिद्धावपि वाचकप्रभेदस्यानिश्चयात्। समानाकारतायान्निश्चय एवेति चेत्, न, प्रथमदर्शनेऽभावात्। न तस्माद् भिन्नमित्यादिप्रतिपादनाच्च।

अथापि स्याद्। गौरित्यादिप्रत्ययसङ्केतस्मरणमपेक्ष्य रूपादिकमेवेन्द्रियसहकारि सविकल्पकञ्जनयति नानपेक्ष्य, सामग्रीतः कार्यनिष्पत्तेः। शब्दः सामान्यमन्यद्वा विशेषणं यदा गृहीतम्प्राक् स्मर्यते तदा स्मरणसहायश्चक्षुरादिकञ्जनयति। तेन गृहीतसङ्केतपूर्वदर्शनरहितयोर्न भवति तन्न सुनिरूपणम्। तथा हि—सङ्केतस्मरणापेक्षमिति।

न हि पूर्वानुभूतिमन्तरेण तेन योजना। न च प्रतिनियतस्मृतिमन्तरेण प्रतिनियतशब्दादियोजना। न च प्रतिनियतस्मृतिबीजप्रबोधकमन्तरेण प्रतिनियतस्मरणं न

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भासन-प्रसङ्ग उपस्थित होता है। यदि कहा जाय कि जो जहाँ सामान्यादि व्यवस्थित है, वहाँ उसका प्रतिभास होता है। तो वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि इस प्रकार शब्द का ग्रहण नहीं हो सकेगा। शब्द पटादि स्थल पर विद्यमान नहीं। अन्यथा जिसने संकेत का ग्रहण नहीं किया, उसको भी पट का बोध हो जाना चाहिए, किन्तु होता नहीं, क्योंकि वाच्यता में सन्देह देखा जाता है। उसका अर्थ निश्चित होने पर भी वाचक-प्रभेद का निश्चय नहीं। समानाकारता में निश्चय ही है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रथम श्रवण में शक्ति-ग्रह नहीं होता। एवं तस्मादिदं भिन्नम्—ऐसा प्रतिपादन देखा जाता है।

यदि कहा जाय कि "गौः" इत्यादि प्रत्यय-सङ्केत-स्मरण से सापेक्ष रूपादि ही इन्द्रिय के सहकारी होकर सविकल्पक की उत्पत्ति करते हैं, स्मरण-निरपेक्ष नहीं। पूर्ण सामग्री से ही कार्य की निष्पत्ति होती है। जब पूर्व-गृहित शब्द-सामान्य या अन्य विशेषण स्मृत होता है, तब स्मरण-सहकृत चक्षुरादि ही उक्त ज्ञान की उत्पत्ति करते हैं। अतएव संकेत-ग्रह और पूर्व दर्शन से रहित शब्द के द्वारा ज्ञान होता है।

वह कहना सुनिरूपित नहीं, क्योंकि पूर्वानुभूति-रहित अर्थ के साथ शब्द की योजना नहीं होती। प्रतिनियत स्मृति के बिना प्रतिनियत शब्दों की योजना नहीं होती। प्रतिनियत स्मृति-बीजा-प्रबोधन के बिना प्रतिनियत स्मरण नहीं होता। दर्शन

वार्त्तिकालङ्कारः

च दर्शनमन्तरेण प्रतिनियतप्रबोधकत्वम्। तेन दर्शने तस्य तद्वाचकस्मरणं स्मरणे च योजनमिति दृश्यमानस्य तत्स्मरणे लिङ्गतैव तस्य प्रबोधकस्य दृष्टस्य रूपादेः। ततो योजनाप्रत्ययो लैङ्गिक एव सकलः।

अथ सामान्यन्न दृष्टमेव कथं लिङ्गात् प्रतीयते। अवयवसमानता हि सामान्यमुच्यते। सा च प्रागुपलब्धैव। ततः सा स्मर्यते तादृगवयवयोगस्य तत्समानताव्यवहारविषयत्वात्। अवयवानामपि समानता तादृशावयवसाम्यात्। यावत् तथाभूतबुद्धिसाम्यात् बुद्धेरपि तथाभूतपरामर्शादिति। परामर्शोऽप्यनादिवासनात इति न दोषः। तस्माच्छब्देन सामान्यादिना च योजना लिङ्गत एव स्मृतिरत्रानुमानम्।

अथाक्षव्यापारेण योजना प्रत्यक्षमेवोच्यते। तथा सति सकलमनुमानमक्षजमेवेति प्रत्यक्षं प्रसक्तम्। तथा हि—

प्रदेशे वह्निरत्रेति प्रदेशे नाग्नियोजना।
नाक्षव्यापारविरहे प्राप्ता प्रत्यक्षता न किम्॥

अथाग्निमात्रेऽनुमानयोजनायान्तु प्रत्यक्षमेव। तदप्यज्ञानम्। यतः। एवमपि शक्यं वक्तुम्।

प्रदेशमात्रमप्रत्यक्षं योजना त्वनुमानतः। पावकेनेन्द्रियज्ञानमगृहीत्वा न योजना॥३४४॥

अनुमानेनैव हि योजना युक्ता दहनेऽक्षव्यापारासम्भवात्। न हि प्रत्यक्षेणागृहीतन्तेन योजयितुं शक्यम्। अप्रतिपन्नन्तेन युक्तम्प्रतिपन्नमिति व्याहतम्।

नन्वनुमानेनापि न योजना स्यात्। यतः—

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

के बिना प्रतिनियत प्रबोधक अन्य नहीं। फलतः दर्शन होने पर वाच्य और वाचक का स्मरण और स्मरण होने पर नियोजन, अतः स्मरण में दृश्यमान सदैव लिङ्गरूपता ही होती है। फलतः सकल योजना-प्रत्यय लैङ्गिक ही होता है।

सामान्य जब दृष्ट ही नहीं, तब लिङ्ग से क्योंकर प्रतीत होगा? व्यक्ति के अवयवों की समानता को ही सामान्य कहा जाता है। उक्त समानता तो पूर्व उपलब्ध ही होती है। अतः अवयव-संयोग की समानता व्यवहार की विषय होने से स्मृत होती है। व्यक्तियों की समानता के समान ही अवयवों की समानता भी परिनिष्पन्न होती है। व्यक्ति और अवयव की समानता के समान ही तज्जन्य बुद्धि की समानता भी कथित परामर्श के आधार पर अवगत हो जाती है। परामर्श भी अनादि वासना से होता है, अतः कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि शब्द की सामान्यादि के साथ योजना और लिङ्गतः उत्पन्न स्मृति ही अनुमान प्रमाण है।

अक्ष-व्यापार-सापेक्ष योजना प्रत्यक्ष क्यों नहीं। अक्ष-व्यापार होने से सकल अनुमान में प्रत्यक्षता प्रसक्त होती है—जैसे कि जहाँ यह कहा जाता है कि "अत्र प्रदेशे वह्निः"—यहाँ अक्षव्यापार के बिना अग्नि की योजना सम्भव नहीं, अतः प्रत्यक्षता क्यों न प्रसक्त होगी? इस प्रश्न के उत्तर में ऐसा भी कहा जा सकता है कि उक्त स्थल पर पर्वतादि का प्रदेशविशेष तो प्रत्यक्ष है किन्तु उसके साथ अग्नि की योजना अनुमानतः होगी, क्योंकि अग्नि के साथ इन्द्रिय-सम्प्रयोग न होने से अग्नि-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता॥३४४॥ अर्थात् अनुमान के द्वारा ही केवल योजना होती है,

तस्यास्तत्सङ्गयोत्पत्तेरक्षधी स्यात् स्मृतेर्न वा ।
ततः कालान्तरेऽपि स्यात् क्वचिद् व्याक्षेपसम्भवात् ॥ १८७ ॥

अर्थ का सम्मुखीभाव होने पर स्मृति का जन्म कैसे होता है—यह कहा जाता है—"तस्याः" इत्यादि से। अर्थात् अर्थ का सङ्गम (सम्मुखीभाव) होने पर स्मृति का ही जन्म होगा। अक्ष-बुद्धि का नहीं। आशय यह है कि स्मृति की अधीनता में, अर्थाधीनता नहीं रहेगी। भावी स्मरण के कदाचित् न होने से अक्षधी कैसे होगी? क्वचित् विषयान्तर में व्याक्षेप हो जाने से उसकी निवृत्ति हो जाने से अक्षधी क्रमशः होगी॥ १८७॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रदेशे नानुमावृत्तिरगृहीतन्न योज्यते। प्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमानेन गृहीत इति साहसम् ॥३४५॥

यथैव हि परोक्षे हुतभुजि न जायते प्रत्यक्षन्तथा प्रत्यक्षेऽपि प्रदेशे नानुमानमिति समानो न्यायः। अनुमेयत्वे च न प्रत्यक्षता। न हि प्रमाणसम्प्लव इष्यते।

योजना परमार्थेन न सम्भवति कस्यचित्। द्वाभ्यामनन्तरञ्जातो विकल्पस्तु तथा विधः ॥३४६॥

प्रत्यक्षानुमानपृष्ठभावी विकल्प एवेदमत्रेति योजनाप्रत्ययः। स चानादितथाभूतव्यवहारजातोऽनुमानमेव (स्वार्थानुमानम्)। ततोऽनुमानेन योजना व्यपदिश्यते। अनुमानमपि कथं योजनारूपमुत्पद्यते। प्रत्यक्षेण तथा दृष्टेरित्यदोषः। तस्मान्न प्रत्यक्षं योजनारूपमिति स्थितम्। एतच्च प्रागेव प्रतिपादितम्।

अथापि स्यात्। परोक्षेऽपि प्रत्यक्षम्प्रवर्तत एव स्मर्यमाणे। तेन प्रत्यक्षत एव योजना। तदप्यसत्यं यतः—तस्यास्तत्सङ्गमोत्पत्तेरिति।

तस्या अक्षधियः स्मृतिसङ्गमेन स्मर्यमाणे यद्युत्पत्तिरिष्यते। तदाऽक्षधीः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अग्नि के ग्रहण में तो अक्ष-व्यापार है नहीं, अतः प्रत्यक्षतः उसकी योजना नहीं हो सकती।

शङ्का—अनुमान से भी अग्नि की योजना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रदेश-ग्रहण में अनुमान प्रवृत्त नहीं और अग्रहीत की योजना हो नहीं सकती। प्रत्यक्ष अर्थ को अनुमान-गृहीत मानना तो बड़े साहस का कार्य है॥ ३४५॥ जैसे परोक्ष अग्नि के ग्रहण में प्रत्यक्ष समर्थ नहीं, वैसे ही प्रत्यक्ष प्रदेश में अनुमान प्रवृत्त नहीं होता—ऐसा समान न्याय प्रसिद्ध है। अनुमेयार्थ में प्रत्यक्षता और प्रत्ययार्थ में अनुमेयता सम्भव नहीं, अन्यथा प्रमाण-साङ्कर्य प्रसक्त होता है। परमार्थ के साथ किसी की योजना सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के अनन्तरभावी विकल्प के द्वारा ही योजना-प्रत्यय होता है। वह (योजना-प्रत्यय) अनादि व्यवहार-समुद्भूत अनुमान रूप ही होता है। अतः अनुमान से योजना व्यपदिष्ट होती है। वैसा अनुमान भी कैसे होता है? इसका उत्तर है—"प्रत्यक्षेण तथा दृष्टेः"। फलतः प्रत्यक्ष योजना रूप नहीं—ऐसा पर्यवसित होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है।

यदि कहा जाय कि स्मर्यमाण परोक्षार्थ में ही प्रत्यक्ष प्रवृत्त होता है अतः प्रत्यक्षतः ही योजना सम्भव हो जाती है। वह कहना सत्य नहीं, क्यों कि उस अक्ष-धी का स्मृति-संगम होने पर यदि उत्पत्ति मानी जाती है। तब स्मृति के समान अक्ष-बुद्धि भी हो जायगी, अर्थ-सन्निधान की अपेक्षा नहीं रहेगी। यदि

क्रमेणोभयहेतुश्चेत् प्रागेव स्यादभेदतः ।
अन्योऽक्षबुद्धिहेतुश्चेत् स्मृतिस्तत्राप्यनर्थिका ॥ १८८ ॥

यदि पदार्थ सन्निहित होकर स्मृति और प्रत्यक्ष—दोनों का कारण माना जाता है, तब वह युगपद् दोनों का जनक क्यों नहीं हो जाता ? यदि प्रत्यक्ष बुद्धि का हेतु अन्य है, तब स्मृति व्यर्थ हो जाती है ॥ १८८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्मृतेरेव स्यान्नार्थसन्निधानमपेक्षेत । अथार्थसन्निधानमपेक्षेत तथा नैवासौ स्मृतेर्भवति साक्षात्करणस्य स्मरणादन्यत्वात् । कालान्तरेऽपि वा स्यात् क्वचिद् व्याक्षेपस्यान्यविकल्पलक्षणस्य तदा सम्भवात् । ततस्तदपीन्द्रियविज्ञानं कालान्तरस्मरणम्भवेत् ।

किञ्च । यद्यसावर्थः प्रथममविकल्पकज्ञानहेतुः सर्वदा तथैव भवेत् । ततोऽविकल्पकमेव प्रत्यक्षम् । तथा हि—क्रमेणोभयहेतुश्चेदिति ।

यद्यसावुभयस्य हेतुः प्रागेवोभयमुत्पत्तिसङ्गतं स्यात् । अथ स्मरणसहायमिन्द्रियं सविकल्पकञ्जनयेन्नान्यथा । तदसत् । न खलु स्मरणस्य चक्षुः सहायतोपलभ्यते । न हि सहाय इत्येव सर्वः सर्वस्य सहायः । किन्तु यस्तथा दृश्यते । न खलु स्मरणेन परिस्फुटादिकं क्रियते चक्षुरादिप्रत्ययस्य । अथ निश्चितरूपता क्रियते । तदसारम् । यतः—

निश्चयो यदि तद्रूपे प्रागेव स्यादभेदतः । अतद्रूपेऽपि तत् प्राप्तम्प्रत्ययान्तरमक्षजात् ॥ ३४७ ॥

यदि पूर्वप्रतिभासित एव रूपनिश्चितत्वं नातिरिक्तम् । तत् प्राग्रूपसमानमिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थ-सन्निधान की अपेक्षा करता है, तब वह स्मृति से उत्पन्न न होगा, क्योंकि अर्थ-सन्निधानसापेक्ष साक्षात्कार स्मरण से जन्य नहीं होता । कहीं कालान्तर में भी हो जायगा एवं व्याक्षेपात्मक अन्य विकल्प भी सम्भव हो सकता है । वह इन्द्रिय-विज्ञान भी कालान्तर में स्मरण हो जायगा ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि प्रस्तुत विषय प्रथम विकल्प विज्ञान का हेतु है, तब सर्वदा सर्वत्र होना चाहिए । अतः अविकल्पक ही प्रत्यक्ष होता है ।

यदि अर्थ सन्निहित होकर क्रमशः स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों को उत्पन्न करता है, तब वह युगपत् उभय का जनक क्यों नहीं हो जाता ? यदि कहा जाय कि अर्थ स्मरण से सहकृत होकर ही प्रत्यक्ष का जनक होता है, अन्यथा नहीं तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि स्मरण ज्ञान कहीं भी चक्षु का सहायक नहीं देखा जाता । कोई सहायक है तो क्या वह सदा सबका सहायक हो जायगा ? हाँ, जिसके बिना जो कार्य-जनन सक्षम नहीं, वह उसका सहायक माना जाता है । स्मरण ज्ञान ऐसा नहीं, जिससे चाक्षुष प्रत्यय का विशदीकरण हो । यदि कहा जाय कि स्मरण के द्वारा प्रत्यक्ष में निश्चितरूपता लाई जाती है, तो वह भी असार है, क्योंकि स्मरण से प्रत्यक्ष में निश्चितरूपता लाई जाती है, तब प्रश्न उठता है कि वह निश्चितरूपता पूर्व विद्यमान निश्चितरूपता से भिन्न है ? या अभिन्न ? यदि अभिन्न, तब विशेषता कुछ भी नहीं और यदि वह निश्चितरूपता दूसरी है, तब पूर्व निश्चितरूपता का आपादन नहीं होता ॥ ३४७ ॥

यदि स्मरण की सहायता से प्रत्यक्ष में अधिक निश्चितरूपता प्रतिभासित होती

यथा समितसिद्धचर्थमिष्यते समयस्मृतिः ।
भेदश्चासमितो ग्राह्यः स्मृतिस्तत्र किमर्थिका ॥ १८९ ॥

पदार्थ का प्रथम क्षण स्मृति-प्रबोधक और द्वितीय प्रत्यक्ष का हेतु है—इस प्रकार क्रमिक कारण पक्ष में प्रथम क्षण में वाचक शब्द-स्मृति निरर्थक है, क्योंकि जैसे समित (शब्द-वाच्यतया अर्थ) की सिद्धि के लिए समय-स्मृति आवश्यक है। वैसे ही असमित (संकेत का अविषय) पदार्थ प्रत्यक्ष बुद्धि के द्वारा ग्राह्य होता है। उसके लिए भी संकेत-स्मृति निरर्थक है ।। १८९ ।।

वार्तिकालङ्कारः

नाधिकत्वम् । निश्चयस्यानिश्चयात् ।

अथाधिकं रूपन्तत्र प्रतिभाति । तर्हि रूपान्तरासङ्गि प्रत्ययान्तरमेव । तत्र रूपे विशेषणादावक्षव्यापाराभावात् । अथेदमित्युल्लेखस्तत्रैव प्रवर्त्तते । तेन साक्षात्करणप्रवृत्तत्वादस्य प्रत्यक्षता । तदप्यसत् । यतः—

विकल्पस्येदमित्यस्य निर्विकल्पकता भवेत् । अर्थक्रियादिसम्बन्धपौर्वापर्याप्रकल्पनात् ।।३४८।।

सन्निहितरूपादिमात्रसाक्षात्करणात् । पौर्वापर्यार्थक्रियादिसम्बन्धग्रहणरहितत्वाद् विकल्पकतोऽपरस्यात्र विशिष्यते । न ह्यविकल्पयन्नेव सविकल्पको नाम । तस्मात् स्मर्यमाणविशेषणादेरस्पष्टाकारादन्यदेवेदमिति स्पष्टाकारन्तत् । तथा सति—अन्योऽक्षबुद्धिहेतुश्चेदिति ।

अथापि स्यात् । स्मर्यमाणादाकारादन्य एव स्पष्टाकारोऽक्षबुद्धिविषयः । यद्येवं स्मृतिस्तत्रापार्थिका । न हि स्मरणन्तत्र ग्रहण उपयोगि स्मरणमन्तरेणापि तस्य तथा प्रतिपत्तेः । यतो हि—यथा समितसिद्धचर्थमिति ।

यदि स्मृतिसहायचक्षुरादिना तद्रूपतोल्लिख्यते तदभावे तत्प्रत्ययो न स्यात् । न भवत्येवेदमित्युल्लेख इति चेत्, न, इदमित्युल्लेखाभावेऽपि तद्रूपावभासनात् । सतापि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है, तब वह रूपान्तर सम्बन्धी अन्य प्रत्यय ही है। वह प्रत्यक्ष इसलिए नहीं कि उसके उत्पादन में अक्ष-व्यापार नहीं। यदि कहा जाय कि "इदम्"—इस प्रकार का उल्लेख वहाँ पाया जाता है, अतः प्रत्ययान्तर नहीं। वह कहना भी समीचीन नहीं, क्योंकि—

"इदम्"—इस रूप से गृह्यमाण विषय में निर्विकल्पकता ही पर्यवसित होती है, क्योंकि अर्थक्रियादि सम्बन्ध तथा पौर्वापर्य के विकल्प उद्बुद्ध नहीं होते ।।३४८।।

अर्थात् सन्निहित रूपमात्र का साक्षात्कार होने के कारण एवं पौर्वापर्यादि का सम्बन्ध तथा अर्थक्रिया का योग नहीं होता। अतः द्वितीय (साक्षात्कार) पदार्थ में अविकल्परूपता स्थिर होती है। विकल्प के विना कोई सविकल्प नहीं होता। अतः स्मर्यमाण अस्पष्ट इदमाकार की अपेक्षा यह इदमाकार अन्य एवं स्पष्टाकार निर्विकल्प ज्ञान है। निष्कर्ष यह निकला कि यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु अन्य विषय है, तो स्मृति को उसका सहायक मानना नितान्त निरर्थक है, क्योंकि विषय-ग्रहण में स्मृति का कोई उपयोग सिद्ध नहीं होता।

यदि स्मृति सहकृत चक्षुरादि से विषय का उल्लेख हो, तब स्मृति के अभाव में वह नहीं होना चाहिए। यदि कहा जाय कि स्मृति के अभाव में "इदम्"—ऐसा उल्लेख नहीं होता, तब वह कहना उचित नहीं, क्योंकि इदन्ता का उल्लेख न होने पर

सामान्यमात्रग्रहणे भेदापेक्षा न युज्यते ।
तस्माच्चक्षुश्च रूपं च प्रतीत्योदेति नेत्रधीः ॥ १९० ॥

कालान्तरानुवृत्ति सामान्य में जो शब्दार्थ-संकेत किया जाता है, उसी का स्मरण किया जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सामान्यमात्र का ग्रहण मानने पर संकेत के विषयीभूत भेद (विशेष) की अपेक्षा उचित नहीं । जैसे "गौः" ऐसा कहने पर "कीदृशो गौः"—ऐसी आकांक्षा नहीं होती । अतः सामान्य की आश्रयीभूत व्यक्ति-विशेष ही व्यवहार का विषय माना जाता है, अतः चक्षु और रूप का आलम्बन कर नेत्र-ज्ञान उत्पन्न होता है—ऐसा मानना चाहिए ॥ १९० ॥

वार्तिकालङ्कार

तेन विशेषान्तरस्याभावात् कस्तत्रोपयोगः । प्रवर्त्तनमुपयोगश्चेत् । विनापि तेन प्रवर्त्तनमिति प्रतिपादयिष्यामः । मानसञ्च तत् प्रत्यक्षमिति प्रतिपादयिष्यते ।

अथापि स्यात् । स्मृतिमन्तरेण न प्राथमिकस्यानभ्यासवतः प्रवर्त्तनमिति तदर्थं स्मृतिरिष्यते । अत्रोच्यते । भेदश्चेद् असमित एवासङ्केत एव ग्राह्यः । स्मृतिस्तत्र किमपरं करिष्यति । यतः सङ्केतसिद्ध्यर्थं स्मृतिरिष्यते स चेन्न तथा सिध्यति न तत्प्रतिपत्तौ स्मृतिरुपयोगिनी । प्रवर्त्तनन्तु प्रमाणान्तरादनुमानात् प्राथमिकस्य भवेदेव । तस्मान्न विकल्पस्य स्वरूपग्रहणम्प्रति व्यापारो न प्रवर्त्तनमभ्यासात्तु निरर्थकोऽप्येष प्रवर्त्तत एव । न हि प्रयोजनमित्येव भावा भवन्ति । कारणमात्रापेक्षित्वाद् भावभावस्य ।

अथ पूर्वस्मादन्यस्वरूपग्रहणन्तथा सति प्रत्ययान्तरमेवैतन्मानसप्रत्यक्षरूपम् । तथा प्रतिपादयिष्यते । अथापि स्यात् । सामान्यमेव तया परिगृह्यते न भेदः पूर्वमपरिदृष्टः । एवन्तर्हि—सामान्यमात्रग्रहण इति ।

यदि सामान्यग्रहणमेव चक्षुरादिकात् । तदा परस्य भेदग्राहिणोऽसम्भवात् सामा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी उस रूप (विषय) का स्पष्टावभास होता है । यदि उससे भिन्न विशेष का अभाव है, तब विशेषक का क्या उपयोग ? प्रवर्तन में भी उसका कोई उपयोग नहीं, क्योंकि उसके विना भी प्रवर्तन सिद्ध है । यह आगे भी कहा जायगा । अर्थात् उसका प्रत्यक्ष मानस है—इसका प्रतिपादन किया जायगा ।

शंका—स्मृति के विना प्राथमिक प्रत्यक्ष का प्रवर्तन ही नहीं होता, अतः उसके प्रवर्तनार्थ स्मृति की सहायता अपेक्षित है ।

समाधान—भेद (विषय) यदि असमित (असंकेतित) है, तब स्मृति वहाँ क्या करेगी ? क्योंकि सङ्केत (संकेतित) सिद्ध करने के लिए ही स्मृति आवश्यक है और वह यदि स्मृति से वैसा सिद्ध नहीं होता, तब स्मृति व्यर्थ है । प्रत्यक्ष का प्रवर्तन तो अनुमान रूप प्रमाणान्तर से हो ही जाता है । अतः विकल्प के स्वरूप-ग्रहण में स्मृति की आवश्यकता नहीं, अपितु प्रत्येक भाव को अपने कारण की अपेक्षा होती है ।

यदि पदार्थ-ज्ञानगत अन्य स्वरूप का ग्रहण अपेक्षित है, तब वह (प्रत्यक्ष ज्ञान) मानस प्रत्ययान्तरात्मक है ।

यदि कहा जाय कि सामान्य-ग्रहण ही चक्षुरादि से होता है । उस समय विषय का ग्राहक अन्य कोई सम्भव नहीं । सामान्य का ग्रहण हो जाने पर भेद (विशेषार्थ) के ग्रहण की आकांक्षा ही नहीं होगी, किन्तु होती है, जैसे कि "गौः"—इस प्रकार सामान्य

वार्तिकालङ्कारः

न्यग्रहणे सति भेदग्रहणाकांक्षा न भवेत्। भवति च। तथा हि। सामान्यग्रहणे गौरिति प्रतिपत्त्या किम्भूतो गौरिति दृश्यते लोके। तथा हि—तस्माच्चक्षुश्च रूपञ्चेति।

स्मरणस्य तत्रानुपयोगात्। चक्षूरूपमात्रत एवोदयमासादयति नेत्रबुद्धिः। तथाहि—

रूपमात्रे प्रवृत्तस्य पुरतश्चक्षुषो गतिः। अन्यत्र गम्यमानस्य व्यापारोऽस्त्वन्यथा कथम् ॥३४९॥

न ह्यन्यथा प्रतीयमानमन्यथा शक्यङ्कल्पयितुम्। न खलु पुरोवर्त्तिरूपमात्रे चक्षुः प्रवर्त्तनमीक्षमाणं शब्दसामान्यादौ प्रवर्त्तत इति शक्यं वक्तुं प्रमाणाभावात्। तथा कल्पनायामतिप्रसङ्गः। तस्मात्—

स्मरणोत्तरकालं वा पूर्वं वा स्मरणोदयात्। विषयस्य विभिन्नत्वात् प्रत्यक्षमविकल्पकम् ॥३५०॥

न हि स्मरणादुत्तरकालं सुगन्धमिदन्दुर्गन्धमित्यादि ज्ञानम्प्रत्यक्षम्। रूपमात्र एव चक्षुर्विज्ञानस्य व्यापारात्। तस्माद् यदेवार्थे चक्षुरादिसमाश्रयेणोत्पत्तिमत् तदेव प्रत्यक्षम्। न तदन्यद्। अतः शब्दसामान्याद्याकारस्याप्रत्यक्षता। अन्यदपि यत् स्पष्ट-प्रतिभासनिमित्तन्तदाश्रयतापि गृह्यते तेन मानसादिकम्प्रत्यक्षम्। अथवा तदप्यक्षमेवा-श्नुते व्याप्नोत्यर्थरूपमित्युक्तम्।

६. प्रत्यक्षभेदाः—

(१) इन्द्रियप्रत्यक्षम्.

अथ कस्माद् विषयाधीनायामुत्पत्तौ प्रत्यक्षमुच्यते न प्रतिविषयम्। विषयेण हि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का ग्रहण होने पर "किम्भूतो गौः" इस प्रकार की आकांक्षा होती है। उसमें स्मृति का कोई उपयोग नहीं, चक्षु और विषयीभूत रूप मात्र से नेत्र-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है—सम्मुखस्थ रूप के ग्रहण में प्रवृत्त चक्षु से ज्ञान हो जाता है, रूप से अन्यत्र गम्यमान चक्षु का रूपविषयक व्यापार क्योंकर होगा? ॥३४९॥ अन्यथा प्रतीयमान वस्तु की अन्यथा कल्पना नहीं कर सकता, क्योंकि पुरोवर्ती रूपमात्र में प्रवर्तमान चक्षु शब्द-सामान्यादि में प्रवृत्त है—ऐसी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं। वैसी कल्पना करने पर अतिप्रसङ्ग हो जाता है। अतः स्मरण-उत्तरकाल अथवा स्मरणोदय से पूर्वकाल में विषय का भेद होने के कारण प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है ॥३५०॥ अर्थात् स्मरण के उत्तरकाल में "सुगन्धमिदम्" वा "दुर्गन्ध-मिदम्"—ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि चक्षु का व्यापार रूप-ग्रहण मात्र में होता है, सुगन्धत्वादि के ग्रहण में नहीं। फलतः अर्थ-सन्निहित चक्षुरादि के होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है, अन्य नहीं। अतः शब्द-सामान्याकारतादि में प्रत्यक्षता नहीं होती। अन्य भी जो स्पष्टावभासता के निमित्त का ग्रहण करके ज्ञान उत्पन्न होता है, वह मानसादि प्रत्यक्ष होता है। अथवा वह ज्ञान अक्षाश्रित होता है, जो अर्थस्वरूप को व्याप्त करता है।

प्रत्यक्ष के भेद

(१४) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष—

जब प्रत्यक्ष ज्ञान रूपादि विषय और चक्षुरादि दोनों साधनों का अवलम्बन कर

प्रत्यक्ष-भेद—

(१) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

साक्षाच्च ज्ञानजनने समर्थो विषयोऽक्षवत् ।

अथ कस्माद् द्वयाधीनजन्म तत् तेन नोच्यते ॥ १९१ ॥

साक्षात्कारात्मक ज्ञान के जनन में विषय वैसे ही समर्थ है, जैसे—अक्ष (इन्द्रिय)। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब इन्द्रिय-ज्ञान विषय और इन्द्रिय—दोनों से उत्पन्न होता है, तब "प्रत्यक्षं ज्ञानम्" इस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा ही "प्रत्यक्षम्"—ऐसा क्यों व्यवहृत होता है ? "प्रतिविषयम्"—ऐसा क्यों नहीं ? ।। १९१ ।।

समीक्ष्य गमकत्वं हि व्यपदेशो नियुज्यते ।

तच्चाक्षव्यपदेशेऽस्ति तद्धर्मश्च नियोज्यताम् ॥ १९२ ॥

पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि गमक पदार्थ की प्राधानता (असाधारण कारणता) को ध्यान में रखकर "प्रत्यक्षम्"—ऐसा नामकरण किया गया है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का असाधारण कारण और आश्रय इन्द्रिय ही होता है, विषय नहीं ।।१९२।।

वार्तिकालङ्कारः

रूपादिना व्यपदेशो युक्तो नेन्द्रियेण। न हीन्द्रियेण जनितमित्येव प्रत्यक्षम्। विषय-स्वरूपग्रहणप्रवृत्तन्तु सकलमेव प्रत्यक्षम्। अक्षाश्रयन्तु किञ्चित् प्रत्यक्षमपरमन्यथा। व्यपदेशश्च स तस्य युक्तो योऽव्यभिचारनिमित्तः।

ननु विषयजनितमपि द्विचन्द्रादि रूपमभ्रान्तमेव। ततो न विषयादप्युदयमासादयत् सकलमभ्रान्तम्। ननु विषय एवासौ न भवत्याकारार्पणाक्षमकारणत्वात्तस्य। एवन्तह्यक्षमेव तन्न भवत्युपहतत्वादनुपहतमक्षं स त्वक्षाभासः। एवन्तर्हि—साक्षाद विज्ञानजनन इति।

विषयस्याक्षस्य कारणत्वेन समानत्वे कस्माद् विषयेण न व्यपदेशः। न हि प्रेक्षापूर्वकारिभिर्यथाकथञ्चिद् व्यपदेशाः क्रियन्ते त्यज्यन्ते वा। अत्रोच्यते—समीक्ष्य गमकत्वं हीति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उत्पन्न होता है, तब केवल इन्द्रिय के द्वारा व्यपदिष्ट क्यों ? विषय के द्वारा व्यपदिष्ट क्यों नहीं ? यदि गम्भीरता से विचार किया जाय, तब रूपादि विषय के द्वारा ही "प्रतिविषयम्"—ऐसा नामकरण होना चाहिए, इन्द्रिय के द्वारा नहीं, क्योंकि इन्द्रिय से जनित होने मात्र से "प्रत्यक्ष" नहीं कहलाता, अपितु विषय-स्वरूप के ग्रहण में प्रवृत्त सकल ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। अक्षाश्रित भी किञ्चिद् ज्ञान ही होता है। व्यपदेश सदैव अव्यभिचारि-निमित्तक ही होता है। विषय अव्यभिचारी निमित्त है।

यदि कहा जाय कि द्विचन्द्रादि ज्ञान विषय-जनित होने पर भी भ्रान्त ही होता है, अतः विषय-जनित भी सभी ज्ञान अभ्रान्त नहीं होते तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि द्विचन्द्रादि स्वकीय आकार-समर्पण में अक्षम होने के कारण विषय ही नहीं कहला सकते। यदि ऐसा है, तब वहाँ इन्द्रिय भी उपहत होने के कारण अव्यभिचरित नहीं। द्विचन्द्रादि ज्ञान भी ज्ञानाभास है।

भिन्नाभास ज्ञान-स्थल पर तो विषय और इन्द्रिय—दोनों अव्यभिचरित कारण

वार्तिकालङ्कारः

गमकागमकत्वेन ह्युपादानपरित्यागौ। अक्षव्यपदेशे च गमकत्वमस्ति। यदक्षाश्रितन्तत्प्रत्यक्षम्। उपहतेन व्यभिचारस्तु प्रत्युक्तः। विषयेणापि तर्हि व्यभिचारो नास्ति तस्याविषयत्वात्। नैतदस्ति। यतः—

विषयो यद्यसौ न स्यात् प्रत्यक्षोऽन्यस्य किम्भवेत्।
इन्द्रियत्वन्तु नैकस्य भावाभावविशेषणम् ॥ ३५१ ॥

अत एवाह। साधारणेन व्यपदेशो दृष्टो भेरीशब्दो यवाङ्कुर इति। यवाङ्कुर इत्युक्तेनायवाङ्कुरप्रतीतिः। पृथिव्यङ्कुर इति तु भवति तस्याप्येवमन्यत्रापि।

अथ प्रतिविषयमिति विषयस्वरूपग्रहणम्। तथा सति स्वसंवेदनमेव प्रत्यक्षम्भवेदन्यत्रागमकता स्यात्। अथ लोकप्रसिद्धविषयस्वरूपग्रहणमुच्यते। तथा सति प्रत्यक्षमिति लोकप्रसिद्धिरेषैवास्तु किं व्यपदेशान्तरकल्पनया। वैभाषिकादिमतेन तु मनोविज्ञानमपि प्रत्यक्षम्प्राप्नोति विषयग्रहणात्। तस्मादपि प्रत्यक्षव्यपदेश्यतैव युक्ता। तथा चाह। विषयो हि मनोविज्ञानान्यसन्तानिकविज्ञानहेतुत्वात् साधारणः। तस्मादिन्द्रियेण व्यपदेशात् कल्पनापोढता प्रत्यक्षस्य स्वरूपं शक्यं लक्षयितुम्। न विषय-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हैं। तब वही प्रश्न बना रहता है कि विषय के द्वारा व्यपदेश क्यों नहीं? प्रेक्षापूर्वकारी महापुरुष यूँ ही व्यपदेश का प्रवर्तन और निवर्तन नहीं किया करते। इसका उत्तर है—"समीक्ष्य गमकत्वं हि व्यपदेशो नियुज्यताम्"। अर्थात् गमकता (असाधारण कारसता होने के कारण इन्द्रिय-व्यपदेश का ग्रहण और असाधारणकारणता न होने से विषय-व्यपदेश का परित्याग किया गया है। अक्षव्यपदेश में गमकत्व है—"यदक्षाश्रितम्, तत्प्रत्यक्षम्" है। उपहत इन्द्रिय के व्यभिचार का समाधान किया जा चुका है।

शंका—जैसे इन्द्रिय का व्यभिचार नहीं, वैसे विषय का भी व्यभिचार नहीं, क्योंकि द्विचन्द्रादि विषय (स्वाकारार्पक) ही नहीं—ऐसा कहा जा चुका है)।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि "घटस्य प्रत्यक्षम्"—यहाँ पर यदि घट अपने ज्ञान का विषय नहीं, तब क्या अन्य का विषय है? इन्द्रियत्व एक ही ज्ञान के भावाभाव का विशेषण नहीं ॥३५१॥ अतएव कहा गया है कि "असाधारण्येन व्यपदेशा भवन्ति"—"भेरीशब्दो, यवाङ्कुरः"। अर्थात् मुख्य व्यपदेश असाधारण कारण को लेकर ही होता है, जैसे "यवाङ्कुर"। "यवाङ्कुरः"—ऐसा कहने पर अंकुर में अयवत्व की प्रतीति नहीं होती। पृथिव्यंकुरः=ऐसा कहने पर तो यवत्व और अयवत्व दोनों की प्रतीति होती है।

जब कि "प्रतिविषयम्"—ऐसा व्यपदेश किया जाता है, तब केवल स्वविषयक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का ही ग्रहण होगा और एन्द्रियक प्रत्यक्षादि की अबोधकता होगी। यदि लोक-प्रसिद्ध विषयस्वरूप का ग्रहण कहा जाता है, तब लोक-प्रसिद्ध विषयस्वरूपग्रहण का व्यपदेश किया जाय, व्यपदेशान्तर की कल्पना से क्या लाभ? वैभाषिकादि मत के अनुरूप तो मनोविज्ञान भी प्रत्यक्ष प्राप्त होता है, क्योंकि विषय का ग्रहण है। इस प्रकार भी 'प्रत्यक्ष' शब्द का ही व्यपदेश उचित प्रतीत होता है, जैसा कि कहा गया है—"विषयो हि मनोविज्ञानस्य" अन्य सन्तानिक विज्ञान का हेतु होने के कारण साधारण है। फलतः इन्द्रिय के द्वारा व्यपदेश करने पर कल्पनापोढत्व प्रत्यक्ष का

ततो लिङ्गस्वभावोऽत्र व्यपदेशे नियोज्यताम् ।
निवर्तते व्यापकस्य स्वभावस्य निवृत्तितः ॥ १९३ ॥

"विषयो घटादिर्न इन्द्रियजन्यज्ञानस्यासाधारणकारणम् , भिन्नेन्द्रियज्ञानेऽपि सत्त्वात्"—इस प्रकार व्यापकानुपलब्धि के कारण विषय को ऐन्द्रियज्ञान का असाधारण कारण नहीं माना जा सकता ॥ १९३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

व्यपदेशात् ।

ननु विषयेणापि शक्यमुपलक्षयितुम् । तथा हि । अर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवादित्याह । तद्धि अर्थस्य सामर्थ्येनोत्पद्यमानन्तद्रूपमेवानुकुर्यात् । न । अनेकान्तिकत्वात् । द्विचन्द्राकारतया व्यभिचारात् । अथार्थसामर्थ्येन भ्रान्तस्य नोत्पत्तिः । तथा सति निर्विकल्पकत्वमस्य नानया युक्त्या साधितं स्यात् । तस्मादिन्द्रियमेवात्रार्थस्येति व्यपदिश्यतेऽर्थाभिनिवेशित्वात् । अत एवेन्द्रियस्य गमकत्वात् तेनैव व्यपदेशः । तथा हि—ततो लिङ्गस्वभावोऽत्रेति ।

प्रेक्षापूर्वकारिणो नियोगमेव गमकत्वमाहुः । ततो गमकतायामेतदेवं लिङ्गम् ।

ननु प्रेक्षापूर्वकारिता नियोक्तुः कुतो गम्यते । सत्यमेतत् । न पुरुषप्रामाण्याद् वचनस्य सदर्थता गतिः । लोकव्यवहारादेवमुच्यते । परमार्थतस्तु लिङ्गत्वेन व्याप्यतोच्यते । येन व्यापकस्य स्वभावस्य निवृत्या निवृत्तिमाह ।

ननु प्रतिविषयमिति सविकल्पकस्य लोकप्रसिद्धस्य गमको व्यपदेशः । पूर्वापर-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वरूप अभिलक्षित होता है विषय-व्यपदेश के द्वारा नहीं ।

शंका—विषय-व्यपदेश के द्वारा भी प्रत्यक्ष की कल्पनापोढता अभिलक्षित हो सकती है—अर्थ के सामर्थ्य से समुद्भूत होने के कारण वैसा कहा गया है—"तद्धि अर्थस्य सामर्थ्येनोत्पद्यमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात्" ।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि विषयता निर्विकल्पकता से व्यभिचरित है । द्विचन्द्राकारता में व्यभिचार देखा जाता है कि निर्विकल्पता के न होने पर भी विषयता देखी जाती है । यदि कहा जाय कि अर्थ के सामर्थ्य से भ्रम ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती । तब भी निर्विकल्पकता का साधन उक्त युक्ति से भ्रान्ति ज्ञान में नहीं किया जा सकता, अतः यहाँ अर्थ-सामर्थ्य शब्द से इन्द्रिय का ही व्यपदेश विवक्षित है, क्योंकि वह अर्थाभिनिवेशी है । इस प्रकार इन्द्रिय में गमकता होने के कारण उसके द्वारा ही व्यपदेश उचिततर ठहरता है ।

प्रेक्षापूर्वकारी विद्वान् नियोग को ही गमकत्व मानते हैं । अतः गमकता में यही (इन्द्रियत्व) ही लिङ्ग माना जाता है ।

प्रश्न—नियोक्ता पुरुष में प्रेक्षापूर्वकारिता किससे अवगत होती है ?

उत्तर—आपका कहना नितान्त सत्य है कि पुरुष की प्रमाणता के आधार पर उसके वचन में सदर्थता का ज्ञान नहीं होता । लोक व्यवहार के आधार पर ऐसा कर दिया जाता है । परमार्थतः लिङ्गत्वेन व्याप्यता प्रतिपादित होती है । जिससे व्यापक स्वभाव की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति कही जाती है ।

शंका—"प्रतिविषयम्"—ऐसा व्यपदेश तो लोक में सविकल्प का गमक माना

सञ्चितः समुदायः स सामान्यं तत्र चाक्षधीः ।
सामान्यबुद्धिश्चावश्यं विकल्पेनानुवध्यते ॥ १९४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भूतश्चैकविषयः सविकल्पकस्त्र प्रत्यक्षस्य । इदं हि लोके प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धम् । तथा हि—

स एष यो मया दृष्टः प्रत्यक्षेण प्रतीयते । लोकप्रतीतिगम्या हि शब्दार्थाः सर्व एव हि ॥३५२॥
अबाधिता प्रतीतिश्च प्रमाणव्यपदेशभाक् । प्रमाणेन प्रतीतञ्च किञ्चित् शक्यमन्यथा ॥३५३॥

तदेतदसदेव ।

साक्षात्करणमेवात्र प्रत्यक्षार्थः प्रतीतिमान् । न हि साक्षात्कृतेरन्यदनुमानात्प्रमान्तरम् ॥३५४॥

असाक्षात्करणाकारमनुमानमेवैकम्प्रमाणम् । ततो यदि प्रत्यभिज्ञाप्रमाणमसाक्षात्कारवृत्तन्ततोऽनुमानमेव । साक्षात्कारितायाः पुरोवर्त्तिवस्तुमात्रवृत्तित्वान्न प्रत्यभिज्ञानम् । तेन साक्षात्करणमिन्द्रियव्यपदेशादेव प्रतीयते नान्यतः । विषयव्यपदेशेन सविषयता नाम स्यात् । न साक्षात्कारिताकथनम् । न च तद्व्यपदेश्ये प्रत्यक्षता लोकप्रसिद्धा । प्रमाणञ्च प्रत्यक्षन्न च साक्षात्करणव्यतिरिक्तं संवेदनम्प्रत्यक्षमिति स्थितमविकल्पकम्प्रत्यक्षम् । कथन्तर्हीदमुक्तम्—

"तत्रानेकार्थजन्यत्वात् स्वार्थे सामान्यगोचरम् ।"

न खलु सामान्यगोचरमविकल्पकं सामान्यकल्पनायास्तद्विरोधित्वात् । तदेवाह—सञ्चितस्समुदायस्स इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है । लोक में इसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं—"अयं स एव, यो मया दृष्टः" अर्थात् यह वही पदार्थ है जिसे मैंने पहले देखा है । सभी शब्दार्थ लोक-प्रतीति गम्य होते हैं ॥३५२॥ अबाधित प्रतीति ही प्रमाणव्यपदेश का विषय होती है । प्रमाण के द्वारा प्रतीति क्यों अन्यथा की जायेगी ॥३५३॥

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि यहाँ पर प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ साक्षात्-करण ही है । साक्षात्कार हो जाने पर अन्य अनुमानादि प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती ॥३१४॥ एकमात्र अनुमान प्रमाण ही 'असाक्षात्कारणाकार होता है । अतः यदि प्रत्यभिज्ञा प्रमाण असाक्षात्कारात्मक है तब अनुमान ही है । साक्षात्कारिता पूर्ववर्ती वस्तुमात्र का धर्म है प्रत्यभिज्ञा नहीं । अतः साक्षात्करण इन्द्रिय के व्यपदेश से ही प्रतीत होता है अन्यथा नहीं । विषय के व्यपदेश से सविषयता सिद्ध होती है, साक्षात्कारिता का दर्शन नहीं होता । विषय व्यपदेश योग्य पदार्थ को लोक में प्रत्यक्ष नहीं माना जाता । प्रत्यक्ष प्रमाण है, साक्षात्करण से भिन्न संवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है । अतः प्रत्यक्ष निर्विकल्पक सिद्ध होता है ।

प्रश्न—ऐसा फिर क्यों कहा जाता है कि प्रत्यक्ष अनेक अर्थों से जन्य होने के कारण सामान्य विषयक होता है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि निर्विकल्पक सामान्य-विषयक नहीं होता, क्योंकि सामान्य की कल्पना उसका विरोधी है । वार्तिककार ने यही कहा है—"सञ्चितस्समुदायस्स" इत्यादि । बहुत पदार्थों के एकत्र समवस्थित पदार्थों के ग्रहण मात्र से समुदाय की सिद्धि नहीं होती । यदि समुदाय कोई अतिरिक्त पदार्थ है तब वह पारमार्थिक होगा अथवा कल्पित । पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता,

घटादि के रूप में सञ्चित परमाणु-समूह ही सामान्य पदार्थ है। उस सामान्य का ही ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष होता है, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान सामान्यविषयक भी होता है, केवल स्वलक्षणविषयक क्यों? सामान्य भी विकल्प है, अतः सविकल्पता भी प्रत्यक्ष में प्रसक्त होती है ॥ १९४ ॥

अर्थान्तराभिसम्बन्धाज्जायन्ते येऽणवोऽपरे ।
उक्तास्ते सञ्चितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः ॥ १९५ ॥

अर्थान्तर (अन्य परमाणुओं) के सम्बन्ध से अन्य अणु-सञ्चय उत्पन्न होता है। वही सञ्चय ज्ञान-जनन का निमित्त होता है ॥ १९५ ॥

अणूनां स विशेषश्च नान्तरेणापरानणून् ।
तदेकानियमाज्ज्ञानमुक्तं सामान्यगोचरम् ॥ १९६ ॥

अणुओं में कथित ज्ञान-जनन-सामर्थ्य अन्यान्य अव्यवहित अणुओं के विना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक अणु दृश्य नहीं होता, किन्तु मिलित दृश्य होते हैं। अणु-सञ्चयरूप सामान्य को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष में सविकल्पकत्व क्यों नहीं? ॥ १९६ ॥

वार्त्तिकालङ्कारः

न खलु बहूनाम्परस्परस्वरूपपरिहारेणावस्थितानान्तथैव ग्रहणे समुदायबुद्धिः। पारमार्थिकः कल्पितो वा समुदायः स्यात्। न तावत् पारमार्थिकस्तद्व्यतिरेकेण सामान्याभासाभावात्।

"प्रतिभासे वातेऽन्यस्य सोऽपरः प्रतिभासताम्।"

नत्वसौ समुदायः। तथात्वे वात एव परस्परव्यपेक्षया समुदायव्यपदेशभाजो भवन्तु किमपरेण। अथ तेषां रूपन्तिरोधाय परं रूपम्प्रतिभाति तदपि वस्तुनस्तथाभूतस्याभावादध्यारोपमात्रं कथन्न कल्पनाविषयः। कल्पितविषयत्वे च सविकल्पकत्वन्दुर्वारम्। अत्रोच्यते—अर्थान्तराभिसम्बन्धादिति।

अणवो हि परतोऽनुपजातज्ञानहेतुशक्तयः संविदमुपजनयितुं न क्षमाः। सूक्ष्मेतरदृशाः। ततः सर्वैः संविदुपजनयितव्या। न ह्येकनियतन्तु ज्ञाननिर्मितसामान्यविषयमुक्तम्। परस्परं विविक्ता एव कस्मान्न प्रतिभासन्त इति चेत्। नन्वसंसक्ताः केशादयोऽपि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्योंकि समुदायी पदार्थों से भिन्न समुदाय की पृथक् सत्ता नहीं होती। जैसा कि कहा गया है—"प्रतिभासे वातेऽन्यस्य सोऽपरः प्रतिभासताम्।" अर्थात् किसी वस्तु का प्रतिभास होने मात्र से उसकी पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। जैसे स्वप्न में परस्पर की अपेक्षा सामान्य या समुदाय शब्द का व्यवहार मात्र होता है, समुदाय पृथक् सिद्ध नहीं होता। तन्तु-रूपों का आच्छादन करके जो पट-रूपेण समुदाय की प्रतीति होती है उससे भी कोई पृथक् द्रव्य सिद्ध नहीं होता, उसका अध्यारोप मात्र है, वह एक कल्पना मात्र है, वस्तु नहीं। कल्पितविषयता होने पर सविकल्पकता दुर्वार है। प्रत्येक परमाणु अदृश्य है, उसका समुदाय दृश्य नहीं हो सकता। समुदायाकारता का उत्पादन उनकी क्षमता से बाहर है, क्योंकि वे सूक्ष्म हैं और दृश्य नहीं। यदि कहा जाय कि दूर से एक केश नहीं दिखता किन्तु उसका समूह दृश्य हो जाता है। इसी प्रकार परमाणु

वार्तिकालङ्कारः

दूरे नासंसक्ततया प्रतिभासगोचरीभवन्ति । ततः स्वकारणनियतस्वरूपार्पणासक्तेर्यदि न प्रतिभान्ति कस्यात्रोपालम्भः । न तर्ह्यर्थप्रत्यक्षे भावत्वप्रतिभास इति भ्रान्तता भवेत् । अध्यासेऽपि तथावभासने च सविकल्पकत्वमपरसामान्यविकल्पवत् ।

अथ तत्र बुद्धिस्वरूपमेवैकघनस्थूलाकारतया साक्षात्कृतम्प्रतिभाति ततोऽविकल्पता । उच्छिन्नमिदानीं सविकल्पकत्वम् । सर्वत्र कल्पनाज्ञाने बुद्धिरूपस्यैव प्रतिभासात् । अत्रोच्यते—

बाधकप्रत्ययाभावादिदानीन्तनजन्मिनाम् । अभ्रान्ततोच्यतेऽर्थास्तु सर्वमालम्बने भ्रमः ।।३५५।।

अनूदितप्रबोधप्रभावानामिदानीन्तनजन्मिनामिदमभ्रान्तमिति प्रतिभाति । तदपेक्षयेदमुक्तमभ्रान्तमिति । परमार्थतस्तु सकलमालम्बने भ्रान्तमेव । अतः—

अविकल्पकतैवं हि प्रत्यक्षे नेयमुच्यते । साक्षात्करणरूपत्वाद् ग्रहणे न समुच्यते ।।३५६।।

न हि साक्षात्कारि विकल्पकम् । कल्पनायाम्पूर्वोपगृहीतवस्त्वध्यासात् । न हि साक्षात्करणमेवाध्यास उच्यते । तद्विपर्यये तत्त्वप्रसिद्धेः । एवन्तर्हि सामान्यगोचरत्वमसत् । लोकप्रसिद्धया स्वलक्षणत्वस्य भावात् । उक्तञ्च—आयतनस्वलक्षणम्प्रत्येते स्वल-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समुदाय दृश्य क्यों नहीं हो जाता ।

उत्तर—प्रत्येक केश अदृश्य नहीं दृश्य है किन्तु उसकी सूक्ष्मता दृश्यता का बाधक है । केशराशि की सूक्ष्मता अविभूत हो जाती है, स्थूलता आ जाती है, अतः वह दृश्य हो जाता है । किन्तु परमाणुओं के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता । केश के समान वह सावयव नहीं, निरवयव हैं । निरवयव पदार्थों के संयोग से उनमें स्थूलता नहीं आ सकती, जैसा कि केशराशि है । समुदायरूपता का भान अध्यास से भी हो जाता है, अतः सामान्य प्रतीति सविकल्पक मात्र है, द्रव्यादि विकल्प के समान ।

शंका—ज्ञानस्वरूप एक घनाकार के रूप में प्रत्यक्ष अवभासित होने के कारण अविकल्पता मानी जाती थी और अब सविकल्पता है । सर्वत्र बुद्धि का स्वरूप ही कल्पना ज्ञान में प्रतिभासित होता है ।

समाधान—इदानीन्तन उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का बाधक प्रत्यय न होने के कारण अभ्रान्तता कही जाती है । आलम्बनीभूत अर्थ तो सर्वत्र भ्रमात्मक होते हैं ।।३५५।। अर्थात् जिनका सक्षम बाध उत्पन्न नहीं होता, ऐसे तात्कालिक अर्थों में अभ्रान्तता प्रतीत होती है । उसकी अपेक्षा "इदमभ्रान्तम्"—ऐसा कहा गया है । परमार्थतः तो सकल प्रत्यय आलम्बन में भ्रमात्मक ही होता है । अतएव प्रत्यक्ष ज्ञान में यह सविकल्पकता नहीं कही जा सकती, क्योंकि साक्षात्करण में कल्पना का कोई अवसर नहीं ।।३५६।। अर्थात् साक्षात्कारी ज्ञान सविकल्पक नहीं, क्योंकि कल्पना में पूर्वोपगृहीत वस्तु का अध्यास होता है, साक्षात्करण कभी अध्यास नहीं माना जा सकता, क्योंकि अध्यास के विपरीत अर्थ को तात्त्विक कहते हैं । यदि ऐसा है, तब प्रत्यक्ष में सामान्यविषयकत्व असिद्ध है, क्योंकि लोक-प्रसिद्धि के आधार पर प्रत्यक्ष में स्वलक्षणविषयकत्व ही स्थिर है ।

यह जो कहा गया है कि आयतन स्वलक्षण विषय को लेकर स्वलक्षणविषयकत्व कहा गया है, द्रव्य स्वलक्षण को लेकर नहीं ।

वह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि पूर्वाचार्यों ने परमार्थ के अभिप्राय से स्वलक्षण

अथैकायतनत्वेऽपि नानेकं दृश्यते सकृत् ।

सकृद्ग्रहावभासः किं वियुक्तेषु तिलादिषु ॥ १९७ ॥

यद्यपि नीलपीतादि अनेक रूपों के ज्ञान का जनक एक ही इन्द्रिय है, तथापि नीलादि का सकृत् दर्शन नहीं, किन्तु क्रमशः ही होता है। अतः बहुत परमाणुओं का एकदा ग्रहण कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि अनेक पदार्थ एकदा गृहीत नहीं होते, तब नाना देशों में विकीर्ण तिलों का सकृद् ग्रहावभास कैसे ? ॥ १९७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

क्षणविषया न द्रव्यस्वलक्षणम्। तदप्यसत्। यतः—

परमार्थमभिप्रेत्य पूर्वाचार्यैः प्रकल्पितः। विभागोऽयमतः साम्यगोचरत्वाविरोधिता ॥३५७॥

परमाणव एव तथा गृह्यमाणाः सामान्यम्। यदप्युच्यते—सर्वमेवाविकल्पकमिति तत्रापि ब्रूमः।

दृष्टमेव तदायातम्प्रमाणेन प्रतीतितः। परप्रसिद्धिमाश्रित्य विभागं शास्त्रकृज्जगौ ॥३५८॥

मीमांसकादिपरप्रसिद्धिमाश्रित्यानुस्मरणविकल्पतया कल्पनार्थप्रतिपादनम्। न च साक्षात्करणे तदस्तीति विकल्पकेतरविभागं शास्त्रकृत् करोतिस्म। तथा हि—अथैकायतनत्वेऽपीति।

ततः पूर्वगृहीतार्थाध्यारोपात् सविकल्पकम्। सकृद् अनेकपरमाणुग्रहणे हि न पूर्वगृहीतार्थाध्यारोप इति नानुस्मरणविकल्पेन सविकल्पकत्वम्। क्रमग्रहणात्तु दुर्निवारम्। न चैकं ज्ञानमेकदानेकग्रहणसमर्थमेकत्र मनसो व्यापृतत्वे परत्र तदैव व्यापारायोगात्। एकं वावयविद्रव्यमभ्युपगन्तव्यं सकृद् ग्रहणात्।

एकैकानेकग्राह्यन्तदेकत्वङ्गतोऽपि च ॥ ३५९ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

और सामान्य लक्षण का विभाग किया है। इसमें सामान्यगोचरत्व का कोई विरोध नहीं होता ॥३५७॥

परमाणु ही सामान्यरूपेण गृह्यमाण सामान्य कहलाते हैं। यह जो कहा जाता है कि सभी ज्ञान अविकल्पक हैं। उसके विषय में हमारा कहना है कि परकीय (मीमासकों के) मतानुसार विषयमात्र प्रमाण ज्ञान से प्रमित है, अतः उस मत के अनुसार प्रमाणों का विभाग शास्त्रकार ने किया है ॥३५८॥ अर्थात् मीमांसा की प्रसिद्धि को लेकर अनुमितकरण-विकल्प को लेकर कल्पनार्थ का प्रतिपादन किया गया है। साक्षात्करण में वह (कल्पना) ही नहीं है, अतः विकल्प और अविकल्प का विभाग शास्त्रकार ने किया है।

प्रथम ज्ञान निर्विकल्पक और उसके पश्चात् पूर्वगृहीतार्थ का अध्यारोप करके सविकल्पक होता है।

सकृत् अनेक परमाणुओं का ग्रहण होने पर पूर्वगृहीत अर्थ के अध्यारोप से सविकल्पक नहीं होता, अतएव अनुस्मरण-विकल्प से सविकल्प से सविकल्पकता नहीं आती। क्रम-ग्रहण होने के कारण भी सकृद्ग्रहण सम्भव नहीं। एक ज्ञान एकदा अनेक अर्थों के ग्रहण में समर्थ नहीं होता, क्योंकि एकत्र व्यापृत मन उसी समय अन्यत्र व्यापृत नहीं हो सकता। अथवा सकृद् ग्रहण के कारण एक ही अवयवी द्रव्य मानना होगा, क्योंकि एकैकशः अनेक ग्राह्य एक अवयवी का रूप ले लेते हैं ॥ ३५९ ॥

प्रत्युक्तं लाघवं चात्र तेष्वेव क्रमपातिषु ।
किं नाक्रमग्रहस्तुल्यकालाः सर्वाश्च बुद्धयः ॥ १९८ ॥

ज्ञानक्षण लघुवृत्तिक होने के कारण सकृद् ग्रहण-भ्रम हो जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञानक्षणों की लघुवृत्तिता का वार्तिककार ने निरास किया है—

"अन्यत्रापि समानं तद् वर्णयोर्वा सकृत् श्रुतिः" (प्र० वा० २।१३५)

अर्थात् अलातचक्रादि में भावक्षणों के अव्यवधान के समान अभावक्षणों के सातत्य के समान ही ज्ञानों में विलम्बवृत्तिता भी सम्भावित है ॥ १९८ ॥

काश्चित् तास्वक्रमभासाः क्रमवत्योऽपराश्च किम् ।
सर्वार्थग्रहणे　　तस्मादक्रमोऽयं　　प्रसज्यते ॥ १९९ ॥

क्रमभासी तथा अक्रमभासी सभी ज्ञानों में लघुवृत्तित्वमूलक यौगपद्य प्रसक्त होता है ॥ १९९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ततो हि—सकृद् ग्रहावभास इति ।

यदि परमाणवो न सकृद् गृह्यन्ते तथा सति पूर्वाध्यारोपात् सविकल्पकत्वमस्माभिरिष्यत एव । अथ दृश्यन्ते तथा सति साक्षात्करणादविकल्पकत्वं सिद्धम् ।

किञ्च केनेदम्प्रसिद्धमनेकं योग्यदेशव्यवस्थितमेकेन सकृन्न गृह्यते । मनस एकत्वादिति चेत् , न, मनसो युगपज्ज्ञानोत्पत्तिविरोधिनोऽसिद्धत्वात् । मनस्कारमात्रकस्यैव मनस्त्वस्य प्रसिद्धत्वात् ।

किञ्च सकृद् ग्रहणप्रतीतिरुपलक्षत एव परस्परमसंसर्गेषु तिलतण्डुलदण्डकमण्डलुभाण्डकुण्डलेषु । लाघवाद् ग्रहणस्य सकृदवभास इत्यप्यसत् । यतः—प्रत्युक्तं लाघवञ्चात्रेति ।

न हि लाघवात्सकृद् ग्रहणमुपपत्तिमल्लाघवस्याभावात् । प्रत्युक्तत्वात् । कुत एतत् । प्रतिपन्नं लाघबादसकृद् ग्रहणाभिमानः उत्पलपत्रशतवेधवदिति चेत् , न, दृष्टान्तमात्रादर्थासिद्धेः । न ह्येकत्र सिद्धमपरत्रापि तथा । पत्रशतवेधे तु औतराधर्य-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि किसने यह सिद्ध किया कि अनेक देश में अवस्थित अनेक योग्य पदार्थ एक इन्द्रिय के द्वारा गृहीत नहीं होते ? यदि कहा जाय कि ग्राहक मन तो एक ही है, अतः अनेक का ग्रहण नहीं हो सकता तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि मन के द्वारा अनेक पदार्थों के ग्रहण में कोई प्रतिबन्धक नहीं । मनस्कारमात्र अर्थात् आलम्बन में चित्त की अवधारणा ही मन है । उसकी एकता प्रसिद्ध है ।

सकृद् अनेक पदार्थों का ग्रहण अनुभवसिद्ध है—परस्पर असंसृष्ट तिल, तण्डुल, दण्ड, कमण्डलु, भाण्ड और कुण्डलादि पदार्थों का सामूहिक ग्रहण होता है ।

ग्रहण में लघुता के कारण सकृद् अवभास हो जाता है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि ग्रहण में लघुवृत्ति का अभाव ही देखा जाता है । लाघववृत्तिता निराकृत भी है, तब सकृद् ग्रहण की प्रतीति क्यों होती है ? इसका उत्तर है कि जैसे कमल के ऊपर सैकड़ों दलों का वेधन करने पर अभिसकृत् ग्रहण का अमान हो जाता है, वैसे ही

वार्तिकालङ्कारः

योगिना सह वेधासम्भवादनुमानसिद्धः क्रमः। न चैवं कल्पनायामतिप्रसङ्गः शक्यो निवारयितुम्। तस्माद् बाधकाभावान्न सिध्यति भ्रान्तिः। यदि च लाघवात् सकृद् ग्रहणाभिमानस्तेष्वेव क्रमेण एतत्सु प्रागसत्सु किन्न तथा। लाघवाभावादिति चेत्। अत्रापि तदिति कुत एतत्। सकृद् ग्रहाभिमानादिति चेत्। एतदपि कुतः। इतरेतराश्रयप्राप्तेः। यावत्सकृद् ग्रहस्य भ्रान्तता न सिध्यति न तावल्लाघवसिद्धिः। यावच्च न तत्सिद्धिस्तावद् भ्रान्ततायां अप्रसिद्धिः। अपि च—

क्षणिकत्वेन बुद्धीनां सर्वासान्तुल्यकालता। ततः सर्वत्र बुद्धीनां कस्मान्नाक्रमभासनम् ॥३६०॥
बुद्धिपरिमाणकालं हि प्रमेयप्रतिभासनम्।

ततः सर्व एवाक्रमः प्रतिभासो भवेत् प्रमेयस्य। तस्मान्न लाघवकृतः सकृदवभासोऽपि तथैव सद्भावात्। यत्र तु कारणवैकल्यान्न सकृदवभासस्तत्र विपर्यय इति व्यवस्था।

एकमग्रहणेऽकल्पप्रतिभासस्य सम्भवः। न विकल्पकताभावे स्पष्टार्थग्रहसम्भवः ॥३६१॥
आरोपः पूर्वदृष्टस्य कथं स्पष्टावभासनम्। अत्यन्तम्भावनाभावादविकल्पक एव सः ॥३६२॥
तथा हि योगिनां ज्ञानमेवमेवाविकल्पकम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रकृत में। इस पर वादी का कहना है कि दृष्टान्त मात्र के आधार पर पृथ्वी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। कमल के शतदल वेधन में लाघव सम्भव नहीं, क्योंकि एक दल का वेधन करके ही द्वितीय दल का वेधन उचित है। अतः वहाँ पर अनुमान के आधार पर वेधन का क्रम सिद्ध है, यहाँ यौगपद्य सम्भव नहीं, किन्तु अनेक कल्पनाओं में सकृद्वृत्तिता सम्भावित है। अतः बाधक के न होने पर भ्रान्ति सम्भावित है। यदि लाघव के कारण सकृद् ग्रहण का अभिमान हो जाता है तब पहले क्यों नहीं हो गया? यदि कहा जाय कि पहले लाघव नहीं था तो अब उसका लाभ कैसे हो गया। सकृद ग्रहण अभिमान के कारण यदि कहा जाय तब सन्देह होता है कि सकृद् ग्रहण अभिमान क्यों हुआ? इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है, जब तक सकृद् ग्रहण की भ्रान्तता सिद्ध न हो जाय तब तक लाघववृत्तिता की सिद्धि नहीं हो सकती और जब तक उसकी सिद्धि नहीं होती तब तक भ्रान्तता की सिद्धि नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह भी है कि सभी ज्ञान क्षणिक होते हैं। तुल्य-कालता सम्भावित है, अतः ज्ञान-क्षणों में सर्वत्र अक्रम का भासन होना चाहिए ॥३६०॥ बुद्धि परिमाण काल ही प्रमेय का प्रतिभासन होता है। फलतः प्रमेय का अवभासन अक्रम या सकृद् होना चाहिए। अतः लाघवमूलक सकृद् अवभास नहीं, अपितु वैसा ही है। जहाँ पर कारण के अभाव में सकृद् अवभास नहीं होता वहाँ विपर्यय होता है—ऐसी व्यवस्था समुचित है।

इस प्रकार अविकल्प-प्रतिभास का ग्रहण न होने पर विकल्पकता का अभाव और स्पष्टार्थ का ग्रह सम्भव हो जाता है ॥३६१॥ जब कि स्पष्ट अवभासन होता है, तब पूर्वदृष्ट का आरोप क्योंकर होगा? अत्यन्त कल्पना-अभाव होने के कारण अविकल्पक ज्ञान ही मानना होगा ॥ ३६२ ॥

ऐन्द्रियक साक्षात्कार के समान ही योगियों का ज्ञान भी अविकल्पक होता है।

नैकं चित्रपतंगादि रूपं वा दृश्यते कथम् ।
चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ॥ २०० ॥

अनेक पदार्थ एक इन्द्रिय के द्वारा यदि एकदा गृहीत नहीं होते, तब "चित्रो मयूरः'—इस रूप से किसका ग्रहण होता है ? एक का चित्र-विचित्र होना महान् चित्र (आश्चर्य) है ॥ २०० ॥

नैकं स्वभावं चित्रं हि मणिरूपं यथैव तत् ।
नीलादिप्रतिभासश्च तुल्यश्चित्रपटादिषु ॥ २०१ ॥

चित्र-बुद्धि पतंग (मयूर पक्षी) में मुख्य तथा मणि-रूपादि में गौण है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि चित्रपट-मणिरूपादि एवं चित्र-पतंग में तुल्य है (मुख्यामुख्य रूप नहीं) ॥ २०१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तथा च सकृदवभासनमेव पूर्वरूपता ग्रहणाभावात् । तथा हि—नैकश्चित्रपतङ्गादीति ।

यदि मनस एकत्र वृत्तेर्न युगपदनेकग्रहणन्ततो न चित्रपतङ्गरूपग्रहणमित्येक एवावयवीत्यभ्युपगम्यते । तदेतदभ्युपगमनन्तस्मादपि चित्रपतङ्गादि विचित्राच्चित्रतरम् । यतः—नैकं स्वभावं चित्रमिति ।

चित्रमिति परस्परसंसक्तस्वभावस्य भावात्मनो व्यपदेशोऽन्यथा क इह चित्रार्थः । ततो नानारूपरत्नसञ्चयवत् कुतश्चित्रपतङ्गात्मन एकत्वम् । अथ मणीनां विभागयोग्यत्वादनेकता न पतङ्गस्य । न तत्रापि विभागसम्भवात् । परस्परविभागेन प्रतिभासनमेव विभागः ।

अथ सत्यपि विभाग एकत्वम् । तथा सति रत्नसञ्चयस्यापि । अन्यस्तत्र विभागो

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पूर्वरूपता का परामर्श न होने के कारण सकृद् अवभासन ही होता है । यदि मन के एकत्र प्रवृत्त होने पर अन्यत्र प्रवृत्ति न होने के कारण युगपत् अनेक पदार्थों का ग्रहण नहीं होता तब चित्र-पक्षी का ग्रहण कैसे होता है ? अतः मानना होगा कि चित्र-पक्षी एक अवयवी है, जिसका सकृद् आभास होता है । ऐसा मानना अत्यन्त आश्चर्य-जनक है, क्योंकि चित्र शब्द का प्रयोग अनेक पदार्थों के संसर्ग पर होता है अन्यथा चित्र शब्द का क्या अर्थ होगा ? अतः अनेक रूपों के रत्नों का सञ्चयन एक चित्र पदार्थ होता है, वैसे ही चित्र पतंग भी एक होता है, कदि कहा जाय मणियों में पर-स्पर विभाग की योग्यता होती है, किन्तु चित्र-पतंग में नहीं, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि चित्र-मयूर में भी पंखों का विश्लेषण सम्भव होता है । परस्पर विभक्त प्रति-भासन का नाम ही विभाग है ।

यदि विभाग होने पर भी चित्र-पतंग में एकता मानी जाती है, तब नाना रत्नों के सञ्चयन में भी एकत्व क्यों नहीं, यदि कहा जाय कि मणि-सञ्चयन और चित्र-पक्षी में विभाग एक प्रकार का नहीं अपितु भिन्न-भिन्न होता है । वियोजन संज्ञक विभाग के रहने पर भी अवियोजन-आत्मक चित्र एक ही होता है, तो वैसा नहीं कह सकते क्योंकि वैसा वियोजन सर्वत्र सम्भव है । अर्थात् छेदन-भेदन के द्वारा वियोजन

तत्रावयवरूपं चेत् केवलं दृश्यते यथा ।
नीलादीनि निरस्यान्यच्चित्रं चित्रं यदीक्षसे ॥ २०२ ॥

चित्रपटादि में केवल अवयवरूप चित्रतया दिखाई पड़ता है, अवयवी नहीं, क्योंकि विजातीय द्रव्यों से आरब्ध नहीं—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि चित्रपतङ्गादि में भी नीलादि से पृथक् जो अवयविरूप चित्र देखते हो, वह सम्भव नहीं, क्योंकि यह केवल आपके ही नेत्र देख रहे हैं, स्वस्थ नेत्रवाले नहीं ॥ २०२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वियोजनाख्यस्ततोऽवियोजनश्चित्रमप्येकमेव । तन्न । सर्वत्र वियोजनसम्भवात् । तथा हि—

छेदभेदादिना सर्वत्र वियोजनसम्भवः । तदा विनाशो द्रव्यस्येत्येवत्सर्वत्र सम्भवि ॥३६३॥

यदि विभागो वियोजनाख्यः सम्भवति मणिसमूह इति नैकस्तत्रावयवी । तदेतच्चित्रपतङ्गादावपि किन्न भवति । तत्र यत्नाद् वियोजने छेदादिना विभागोत्पत्तेरवयविविनाशस्ततोऽवियोजनमिति न दोषः । एतन्मणिसमूहेऽपि कल्प्यतामिति समानः प्रसङ्गः ।

(अवयविनिरासः)—

ननु नीलादीनां परस्परपरिहारेणोपलक्षणेऽपि स्पर्शस्य तदेकरूपत्वात् परस्पराविच्छेदाच्चावयवानामेक एवावयवी । तदप्ययुक्तम् । यतः—नीलादिप्रतिभासश्चेति ।

विजातीयसूत्रसमाहाररूपेषु कृत्रिमचित्रपतङ्गादिषु समान एव नीलादिप्रविभागः स्पर्शाद्यविभागसहचारी । तत्र तत एकत्रावयवी परत्र नेति कुतोऽयं विभागः । तर्हि हि—तत्रावयवरूपञ्चेदिति ।

यदि चित्रपटादिषु कृत्रिमेष्ववयवरूपमेव केवलन्तथोपलभ्यते एकत्वाभिनिवेशेन । तदा नीलादीनि विभागरूपेण व्यवस्थितानि परित्यज्यान्यच्चित्रमकृत्रिमेष्वपि नास्त्येव । एकत्राभिनिवेशस्तत्र शरणम् । तच्चावयविनमन्तरेणापि कृत्रिमेषु विद्यते । ततः सापि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सर्वत्र सम्भव है और द्रव्य की एकता का विनाश भी सम्भव है ॥३६३॥ यदि वियोजनाख्य विभाग सम्भव होने से मणि-समूहों में एकता नहीं तब यह न्याय चित्र-पतंग में लागू न होगा ? यदि कहा जाय चित्र-पतंग में अवयवों का वियोजन यत्न-साध्य है, विना यत्न के चित्रावयवी का नाश नहीं होता, तब मणि-समूह में भी वैसा ही कहा जा सकता है ।

अवयवी-निरास

शंका—एक वस्त्र में नील, पीत आदि तन्तुओं का परस्पर भेद होने पर भी सर्वत्र स्पर्श एक ही प्रकार का अनुभव होता है, अतः तन्तु आदि अवयवों से भिन्न पट नाम का अवयवी एक मानना होगा जैसा कि न्यायसूत्रकार ने कहा है—"प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः" (१) ॥ २६ ॥

समाधान—उक्त शङ्का अत्यन्त-अयुक्त है क्योंकि पट और चित्र-पतंगादि में अवयवों का विभाग तथा एकत्व प्रवृत्ति समान रूप से होती है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि चित्र-पतंग में एकता अवयवी रूपता में नहीं, किन्तु पट में है । यदि चित्र-पटादि में कृत्रिम एकरूपता होने पर भी पट में एकत्व वास्तविक है, वैसा नहीं कह सकते । कृत्रिम और अकृत्रिम अवयवों में भिन्न अवयवी कहीं भी नहीं, केवल पट

तुल्यार्थाकारकालत्वेनोपलक्षितयोर्द्वयोः ।

नानार्था क्रमवत्येका किमेकार्थाऽक्रमापरा ॥ २०३ ॥

एक काल में ही प्रतीयमान दो कृत्रिम और अकृत्रिम चित्र विशेषणों में एक (नानार्थक) बुद्धि नानार्थक है, क्योंकि विजातीय द्रव्यों से आरब्ध नहीं, वह क्रमवती है, क्योंकि अनेक नीलादि का क्रमशः ग्रहण होता है और अपर (अन्य बुद्धि) अकृत्रिम पतङ्ग-विषयिणी है, अतएव अक्रमा क्यों मानी जाती है ? अर्थात् दोनों का निमित्त जब समान है, तब दोनों में समानता ही न्यायोचित है ॥ २०३ ॥

वैश्वरूप्याद् धियामेव भावानां विश्वरूपता ।

तच्चेदनङ्गं केनेयं सिद्धा भेदव्यवस्थितिः ॥ २०४ ॥

वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञानों की विश्वरूपता (नानाकारता) के आधार पर ही ग्राह्य पदार्थों की विश्वरूपता व्यवस्थापित होती है। चित्र अवयवी की एकता मानने

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्याशा व्यपगतैवेति नावयविनश्चित्रता युक्तिमती। प्रत्यक्षानुमानयोरसाधकत्वात्। एकाकर्षणे त्वपराकर्षणमयस्कान्तायोगोलकादीनामुपलभ्यत एव। तत्र चानेकस्य सकृदुपलम्भ इति सिद्धम्।

अथ क्रमेणैव कृत्रिमेषु नीलादीनामुपलम्भस्तदन्यत्र सकृदिति विभागः। तदप्यसत्—तुल्यार्थाकारकालत्व इति।

अर्थाकारकालयोः समानत्वेऽपि धियोरेका नानार्थप्रतिभासा क्रमवत्यपरा तु पुनरेकमेवार्थमवयविनं स्वगोचरचारिणं विदधाना न क्रमवतीति किमत्र निबन्धनम्। न खलु सर्वत्र समानतोपलक्षणे विलक्षणत्वमभ्युपगमविषयः। कृत्रिमाकृत्रिमचित्राभिमतयोश्चेदमभ्युपगम्यते। तदेतदप्रमाणकमभ्युपगममात्रकन्न त्राणाय।

ननु यदि कुतश्चित् प्रमाणबलादयमेकानेकविभागस्तदा क इवात्र दोषः। न युक्तमेतत्। यतः—वैश्वरूप्याद् धियामेवेति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में अभिनिवेश मात्र होता है। एकत्वादि निवेश नाना रत्नों के समूह में भी होता है। अतः अवयवी वस्तु की चित्रता युक्तिमती नहीं। प्रत्यक्ष और अनुमानादि भी उसके साधक उपलब्ध नहीं होते, न्यायदर्शनकार ने जो कहा है पट के एक कोने का धारण और आकर्षण करने पर सम्पूर्ण आकर्षण यह सिद्ध करता है कि पट नाम का अवयवी एक ही है। नहीं कहना भी अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि अवस्कान्त और लोहा जैसे पृथक् सिद्ध पदार्थ में भी धारण और आकर्षण पाया जाता है, किन्तु वहाँ पर अवयवी नहीं होना चाहता। कृत्रिम गोलकादि में नीलादि का ग्रहण क्रमिक और अवयवी में युगपद् होता है, यह कहना भी संगत नहीं। क्योंकि अयस्कान्तादि में जैसे धारण और आकर्षण होने पर भी एकता नहीं वैसे पटादि में भी क्यों नहीं, जब कि सर्वत्र समानता उपलक्षित होती है, तब विषमभाव की कल्पना अत्यन्त असंगत और अप्रामाणिक मानी जायगी।

शंका—यदि किसी प्रमाण के आधार पर अवयवी और उसकी विलक्षणता मानी जाती है, तब क्या दोष ?

पर उनके ज्ञानों में प्रतिभासमान नानात्व यदि भेद-व्यवस्थिति में अङ्ग नहीं, तब पदार्थों में भेद-व्यवस्थिति कैसे सिद्ध होगी ? ॥ २०४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

एकानेकरूपप्रतिभासवतीनां धियामेव तद्रूपव्यवस्थापने प्रामाण्यन्नापरः प्रमाक्रमः। ताश्च तथाभूतव्यवस्थापनाप्रहतक्रमा अपि धियो यदि साधर्म्यमात्रोपनिबन्धनप्रकल्पितप्रामाण्ययापरधियावधूयेरन्। क्व नाम साधर्म्यन्न लभ्यमेतदिति न भावव्यवस्थानामास्तीति सकलमसमञ्जसम्भवेत् तस्मात्।

प्रतिभासान्तरासिद्धिप्रतिबन्धा हि वा धियः। प्रतिभासस्य वैयर्थ्यं कथयन्तीति युक्तिमत् ॥३६४॥

साधर्म्यमात्रकादेव यदि भावः प्रसिध्यति। क्व नाम न तदस्तीति सर्वं सिध्येन्न वा क्वचित् ॥३६५॥

न हि प्रत्यक्षपरिगृहीतप्रतिबन्धकमनुमानमपरेणानुमानेन तथोदयमासादयता प्रत्यक्षान्तरेण वा प्रतियोगितायोगं विभ्राणेन शक्यन्तिरस्कर्त्तुं। न हि प्रमाणं प्रमाणेन तिरस्क्रियते। समानबलत्वे कः तिरस्कारः। प्रमाणत्वञ्च कथन्तिरस्कारकरणे। असमानबलतायां वा अथ प्रमाणमेव तन्न भवति यदनुमानेन बाध्यते। अनुमानमेव तन्न भवति यत्प्रत्यक्षेणेति समानः प्रसङ्गः। अर्थप्रतिभासा यथा कथञ्चित्कारणदोषतो भवन्ति नानुमानम्। ततस्तदेव बाधकमिति। तदप्यसत्। यतः—

हेतुदोषात् प्रमेये धीरन्यथापीति युक्तिमत्। स्वरूपे तु कथं युक्ता हेतुदोषशतादपि ॥३६६॥

क्रमवत्प्रतिभासस्वरूपं हेतुदोषादक्रमम्भवतीति न युक्तम्। न ह्येकस्य स्वरूपन्नाना

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—एकानेकप्रतिभासवती बुद्धियों को भी वहाँ प्रमाण माना जा सकता है। किसी एक बुद्धि के आधार पर अन्य बुद्धियों की व्यवस्था करने पर सर्वथा असंगति हो जाती है, अतः बुद्धि के द्वारा अवयवों का विवेचन जब समान है तब एकत्र अवयवी और अन्यत्र उसका अभाव कैसे होगा ? सर्वत्र एकरूपेण अवयवी का अभाव मानना होगा। अवयवी की एकता यदि ज्ञानान्तर से प्रतिबन्धित न हो तब एकत्व की सिद्धि हो सकती है, किन्तु अणु-समूह की एकता अवयवी की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकती ॥३६४॥ यदि किसी एक साधर्म्य मात्र को लेकर पदार्थ को वैसा माना जा सकता है तब सर्वत्र वैसा क्यों नहीं ? व्यवस्थापन सम्भव नहीं ॥ ३६५ ॥

जिस अनुमान का प्रतिबन्ध (बाध) प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं, ऐसा अनुमान प्रमाण अन्य अनुमान या उदीयमान प्रत्यक्षान्तर या प्रतिपक्षी अनुमान के द्वारा तिरस्कृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक प्रमाण अन्य प्रमाण से तिरस्कृत नहीं होता। समान बल वाले दो प्रमाणों में एक के द्वारा दूसरे का तिरस्कार कैसा ? तिरस्कार मानने पर प्रमाणान्तरता कैसी ? असमानकारता मानने पर भी प्रमाणान्तरता नहीं रहती।

यदि कहा जाय कि जो अनुमान के द्वारा बाधित होता है, वह प्रमाण ही नहीं होता। वह अनुमान ही नहीं होता, जो प्रत्यक्ष से बाधित हो। कल्पनाभास यथाकथञ्चित् कारणदोषतः हो जाते हैं, वे अनुमान नहीं होते। यही सब-कुछ बाधकता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमेयार्थ की अन्यथाबुद्धि हेतु-दोष के कारण हो जाती है किन्तु ज्ञान-स्वरूप में सैकड़ों हेतु-दोषों से अन्यथाबुद्धि नहीं होती ॥३६६॥ क्रमशः होनेवाला अवभास हेतु-दोष के कारण अक्रम (युगपद्) हो जायगा—ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि एक स्वरूप कभी नाना नहीं होता, अन्यथा वैसी

वार्तिकालङ्कारः

तथा प्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। अप्रतिभास एकस्येति चेत्, न, स्वभावताऽभावप्रसङ्गात्। न खल्वप्रतिभासने प्रतिभासनन्नाम। अप्रतिभासनम्प्रतिभासनस्वभाव इति दुर्घटम्। अथ क्रमभासनमेव नेतरत्। भ्रान्तिमात्रमेवेतरत्। केयम्भ्रान्तिः। किमप्रतिभासमथान्यथा प्रतिभासनम्। किञ्चातः—

भ्रान्तिरप्रतिभासश्चेत् सर्वत्र स्यादवारिता। तदेव प्रतिभातीत्थङ्कथम्भ्रान्तिर्निरुच्यते ॥३६७॥

यदि सर्वा प्रतिभासनम्भ्रान्तिः सुषुप्तस्योपलादेश्च भ्रान्तताप्रसङ्गः। यदि चाक्रमस्याप्रतिभासः क्रम एव तर्हि प्रतिभात्यनुपहतस्ततः कथम्भ्रान्तिः। न हि स्तम्भादेः प्रतिभासनमेव भ्रान्तिः।

भ्रान्तिरन्यवभासश्चेत् स्वरूपाभासिता कथम्। अस्वरूपावभासे च तन्नास्तीति भ्रमः कथम् ॥३६८॥

यद्यन्यस्य विवक्षितात् प्रतिभासस्य भ्रान्तता तथा तर्हि स्वरूपप्रतिभासनमेव तस्य नास्ति कथं सा बुद्धिरस्ति। अप्रतिभासमानापि यदि बुद्धिरस्ति सर्वदा सर्वस्य सर्वा एव धियः सन्तीति वक्तव्यम्। भ्रान्तिश्च। अथ नास्त्येव सा बुद्धिः। एवन्तर्ह्यविद्यमानैव क्रमवती बुद्धिरक्रमाभा परोत्पन्नेति कथम्भ्रान्तिः। अथ तस्याः प्रमेयन्नास्तीति भ्रान्तिरसौ।

नन्वक्रमेषु तिलादिष्वक्रमाया एव बुद्धेः प्रमेयमस्ति। प्रत्युत क्रमवत्याः प्रमेया-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिपत्ति होनी चाहिए। यदि एक का प्रतिभास नहीं होता, तब एक में स्वभासता नहीं बन सकेगी। अप्रतिभासमानता अवस्था में प्रतिभासमानता नहीं रह सकती। अप्रतिभासन प्रतिभास का स्वभाव मानना नितान्त दुर्घट है। अप्रतिभासन को प्रतिभासन से भिन्न नहीं कह सकते, क्योंकि वह एक भ्रान्तिमात्र है। यह भ्रान्ति क्या है? क्या अप्रतिभासन भ्रान्ति है? अथवा अन्यथाप्रतिभासन? इससे क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि अप्रतिभासन ही भ्रान्ति है, तब वह सर्वत्र अविकारित रूप में होनी चाहिए। प्रतिभास मात्र को भ्रान्ति क्योंकर कहा जा सकता है? ॥३६७॥ यदि समस्त अप्रतिभासन भ्रान्ति है, तब सुषुप्त और पाषाणादि में भ्रान्तता प्रसक्त होती है। यदि अक्रम (यौगपद्य) का अप्रतिभ्रान्ति है, तब नग्नद्वय को हटा देने पर क्रम-ज्ञान को भ्रान्ति कहना होगा। वह सम्भव नहीं, क्योंकि स्तम्भादि का क्रम प्रतिभास भ्रान्ति कैसे? स्तम्भादि का प्रतिभासन भ्रान्ति कोई नहीं मानता। अन्यावभासन यदि भ्रान्ति है, तब ज्ञान में स्वरूपाभासिता कैसे? स्वरूप का अनवभास होने पर वह (स्वरूप) नहीं है—ऐसा भ्रम कैसे हुआ ॥३६८॥ अर्थात् यदि अन्य प्रतिभास की भ्रान्तता विवक्षित है, तब उस प्रतिभास में स्वरूप-प्रतिभासन ही नहीं, उसे बुद्धि ही कौन कहेगा? यदि अप्रतिभासन होने पर भी वह बुद्धि है, तब सभी पदार्थों की सर्वदा बुद्धियाँ माननी होंगी, भ्रान्ति भी सर्वदा रहेगी। यदि स्वरूपाप्रतिभासिनी वस्तु को बुद्धि नहीं कहा जाता, तब क्रमवती बुद्धि अविद्यमान ही है, भ्रान्ति कैसे? यदि कहा जाय कि उस बुद्धि का प्रमेय नहीं, अतः वह भ्रान्ति है। जहाँ तिल आदि का ढेर लगा है, वहाँ अक्रमिक बुद्धि होती है। उसका तो प्रमेय है, प्रत्युत क्रमवती बुद्धि का प्रमेय असम्भव है। क्योंकि वहाँ अन्यथा अवभासन होता है। यदि कहा जाय कि अक्रमिक प्रमेय होता ही नहीं, अतः वह भ्रान्ति है। तब तो स्वरूप में भी अक्रमाभास नहीं होता, अतः वहाँ भ्रान्ति का योग नहीं। यदि स्वरूपविषया क्रमवती बुद्धि

वार्तिकालङ्कारः

सम्भवोऽन्यथाऽवभासनात्। अथाक्रमस्प्रमेयमेव न भवति तेनैवमिति चेत्। स्वरूपेऽपि तर्हि नाक्रमावभासस्ततो न भ्रान्तियोगः। अथ—

स्वरूपे बुद्धिरपरा यदि बुद्धौ कृतग्रहा। क्रमग्रहस्वरूपायाः कथमक्रमभासनम् ॥३६९॥

यदि क्रमवती बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण गृह्यते। प्रमेयस्याक्रमावभासो न स्यान्मणिमुक्तादेः। तद्ग्राहिकाया बुद्धेः क्रमेण प्रवर्त्तनात्। बुद्धिग्राहिकायाश्च न प्रमेये वृत्तिः। न च क्रमोऽक्रमेण प्रतिभाति। यतो हि—

भ्रान्त्या तत्प्रतिभासश्चेत् सैवाभ्रान्तिः प्रसज्यते। प्रमेयग्रहणन्तस्यास्तथा केन निवार्यते ॥३७०॥

यदि क्रमावभासिनी बुद्धिरुदयवती बुद्धिबुद्ध्यापि तथा भवितव्यम्। भ्रान्त्या सकृद् ग्रहणञ्चेदेकया सकृदनेकग्रहणप्रसङ्गः। न हि पूर्वापरग्रहणानामेकता प्रतीत्यभावात्। उत्तरया बुद्ध्यैकतया प्रतीतिरिति चेत्। सापि क्रमवती कथमेकताम्प्रतीयात्। ग्रहणकालो हि ग्राहिकालानतिपाती। अथाक्रमैवासौ। तथा सत्येकयाऽनेकग्रहणम्। अत एवासौ भ्रान्तिरिति चेत्। तथाप्यनेकस्वरूपप्रतिभासनमव्यावृत्तमेव। चित्राबुद्धिरेकैव चेत्। किन्न मणिमुक्तादयो नीलादयश्च प्रमेयं विरूपेणावभासमाना अपि यदि बुद्धिरूपा इति सर्वस्य प्रमेयस्य तथा प्रसङ्गः। तस्मान्न भ्रान्तावपि प्रतिभासनं युक्तं सकृदनेकस्य। तस्माद् यो यथाऽनुभूयते सकृदन्यथा वा स तथैवाभ्युपगन्तव्यः। तथैव विचारक्रमत्वात्। अन्यथा प्रमेयस्थित्यभावः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अन्य बुद्धि के द्वारा गृहीत होती है, तब क्रमग्रहस्वरूप बुद्धि का अक्रम अवभासन क्योंकर होगा ॥३६९॥ अर्थात् यदि क्रमावभासिनी बुद्धि अन्य बुद्धि के द्वारा गृहीत होती है, तब मणि-मुक्तादि का अक्रम अवभास नहीं होना चाहिए। क्योंकि उसकी ग्राहिका बुद्धि क्रमशः प्रवृत्त होती है। बुद्धि की जो ग्राहिका बुद्धि है, उसकी प्रमेय में प्रवृत्ति ही नहीं होती। अक्रमग्राहिणी बुद्धि से क्रम का अवभास हो नहीं सकता। यदि कहा जाय कि भ्रान्ति से वैसा प्रतिभास हो जाता है, तब वही बुद्धि अभ्रान्त माननी होगी। उसके प्रमेय का ग्रहण उसके द्वारा न हो ऐंसा कौन कर सकता है? ॥३७०॥ अर्थात् यदि क्रमावभासिनी बुद्धि उदय होती है, तब बुद्धि-ग्राहिका बुद्धि को भी वैसा होना चाहिए। यदि भ्रान्ति से सकृद् ग्रहण माना जाता है, तब एक बुद्धि के द्वारा युगपद् अनेक-ग्रहण का प्रसङ्ग उपस्थित होता है क्योंकि पूर्वापर ग्रहणों की एकता नहीं होती, क्योंकि वैसी (एकता की) प्रतीति ही नहीं होती। यदि कहा जाय कि उत्तरबुद्धि की एकता प्रतीत होती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह भी तो क्रमवती है, अतः एकता की प्रतीति कैसे होगी? बुद्धि का ग्रहण-काल ग्राह्य अर्थ के काल का उल्लंघन नहीं कर सकता यदि उसे सकृद्भासिनी माना जाता है, तब एक बुद्धि के द्वारा अनेक का ग्रहण होना चाहिए। यदि कहा जाय कि एक के द्वारा अनेक का ग्रहण होने के कारण ही वह भ्रान्ति है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनेक स्वरूप का प्रतिभासन तो बना ही रहता है। यदि चित्रा बुद्धि को एक माना जाता है, तब उस बुद्धि के प्रमेय मणि-मुक्तादि नील-पीतादि विविधरूप से प्रतीयमान होने पर भी यदि बुद्धिरूप है, तब एकता का अवभास होना चाहिए। फलतः भ्रान्ति में भी अनेक पदार्थों का सकृदवभासन युक्त नहीं। अतः जो पदार्थ जैसा अनुभूत होता है सकृत् या अन्यथा वह वैसा ही मानना चाहिए, क्योंकि वैसा ही विचार का क्रम है।

विजातीनामनारम्भालेख्यादौ न चित्रधीः ।
अरूपत्वान्न संयोगश्चित्रो भक्तेश्च नाश्रयः ॥ २०५ ॥

किसी कलाकार ने भित्ती पर अनेक रंगों से हाथी का एक चिय बनाया। वहाँ "एकोऽयं चित्रो गजः"—ऐसी जो बुद्धि होती है, उसका आलम्बन क्या ? नीलादि रूप विजातीय वर्णों से पीतादि-घटित गजरूप अवयवी द्रव्य का आरम्भ नहीं हो सकता। "पुष्पितं वनम्" के समान भक्ति (गौणी वृत्ति) भी नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे वृक्षसमवेत पुष्पितत्त्व का वृक्ष-संयोगात्मक वन में एकार्थसमवाय सम्बन्ध है, वैसे ही अवयव-संयोगात्मक गज का चित्रत्व के साथ एकार्थसमवाय मानना होगा। वह सम्भव नहीं, क्योंकि अवयव-संयोगरूप गुण में चित्ररूपात्मक गुण नहीं रह सकता ॥ २०५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नन्वालेख्यादौ चित्रबुद्धिरुपलक्ष्यते । कथमेकता न युक्ता । मणिमुक्तादिषु तु न चित्रैका बुद्धिस्ततो बुद्धेरेव प्रतिभासविभागादयं विभागः । न स्वसमयविरोधात् । यतः—विजातीनामनारम्भादिति ।

यदि बुद्धिरनुविधीयते स्वसमयः परित्यक्तो विजातीयानारम्भादिति । विजातीयसूत्रसंयोगोपजनितस्य हि पटादिरूपस्य न चित्रावयविता ।

अथ बुद्धिरियम्भ्रान्ता तथाप्यस्ति सकृद्ग्रहः । असत्यरूपग्रहणे सत्यरूपग्रहो न किम् ॥३७१॥

भ्रान्तापि हि बुद्धिः प्रवर्त्तमाना सकृदनेकग्रहणे प्रवर्त्तत एव । को हि पुरोवर्त्तित्वप्रतिभासने सत्यासत्ययोर्विवेकः । अथ बुद्धेरेव तद्रूपम् । तदेतदसत् ।

सत्यबुद्धेरसद्रूपमात्मभूतं कथन्न तत् । एकात्मत्वे विभागोऽयमसत्यो नैकताऽथवा ॥३७२॥

अथापि स्याद् ।

आत्माबुद्धेस्तेन रूपेण सत्यः पीताद्यात्मा बाह्यरूपस्त्वसत्यः ।
नैतत्सारन्तस्य रूपं न तच्चेत् तस्मिन्नेषा कल्पना युक्तियुक्तवा ॥३७३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अन्यथा प्रमेय की स्थिति नहीं हो सकती।

शंका—भित्तिगत आलोक में तो चित्र-बुद्धि उपलब्ध होती है। चित्ररूप की एकता युक्ति-युक्त क्यों नहीं ? मणि-मुक्तादि में तो चित्रैकता है नहीं, अतः बुद्धि में चित्रैकता माननी होगी।

समाधान—उक्त शङ्का सिद्धान्त-विरुद्ध है, क्योंकि नैयायिकादि का सिद्धान्त है कि विजातीय (नीलादि) द्रव्य से पीतादि-घटित चित्र का आरम्भ होता है। विजातीय सूत्रों के संयोग से उत्पन्न पट में चित्रावयविता नहीं देखी जाती। यदि कहा जाय कि यह एक भ्रान्त बुद्धि है, तथापि सकृद्ग्रह। असत्य रूप-ग्रह क्या सत्य रूप-ग्रह नहीं होता ॥३७१॥ भ्रान्त बुद्धि भी प्रवृत्त होकर एक बार में अनेक पदार्थों का ग्रहण कर लेती है। पुरोवर्ती अवभास में सत्यासत्य का विवेक कहाँ होता ? अतः बुद्धि का ही वह चित्र एक रूप क्यों न मान लिया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सत्य बुद्धि का आत्मभूत सत्यरूप सकृद्ग्रहात्मक एकाकार होता है, अतः चित्रत्वादि का विभाग असत्य क्यों नहीं ? अथवा उस (चित्र-बुद्धि) में एकता नहीं, नानात्व है ॥३७२॥

यह एक तथ्य है कि बुद्धि का आत्मा (स्वरूप) उस चित्रता के रूप में सत्य है

वार्तिकालङ्कारः

अथापि स्याद् । आत्मरूपे प्रवर्त्तेत एकापि बुद्धिरनेकत्र तत्र प्रयासाभावात् । पररूपे तु महान् प्रयासो मनसो गमनादिलक्षणस्ततो नैकया ग्रहणसम्भवो ग्रहणस्य सकृद् विरुद्धदेशेष्वसम्भवात् । यदि तर्हि गमने न मनो ग्रहणकारणम् ।

शाखाचंद्रमसोस्तुल्यकालग्रहणासम्भवः । शीघ्रवृत्तेरसकृद्ग्रहणावभास इति चेत् , न, अतिदूरे शीघ्रताऽसम्भवात् । किञ्च । किमत्र प्रमाणम्प्राप्यकारि चक्षुरादीति । परः प्राह । उपलब्ध्यनुपलब्ध्योरनावरणेतरापेक्षणात् दूरेतरापेक्षणाच्च । यदि चक्षुरादिकमप्राप्यकारि भवेत् । यथाह—चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयमिति । तद्भावरणभावादनुपलब्धिरन्यथोपलब्धिरिति न स्यात् । न हि तत्रावरणं व्याघातकरणसमर्थम् । प्राप्यकारित्वे तु मूर्त्तद्रव्यप्रतिघातादुपपत्तिमान् व्याघातः । अतिदूरत्वे च गमनाभावात् । तदसत् । अप्राप्यकारित्वेऽपि योग्यदेशापेक्षणादयस्कान्तवत् । न खल्वयस्कान्तोऽप्राप्यकर्षणे प्रवर्त्तमानोऽयसः सर्वस्य समर्थः । अथ तत्राप्ययःस्पर्शोऽस्त्येव । सूक्ष्मत्वादनुपलक्षितो यथा नायनरश्मिसंस्पर्शः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

और बाह्य विषय की चित्रता असत्य है । इस युक्ति में कोई बल नहीं कि 'बाह्य विषय में यदि चित्रता नहीं, तब बुद्धि के स्वरूप में उसकी कल्पना क्योंकर होगी ?" अर्थात् एक बुद्धि भी अपने स्वरूप के ग्रहण में स्वतः प्रवृत्त हो जाती है। एक (बुद्धि) में चित्रता नहीं, अपितु पटरूप द्रव्य के घटकीभूत अनेक तन्तुओं में चित्रता है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं । बुद्धि को अपने से भिन्न बाह्य तन्त्वादि के रूपों के ग्रहण में महान् प्रयास करना होगा । मन विविध विषयों के ग्रहण में व्यग्र रहेगा । नाना देशों के रूपों का सकृद् ग्रहण अत्यन्त विरुद्ध है ।।३७३।।

यदि कहा जाय कि मन बाहर गमनपूर्वक बाह्य पदार्थों का ग्रहण नहीं करता, तब एक काल में अनेक पदार्थों का ग्रहण कैसे होगा ? अतः यह मानना अनिवार्य क्यों नहीं कि मन की द्रुत गति के कारण सकृद् ग्रहण का अवभास होता है ।

तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि समीपस्थ शाखा और दूरस्थ चन्द्र का तुल्य (एक) काल में ग्रहण असम्भव है । दूसरी बात यह भी है कि चक्षुरादि विषय को प्राप्त करके ग्रहण करते हैं—इसमें क्या प्रमाण ? इसके उत्तर में नैयायिक कहता है—विषय की उपलब्धि के लिए अनावरण और अनुपलब्धि के लिए अनावरण की अपेक्षा होती है । इसी प्रकार अनुपलब्धि के लिए दूरता और उपलब्धि के लिए अदूरता अपेक्षित होती है । यदि चक्षुरादि अप्राप्यकारी हैं, जैसाकि कहा गया है—'चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयं' तब आवरण के होने से अनुपलब्धि और आवरण के न होने से विषय की उपलब्धि ऐसा नहीं होना चाहिए । अप्राप्यकारी पक्ष में आवरण व्याघात करने में समर्थ नहीं होता है । प्राप्यकारित्व पक्ष में दीवार आदि मूर्त द्रव्य का व्याघात उत्पत्तिमान हो जाता है । अतिदूर विषय पर गमन नहीं होता, जो कहा है, वह उचित नहीं, क्योंकि अप्राप्यकारित्व पक्ष में भी योग्य देश की अपेक्षा वैसे ही होती है जैसे लोहगत क्रिया के लिए अयस्कान्त की । क्योंकि अयस्कान्त लोह-खण्ड को प्राप्त किये बिना आकर्षित नहीं करता । वहाँ भी लोहा और अयस्कान्त का संयोग होता है, हाँ सूक्ष्म होने के कारण उसकी प्रतीति वैसे ही नहीं होती जैसे नेत्र-

वार्तिकालङ्कारः

नन्वेतदेवान्येन साध्यते कथन्तदेव साधनम् । तस्मात्—

अत्यन्तं क्रियमाणे यन्नष्टैः कष्टप्रकल्पना । विदुषामुपहासाय वर्त्तते न तु संविदा ॥३७४॥

अथापि स्यात् । संसृष्टस्याकर्षणन्दृष्टमित्ययस्कान्ताकृष्यमाणस्यापि तत् । न । मन्त्रस्याप्याकर्षकत्वन्दृष्टन्तदा कृष्टस्यापि स्पर्शप्रसङ्गेनातिप्रसङ्गात् । भवतु तत्रापीति चेत्, न, शब्दस्य गुणत्वात् । यदि वानैकान्तिकत्वदर्शनविषयेऽपि स एव धर्म आसज्यते । न क्वचिदनैकान्तिकत्वेन भवितव्यम् । स श्यामस्तत्पुत्रत्वादिति व्यभिचारदर्शने गौरपुत्रेण तत्राप्यस्ति श्यामतेति प्रसङ्गः कस्मान्न दृश्यत इति । अदर्शनकारणमत्र मीयताम् ।

किञ्च । यदि चक्षूरश्मयोनिर्गत्य संसर्गवन्तः कस्मादतिदूरेऽपि न दर्शनमव्यवहिते प्रदीपरश्मिवदिति न दोषः, एवन्तर्हि अतिनिकटग्रहणप्रसङ्गः । न हि प्रदीपरश्मयोऽतिनिकटे न प्रवर्त्तन्ते । तस्मादपरो धर्मश्चक्षुरादीनाम्प्रदीपादभ्युपगन्तव्यः स एव ग्रहणकारणन्न रश्मिसन्निकर्षः यदि च रश्मयश्चक्षुरादीनामनुकारेऽपि ग्रहणप्रसङ्गः । अथ मनसः सा शक्तिर्यतः सा शीघ्रता । सकृद्ग्रहणमेव तर्हि जनयतु किमनया कष्टकल्पनया । न च मनस्तथाभूतं प्रमाणसिद्धम् । मनस्कार एव पूर्वविज्ञानरूपस्तदर्थक्रिया-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रश्मियों की । लोह और अयस्कान्त मणि का संयोग तो साध्य है, उसको साधन बनाना उचित नहीं । लोह और मणि के संयोग की कल्पना एक कष्ट कल्पना है । वह कल्पना केवल विद्वानों के उपहास के लिए है, अनुभव सिद्ध नहीं ॥३७४॥

ऐसा जो सन्देह किया जाता है कि रस्सी और घट का संयोग, घट-गत क्रिया का जनक होता है, अतः लोह-खण्ड में क्रिया का जनक अयस्कान्त का संयोग होना चाहिए । वह सन्देह उचित नहीं, क्योंकि मंत्र में भी हस्तादि के आकर्षण का साधन देखा जाता है किन्तु मन्त्र और हस्त का संयोग न दृष्ट है और न कल्पित । अतः दृष्ट संयोग भी आकर्षण की साधनता में संदेहास्पद हो जाता है । यदि कहा जाय मन्त्र आदि का भी हस्तादि के साथ संयोग होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि शब्द स्वयं गुण है, उसमें संयोग गुण का रहना वैशेषिक सिद्धान्त से नितान्त विरुद्ध है । यदि मणि-मन्त्रादि का विषय से संयोग अनैकान्तिक है तब मित्रा-तनय की श्यामता और शाकपाक-जन्यत्व भी अव्यभिचरित होना चाहिए, किन्तु मित्रा-तनय में श्यामता व्यभिचरित होती है । वैसे ही स्पर्श के अदर्शन का कारण अनुमित हो सकता है ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि चक्षु की रश्मियाँ चक्षु से निकलकर चन्द्रलोकादि दूर देश में जाती हैं तब वे वैसे क्यों नहीं दिखायी देतीं जैसे समीपस्थ प्रदीप की रश्मियाँ दूर देश में दिखायी देती हैं, वैसे ही अत्यन्त निकट में क्यों नहीं दिखायी देतीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अतिनिकट में प्रदीप-रश्मियाँ निकलती ही नहीं । अतः चक्षुरादि का प्रदीप से कोई और धर्म मानना होगा वही ग्रहण का कारण है, रश्मिसन्निकर्ष नहीं । यदि चक्षुरादि की रश्मियाँ होती हैं तब उसके अनुकरण में भी उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ।

यदि मन की ही एक ऐसी शक्ति मानी जाती कि नील-पीतादि तन्तुओं का शीघ्र ग्रहणकर उनमें चित्र एकता का आभास उत्पन्न हो जाता है तब ज्ञान का चित्र-एकता से समन्वित सकृद् ग्रहण क्यों नहीं मान लिया जाता । वैसी अद्भुत शक्ति से

प्रत्येकमविचित्रत्वाद् गृहीतेषु क्रमेण च ।
न चित्रधीसङ्कलनमनेकस्यैकयाऽग्रहात् ॥ २०६ ॥

अवयवगत चित्रत्व और अवयव-समूहात्मक चित्र का "चित्रं चित्रम्"—ऐसा संबंध नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्येक अवयव में चित्रत्व नहीं रहता । नीलादि प्रत्येक का ग्रहण कर अवयव-समूह का संकलन करके भी "चित्रं चित्रम्" की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि एक बुद्धि के द्वारा अनेकार्थों का ग्रहण संभव नहीं ॥ २०६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कारी । तस्य विषयान्तरावधानवैगुण्येऽन्यत्र ज्ञानानुपपत्तेर्युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिस्ततश्चान्यथासिद्धित्वात् न मनस्ततो लिङ्गादवगतिः ।

तस्माद् बुद्धिस्तदत्काकारग्राहिका व्यपदिश्यते । सन्दंशैरिव विज्ञानैर्न त्वर्थग्रहणेक्षणम् ॥३७५॥

तस्मादभ्रान्तमेवालेख्यानेकाकारग्रहणं सकृत् । अथ तत्र संयोगश्चित्रो नावयविरूपम् । तदसत् । संयोगस्य गुणत्वान्न तत्र रूपग्रहणसमवायः । तथा सति गुणवदिति द्रव्यमेय भवेत् । एवञ्च विजातीयानारम्भादिति समयव्यतिक्रमः ।

अथोपचारेण संयोगस्य चित्रता । तदप्यसत् । एकार्थसमवायेन हि वनं कुसुममिति यथा बुद्धिस्तथेयमपि स्यात् । न चानयोः साम्यम् । वनं हि बहुत्वसङ्ख्याया तरुष्वसमवेता यत्र कुसुमितत्वन्तत एकार्थसमवाय इत्युक्तम् । नत्वत्र चित्रत्वमवयवेषु समवेतं यत्र संयोगः । यदाह—प्रत्येकमविचित्रत्वादिति ।

न खलु प्रत्येकं सूत्रादीनाञ्चित्रता येन तत्समवेतः संयोगोऽपि तथा भवेत् । अथ

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समन्वित मन प्रमाणसिद्ध भी नहीं । मनस्कार ही पूर्व विज्ञान के रूप में अर्थ-क्रियाकारी होता है । यदि मन में विषयान्तरावधान का वैगुण्य है तब युगपद् अनेक ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती । उस कल्पना में किसी लिङ्ग या हेतु का दर्शन नहीं होता । फलतः बुद्धि ही चित्र-एकता के आकार में व्यपदिष्ट होती है । संदंश में पतित वस्तु का ग्रहण जैसे एक रूप में देखा जाता है, वैसे ही बुद्धि का ही सकृदाभास चित्र एकता के रूप में होता है ॥३७५॥ अतः आलेख्य आदि में अनेक कारणों का सकृद् ग्रहण अभ्रान्त या सत्य है । ये जो कहा जाता है कि चित्र-पटादि स्थल पर तन्तुओं का संयोग चित्र होता है पटरूप अवयवी नहीं । वह कहना अत्यन्त असत् है, सिद्धान्त विरुद्ध है, क्योंकि तन्तुओं का संयोग गुण है । उस गुण में गुणान्तर का समवाय सम्भव नहीं, अन्यथा तन्तुसंयोग को द्रव्य ही मानना होगा तभी उसमें चित्र-रूप रह सकेगा । इस प्रकार संयोग-रूप गुण में चित्ररूपादि गुण की कल्पना सिद्धान्त-विरुद्ध है ।

तन्तुओं में चित्र-रूप का समवाय और तन्तु-संयोग का समवाय होने के कारण एकार्थसमवाय सम्बन्ध से तन्तु-संयोग में चित्रता का वैसे ही उपचार हो सकता है जैसे—'कुसुमितं वनं' में । ऐसा उपचार मानना भी सम्भव नहीं, क्योंकि दृष्टान्त और द्राष्टान्त का वैशम्य है । वन एक वृक्षों की बहु संख्या है जो वृक्षों में समवेत है । किन्तु तन्तु-संयोग रूप गुण में चित्र रूप का समवाय सम्भव नहीं । कुसुमितत्व जैसे वृक्षों में समवेत है, वैसे चित्रत्व प्रत्येक तन्तु में समवेत नहीं । वार्त्तिककार के शब्दों में यही कहा गया है—'प्रत्येकम् अविचित्रत्वात् ।' यदि प्रत्येक तन्तुओं में चित्रता होती, तब उनके संयोग में भी चित्रता का उपचार वैसे ही हो सकता था जैसे—अग्नि में गृहीत

नानार्थैका भवेत् तस्मात् सिद्धाऽतोऽप्यविकल्पिका ।
विकल्पयन्नप्येकार्थे यतोऽन्यदपि पश्यति ॥ २०७ ॥

प्रत्येक नीलादि का संकलित कलेवर यदि "चित्रं चित्रम्" के रूप में माना जाता है, तब एक बुद्धि के द्वारा अनेक विषयों का वैसे ही संकलन सिद्ध होता है, जैसे एक चंद्र में "द्वौ चंद्रौ"—ऐसी कल्पना बुद्धि ।। २०७ ।।

वार्तिकालङ्कारः

यथाग्नित्वं गृहीतमग्नौ तीक्ष्णतासाधर्म्यग्रहणोपपादिताऽग्निवासनाप्रबोधस्तस्य स्मरन्नध्यारोपयति माणवकेऽपि पावकताम् । तथा क्रमेण गृहीतान्नीलादीनन्यतरग्रहणसमये गृह्यमाणेऽध्यारोपयतीति चित्रप्रतीतिः । तदनुपपन्नम् । यतः—गृहीतेषु क्रमेणे चेति ।

तत्र हि तीक्ष्णतासादृश्यमध्यारोपनिमित्तमिह तु गृह्यमाणस्य नीलादेः कथमध्यारोपः । अथ प्रत्यासत्तिः । सा सकृद् ग्रहण एवोपपत्तिमती । क्रमग्रहणे तु न प्रत्यासत्तिग्रहणम् । तद्देशे ग्रहणादिति चेत् । तद्देशग्रहणेऽपि न पूर्वापरयोश्चित्रताग्रहः । अध्यारोपाद् भवतीति न युक्तम् । अस्यैव चिन्त्यत्वात् । अथ स्मर्यमाणं गृह्यमाणतया प्रत्यवभासते भेदाग्रहणात् । कथमन्यस्यान्यथा ग्रहः । स्मर्यमाणरूपताम्परित्यज्य प्रतिभासने ग्रहणमेव तत् । ततो न सङ्कलनम् । अथ ग्रहणरूपमेव सङ्कलनम् । तथा सति अनेकस्यैकया ग्रह एव प्रसक्तः । न चेष्यते । चक्षुर्व्यापारेण सकलस्य प्रतीत्युपलक्षणात् । तस्मादनर्थममीभिरनिबद्धकल्पनाकलङ्काङ्कितजडजनकल्पितैरित्याह—
चित्रैकत्वचिन्ता—

नानार्थिका भवेत् तस्मादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तीक्ष्णता को माणवक में देखकर अग्निर्माणवक का उपचार हो जाता है। किन्तु वैसा यहाँ संभव नहीं क्योंकि दृष्टान्त में तीक्ष्णता अग्नि और माणवक की सदृशता के अध्यारोप में कारण है। प्रकृत में गृह्यमाण नीलादि का चित्रता के रूप में ग्रहण क्योंकर होगा ? प्रत्यासत्ति सकृद्ग्रहण में होती है। प्रत्येक तन्तु में क्रमशः नील, पीतादि के ग्रहण में प्रत्यासत्ति नहीं। तन्तु-रूप देश का ग्रहण होने पर भी उनमें चित्रता का ग्रहण नहीं होता अध्यारोप से होता है ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि उसी का विचार प्रसक्त है। यदि कहा जाय कि स्मर्यमाण विवरण के रूप में अवभासित होती है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब यह प्रश्न उठता है—"कथं अन्यस्य अन्यथा ग्रहः।" स्मर्यमाण रूपता का परित्याग करके प्रतिभास मानने पर वह ग्रहण के रूप में ही रह जाता है, किन्तु नील, पीतादि का संकलन न हो सकने के कारण चित्रता का ग्रहण कैसे होगा ? यदि संकलन को ग्रहण रूप माना जाता है तब अनेक पदार्थों का एक बुद्धि के द्वारा ग्रहण यह सिद्ध होता है, किन्तु वैसा माना नहीं जाता। चक्षु व्यापार के द्वारा ही प्रतीति उपलक्षित होती है। फलतः इन अघटित कलनाकलङ्क की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

(१५) चित्र एकत्व विचार—

चित्र-प्रतिभास में नाना नीलादि की कल्पना के साथ-साथ युगपद अनेक विकल्प सम्भव नहीं। चित्र—इस प्रकार एकाकार की कल्पना अनिवार्य नहीं। फलतः सकृत् सकल नीलाद्याकार बुद्धि एक है, वही चित्र है। जैसे—आप एक चित्राकार

चित्रैकत्व-विचार—

चित्रावभासेष्वर्थेषु यद्येकत्वं न युज्यते ।
सैव तावत् कथं बुद्धिरेका चित्रावभासिनी ॥ २०८ ॥

यदि चित्रावभासिनी बुद्धि एक नहीं हो सकती, तब "एकोऽयं चित्रो मयूरः" ऐसी बुद्धि क्योंकर होगी ? जैसे चित्र होने पर भी बुद्धि एक है, वैसे ही कार्य द्रव्य एक है ॥ २०८ ॥

इदं वस्तुबलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥ २०९ ॥

यह तथ्य वस्तु के अव्यभिचारी हेतु के बल पर सिद्ध होता है, जैसा कि भगवान् बुद्ध कहते हैं कि जैसे-जैसे पदार्थों को भेदाभेद, एकत्वानेकत्व की कसौटी पर कसा जाता है, वैसे-वैसे वे बिखरते जाते हैं। उनकी एकात्मकता सिद्ध नहीं होती ॥ २०९ ॥

किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात् तस्यां मतावपि ।
यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ॥ २१० ॥

यदि बुद्धिगत चित्रता विषय में व्यवस्थापित की जाती है, तो नहीं कर सकते, क्योंकि एकाकार बुद्धि में ही चित्रता अनुपपन्न है। अचित्र द्रव्य में यदि अलीक चित्रता के प्रतिभास का कुछ लोग समर्थन करते हैं, तब उनको हटानेवाले हम कौन ? ॥ २१० ॥

वार्तिकालङ्कारः

चित्रप्रतिभासे हि नानानीलादिरूपे नीलमिदमिति विकल्पयन्नपि पर्यन्तवर्त्तिपीतादिकम्पश्यत्येव न च युगपदनेकविकल्पसम्भवः। चित्रमिति विकल्पते एवेति चेत्, न, नियमाभावात्। न ह्यवश्यञ्चित्रमित्येव पिकल्पितव्यम्। एकत्रापि विकल्पदर्शनात्। एवञ्च सकृत् सकलनीलाद्याकारा बुद्धिरेकैव चित्राकारा। तत्र चोद्यम्—चित्रावभासेष्वर्थेष्विति।

एतत् प्रतिपादयति—

यथैव बुद्धिर्भवता चित्राकारोपगम्यते। तथैव यदि बाह्योऽपि विभागस्तत्र किङ्कृतः।
वैश्वरूप्याद् धियां यत्र भावानां चित्ररूपता। तदारूढस्य रूपस्य किम्बुद्धेर्न भविष्यति ॥

तस्माद् बुद्धिदृष्टान्ते नानैकान्तिकमेतच्चित्रत्वादेवानेकमिति। तत्रेदमुच्यते—इदं वस्तुबलायातमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बुद्धि मानते हैं तब वाह्य चित्र व्यवहार किस आधार पर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बुद्धियाँ विश्व-रूप होती हैं, जहाँ भाव पदार्थों में चित्रता है, वहाँ बुद्धि में चित्रता क्यों न होगी। बुद्धि रूप दृष्टान्त में यह चित्रत्व अनैकान्तिक नहीं, वस्तु-स्थिति यह है कि जैसे-जैसे किसी एक इकाई पर विचार किया जाता है, वह बिखरती जाती है। आशय यह है कि एक होने पर भी बुद्धि को चित्र नहीं कहा जा सकता। विषयवस्तु के अनेकाकार होने से ही बुद्धि में चित्रता आती है। जितने नील पीतादि

वार्तिकालङ्कारः

यतः—किं स्यात् सा चित्रतैकस्यामिति ।

अयमर्थः । न खल्वेका सती बुद्धिरपि चित्रा । तत्राप्यनेकाकारत्वादनेकैकाकारलक्षणत्वाद् वस्तुनः । आकारबहुत्वेन नियमेन वस्तुनोऽपि ततस्तावत्य एव बुद्धयो यदि का क्षतिरुत्तरपक्षवादिनः । अथ नानात्वे बुद्धीनां प्रतिपरमाणु तावत्यो बुद्धय इति परमाणुग्रहणप्रसङ्गोऽनेकप्रतिपत्त्यप्रसङ्गश्च । परस्परमप्रतिपत्तेरभावात् । न खलु स्वसंविदितानान्नानात्वप्रतिपत्तिः । सन्तान्तरस्यापि प्रतिभासप्रसङ्गात् । नैतदस्ति । दृष्टत्वात् । न हि दृष्टोऽप्यनुपपन्नता नाम । न तर्हि स्वसंवेदनम्परस्परस्यापि वेदनात् । न स्वसंवेदनमन्तरेण वेदनासम्भवात् । एतच्च प्रतिपादयिष्यते । संवेदने तु परसंवेदनेन प्रयोजनमेव । कस्तर्हि बहुत्वम्प्रतिपद्यताम् । न कश्चित् । तद्व्यतिरेकेण प्रतिपत्तुरभावात् । तस्मात्—

नैकत्वन्नापि नानात्वम्बुद्धीनामुपपत्तिमत् । एकत्वे चित्रताऽभावोऽनेकत्वे सुतरामसत् ॥३७६॥

तस्माद् यथा यथा वस्तु चिन्त्यते तथा तथा विशीर्यत एवेति किमत्र कुर्मः । तस्मादाह—"विज्ञानं विज्ञानरूपतया शून्यमिति सकलधर्मशून्यतैव न्याय्या ।"

अथ प्रतिभासमानं कथमेकत्वानेकत्वविकल्पनादेव न भवति । विकल्पमानमपि तत् प्रतिभासत एव । मायामरीचिप्रभृतिप्रतिभासवदसत्त्वेऽपि न दोषः । तेषामप्यविद्यमानत्वे कथम्प्रतिभासः । प्रतिभासश्चेत् कथमविद्यमानता । अर्थक्रियाकारित्वाऽभावादेव । अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात् सत्त्वस्य न प्रतिभासमात्रेण सत्त्वव्यवहारः । केशादिप्रतिभासेऽप्यसत्त्वनिश्चयात् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विषय हैं, उनकी बुद्धियाँ भी उतनी ही हैं, ऐसा मानने में किसी प्रकार की क्षति उत्तर पक्षवादी को प्रतीति नहीं होती । यदि विषयभेद से बुद्धियों का भेद माना जाता है तब प्रत्येक परमाणु के भेद से उतनी ही बुद्धियाँ माननी होंगी । परस्पर प्रतिपत्ति का आभास होने पर अनेक ग्रहण मानने होंगे । बुद्धि की एकता और अनेकता की ग्रन्थी भी विचित्र है । स्वसंवेदन और परसंवेदन का संग्रह भी प्रशस्त हो सकता है । पर्याप्त विचार-विनिमय के पश्चात् यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि बुद्धि में न एकत्व उपपन्न होता है और न अनेकत्व । एकत्व पक्ष में जैसे चित्रता का अभाव है वैसे अनेकत्व पक्ष में भी ॥३७६॥ यही निचोड़ निकलता है कि जैसे-जैसे वस्तु का चिन्तन किया जाय वैसे-वैसे वह बिखरती जाती है । अतएव कहा गया है—"विज्ञानं ज्ञानरूपतया शून्यमिति" । "सकलधर्मशून्यतैव न्याय्या ।" अर्थात् विज्ञान का आकार स्वरूपतः शून्य है ।

शंका—प्रतिभासमान पदार्थ की सत्ता एकत्व-अनेकत्वादि के रूप में क्यों नहीं मानी जाती ? एकत्वादि की कल्पनाएं भी प्रतिभासित होती हैं । विकल्प्यमान भी सत् या विद्यमान होती है । यदि वह विद्यमान नहीं, तब प्रतिभासित कैसे होती है ?

समाधान—अर्थक्रियाकारी न होने के कारण प्रतिभासमान पदार्थ असत् माना जाता है, क्योंकि सत्त्व का लक्षण आरम्भ में किया जा चुका है—अर्थक्रियाकारित्व । गुञ्जापुञ्जारोपित अग्निदाह—पाकादि का जनक न होने के कारण सत् नहीं । फलतः प्रतिभासमान होने मात्र से विषय की सत्ता नहीं मानी जा सकती । तैमिरिक व्यक्ति को भासित होनेवाली केशग्रन्थि में असत्त्व सर्वमत-सिद्ध है ।

वार्तिकालङ्कारः

(१६) अर्थक्रिया—

ननु केयमर्थक्रिया। किम्प्रतिभासमानादपराऽथ तदेव। अपरा चेत्। तस्या अपि प्रतिभासमानरूपादपरार्थक्रियाऽभ्युपगम्यतेऽनवस्थानादप्रतिपत्तिः। सैव चेत्। सर्वप्रतिभासानां सत्त्वप्रसङ्गः, इति न मायादीनामसत्त्वम्। अत्रोच्यते—

कस्यचिद् व्यतिरिक्तैव कस्यचित् तद्विपर्ययात्।
स्वभाव एष भावानां विभागेन व्यवस्थितिः ॥३७७॥

न हि प्रतिभासमान इत्येव सर्वोऽर्थक्रिया। य एवार्थक्रियात्वेन प्रतिभाति स एवार्थक्रियास्वभावः। न चार्थक्रियास्वभावस्यासत्त्वमव्यतिरेकेण व्यतिरेकेण च सत्त्वव्यवस्थितेः। एवन्तर्हि न सर्वप्रतिभासानामसत्त्वं कस्यचिदर्थक्रियासम्बन्धात्। न। पराभ्युपगमेन प्रसङ्गकरणात्। अर्थक्रियया हि सत्त्वमभ्युपगच्छन्ति सत्त्ववादिनः। तत्प्रतिभासव्यतिरेकेणार्थक्रिया। न हि नीलादिस्वरूपादपरमर्थक्रियात्वमवभासते। यदेव यस्येष्टं सैवार्थक्रिया। एतदनवस्थितमेव कस्यचित् किञ्चिदेवेष्टम्। पीडानिवर्त्तनमाह्लादनं चार्थक्रियेति चेत्, न, पीडाह्लादयोरप्यनवस्थितत्वात्। भावनावशेन च सर्वस्योत्पत्तेः। भावनाया भावे चाभावादसत्त्वमेव परमार्थत इति व्यवस्था। यद्येवम्भावनाबलात् ज्ञानमेव तथा भूतन्न त्वसत्त्वम्। अविद्यावशादुत्पन्नत्वमेवासत्त्वम्। तथा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(१६) अर्थकिया—

शंका—यह अर्थक्रिया क्या है? क्या प्रतिभासमान पदार्थ से भिन्न कोई वस्तु अर्थक्रिया है? अथवा वही (प्रतिभासमान वस्तु)? यदि प्रतिभासमान पदार्थ से भिन्न अर्थक्रिया है, तब उसका प्रतिभास होता है? अथवा नहीं? यदि होता है, तब प्रतिभासमान से भिन्न-भिन्न अर्थक्रिया मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है। यदि वह अप्रतिभासमान है, तब उसकी प्रतिपत्ति (प्रतीति) क्योंकर होगी? यदि प्रतिभासमान पदार्थ ही सत् माना जाता है, तब मरुमरीचि आदि पदार्थ भी सत् हो जाते हैं, असत् नहीं।

समाधान—अर्थक्रिया किसी प्रतिभासमान पदार्थ से भिन्न और किसी अप्रतिभासमान से भिन्न होती है। पदार्थों का अपना स्वभाव भिन्न होता है। नियमतः किसी से भिन्न या अभिन्न नहीं होता ॥३७७॥ अर्थात् सभी अर्थक्रिया प्रतिभासमान होती हैं, ऐसा नियम नहीं, अपितु जो अर्थक्रियात्वेन प्रतिभासित होती है, उसे ही अर्थक्रिया कहते हैं। किसी से अव्यतिरिक्त हो जाने पर उसका असत्त्व या व्यतिरिक्त हो जाने पर सत्त्व व्यवस्थित नहीं होता। इस प्रकार सभी प्रतिभासमान पदार्थ असत्त्व नहीं होता, कोई अर्थक्रिया रूप भी होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा मानने पर पराभ्युपगम पदार्थ उपस्थित होता है, क्योंकि तत्त्ववादी अर्थक्रिया की सत्ता मानते हैं। प्रतिभासित होने वाली अर्थक्रिया प्रतिभास से भिन्न होती है। नीलादि स्वरूप से भिन्न कोई अर्थक्रिया पृथक् अवभासित नहीं होती, जो जिसको इष्ट है वही अर्थक्रिया है। किसी व्यक्ति को कोई पदार्थ ही इष्ट होता है यह भी अनवस्थित है।

पीड़ा-निवर्त्तक सुख अर्थक्रिया क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि पीड़ा और सुख ये भी व्यवस्थित नहीं। अपनी-अपनी भावना के अनुसार किसी से किसी को सुख या दुःख होता है। भावना के भाव पर सत्त्व और अभावपरक असत्त्व मानना ही

तस्मान्नार्थेषु न ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।
एकत्र प्रतिसिद्धत्वाद् बहुष्वपि न सम्भवः ॥ २११ ॥

स्थूलावभासता न बाह्य पदार्थों में बनती है और न आन्तरिक ज्ञान में, क्योंकि बाह्यपदार्थ अनेक परमाणुओं का समूह है एक-एक परमाणु में स्थूलता प्रतिसिद्ध है। तब बहुत परमाणुओं में स्थूलता कैसे सम्भव होगी ॥ २११ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भूतस्य स्थितरूपस्यासत्त्वात् । प्रतिभासमात्रेण त्वविचारितरमणीयेन भावात् संवृति-सत्यतैव । तथा हि—तस्मान्नार्थेषु न ज्ञान इति ।

अर्थेषु हि परमाणुष्ववयविषु च न स्थूलाभासः । स्थूलता हि, दिग्भागभिन्ना दिग्भागानाञ्च परापरपरिहारेण स्थानानैकत्वम् । अथ बहुषु स्थूलाभासता । तथा हि बहवः समानजातीयाः परमाणवोऽविच्छिन्नतया प्रतिभासमानाः स्थूलतया व्यपदिश्यन्ते । नैतदपि युक्तम् । बहव एव ते स्थूलतायाः प्रत्येकमभावात् । समुदायस्य भविष्यतीति चेत् । कोऽपरस्तेभ्यः समुदायः । एकघनश्च प्रतिभासः स्थूलव्यपदेशभाक् । न च परस्परविविक्तप्रतिभासे एकघनतास्त्यन्तरालस्यापि प्रतिभासनात् । अथ न प्रतिभाति न तर्हि ते प्रतिभासिताः स्युः । अथ परमाणुप्रलये तत्संयोगादन्य एवावयवी जायते । न तत्र परमाणवोऽवयवा वा केचन । यद्यन्य एवावयवी उत्पन्नस्तथा सति परमाणवोऽपि नश्यन्त्यवयवी चापर उत्पन्नो बीजादिवांकुरः । ततश्च संयोगसहायाः परमाण्वादयोऽवयविनं स्वसमवेतमारभन्त इति समवायिकारणत्वन्तन्त्वादीनान्न स्यात् । द्विष्ठत्वात् सम्बन्धस्य । इह बुद्धिश्च निरालम्बना भवेत् । सप्तम्यर्थस्याभावात् । तस्य वाऽनवयवस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सुखादि की पारमार्थिक व्यवस्था है। यदि ऐसा है तब भावना के बल पर ज्ञान को भी वैसा मानना होगा अर्थात् प्रतिभासमान वस्तु ज्ञानस्वरूप है, असत् नहीं। अविद्या के आधार पर उत्पन्नत्व ही असत् है, क्योंकि आविद्यिक पदार्थ की अवस्थित सत्ता नहीं होती। केवल प्रतिभासमान अविचारित रमणीय समृद्ध सत् ही होता है।

शंका—परमाणु आदि पदार्थों एवं घटादि अवयवी में स्थूलावभासता सम्भव नहीं, क्योंकि स्थूलता दिग्भावों के सान्तरण एवं निरन्तरण संयोगों की अनेकता का नाम है। फलतः स्थूलता एक वस्तु में नहीं बन सकती, अपितु बहुत पदार्थों में ही उपपन्न होती है। जैसे कि समान जाति अनेक परमाणु अविच्छिन्नरूपेण प्रतिभासमान स्थूल कहे जाते हैं।

निरास—स्थूलता बहुत परमाणुओं का धर्म है, ऐसा कहना उचित नहीं। क्योंकि प्रत्येक परमाणु में स्थूलता जब नहीं तब बहुत परमाणुओं में कहाँ से आ जायेगी ? समुदाय में स्थूलता बन जायेगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि परमाणुओं से भिन्न समुदाय नाम की कोई वस्तु नहीं होती। एकघनरूपेण प्रतिभासमान पदार्थों में स्थूलता का व्यपदेश होता है। किन्तु परमाणु परस्पर विविक्त रूप से प्रतिभासित होते हैं, एकघनता सम्भव नहीं। यदि परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न घटादि नाम का अवयवी परमाणुओं से पृथक् माना जाता है, तब समवायी कारण के रूप में तन्तुओं को नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि तन्तु परमाणु नहीं। संयोग द्विष्ठ होता है, प्रत्येक में नहीं। अतः अवयवी प्रत्येक तन्तु में न रहने के कारण तन्तुओं को उसका समवायी कारण नहीं माना जा सकेगा। यदि पट नाम का कोई अवयवी नहीं तब 'एकोऽयं

परिच्छेदोऽन्तरन्योऽयम्भागो बहिरिवस्थितः।
ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासो ह्युपप्लवः॥ २१२॥

सुखाद्यात्मक स्वप्रकाशविज्ञान योगाचार मत में एक है, उसका ही आकार बाह्य ग्राह्य के रूप में अवभासित होता है। ज्ञान जब एक है, तब उसके ग्राह्य और ग्राहक दो आकार क्योंकर होंगे। अतः अन्त और बाह्य देशों के सम्बन्ध से जो आकारद्वय प्रतीत होते हैं, वह उपप्लवमात्र है, आभासमात्र है॥ २१२॥

वार्तिकालङ्कारः

ग्रहणे परभागादिग्रहणप्रसङ्गः। परभागे च दृश्यमानेऽपरस्यापि दर्शनन्तस्याप्यवयवित्वात्। परभागस्येति सर्वः सर्वदर्शी भवेत्। अथ परभागो न दृश्यते। परभागस्यैवाभावात् परेण कथन्दृश्यते। अन्य एवासाविति चेत्, न तह्ययंसावयववती। न च स्थूलता। पर्यायेण तस्य दर्शनमिति चेत्, न, एकत्र पर्यायासम्भवात्। न च स एवासाविति शक्यम्प्रतिपत्तुम्। स्पृश्यतया दृश्यतया च प्रतीतेरवगतीति चेत्, न, प्रमाणाभावात्। परस्परस्वरूपपरिहारेण प्रतिपत्तौ कथमेकत्वम्। ग्रहणकृतोऽयम्परस्परविभागो ग्राह्यन्त्वेकमेव। सकलस्तर्हि भेदो विशीर्यते। द्वयमेव भवेत्। न च तद्व्यतिरेकेण तस्यापि प्रतिभासनमिति शून्याः सर्वधर्माः। न च यदेव दृश्यते तदेव स्पृश्यत इति प्रमाणमस्ति। तस्मान्नावयवी नावयवाः प्रतिभासगोचराः। प्रतिभास इत्येवास्तु। यदि तर्हि प्रतिभास एवायं स एव विज्ञानवादः प्रसक्तः। कथं सर्वधर्मशून्यता। अत्रोच्यते—परिच्छेदोऽन्तरन्योऽयमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्थूलः पटः' यह बुद्धि किसको विषय करेगी? इस प्रश्न का उत्तर बौद्धों के मत में निरालम्बता है। तन्तु स्थूल पर यहाँ सप्तमी का अर्थ कुछ भी नहीं। यदि कतिपय तन्तुओं के ग्रहण से समग्र अवयवी का ग्रहण माना जाता है तब वृक्षादि के परभाग का ग्रहण होना चाहिए। परभाग के दृश्यमान होने पर उसके भी परभाग का ग्रहण होना चाहिए। क्योंकि वह भी अवयवी है। इस प्रकार परापर भाव से व्यवस्थित विश्व का ग्रहण होना चाहिए। सभी में सर्वदर्शित प्रशस्त होता है। यदि परमाणु का कोई भार होता ही नहीं तब परमाणुओं को अवयव क्यों कहा जा सकेगा? स्थूलता फिर भी नहीं बनती, पर्यायेण अवयवों का दर्शन होने से स्थूलता प्रतीत होती है, ऐसा भी नहीं कह सकते। एक में पर्यायिता सम्भव नहीं। न्याय-दर्शन उक्त रीति से दृश्य और स्पृश्य पर की एकता पर क्यों अवयवी सिद्ध करता है, ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि इसमें किसी प्रकार का प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। यदि पट के घटकीरूप तन्तुओं का पृथक् ग्रहण माना जाता है तब एकता कैसे? यदि कहा जाय कि परस्पर विभाग ग्रहण प्रयुक्त है, ग्राह्य रूप पट एक ही है तब ग्रहण और ग्राह्य का समस्त भेद विस्तीर्ण हो जाता है। भेद के विना भेदी की भी प्रतीति नहीं हो सकती, तब माध्यमिक सिद्धान्त ही अपनाना होगा "शून्याः सर्वधर्माः"। ये जो कहा गया कि जो दिखाई देता है, उसीका स्पर्श होता है, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं। परिशेषतः न कोई अवयवी सिद्ध होता है और न कोई अवयव। केवल प्रतिभास मरुमरीचि के समान आभास मात्र अवशिष्ट रह जाता है यदि ऐसा है तब प्रतिभासमात्रता में विज्ञानवाद प्रशक्त होता है, सर्वधर्मशून्यता कैसे?

वार्तिकालङ्कारः

ज्ञानमपि यदीदं स्वसंवेदनं स्वस्वरूपपर्यवसानात् भेदावभासिता न युक्ता। न हि स्वसंवेदने परसंवेदनम्। ततो न भेदप्रतिभासः। अथ परस्परेणैव संवेदनन्तेन भेदः। तत्रापि—

प्रत्येकम्प्रतिपत्तौ स्यात् संतानान्तरवत् प्रमा।
तथा मया परिच्छिन्नमिति नास्त्यस्ववेदने ॥३७८॥

यदि ते वेदने स्वञ्च परञ्च वित्तः स्वपरवेदने। द्वयं स्वसंवेदनमायातम्। न हि स्वरूपसंवित्परसंविदमाविशति। अथ स्वसंवेदनन्नास्ति। परस्यैव संवेदनम्परस्पराभ्याम्। तथा सति देवदत्तयज्ञदत्तपरिच्छिन्नमिव न द्वयमिति वेद्येत। मया विदितमेतदिति च न स्यात् कर्त्तुरस्वसंवेदनत्वेनावभासनात्। ततश्च ते एव स्वसंवेदने स्याताम्। तथा च सन्तानान्तरप्रतिपन्नवदप्रतिपत्तिर्द्वयोः। अत एवात्मा द्वयोः प्रतिपत्तेष्यतेऽन्यथायम्प्रसङ्ग इति परः। अत्रोच्यते—

स्वसंवेदनेतरत्वे पूर्वन्यायानतिक्रमात्। सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवानेन विमुच्यते ॥ ३७९ ॥

यदि संवेदनरूप आत्मा तस्य तस्य स्वात्मनि निमग्नत्वान्न परसंवेदनम्। परस्यापि वेदने को विरोध इति चेत्। तेन रूपेण परं वेत्ति परेण वेत्ति विकल्पयोरेकत्र स्यातव्यम्। स्वरूपेण वेत्तीति न युक्तम्। स्वरूपस्य स्वात्मनि व्यवस्थानात्। स्वरूपे

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इस प्रश्न का उत्तर है—ज्ञान के दो आकार होते हैं, ग्राह्याकार ग्राहकाकार। ग्राह्याकार आन्तरिक परिच्छेद है। ग्राहकाकार विज्ञान का स्वरूप है उससे भिन्न नहीं, पर ग्राह्याकार प्रतिभास मात्र है। अतः ज्ञान से भिन्न वस्तु का अवभास मात्र है, इसीलिए भेदत्वभास सङ्गत नहीं। स्वसंवेद में पर से वेदन का अवभास नहीं हो सकता। इसलिए भी भेदप्रतिभास उचित नहीं। यदि ग्राह्य और ग्राहक आकार में परस्पर ग्राह्य-ग्राहक मानकर भेद का समर्थन किया जाता है तो वह भी नहीं कह सकते। प्रत्येक की प्रतिपत्ति अलग होने पर सन्तानान्तर के समान प्रमाण की व्यवस्था हो सकती थी "किन्तु तथा मया परिच्छिन्नं" इस प्रकार के स्वयम्प्रकाशता परवेदन में संभव नहीं। यदि दो ज्ञान स्वकीय और परकीय के रूप में माने जाते हैं तब तो स्वसंवेदन प्राप्त होते हैं। क्योंकि स्वरूपसंवेदन परवेदन में अभीष्ट नहीं हो सकता, यदि परसंवेदन-परम्परा की अपेक्षा स्वसंवेदन है ही नहीं, तब देवदत्त और यज्ञदत्त के समान दो परिच्छेदों का अनुभव नहीं हो सकता। तब प्रत्येक 'मयाभिधितं' ऐसा अनुभव नहीं कर सकेगा। क्योंकि कर्ता अस्वसंवेदन होने के कारण अवभासित नहीं हो सकता, अतः दो ज्ञान स्वसंवेदन रूप मानने होंगे, तब सन्तानान्तर दोनों की अप्रतिपत्ति प्रसक्त होती है। अतएव दोनों प्रतिपत्ति का प्रतिपत्ता आत्मा (स्वरूप) माना जाता है। अन्यथा अनवस्थादि प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं। इस पर कहा जाता है कि स्वसंवेदन और परसंवेदन भिन्न होने पर पूर्वन्याय के अनुसार अन्योन्याश्रयता प्रसक्त होती है ॥ ३७९ ॥ यदि स्वसंवेदरूपी ही ज्ञान का स्वरूप है, परसंवेदन स्वात्मसंवेदन में विलीन हो जाता है। यदि वेदन को वेद्य से पर माना जाता है तो क्या विरोध! तब प्रश्न उठता है कि उसी रूप से क्या पर का संवेदन करता है अथवा पररूप से, इन दो विकल्पों का एक पक्ष में पर्यवसान मानना होग। उनमें स्वरूपेण वेत्ति ऐसा कहना उचित नहीं। क्योंकि स्वरूप स्वात्मा में व्यवस्थित स्वरूप

तत्रैकस्याप्यभावेन द्वयमप्यवहीयते ।
तस्मात्तदेव तस्यापि तत्त्वं या द्वयशून्यता ॥ २१३ ॥

एक ज्ञान में दो विरुद्ध आकार नहीं रह सकते, अतः दोनों में से किसी एक ग्राहकत्व या ग्राह्यत्व का अवश्य अभाव मानना होगा। अन्योन्यसापेक्ष पदार्थों में एक का अभाव होने पर दूसरे का भी अभाव मानना पड़ता है। अतः ज्ञान में ग्राह्य और ग्राहक दोनों आकारों की शून्यता अवसित होती है ॥ २१३ ॥

तद्भेदाश्रयिणी चेयं भावानां भेदसंस्थितिः ।
तदुपप्लवभावे च तेषां भेदोऽप्युपप्लवः ॥ २१४ ॥

रूपादि पदार्थों की भेदसंस्थिति ग्राह्य-ग्राहकभेद पर टिकी हुई है। भेदव्यवस्था का आश्रयीभूत आकारद्वय मिथ्या होने से रूपादि का भेद भी उपप्लवमात्र होता है ॥ २१४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

निविष्टं यद् रूपं स्वाभिमुखमेव तत्कथम्परं वेत्ति। अन्यमुखञ्चेत्। तेन तर्हि स्वात्मा न प्रतीयते। ततः सन्तानान्तरवेदनवन्न द्वयं प्रतीतिः। यस्य तदस्ति मुख्यद्वयं स एक इति चेत्। द्वयमेतदिति कः प्रतिपत्तिमान्। स एवेति चेत्। पुनराभिमुख्यद्वयेन प्रयोजनमित्यनवस्था। ततः स्वसंवेदनरूपं त्रयम्। ततस्तद्वेदनेऽपर आत्मोपगन्तव्यः। पुनरपर इति महत्यनर्थपरम्परा। ततो वेदनादेकमेव संवेदनमतो "ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभास उपप्लव" इति ज्ञानमपि स्वरूपेणाप्रतिपन्नमसदेवेति शून्यतैवावशिष्यते। यतः—तत्रैकस्याप्यभावेनेति।

स्यादेतद्। एकस्य परित्यागे ज्ञानमात्रम्भविष्यति। प्रतिभासमानपरित्यागे द्वयमपि तथा न वा किञ्चिदित्येकान्त एषः। अस्तु द्वयमपीति चेत्, न, उक्तोत्तरत्वात्। न स्वसंवेदनम्परसंवेदनमिति प्रतिपादनात्। तस्माच्छून्यतैव ज्यायसीति युक्तम्।

इदानीं माध्यमिक-योगाचारबाह्यार्थवादिनयेन च शून्यतार्थम्प्रतिपादयति। रूपं वेदना संज्ञा संस्कारो विज्ञानमित्यादिभावानां व्यवस्था सा। तथा हि—तद्भेदाश्रयणी चेयमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में जो रूप स्वाभिमुख है उसको पर क्योंकर कहा जा सकेगा। यदि परमुख है तब पर के द्वारा पर की प्रतीति स्वात्मना क्योंकर हो सकेगी। परिशेषतः सन्तानान्तर वेदन के समान दोनों की प्रतीति नहीं हो सकेगी ? यदि कहा जाय जिसके आकारद्वय हैं वह एक है तब "द्वयमेतद् इति" ऐसा कौन संयोग। यदि वही संशय करे तब अनवस्था प्रसक्त होती है। अतः स्वसंवेदनात्मक तीन रूप मानने होंगे। उन तीनों का संवेदन परात्मक मानना होगा। पर-पर की यह महत् अनर्थ परम्परा उचित नहीं। अतः वेदना के आवेदक तत्त्व को ही संवेदन मानना होगा। वह वेदक अवेदी है एक है। अतः भेदप्रतिभास उपप्लव अध्यास मात्र है। ज्ञान भी स्वरूपतः अप्रतिपन्न असद् ही है। दोनों में से प्रत्येक का अभाव हो जाने के बाद द्वयशून्यता पर्यवसित होती है।

अब माध्यमिक योगाचार की बाह्यार्थवादिता के अनुरूप शून्यता तत्त्व का

न ग्राह्यग्राहकाकारबाह्यमस्ति च लक्षणम् ।

अतो लक्षणशून्यत्वान्निःस्वभावाः प्रकाशिताः २१५ ॥

ज्ञान के ग्राह्य और ग्राहक दोनों आकार आभास मात्र हैं। इनसे भिन्न ग्राह्य और ग्राहक का और कोई लक्षण सम्भव नहीं है। अतएव ग्राह्य और ग्राहक निःस्वभाव हैं। भगवान् बुद्ध ने भी कहा है—निःस्वभावः सर्वधर्मप्रकाशितः॥ २१५॥

व्यापारोपाधिकं सर्वं स्कन्धादीनां विशेषतः ।

लक्षणं स च तत्त्वं न तेनाप्येते विलक्षणाः ॥ २१६ ॥

बाह्यार्थ को मानने पर भी उनके जो लक्षण स्कन्ध धातु आयतन रूप लक्षण किया जाता है, उनका लक्षण सम्मोहनादि व्यापार उपाधिक होता है। व्यापारोपाधिकलक्षण न घटने के कारण स्कन्धादि सभी पदार्थ निःस्वभाव माने जाते हैं॥ २१६॥

यथा स्वप्नप्रत्ययापेक्षादविद्योपप्लुतात्मनाम् ।

विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते तिमिरादिवत् ॥ २१७ ॥

बाह्यशब्दादि के तात्त्विक न होने पर भी उसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने क्यों किया इस प्रश्न का उत्तर है कि आविद्धिक पुरुषों की दृष्टि में आकाशादि की सत्ता बनी हुई है, उसका अनुवाद करना आवश्यक था। अनुवाद के विना आविद्धिक पुरुषों की धारणा में अन्तर आता है। उनका यथावत् अनुवाद करके प्रतिषेध मात्र की वस्तुस्थिति उपस्थित की गई है॥ २१७॥

वार्तिकालङ्कारः

विजानातीति विज्ञानमिति। ततः—न ग्राह्यग्राहकाकारबाह्यमिति।

ननु बाह्यपदार्थरूपादिदेशना भगवतस्तदन्या च कथमिति वक्तव्यमित्याह—यथा स्वप्नप्रत्ययापेक्षादिति।

ननु यदि परमार्थतः सकलमेव शून्यम्। भगवाँश्च तत्त्वदर्शी। तत्कथम्बाह्यपदार्थदेशना भगवतः। न हि तत्त्वदर्श्यतत्त्वन्देशयति। देशने वा कथन्तत्त्वदर्शीति गम्यते। अत्रोच्यते—न बाह्यार्थविधानार्थम्भगवतो बाह्यदेशना। अपि त्वनुवादार्थम्। आत्मनिषेधस्य तदनुवादेन विवक्षितत्वात्। अनुवादोऽपि कथं शून्यतार्दशिनस्तदप्रतिभास-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिपादन किया जाता है। अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इत्यादि पञ्चस्कन्धों की व्यवस्था की जाती है। विज्ञान का अर्थ है विज्ञानातीत विज्ञानम्।

प्रश्न—भगवान् बुद्ध ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच रूपों में बाह्यार्थ का निरूपण किया है वह कैसे संगत होगा! अर्थात् यदि परमार्थतः सकल वस्तु शून्यात्मक है, और भगवान् तत्त्वदर्शी हैं। तब भगवान् ने बाह्य पदार्थों का उपदेश क्यों किया? क्योंकि तत्त्वदर्शी कभी अतत्त्व का उपदेश नहीं करता। यदि करता है तब उसके दर्शन को तत्त्वदर्शन क्योंकर कहा जा सकेगा।

उत्तर—भगवान् ने बाह्यपदार्थविधान के लिए बाह्यपदार्थ विधान नहीं किया, अपितु वह अनुवादमात्र है, किसी वस्तु का निषेध करने के लिए उसका अनुवाद करना

असंविदितत्त्वाच्च सा सर्वापरदर्शनैः ।

असम्भवाद् विना तेषां ग्राह्यग्राहकविप्लवैः ॥ २१८ ॥

स्कन्धादि की देशना लोकबुद्ध्यनुरोध पर दिखाकर आभासमात्रता की व्यवस्था मुमुक्षु गणों को वैसे ही की जाती है। जैसे तत्त्वदर्शी आचार्य केशुण्डुकादि प्रतिभास को देखकर भी उपेक्षा कर देता है ॥ २१८ ॥

तदुपेक्षिततत्त्वार्थैः कृत्वा गजनिमीलनम् ।

केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते ॥ २१९ ॥

'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि निषेधों के लिए भी बाह्य किञ्चन पदार्थ अनुवाद करके निस्तत्वभाव से उसकी वैसे ही उपेक्षा तत्त्वज्ञ किया करता है—जैसे गजनिमीलन ॥ २१९ ॥

नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् ।

अशक्यदर्शनः तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ॥ २२० ॥

बाह्यवस्तुओं की चित्र-एकता का निषेध चित्र-ज्ञानवाद की स्थापना है। ज्ञान में भी चित्रैकता की असमञ्जसता बाह्यविषय के समान दिखाकर विज्ञानवाद का एक रहस्य उद्घाटन किया गया है ॥ २२० ॥

वार्तिकालङ्कारः

नात्। न। लोकबुद्ध्यैवानुवादसम्भवात्। लोकस्य च तथा बुद्धिरनाद्यविद्याभ्यासात्।

ननु यदि लोकबुद्धिर्भगवतः कथन्तत्त्वदर्शिता। न। पूर्वविधेन देशनासम्भवात्। चक्रभ्रमणवत्। तस्मादनेकाकारदेशनावताराय लोकस्य विरुध्यते।

एवन्तावद् बुद्धेः शून्यतामभ्युपगम्यानैकान्तिकपरिहारः कृतः। इदानीञ्चित्रत्वमभ्युपगम्य परिहरति। चित्राभासापि बुद्धिरेकैव बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्। शक्यविवेचनञ्चित्रमनेकमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलादयः। यतः—नीलादिश्चित्रविज्ञान इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ही पड़ता है। जब शून्यवादी को बाह्यार्थ का प्रतिभास ही नहीं, तब वह उनका अनुवाद कैसे करेगा ? इसका उत्तर है—लोकबुद्धि के अनुरूप अनुवाद किया गया है, अर्थात् साधारण पुरुषों की अनादि अविद्या के आधार पर जैसी बुद्धि होती है उसके अनुरूप अनुवाद सम्भव है।

शंका—यदि भगवान् बुद्ध ने लौकिक बुद्धि के अनुनय पर अपरमार्थ का उपदेश दिया तब उन्हें तत्त्वदर्शी कौन कहेगा, इसका उत्तर यह है कि पूर्वसंस्कारों के आधार पर आरोपित देशना सम्भव है। जैसे कुलाल चक्र पर से अपना दण्ड हटाता है फिर भी वह अपने पूर्व भ्रम के आधार पर कुछ समय घूमता है, इसी प्रकार तत्त्वदर्शी आचार्य पूर्वसंस्कारों के आधार पर आरोपित पदार्थों का उपदेश कर सकता है विरुद्ध नहीं।

समाधान—इस प्रकार बुद्धि की शून्यता को मानकर अनैकान्तिकता का परिहार किया है। अब विषयगत प्रतीयमान चित्रता को बुद्धि न मानकर परिहार किया जाता है। चित्रावभासा बुद्धि एक है, क्योंकि बाह्यचित्र की अपेक्षा से विलक्षण है।

यद् यथा भासते ज्ञानं तत् तथैव प्रकाशते।
इति नामैकभावः स्याच्चित्राकारस्य चेतसि ॥ २२१ ॥

जो ज्ञान जिस आकार का होता है वैसा ही वह प्रकाशित होता है। चित्राऽद्वैतात्मक सदा स्वयंभास (स्वयं प्रकाश) है ॥ २२१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

चित्रविज्ञानात्मभूतो यो नीलादिः केवलोऽशक्यदर्शनस्ततो विवेचयितुमशक्यत्वादेकतैव बुद्धेश्चित्रायामपि। यदि तर्हि चित्रमप्येकं शब्दादिप्रतिभासस्याप्येकः स्यात्। भवतु यदि विवेचयितुन्न शक्यः। अथ कर्णौ पिधायापि रूपादिकमुपलभ्यते। ततः केवलग्रहणादनेकता। तदप्यसत्। न ज्ञानस्य विवेचनम्। तदा पूर्वप्रतिभासस्याभावात्। अप्रतिभासनात्। अप्रतिभासमानः शब्द आस्ते ततो भेद इति चेत्, नासौ तदा ज्ञानपरोक्षत्वात्। एवं हि विवेचयन्नर्थ एव पतेदसंविदितत्वादर्थस्य।

अथ पूर्वकविज्ञानाकारात् सहप्रतिभासमानादिदानीं केवलः प्रतिभासमानोऽन्य इति विवेचनम्। तदप्यसत्। न हि पूर्वतायां ज्ञानम्प्रत्यक्षम्प्रवर्त्ततेऽपि तु। तथा हि—यद् यथा भासत इति।

इति नाम स्यात्। न त्वनुभूतमासीदिति भवति। न हि स्वसंवेदनप्रत्यक्षम्परोक्षे प्रवर्त्तते। परोक्षस्यास्वसंवेदनात्।

अथ स्मृत्वा ज्ञायते। न युक्तमेतत्। स्मृतेरप्रमाणत्वात्। अथानुभवादुत्पत्तिमती स्मृतिः प्रमाणमेव नानुभवात् स्मृतिरुदयवतीति किञ्चिदत्र प्रमाणमनुभवकाले स्मृतेर-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बाह्यचित्र अनेक रूपों में विभक्त और सामूहिक कल्पित अवयवी में चित्रता दिखाई जा सकती है। अर्थात् चित्र विज्ञानस्वरूप नीलादि पदार्थ वह केवल दर्शन के विषय नहीं हो सकते। अवयवी के अवयवों का विश्लेषण सुकर नहीं। अतः एकता ही विचित्र बुद्धि में माननी पड़ती है। यदि बुद्धि का विश्लेषण न हो सकने के कारण उसमें चित्रैकता माननी पड़ती है, तब बाह्य पदार्थ भी वैसा क्यों न मान सकते। इसका उत्तर यह है कि चित्रपटादि में भी एकता तब मानी जा सकती है यदि पट के अवयवभूत नीलपीतादि तन्तुओं का विश्लेषण न किया जा सके, किन्तु वैसा नहीं। तन्तुओं का विश्लेषण करने पर विविधरूपों का दर्शन हो जाता है। केवल एक तन्तु में चित्रता व्यभिचरित है। इस पर यह कहा जा सकता है कि ज्ञान का विश्लेषण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें पूर्व प्रतिभास का अभाव है। ज्ञानरूप शब्द में अवभासित चित्रता आरोपित है। ऐसा नहीं कह सकते, ज्ञान परोक्ष है। ऐसा विश्लेषण अर्थ में ही सम्भव है क्योंकि अर्थ या विषय विदित या अविदित होता है, जब कि ज्ञान सदा विदित। यदि ज्ञान का विश्लेषण इस प्रकार किया जाता है कि पूर्व विज्ञान आकार की अपेक्षा सह प्रतिभासमान है और अब वह केवल प्रतिभासमान है, अतः अन्य है तो वैसा भी नहीं कह सकते। पूर्व विज्ञान की प्रत्यक्षता सम्भव नहीं। ज्ञान सदैव अनुभूयमान है, अनुभूत नहीं। स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष कभी परोक्ष नहीं हो सकता। परोक्ष स्वलक्षणविषयक न होकर सामान्य लक्षणविषयक होता है।

प्रत्येक तन्तु के नीलत्वादि का स्मरण करके पूरे पट में चित्रता की स्थापना नहीं की जा सकती, क्योंकि स्मृति कोई प्रमाण ज्ञान नहीं है। यदि कहा जाय कि

वार्तिकालङ्कारः

भावात्। न चास्य स्मृतिरहमनुभवादुत्पन्नेति जानाति। अनुभवस्य तयाऽदर्शनात्। अनुभवानुभवे वा न स्मृतिर्भवेत्। अनुभव एव तदा स्यात्। तस्मादशक्यविवेचनश्चित्रमेकमिति न दोषः। बाह्यस्यापि तर्ह्यशक्यविवेचनत्वादेकतेति चेत्, न, तदैव परेणैकस्य दर्शनात्।

अथ परेण यद् दृश्यते तदन्यदेव सुतरां तर्हि विवेकः। स्वदृष्टमेवैकमिति चेत्, न, स्वसंवेदनप्रतिभासाज्ज्ञानमेव तत्। तथा हि—इति नामैकभावः स्यादिति।

न हि ज्ञानत्वमप्रत्याख्याय विवेचनमस्ति। तस्माद् ग्राह्यग्राहकनीलाद्याकारा चित्रा बुद्धिरेकैवेति चित्राद्वैतमेव। न वा तच्चित्रमचित्राद् भेदेन व्यवस्थापनासम्भवात्। तस्मात् संवेदनमेव केवलमद्वैतमपरस्याभावादिति स्थितम्। एवन्तर्हि भावाभावाभ्यां विवेकसम्भवात् कथमद्वैतम्। तथा हि—

न भेदोऽस्ति ततोऽभावाद् भिन्नोऽभेदो व्यवस्थितः।
अभावाप्रतिपत्तौ तु भेद्यस्याद्वैतता कुतः ॥३८०॥

यदि भेदो नास्ति भेदादन्योऽभेद एवास्तीति प्रतीयते। तथा सत्यभावमप्रतिपद्यमानो भावश्च भावाभावयोर्द्वैतमेव प्रतिपद्यते तत्कथमद्वैतम्। तथा हि—

स्तम्भोऽत्र कुम्भे नास्तीति प्रतिषेधन्न नास्तिताम्।
विनाभेदस्य संवित्तिरायाता नान्तरीयिका ॥ ३८१ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्मृति अनुभव से उत्पन्न होती है, अनुभवरूप प्रमाण से उत्पन्न होने से स्मृति प्रमाण है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुभवरूप प्रमाण के समय स्मृति का अभाव होगा। दूसरी बात यह भी है कि स्मृति नियमतः अनुभव से ही नहीं स्मृति से भी हो जाती है। अनुभव से अनुभव की उत्पत्ति मानने पर स्मृति को कोई अवसर नहीं मिलता। अनुभव की धारा-प्रवाहिता में अनुभव ही होना चाहिए। अतः अनेक तन्तुओं के समूह में चित्रता का सम्पादन सम्भव नहीं। अपितु ज्ञान को ही एक और चित्राकार मानना होगा। आन्तरिक ज्ञान के समान बाह्यपदार्थ को भी चित्र और एक क्यों नहीं मान सकते? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक तन्तु में नीलपीतादि अलग रूप देखने में आते हैं। अतः तन्तु-समूह में चित्र-एकता सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्येक तन्तु में चित्रता नहीं, अपितु एक-एक रूप का दर्शन होता है। यदि कहा जाय पर व्यक्ति के द्वारा जो देखा जाता है, वह अनेक होने पर भी स्वदृष्ट वस्तु एक है। तब स्वसंवेदन में प्रतिभासित होने के कारण ज्ञान को ही चित्रएकता मानना उचित होगा। ज्ञानत्व का प्रत्याख्यान करके विवेचन भी संभव नहीं है, अतः ग्राह्यग्राहक नीलादि आकार चित्राद्वैत एक ही है। चित्राद्वैतवाद ही पर्यवसित होता है। 'अचित्रभिन्नत्वेन' चित्रैकता की व्यवस्था तमाम संभव है। फलतः केवल संवेदन ही चित्राद्वैत पर व्यवस्थित रहता है। यदि ऐसा है तो भावाभाव के रूप में विवेक संभव होने के कारण अद्वैत तत्त्व कैसे व्यवस्थित होगा? इसका उत्तर यह है कि भेद की सत्ता पृथक् नहीं सिद्ध होती, अभेद भिन्न होता है, अभाव की प्रतिपत्ति न होने के कारण भेद्य पदार्थ में अभेद्यता क्योंकर रहेगी ॥३८०॥ यदि भेद नहीं है, तब भेद से भिन्न अभेद ही है, ऐसी प्रतीति होगी। यदि विषय और विषयी (ज्ञान) के अभेद का अभाव है, तब दोनों की अद्वैतरूपता कैसे सिद्ध होगी? अर्थात् "अत्र कुम्भे स्तम्भो नास्ति"—इस प्रकार प्रति-

वार्त्तिकालङ्कारः

प्रतिषेधो हि भेदेनान्तरीयक एव सकलस्तत्र प्रतिषेधम्प्रत्येति । प्रतिषेधाप्रतिपत्तौ तु यथाभूताभ्यनुज्ञानान्न किञ्चित् प्रतिपादितं स्यात् । परञ्च प्रतिपादयता परोऽभ्युपगन्तव्य इति कथमद्वैतम् । न ह्यात्मानमेव कश्चित् प्रतिपादयति ।

अथ परन्न कश्चित् प्रतिपादयेत् तथा सत्यात्मन एव व्यामोहः कथमद्वैतप्रतिपादनम् । व्यामोहे वा निवर्त्तमाने पररूपस्योत्पत्तेरद्वैताभावः । कथञ्च पूर्वापरप्रतिपत्तिरिति सर्वमसमञ्जसम् । अत्रोच्यते—

भेदो नाम न दृश्योऽयं येनैवम्प्रतिपादितम् । भावाभावादिकल्पोऽयन्तम्प्रति स्यान्न सङ्गतः ॥३८२॥

न तावत् पूर्वापरयोरयम्भेदः प्रतिभासवान् । प्रत्यक्षस्य पूर्वापरयोरवृत्तेः । यदि पूर्वम्प्रत्यक्षे तदैव प्रतिभासेत । वर्त्तमानतैव तस्य स्यात् । द्वितीयवदेतदेव तस्य वर्त्तमानत्वं यत्प्रत्यक्षे साक्षात्करणरूपे प्रतिभासः ।

अथ योगिनां साक्षात्करणेन प्रतिभासमानमपि कथमतीतादिकम् । अथ नैत्युच्यते । कथमतीतादि वेदनम् । तदसत् ।

इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपलभ्यते । तामवस्थाङ्गतानान्तु न विद्मः किम्भविष्यति ॥३८३॥

यत्र हि दृश्यमानाभिमतस्यापि प्रतिषेधस्तत्रानागते क इवादरः । इहापि सत्य-

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

षेध करने पर अभेद-रहित संवेदन (नान्तरीयक) स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥३८१॥ प्रतिषेध पदार्थ भेद से नान्तरीयक (अविनाभूत या व्याप्त) होता है । प्रतिषेध की प्रतिपत्ति न होने पर वस्तु यथावत् अभ्यनुज्ञात होती है, भिन्न किसी विशेष अर्थ का प्रतिभान नहीं होता । प्रतिपादित पदार्थ का अभ्युपगम आवश्यक होता है, अतः ज्ञान और ज्ञेय का अद्वैतत्व (अभेद) क्योंकर होगा ? भेद का प्रतिपादन प्रतियोगी का साधक नहीं होता ।

शंका—यदि कोई व्यक्ति परवादी के लिए कुछ प्रतिपादन नहीं करता तब ये उसी वादी का व्यामोह माना जाता है । ऐसा वादी अद्वैत का प्रतिपादन कैसे कर सकेगा ? एवं व्यामोह की निवृत्ति हो जाने पर पररूप (द्वैत) की प्रतीति हो जाने पर अद्वैत का अभाव आ जाता है । ऐसा परस्पर विरुद्ध पूर्व-उत्तर भाव के प्रतिपादन से असमञ्जसता उत्पन्न हो जाती है ।

समाधान—द्वैत रूपता या भेद कोई दृश्य पदार्थ नहीं जिसके लिए ऐसा कहा जाता 'भावाऽभावादि' किस मत से है, उसके लिए संगति नहीं ॥३८२॥ अर्थात् यहाँ पूर्वापर का अभेद प्रतिभासित नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान क्षणिक है, पूर्वापर दोनों क्षणों में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । यदि पूर्व ज्ञान प्रत्यक्ष है, तब उसी काल में उसका प्रतिभान होगा, अर्थात् उसकी वर्तमानता ही माननी होगी । द्वितीय वेदन की प्रत्यक्षता मानने पर उसी की वर्तमानता माननी होगी, जिसका प्रत्यक्ष में साक्षात्करण रूप प्रतिभास होता है ।

यदि साक्षात्करण में वर्तमानता ही रहती है, तब योगी और सर्वज्ञादि के ज्ञानों में अतीतत्वादि का भान क्योंकर होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री कुमारिल भट्ट ने सर्वज्ञ का निराकरण यह कह कर कर डाला है—"इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपलभ्यते । तामवस्थाङ्गतानान्तु न विद्मः किम्भविष्यति ॥ ३८३ ॥" (श्लो. वा. पृ. २३९) । अर्थात् इस जन्म में किसी की सर्वज्ञता उपलब्ध होती नहीं । अवस्थान्तर को प्राप्त

वार्तिकालङ्कारः

स्वप्नदर्शिनोऽतीतादिकं विदन्त्येव। नोत्थितानामनुपलम्भावस्थायान्तथा व्यवहारात्। तस्मान्नातीतम्प्रत्यक्षेण गृह्यते नागतम्। ततः कथन्ततो भेदप्रतिपत्तिः। स्मरणमेवातीते तदप्यप्रमाणम्।

अथानुमानेन दृढतादिप्रतिपत्तेः कारणस्य ततो भेदं प्रत्येष्यति। तदप्यसत्। यतः—

अनुमानं हि व्यर्थनं तेन सम्बन्धवित्तितः। कारणस्य दृढत्वस्य न चाध्यक्षेण वेदनम् ॥ ३८४॥

यदि भाव्यर्थेन दृढतायाः कारणस्य च सम्बन्धग्रहणन्तदानुमानं युक्तम्। प्रतिबद्धात् परोक्षार्थप्रतीतिरनुमानमित्यनुमानवादिनः। अथ प्रतिबन्धग्रहणमन्तरेणैवानुमानन्दृष्टत्वादिति चेत्। अतिप्रसङ्ग एव तर्हि प्रसक्तः। अदृष्टत्वादेव न भविष्यति। न हि दृष्टमितरच्च शक्यमेकीकर्त्तुम्। यदि दृष्टत्वात् परिहारं वदेत्। दृष्टत्वमनुमानेन प्रत्यक्षेण वेति चिन्त्यम्। यद्यनुमानेन, तदेवानुमानश्चिन्त्यते कथन्तेन। अथ प्रत्यक्षेण, तदेतदसत्। न हि प्रत्यक्षेणानुमानं शक्यन्द्रष्टुम्। तस्य परोक्षविषयत्वात्। परोक्षे च प्रत्यक्षस्यावृत्तेः कथम्परोक्षविषयतयानुमानस्य स्वीकारः। न हि परोक्षमविषयीकुर्वता तद्विशेषणमनुमानं शक्यम्प्रतिपत्तुम्।

अथ तद्विषयतया न गृह्यते। तथा सति तदनुमानन्न दृष्टमेव। कथन्दृष्टत्वादिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हो जाने पर क्या हो जायेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अर्थात् ऐसा भी एक क्षण आ सकता है जहाँ पर दृश्यमान सकल पदार्थ का प्रक्षेप हो जायेगा, ऐसा विश्वास नहीं होता। इस जन्म में भी सत्य स्वप्न को देखकर अतीतादि का ज्ञान हो जाता है, किन्तु वस्तुस्थिति उसके विपरीत है। उत्थित या जागरण अवस्था में अतीतत्वादि की उपलब्धि नहीं होती। अतः मानना होगा कि अतीतत्वादि का भान प्रत्यक्ष में नहीं होता, तब अतीतादि के भेद की प्रतिपत्ति क्योंकर होगी ? जो लोग अतीत का स्वर्ण मानते हैं वह भी निस्प्रमाण है, जो अनुमान के द्वारा दृढ़तादि की प्रतीति से उसके कारण का भेद कहा जाता है, वह भी असत् है, क्योंकि यदि प्रत्यक्षतः ही कारण की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है तब अनुमान व्यर्थ हो जाता है ॥ ३८४ ॥ यदि भावी अर्थ के साथ दृढ़ता और कारण का सम्बन्ध गृहीत हो जाता है, तब अनुमान प्रवृत्त होगा, क्योंकि अनुमानवादियों का मत है कि साध्यव्याप्त लिङ्ग के द्वारा परोक्षार्थ की प्रतीत ही अनुमान है, यदि कहा जाय प्रतिबन्ध या व्याप्ति ग्रहण के बिना ही अनुमान देखा जाता है तो वैसा कहना उचित न होगा, क्योंकि सम्बन्ध के बिना किसी अर्थ से किसी अर्थ की सिद्धि मानने पर घटादि के दर्शन से ही अग्नि की सिद्धि उसी प्रकार प्रशस्त होगी जैसे दूरदर्शन से होती है, किन्तु घटादि के दर्शन से अग्नि की सिद्धि नहीं देखी जाती, किन्तु धूम के दर्शन से देखी जाती है। दृष्ट और अदृष्ट एक नहीं हो सकते, यदि दृष्टत्व के द्वारा परिहार किया जाता है तब प्रश्न उठता है कि दूरदर्शन प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा माना जाता है तब आत्मा आश्रयता है, क्योंकि उसी अनुमान के द्वारा उसी अनुमान की सिद्धि कैसे होगी ? यदि प्रत्यक्ष के द्वारा वह दृष्टत्व माना जाता है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से अनुमान का दर्शन सम्भव नहीं, वह परोक्ष ज्ञान का विषय है। परोक्षार्थ में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः अनुमान का ज्ञान कैसे होगा ? जो परोक्ष को विषय ही नहीं करता उसके द्वारा परोक्ष रूप अनुमान का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष विषयतया अनुमान में भी गृहीत नहीं,

वार्तिकालङ्कारः

हेतुः। स्वरूपसंवेदनमात्रमेवानुमानं स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तथा दृष्टत्वात्। अथैवमेव व्यवहारस्तथा सति। व्यवहारमात्रकमेवास्तु किम्भेदाभिनिवेशेन। भेदाभिनिवेशोऽपि दृश्यत इति चेत्। किन्दृष्टमपनेतुमशक्यमेव। एवमेतदिति च न सङ्गतम्। सर्वस्य व्यामोहस्यापनेतुं दृष्टत्वेनाशक्यत्वाद् व्यर्थक एव भवतामुपदेशदानोद्यमः। भवतामपि व्यर्थक एवेति चेत्, न, अदृष्टे दृष्टाभिमानसम्भवाद् तथाभूतत्वकथनार्हत्वात्। तथा सति भेदाभिनिवेशमन्तरेणैव भवताम्भेदाभिनिवेशाभिमान इति तद्योग एव युक्तः। तथा हि—

वर्त्तमानः प्रतीभासो निर्विभागो न भेदभाक्। पूर्वापरप्रत्यययोः प्रत्येकञ्च न भिद्ग्रहः ॥३८५॥

समुदायात् तथा स्याच्चेद् गुडनागरकार्यवत्। कार्यन्तत्र द्वयोरेकमिष्टि सम्भूयकारिता ॥३८६॥

न कार्यमिह किञ्चित्तु स्यात् पूर्वापरचेतसोः। ततः परा तु विज्ञप्तिः स्मृतिस्सानुभवान्तरा ॥३८७॥

भेदे चानुभवो नास्ति स्मृतिर्नानुभवाद्विना। तया समानकालस्य वेदने प्राप्तमद्वयम् ॥३८८॥

इक्षुविकारनागराभ्यां हि तन्निवर्त्त्यरोगनिवर्त्तनं स्वास्थ्यं वा कार्यं क्रियते। तेन समुदायव्यपदेशः। इह तु पूर्वापरप्रत्यययोः स्वार्थमात्रप्रतीतिरूपयोर्न कार्यमपरम्। प्रतीतिस्तयोरात्मभूते च। तस्याश्च भेदे किमपरमभिन्नं यदपेक्षया समुदायता भवेत्। स्मृतिस्तयोः कार्यमेकं पूर्वापरग्रहणरूपा। न स्मृतिरनुभवाद् भवन्ती तथाभूतरूपानु-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तब प्रत्यक्ष दृष्ट कैसे और दृष्टत्व हेतु कैसे उत्पन्न होगा ? स्वरूपसंवेदन मात्र ही अनुमान होता है, स्वसंवेदन आत्मप्रत्यक्ष के द्वारा ही, वैसा व्यवहार यदि माना जाता है तब वैसा व्यवहार मात्र माना जा सकता है, वैसा अभिनिवेश या भेद का आग्रह नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय भेदाभिनिवेश देखा जाता है तब ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दृष्ट का अप्रलाप करने के लिए जो वैसा कह दिया जाता है, वह असंगत मात्र है। सभी के व्यामोह (भ्रम) के निवृत्ति के लिए दृष्टत्व का उपन्यास किया जाता है, यदि उसके बिना दृष्टत्व का उपन्यास किया जाता है तो वह व्यर्थ ही है। यदि कहा जाय कि आपका द्रष्टव्य उपन्यास व्यर्थ क्यों नहीं, तो वैसा नहीं कह सकते। अदृष्ट में दृष्टत्व का भी अभिमान व्यर्थ कहा जा सकता है उसी प्रकार भेदाभिनिवेश के बिना ही आपका भेदाभिनिवेश का अभिमान माना जा सकता है, क्योंकि वर्तमान प्रतिभास निर्विभाग होने से भेदमान नहीं हो सकता, पूर्वापरग्राही प्रत्यय ही भेदग्राही होता है, प्रत्यय नहीं ॥३८५॥ जैसे कि गुड़ और नागर (नागर-मोथा या खस की जड़) इन दोनों के योग से ज्वर-हरण आदि कार्य सम्पन्न होता है, वह प्रत्येक से नहीं हो सकता, क्योंकि वह दोनों के मिलित रूप का कार्य है, प्रत्येक से कैसे होगा ? ॥ ३८६ ॥ किन्तु पूर्वापर मिलित ज्ञानों का कोई कार्य देखने में नहीं आता उससे पर जो विज्ञप्ति होती है, वह स्मृति है और स्मृति अनुभव से अन्तरित होती है ॥ ३८७ ॥ स्मृति अनुभव से भिन्न मानने पर अनुभव के बिना स्मृति नहीं होती, यदि स्मृति के साथ समान काल में अनुभव का वेदन होता है तब अद्वैतवाद प्रशस्त हो जाता है ॥ ३८८ ॥ अर्थात् इक्षु के विकारभूत गुड और नागरमोथा के मिलित क्वाथ के सेवन से ज्वर रोग की निवृत्ति या स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है, उसे समुदाय का कार्य माना जाता है। प्रकृति में 'सोऽयं' यहाँ पर पूर्व और पर प्रत्ययों की प्रतीति को छोड़कर और कोई कार्य नहीं होता। अतः प्रत्येक के कार्य से समुदाय का कार्य भिन्न

वार्तिकालङ्कारः

कारिणी न चानुभावो द्वयग्राही ततो न स्मृतिरपि। कथन्तर्हि रूपस्पर्शविज्ञानार्थयोर्मानस एष स्मार्तविकल्पः। भेदग्रहणमभिप्रेत्य तदुक्तम्। न चात्र तथा प्रक्रमः। न च स्मृतिरर्थग्रहणे प्रवर्त्तते येन स्वतन्त्रा प्रवर्त्तेत। स्मृत्या चेद् द्वयं गृह्यते। समानकालमेकमेव तदविवेकादिति प्रतिपादितम्। किञ्च—

स्मृतिरेव विवेकस्य ग्राहिकेति मतम्भवेत्। नैवानुभव इत्येतद् सांवृतम्भेदवेदनम् ॥३८९॥

तथा हि—

रक्तारक्तावभासे हि चित्रमेकं मतम्भवेत्। पृथग्भूतम्मया दृष्टन्द्रक्ष्यते च तथा पुनः ॥३९०॥

एवं हि भेदावसतिरन्यथा न प्रवर्त्तते। तस्मान्न भेदग्रहणं क्वचित् सिध्यति तत्त्वतः ॥३९१॥

न चावभासमात्रेण चित्राचित्रविवेकिता। तस्मात् पूर्वानुसारेण सर्वमेतद् विवेच्यते ॥३९२॥

स्मृत्यभ्यासादितपाटवा तर्हि प्रत्यक्षाद् भेदोपग्रह इति चेत्।

प्रत्यक्षेण न यत् सिद्धन्तदभ्यासात् कथम्भवेत्। अभ्यासादपि तस्येष्टं युगपत् प्रतिभासनम् ॥३९३॥

तत्रापि तद्विवेकस्य स्मृत्यैव कृतिरिष्यते। एवञ्चानुभावारूढो न भेदः सिध्यति क्वचित् ॥३९४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं। प्रसक्त दोनों विषयों का ग्रहण दोनों के मिलित रूप से नहीं होता, अपितु प्रत्येक का कार्य है, मिलित का पृथक् कार्य नहीं। अनुभव अतीत और वर्तमान उभय विषय का ग्राहक नहीं होता। अतः उससे समुद्भूत स्मृति भी उभय विषय का ग्राहक नहीं बनती। यह जो प्रश्न उठता है कि रूप और स्पर्श उभयार्थक मानस विकल्प कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर है कि दोनों का भेदक ग्रहण मानकर वैसा कहा गया है, प्रकृति के अनुसार प्रक्रम नहीं हो सकता। स्मृति स्वतन्त्र रूप से विषय के ग्रहण में प्रवृत्त नहीं होती, अपितु अनुभव के माध्यम से होती है। यदि स्मृति के द्वारा दोनों का ग्रहण माना जाता है तो वह अविवेक पूर्वक ही होगा, जैसा कि पहले कह चुके हैं। स्मृति ही विवेक या भेद की ग्राहकता होती है, तब वैसा नहीं, ऐसा मत सम्मत होता है, तब वह सांवृतमात्र (स्मृतिसिद्ध) होता है ॥ ३८९ ॥ साधारण लोग लाल और पीले तन्तुओं से निर्मित एक वस्त्र में चित्ररूप माना करते हैं, किन्तु उनसे हमारी दृष्टि भिन्न है। हम नील तन्तु को पीतवस्त्र का कारण एवं पीत तन्तु को नीलवस्त्र का कारण नहीं मान सकते। फलतः चित्रपट एक है, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता ॥ ३९० ॥ तन्तुओं की अपेक्षा पट के भेद की प्रतिपत्ति संभव नहीं, अतः कार्यकारण का भेदग्रहण कहीं भी तात्त्विक नहीं हो सकता ॥३९१॥ केवल अवभास के आधार पर चित्राचित्र का भेद नहीं हो सकता। अतः चित्र में 'कं वस्त्रं' ऐसी प्रतीति सर्वथा असङ्गत और सांवृतमात्र है, जैसा की पहले कह चुके हैं।

प्रश्न—अन्यथाभेद प्रतीति संभव न होने पर भी स्मृति और अभ्यास के आधार पर प्रत्यक्ष में उपपादकता आ जाती है, जिसके आधार पर कार्य-कारण पूर्व और पर का भेद-ग्रहण क्यों नहीं माना जा सकता?

उत्तर—स्वरूपतः प्रत्यक्ष के द्वारा जो कार्य सिद्ध नहीं हो सकता वह अभ्यास से क्योंकर होगा? क्योंकि पूर्व और पर उभयक्षण ग्राहक-प्रत्यक्ष नहीं होता, यह कहा जा चुका है। ऐसे प्रत्यक्ष का कितना भी अभ्यास किया जाय युगपद् उभय ग्राहकता नहीं आसकती ॥ ३९३ ॥ वहाँ पर भी उसके विवेक (भेद) का परिस्फुरण स्मृति के द्वारा ही किया जाता है। परिशेषतः भेद अनुभवारूढ़ नहीं, यह सिद्ध हो गया ॥३९४॥

वार्तिकालङ्कारः

स्मृतौ स्मृत्यनुभवयोः केवलोऽनुभवो यदि। अनेकरूपता सापि न विविक्ता परस्परम् ॥३९५॥
विवेककरणाशक्तेः स्वयमन्येन भावतः। विच्छिद्य शक्यते नेतुन्न द्रष्टुन्नान्यथा च यत् ॥३९६॥
भिन्नेनापि हि किन्तेन हेमोपादेयता कृतेः।

ननु स्मृतिरपि यदि प्रत्यक्षप्रत्ययसमानकालजन्मा तेन सहैकतां स्वीकुर्यात्। सविकल्पक एव प्रत्यक्षात्मा प्रसक्तः। ततश्च विकल्पकम्प्रत्यक्षमिति प्रस्तुतस्य हानिः। सोऽयं शुष्के पतिष्यामीति कर्दमे पातः। न सदेतत्—

भेदवादिनमारभ्य स्मृतेरन्यत्वमुच्यते। हेतुस्वभावभेदेन सकलस्य विभिन्नता ॥३९७॥

भेदवादिनो हि सकल एव भेदो हेतुभेदेन स्वभावभेदात्। तत्र स्मृतेर्वासनामात्रकादुदयो न तथेन्द्रियविज्ञानस्य स्मृतिः परोक्षविषया नेन्द्रियजसंवेदनमतः स्तम्भादिवदेव भेदोऽनयोरिति बाह्यार्थवादी स्वाभ्युपगमेन प्रबोध्यते। अभेदवादिनस्तु कुतोऽयं विभागः।

न हि कारणवद् वित्तिः प्रत्यक्षेण तदग्रहात्। अनुमानन्तु नाध्यक्षमन्तरेण प्रवर्तते ॥३९८॥

न खलु प्रत्यक्षतः पूर्वापरस्तु द्वयग्रहणम्। कार्याभिमतग्रहणकाले स्मरणमेव कारणाभिमते। यदा स गृह्यते तदा स्वरूपेणैव ग्रहणन्न कारणत्वेन। कार्यस्याग्रहणात्। कार्यग्रहणकाले च तदतीतं स्मरणगोचर एव। न च स्मरणमननुभूते न च कारणत्वस्या-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्मृति में यदि स्मृति या अनुभव में से केवल अनुभव ही माना जाता है, तब अनेकरूपतः प्रसक्त होती है और उनमें विविक्तता या भेद नहीं रह जाता ॥ ३९५ ॥ स्वयं विवेककरण में असक्त हो जाने पर दूसरे को उसका अनुभव नहीं कराया जा सकता ॥३९६॥ भिन्न अनुभव के द्वारा भी कृति के हेय और उपादेयता नहीं बनती।

शङ्का—यदि स्मृति भी प्रत्यक्ष के समान काल में ही उत्पन्न होकर उसके साथ एकता स्थापित कर लेती है। प्रत्यक्ष सविकल्पक ही प्रसक्त होता है। अतः विकल्पात्मक प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता प्रहीण हो जाती है। यह तो वैसा ही अप्रत्याशित प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है कि किसी व्यक्ति ने यह सङ्कल्प करके छलांग लगायी थी कि सूखी भूमि में पहुँच जाऊँगा, किन्तु मध्य में ही कीचड़युक्त भूमि में गिर जाता है।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि भेदवाद को आरम्भ करके स्मृति में अन्यत्व का अभिधान जो किया जाता है, वह अनुचित क्यों? सकल कार्य अपने हेतु चक्र के भेद से भिन्न होता ही है ॥३९७॥ भेद-वादियों का मत है कि समस्त भेद अपने हेतुओं के भेद से भिन्न होता है। जैसे कि स्मृति की उत्पत्ति वासना मात्र से जैसे होती है, वैसी इन्द्रिय-विज्ञान से नहीं होती। स्मृति परोक्ष विषय होती है, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान वैसा नहीं होता। अतः इन दोनों का वैसा ही भेद प्रसिद्ध है जैसे स्तम्भ और घटादि का। इस प्रकार का विभाग बाह्यार्थवादी सौत्रान्तिक को हो सकता है। अभेदवादी के मत में उससे भेद क्योंकर सिद्ध होगा? क्योंकि ज्ञान कारणवान् नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्षतः उसके कारण का ग्रहण नहीं होता और अनुमान प्रत्यक्ष के बिना प्रवृत्त नहीं होता ॥ ३९८॥ अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्वापर की दो वस्तुओं का ग्रहण नहीं होता। कार्यत्वेन अभिमत ग्रहण के काल में स्मरण ही कारण होता है, जब कि वह गृहीत होता है, तब स्वरूपतः एव गृहीत होता है, कारणत्वेन नहीं, क्योंकि कार्य का ग्रहण उस काल में नहीं होता और कार्यग्रहण काल में वह अतीत हो जाता है,

वार्तिकालङ्कारः

नुभवः कथं स्मरणम् । अथ कार्यकालेऽपि तदनुभूयत इति मतिः । तथा सति पूर्वरूपता-नुभवाभावात् समानकालतयाऽशक्यविवेचनत्वादभेद एव कुतः कार्यकारणभावः । अथ स्मरणेन पूर्वमपि केवलमेतदनुभूतमिति व्यवस्थाप्यते । ततो विवेचनाद् भेद एव ।

अथ किन्तत् स्मरणम् । अनुमानमथ स्मृतिमात्रम् । यदि तावदनुमानङ्कथम्प्रत्यक्ष-मन्तरेण । न हि प्रत्यक्षेण प्राक्पूर्वतापरिग्रहो वर्त्तमानग्राहि सकलमेवाध्यक्षम् ।

अथ यत्प्रत्यक्षेण नियतावधिगृहीतम्प्रेरणामिश्रितन्तदेव परग्रहणापेक्षया पूर्वक-मिति व्यवहारः । तदप्यसत्—

न परापेक्षया पूर्वप्रत्यक्षस्य प्रवर्त्तनम् । ततस्तेन न पूर्वत्वं गृह्यते स्वात्मनि स्थितेः ॥३९९॥

पूर्वकं हि प्रत्यक्षं स्वकालं परिगृह्णत् कथम्परापेक्षमात्मानञ्जानीयात् । तथा परमपि प्रत्यक्षम् । तत एषा पूर्वापरप्रत्यक्षा न पूर्वपरप्रत्यक्षग्राह्या ततः स्मरणमपि कथन्यत्र प्रवर्त्तते ।

तस्मान्नाध्यक्षतो नापि स्मृत्याऽपेक्षा प्रतीयते । ततो संविदिते कस्मादनुमानम्प्रवर्त्तते ॥४००॥

अथ स्मरणमात्रन्तदप्रमाणं कथन्ततः । प्रतीयताम्पूर्वपरव्यपेक्षा येन कार्यवित् ॥४०१॥

अथ सामग्रीबलात् स एवायमिति प्रत्यय एकताग्राही ततो विवेचनम् । स एवाय-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्मरण का ही विषय रह जाता है और स्मरण अननुभूत वस्तु का नहीं होता । कार-णत्व का अनुभव न होने के कारण उसका स्मरण कैसे होगा ? यदि कार्यकाल में उसका अनुभव माना जाता है, तब भी पूर्वरूपता का अनुभव न होने के कारण समानकालतया भेदक ग्रहण की योग्यता नहीं रहती, अभेद ही पर्यवसित होता है, उनमें कार्य-कारणभाव क्योंकर होगा ? यदि स्मरण से पहले ही ऐसा माना जाता है तब उनका भेद निश्चित है ।

यह भी एक प्रश्न उठता है कि वह स्मरण क्या अनुमान है या स्मृति मात्र ? यदि अनुमान है, तब वह प्रत्यक्ष के बिना कैसे ? क्योंकि कोई भी प्रत्यक्ष पूर्वता का ग्राहक नहीं होता, अपितु सकल प्रत्यक्ष वर्तमानग्राही होता है ।

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष के द्वारा नियत अवधि में गृहीत वस्तु प्रेरणा के द्वारा निश्रित होकर परग्रहण की अपेक्षा पूर्वतन ही होती है तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि पर की अपेक्षा पूर्व के ग्रहण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं होती । अतः प्रत्यक्ष के द्वारा पूर्वत्व का ग्रहण सम्भव नहीं ॥३९९॥ अर्थात् पूर्वतन प्रत्यक्ष स्वका-लीन वस्तु का ग्रहण करता हुआ परापेक्षा वस्तु का एवं अपना ज्ञान क्योंकर कर सकेगा ? वैसे ही पर प्रत्यक्ष भी । अतः पूर्वापर अवगाही ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, तब स्मरण भी उसमें प्रवृत्त कैसे होगा । परिशेषतः न तो प्रत्यक्ष से और न स्मृति से, जो वस्तु गृहीत नहीं होती उसमें अनुमान भी प्रवृत्त नहीं होता ॥४००॥ यदि स्मरण मात्र ही माना जाता है तब वह प्रमाण नहीं कि जिसके द्वारा पूर्वापर-सापेक्ष एकता प्रमाणित हो ॥४०१॥

यदि अपनी सामग्री के बल पर 'स एवायम्' इस प्रकार का एकतावगाही प्रत्यय उत्पन्न होता है, तो उस पर भी यह विवेचन किया जाता है कि 'स एवायम्' ये दो ज्ञान हैं, एक ज्ञान नहीं, दोनों में से भी एक प्रत्यक्ष है और दूसरा स्मरण, तब दो पदार्थों की एकता का ग्रहण कैसे होगा । यदि कहा जाय कि एकता का ग्रहण देखा

वार्तिकालङ्कारः

मित्यपि स्मरणानुभवरूपम्प्रत्ययद्वयमेव। ततः केनैकता गृह्यते। दृश्यते ग्रहणमिति चेत्। न ग्रहणान्दृश्यते। अपि तु स्मरणग्रहणे। कथन्तर्हि स्मर्यमाणदृश्यमानयोः शकट-शाकटवन्न प्रतीतिः। एवमेव प्रतीतिर्यदि निरूप्यते, न हि स्मरणप्रत्यक्षाकारयोरेकता-प्रतीतिः। तथात्वे तावेव न स्याताम्। तथा च न पूर्वापरयोरेकताप्रतीतिः। न हि स्मरणाकारतयाऽप्रतीयमानम्पूर्वमिति शक्यम्। साक्षात्करणे वर्त्तमानतैव न पूर्वतेति न्यायः। अथ व्यवहारदर्शनादेकता। तदेतदन्धकारनर्त्तनम्।

प्रतीतिस्साधिकार्थानाम्प्रभेदस्येतरस्य वा। प्रतीतेरप्रसिद्धस्य व्यवहारात् कथं गतिः ॥४०२॥

व्यवहारो हि नाम किम्प्रमाणमथाप्रमाणम्। प्रमाणञ्चेत्। प्रत्यक्षानुमानयोरन्त-र्भावादसाधकत्वमिति प्रतिपादितम्। अथाप्रमाणङ्कथम्भेदसिद्धिरत इति विचार्यताम्। कथन्तर्हि भेदाभावे व्यवहारः। ननु भेदेऽपि समानमेतत् न समानं ज्ञानाद् भिन्नस्य प्राप्यस्य भावात् तदर्थी प्रवर्त्तते। भेदे तु पुनरसङ्गतमेव। अत्रोच्यते—

भेदेऽपि यद्यसौ ज्ञातः किमर्थं स प्रवर्त्तते। अथाज्ञातः कथं बन्ध्यातनयेन प्रवर्त्तते ॥४०३॥

तस्याभावादस्य भावादेतावदेव कुतो मतम्। स्पर्शादिः पूर्वदृष्टत्वात् पूर्वमेव प्रवर्त्तताम् ॥४०४॥

इदानीन्तत्कथं वृत्तिरसंवेदनसम्भवे। अनुमानेन वित्तिश्चेत् कस्मै तर्हि प्रवर्त्तते ॥४०५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि ग्रहण देखा नहीं जा सकता। वहाँ पर स्मरण और ग्रहण दो ही ज्ञान होते हैं, तब स्मर्यमाण और दृश्यमान शकट और शाकट (चालक) का एकत्र प्रतीति क्योंकर होगी? इसी प्रकार यदि प्रतीति का निरूपण किया जाता है तो भी स्मरण और प्रत्यक्ष आकारों की एकता-प्रीतति कैसे होगी? क्योंकि स्मरणाकारतया प्रतीयमान एक ज्ञान और दूसरा उससे भिन्न आकार का है। साक्षात्करण सदैव वर्तमान का ही होता है पूर्वता का नहीं, यह प्रसिद्ध न्याय है। यदि वैसा व्यवहार देखकर एकता मानी जाती है, तब वह अन्धकार में नाचने के समान व्यर्थ है। भेद और उससे इतर अभेद की एकत्र प्रतीति अप्रसिद्ध है, व्यवहार के बल पर उसकी प्रसिद्धि कैसे होगी ॥ ४०२ ॥

व्यवहार भी प्रमाण माना जाता है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तब प्रत्यय और अनुमान के अन्तर्गत होने के कारण उसमें पृथक् किसी अर्थ की साधनता सम्भव नहीं, ऐसा कहा जा चुका है। यदि व्यवहार प्रमाण नहीं तब उससे भेद की सिद्धि कैसे होगी, यह विचारणीय है। यदि भेदाभाव में व्यवहार प्रमाण नहीं, तब भेदाभाव में व्यवहार क्यों होता है? यदि ऐसी शंका की जाय कि भेद के विषय में भी ऐसा ही विकल्प किया जा सकता है। तो वैसा नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान से भिन्न भेदाभाव सिद्ध होता है। अतः भेदार्थी की व्यवहार में प्रवृत्ति हो सकती है। किन्तु भेद के विषय में ऐसा विकल्प सम्भव नहीं।

उक्त शंका का समाधान किया जाता है। भेद के विषय में भी प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वह ज्ञात है तब पुरुष उसमें प्रवृत्त क्यों नहीं होता? यदि भेद ज्ञात नहीं तब वन्ध्या-तनय के समान उसमें कैसे प्रवृत्ति होती है ॥४०३॥ भेद का अभाव और अभेद का भाव है, ये कैसे जाना गया? स्पर्शादि से पहले यदि अभेद दृष्ट है तो उसमें प्रवृत्ति क्यों नहीं होती? ॥४०४॥ वर्तमान काल में अभेद का असंवेदन होने

वार्तिकालङ्कारः

तत्सामान्यस्य वित्तिश्चेद् विशेषे वर्त्तते कथम् ।
अभिन्नं यदि सामान्यम्प्रवृत्तिर्निष्फला भवेत् ॥ ४०६ ॥
भिन्नाभिन्ने यथा भिन्नं कथन्तत्र प्रवृत्तिमान् ।
यथा न भिन्नन्तत्प्राप्तेः कस्मै तत्र प्रवर्त्तनम् ॥ ४०७ ॥

प्रवर्त्तनन्दृश्यते चेत् किम्प्रत्यक्षमथान्यथा । न हि प्रत्यक्षतो वृत्तिर्दृश्यते स्वार्थवेदनात् ॥४०८॥
पूर्वापरस्वरूपा हि वृत्तिस्तत्राक्षवित्न हि । नानुमानमनध्यक्षन्ततोऽपि न हि वृत्तिवित् ॥४०९॥
अद्वैतेऽपि कथं वृत्तिरिति चोद्यनिराकृतम् । यथा बलिस्तथा यक्ष इति किन्त्वेन सङ्गतम् ॥५१०॥

अनेनैतदपि निराकृतम् । "अद्वैते कथम्परप्रबोधनाय प्रवर्त्तत" इति । स्वपरयोरस्यार्थस्यासिद्धेः । अयम्परोऽहन्न पर इति स्वसंवेदमेवैतद् उदयमासादयति । नात्र परमार्थतो विभागः । अहम्प्रश्नयिता परः कथयति द्वयोरपि स्वाकारोपरक्तप्रत्ययसंवेदनमेवैतन्न तु विभागः । स्वप्नप्रत्ययवत् । उन्मत्तप्रत्ययप्रलापवच्च । उन्मत्तस्तर्हि वादी कथन्ततोऽद्वैतप्रतीतिरपि ।

ननु सर्वप्रत्ययप्रलाप एवायम्प्रवर्त्तते नात्र प्रतीतेरुदयः । किन्तर्हि प्रतिवादिनान्येन वा कर्त्तव्यम् । किं क्रियमाणं किञ्चिद् दृश्यते । यथा च न दृश्यते तथा प्रतिपादितमेव । कथन्तर्हि हेतुमन्तरेण भावः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर प्रवृत्ति क्योंकर होती है ? अनुमान के द्वारा यदि ज्ञान होता है तब प्रवृत्ति किसके लिए ? ।।४०५।। यदि उसकी सामान्यतः ही प्रतीति हैं, तब विशेष अर्थ में प्रवृत्ति कैसे ? यदि विशेष सामान्य से अभिन्न है तब प्रवृत्ति निष्फल क्यों नहीं ? ।।४०६।। सामान्य का विशेष में भेदाभेद मानने पर भी अभेद बना रहता है । प्रवृत्ति किस लिए, यदि वह प्राप्त है तब किसके लिए प्रवृत्ति ? क्योंकि अप्राप्त की प्राप्ति के लिए ही प्रवृत्ति होती है ।।४०७।। यदि कहा जाय कि प्रवृत्ति देखी जाती है तब प्रश्न होता है कि वह प्रवृत्ति प्रत्यक्ष से देखी जाती है अथवा अन्यथा । स्वार्थवेदन में प्रत्यक्षतः प्रवृत्ति नहीं देखी जाती ।।४०८।। प्रवृत्ति सदैव पूर्वापरात्मक होती है । उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान भी नहीं हो तकता ।।४०९।। अद्वैतवाद में भी प्रवृत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न का निराकरण किया जा चुका है । ऐसा कहना संगत नहीं ।।४१०।। इससे इस प्रश्न का भी निराकरण हो जाता है, जैसा कि प्रश्न किया जाता है कि अद्वैत के प्रबोधन में प्रवृत्ति कैसे होती है । क्योंकि अद्वैत तत्त्व स्वपर में से किसी को ज्ञात नहीं । यह मुझसे भिन्न है और मैं भिन्न नहीं हूँ, ऐसा स्वसंवेदन स्वतः सिद्ध है । वस्तुतः ऐसा विभाग परमार्थतः नहीं । मैं प्रश्नकर्त्ता हूँ और दूसरा कहता है, दोनों की स्वीकृति कैसे ? इसका उत्तर यही देना होगा—'विभागास्वप्नप्रत्ययवत्' । अथवा उन्मत्त-प्रलापवत् कहा जा सकता है । यदि वादी उन्मत्त है तब उसके द्वारा अद्वैत की सिद्धि कैसे ?

प्रश्न—यदि यह सब प्रपञ्च एकमात्र प्रत्यय (विज्ञान) का प्रलाप है, किसी बाह्य विषय की सत्ता और प्रतीति नहीं, तब प्रतिवादी किसका खण्डन और वादी किसका समर्थन करेगा ?

उत्तर—क्या यहाँ कुछ क्रियमाण वस्तु है ? ऐसी कोई वस्तु है—इसका निराकरण निरालम्बनवाद में किया जा चुका है । कारण के बिना किसी कार्य का भाव

पटादिरूपस्यैकत्वे तथा स्यादविवेकिता ।
विवेकीनि निरस्यान्यदा विवेकि च नेक्षते ॥ २२२ ॥

यदि ज्ञान के समान ही पटादिरूप विषय की भी एकता मानी जाती है, तब ज्ञान के समान पटादि में अविवेकिता (अभेद) होनी चाहिए, किन्तु नहीं होती, अपितु उनमें ग्रहणाग्रहण का भेद पाया जाता है ॥ २२२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कस्यात्र भावो भवता कारणादुपलभ्यते । कार्यकारणभावस्य प्रतीतिर्नेति साधितम् ॥४११॥

आकस्मिकी तर्हि सत्ता नेयङ्कदाचित् कस्यचिद् विरमेत । तथा—

"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणादिति" (प्र० वा० १।३४)

अयमप्यदोषः । यतः—

किं सत्ता विरमन्त्येषा त्वया क्वाप्युपलक्षिता । कादाचित्कतयाथापि तत्पतज्जाड्यजल्पितम् ॥४१२॥

भेदवादिनम्प्रति स मार्गः प्रदर्शितः । परमार्थतस्त्वविभागोऽपि बुद्ध्या नेत्येतदेव भविष्यति । तस्मादेकैव चित्रावभासिनी बुद्धिरिति स्थितम् ।

अथ बुद्धिवदेव घटादिरूपमपि चित्रमेकमेव को विरोध इति चेत्—पदादिरूपस्यैकत्व इति ।

यदि पटादिरूपमविवेकि भवति तथा सति बुद्धिरूपमेव तत् । बुद्धिसमानधर्मः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(अस्तित्व) क्योंकर हो सकता है ? आपने किस कारण से उपजायमान कार्य की उपलब्धि की है ? कभी नहीं । किसी भी कार्य-कारणभाव की प्रतीति नहीं होती— ऐसा सिद्ध किया जा चुका है ॥ ४११ ॥

प्रश्न—तब तो कारण के बिना जो कार्य की सत्ता और प्रतीति होती है, उसका कभी भी विराम (अभाव) नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि—　　"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातश्च भावानां कादाचित्कस्य सम्भवः ॥"

(प्रमाणवा० स्वार्था० ३५)

अर्थात् जो कार्य किसी हेतु की अपेक्षा करता, वह या तो नित्य सत् होगा या कभी भी नहीं होगा, क्योंकि किसी हेतु की अपेक्षा से उत्पन्न कार्य ही कादाचित्क होता है ?

उत्तर—यह भी दोष नगण्य है, क्योंकि अहेतुक कार्य की सत्ता का अभाव आपने क्या कभी देखी है ? सहेतुक कार्य की ही सत्ता कादाचित्क होती है—ऐसा कहना भी किसी जड़ (मूर्ख) व्यक्ति का ही है ॥४१२॥ वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय का भेद मानने वालों ने ही हेतु-हेतुमद्भाव की कादाचित्कता का मार्ग प्रवर्तित किया है। असत् विषय का सत् बुद्धि से अभेद भी पारमार्थिक नहीं हो सकता। बुद्धि से अतिरिक्त विषय की सत्ता का न होना ही अभेद अभिप्रेत है। फलतः एकमात्र चित्रा बुद्धि ही योगाचार-सम्मत है।

प्रश्न—चित्रा बुद्धि के ही समान चित्र-घटादि विषयों को मानने में क्या विरोध ?

उत्तर—चित्रा बुद्धि के स्थान पर चित्र पटादि को मान लेने पर भी अभेदवाद ही पर्यवसित होता है। अर्थात् यदि पटादिरूप अविवेकी होता है, तब भी वह बुद्धि-

वार्तिकालङ्कारः

त्वात् । यथा हि बुद्धिर्न परेण दृश्यते । नोत्तरकालन्नापिधाय खण्डशस्तथा बाह्येऽपि यद्यर्थस्तथा सति बुद्धिरेव सा । नाममात्रमेव बाह्यमिति अथ पिधाने सति तथा भूतोऽन्य एवोत्पद्यते । यस्तदर्द्धतादिना दृश्यते । ततश्च—

यो यथा विद्यते भावस्स तथैवोपलभ्यते । इति किन्नैकभावः स्याच्चित्राकारेऽप्यचेतसि ॥४१३॥

अत्र समाधिः ।

यथा यथा दृश्यते तत्तथैवोत्पद्यते यदि । परोक्षपरदृश्यत्वभावेनोत्पद्यतान्न सः ॥४१४॥

कारणान्तरजन्यत्वन्तथा नास्तीति गम्यताम् । विज्ञानकारणेभ्यस्तु जातो विज्ञानमेव हि ॥४१५॥

न खलु परोक्षतया वस्तु दृश्यते । नाप्यन्यदृश्यतया । न च कारणान्तरश्चक्षुरादिकारणत एव तु ग्राहकवदस्य निर्वृत्तिरिति कथन्न विज्ञानता ।

अथ यावदुपलभ्यते सर्वोऽसावर्थ एव । सुखादयोऽपि न संवेदनस्वभावाः ।

वस्त्वेव तदान्तरमिति परः । एतदप्यसत् । यतः—

उपलभ्यस्य वस्तुत्वं यदि सर्वस्य कल्प्यते । ज्ञानस्यानुपलभ्यस्य सत्ता स्यादप्रमाणिका ॥४१६॥

येनोपलभ्यते ग्राह्यन्तच्चेज्ज्ञानन्तदप्यसत् । स्वयमेवोपलभ्यस्य वेदनं स्यात् तथा सति ॥४१७॥

यदि ग्राहकस्यानुपलब्धिस्तदस्तीति कुतः । उपलभ्यतोपलम्भादुपलम्भकोऽनुमीयते ॥४१८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वरूप ही सिद्ध होता है, क्योंकि वह बुद्धि के ही समान धर्म वाला है । जैसे पुरुष की अपनी बुद्धि दूसरे को दिखाई नहीं देती, वैसे ही यदि बाह्य अर्थ भी शुक्ति-रजतादि के समान पर पुरुष को दिखाई नहीं देता, तब बाह्य अर्थ को भी बुद्धि से भिन्न नहीं माना जा सकता, बाहर तो नाममात्र है ।

शंका—मेघ के एक खण्ड को देखते-देखते आँख बन्द कर खोलें, तब वही पूर्व दृष्ट न रहकर कुछ बड़ा-सा दिखाई पड़ता है, वह पूर्वतन की अपेक्षा अन्य उत्पद्यमान मानना होगा, अतः यह फलित होता है कि जो भाव (पदार्थ) बाहर जैसा होता है, वैसा ही दिखाई पड़ता है । वह एक रूप का है, भले ही उसका ग्राहक चित्त विज्ञान चित्राकार हो ॥ ४१३ ॥

समाधान—जो वस्तु जैसी दिखाई देती है, वह यदि वैसी ही उत्पन्न होती है, तब वह परोक्षत्वपरदुःखत्वादिरूप से कभी उत्पन्न न होगी ॥४१४॥ अतः मानना होगा कि पदार्थों में विज्ञान-भिन्न कारण-जन्यत्व नहीं होता—ऐसा निश्चय करना चाहिए । विज्ञानरूप कारण से जन्य वस्तु विज्ञानरूप ही होगी ॥४१५॥ अर्थात् कोई भी वस्तु परोक्षतया प्रतीत नहीं होती और न अन्य-दृश्यतया । चक्षु भी ज्ञान के कारणों से जायमान पदार्थ में ज्ञानरूपता क्यों न होगी ?

शंका—जो जैसा उपलब्ध होता है, वह सब बाह्य अर्थ है । सुखादि भी ज्ञानात्मक नहीं, अपितु आन्तरिक पदार्थ हैं, ऐसी नैयायिकादि की मान्यता है ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि यदि समस्त उपलभ्यमान पदार्थों में वस्तुत्व की कल्पना की जाती है, तब अनुपलभ्यमान ज्ञान की सत्ता अप्रामाणिकी हो जायगी ॥४१३॥ पदार्थ जिस ज्ञान से उपलब्ध होते हैं, वह ज्ञान भी यदि असत् है, तब उपलभ्यमान पदार्थ का वेदन स्वतः ही मानना होगा ॥४१७॥ यदि ग्राहक (ज्ञान) की अनुपलब्धि है, तब ग्राह्य की उपलब्धि कैसे ? अतः ग्राह्यार्थ की उपलब्धि से उपलम्भक का अनुमान किया जाता है ॥ ४१८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

उपलब्धिर्वा । अन्यथा केनेदमुपलब्धमिति पर्यनुयोगेऽवतरति यदि नार्थापत्तिः परिहार एव न स्यात् । तस्मादर्थापत्त्या विज्ञानस्य सत्ताप्रतीतिस्तदसत् । उपलभ्यताया विचार्यत्वात् । परेण स्वयमेव चेति ।

परोपलभ्यताहेतुर्यदि केनोपलभ्यते । साप्यन्येनेति चेदेवमनवस्था प्रसज्यते ॥४१९॥
स्वयमेवोपलभ्यत्वे ग्राह्यस्यापि प्रसङ्गि तत् । स्वबोधरूपं सकलमात्मवद् वस्तु गृह्यताम् ॥४२०॥

अथात्मा स्वबोधकरूपतयोपलभ्यते रूपादिकन्तु परापेक्षतया । मयोपलब्धमेतदन्येनोपलब्धमिति व्यपदेशनिश्चयात् ।

परापेक्षा यदि ज्ञाता कथन्न परवेदनम् । परं विना परापेक्षा परापेक्षा कथन्न सा ॥४२१॥
सन्दिग्धेऽपि परापेक्षा सन्दिग्धैश्चैव निश्चिता । अनिश्चितस्य हेतुत्वन्निश्चयाय न विद्यते ॥४२२॥
अथात्मापेक्षा वेद्यत्वं सिद्धमात्मस्ववेदनात् ।
स्ववेदनं समस्तं स्यादात्मवन्नान्यवेदनम् । बुद्धिरन्या तथा नास्ति तावन्मात्रात् समाप्तितः ॥४२३॥

अथापि स्याद् । यथाहमात्मा कर्त्तेति ज्ञातेति च सामानिधिकरण्यन्तथाहं कुड्यङ्घटः पटः स शकटमिति स्यात् । तथा यथा मम संवेदनन्तथा मम रूपं स्पर्शो गन्ध

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इस उपलब्धि के विषय में प्रश्न उठता है कि "केनोपलब्धम्?" इसके उत्तर में यदि उपलम्भक की अर्थापत्ति का उदय नहीं होता, तब उक्त प्रश्न का परिहार नहीं हो सकता । अतः उक्त अर्थापत्ति के आधार पर विज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि बाह्य पदार्थ की उपलभ्यता ही विचारणीय है कि बाह्य पदार्थ की उपलब्धि स्वतः होती है या परतः ? अन्य से उपलब्धि मानने पर पट की उपलब्धि किससे ? यह प्रश्न उठता है । उसके उत्तर में पर-पर को मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है ॥४१९॥ यदि कहा जाता है कि बाह्य पदार्थ स्वयं ही उपलब्ध होता है, तब बाह्य अर्थ की बोधरूपता सिद्ध होती है । पराभ्युनगत आत्मा के ही समान सकल पदार्थ बोधरूप ही पर्यवसित होता है ॥ ४२० ॥

यदि कहा जाय कि आत्मा स्वबोधकत्वेन और रूपादि विषय पर-बोधित रूप से व्यवस्थित हैं, क्योंकि आत्मा के लिए "मयैवोपलब्धम्" और रूपादि विषय के लिए "अन्येन ज्ञानेनोपलब्धम्"—ऐसा अनुभव होता है । आत्मा का भान यदि पर-सापेक्ष है, तब वैसा अनुभव क्यों नहीं होता ? पर के बिना परापेक्षा को परापेक्षा नहीं कहा जा सकता ॥४२१॥ सन्दिग्ध अर्थ में भी परापेक्षा सन्दिग्ध कारणों से ही निश्चित होती है । अनिश्चितगत हेतुता निश्चायक नहीं होती ॥४२२॥

यदि आत्मा स्वापेक्षा से वेद्यता है, तब आत्मा स्ववेद्य सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार समस्त पदार्थों में स्व-वेद्यता ही होगी, अन्यवेद्यता नहीं । वैसे ही बुद्धि में भी अन्य-वेद्यता नहीं, क्योंकि वेदकता बुद्धि में समाप्त हो जाती है ॥ ४२३ ॥

शंका—विज्ञान ही अहं पदार्थ है । वही यदि घटादि के रूप में विवर्तित होता है, तब "अहमात्मा" "अहं कर्त्ता", "अहं ज्ञाता" इत्यादि प्रतीतियों के समान ही "अहं घट", "अहं शकटम्"—इस प्रकार सामानाधिकरण्य-प्रतीति होनी चाहिए । वैसे ही "मम संवेदनम्" के समान ही "मम रूपम्" ऐसी प्रतीति होनी चाहिए ।

समाधान—उक्त आशंका निःसार है, क्योंकि यदि समानाधिकरण्य के व्यवहार-मात्र से एकता सिद्ध होती है, तब "अहं गौरः"—इत्यादि समानाधिकरण्य-प्रतीतियों

वार्तिकालङ्कारः

इत्यपि स्यात्। तदपि यत्किञ्चित्।

सामानाधिकरण्यस्य प्रसादादेकता यदि। अहं गौरादिरित्येवं समानाधारता न किम् ॥४२४॥

यत्र सामानाधिकरण्यम्।

यदि तत्रैकतावश्यन्तदभावादनेकता। तदा भवेदनेकत्वे न साध्यन्न विपर्ययः ॥४२५॥

तथा राहोः शिर इत्यसामानाधिकरण्येऽपि न भेदः।

बाध्यते भेददृष्ट्या चेच्छिरो राहोरिदं यदि। स्वसंवित्तिरिहाप्यस्ति भेदाध्यारोपबाधिनी ॥४२६॥

यथा खलु राहोः शिर इति भेदाध्यारोपस्तं द्विपर्ययोपलम्भेन बाध्यते। तथा मम संवेदनं मम रूपस्य दर्शनमिति स्वसंवेदनमात्रेण बाध्यताम्। न हि नीलशरीर-मुखादिवेदनम्भेदवत् स्वरूपसंवेदनस्य प्रतिपादनात्।

जातं संविदितं वस्तु सामानाधिकरण्यदृक्। किन्नास्ति येन संवेद्य संविदोऽभेदकल्पना ॥४२७॥

कथन्तर्हि पारमार्थिकभेदादर्शने भेदाध्यारोपोऽपि। न खलु निबन्धनमन्तरेण किञ्चिदुदयवत्।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामभेदस्यास्य प्रकल्पना। अनादिवासनासङ्गादन्वयव्यतिरेकवित् ॥४२८॥

मामन्तरेणापि रूपादिकम्परेण निरूप्यते।

अनिरूपितमेवास्तु। अन्यत्र वा भवति। ततो देशकालस्वरूपप्रतिबन्धाद् भेद-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के आधार पर चार्वाक-कल्पित भूतात्मवाद की सिद्धि क्यों न होगी ॥४२४॥ दूसरी बात यह भी है कि यदि जिन दो पदार्थों में सामानाधिकरण्य-व्यवहार होता है। उनमें यदि एकता है, तब उसके अभाव में अनेकता होगी। अनेकता में न साध्य की और न साध्याभाव की सिद्धि होगी ॥४२५॥ "मम आत्मा" के समान ही "राहोः शिरः"—इत्यादि स्थलों पर अनिष्टापत्ति क्यों न होगी ? यदि "राहोः शिरः"—इस प्रकार का असामानाधिकरण्य होने पर भी भेद सिद्ध नहीं होता, तब "राहोः शिरः" के समान ही "मम आत्मा" इत्यादि व्यवहारों से ज्ञान का अभेद बाधित क्यों होगा ? प्रकृत में भी तो भेद को अध्यारोपित सिद्ध करनेवाली स्वसंवित्ति विद्यमान है ॥४२६॥ अर्थात् जैसे "राहोः शिरः"—यहाँ पर राहु और शिर के समान अभिन्न पदार्थों में भी भेद का अध्यारोप होता है। और उसके विपरीत राहु और शिर का अभेद उपलम्भ होने से भेद बाधित होता है। वैसे ही "मम संवेदनम्—इस प्रकार का भेद "मम रूपस्य दर्शनम्" से बाधित क्यों न होगा ? प्रकृत में भी "मम संवेदनम्"—इस प्रकार का आरोपित भेद भी "अहं ज्ञाता"—इत्यादि अभेद-व्यवहार से बाधित क्यों न होगा ?

सँविदित वस्तु के लिए जब 'अहं जानामि"—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य देखा जाता है, तब संवित् से संवेद्य के भेद की कल्पना क्योंकर होगी ॥४२७॥

प्रश्न—ज्ञान और ज्ञेय के पारमार्थिक भेद-दर्शन के भिन भेद का आरोप भी कैसे होगा ? निमित्त के बिना कोई नैमित्तिक नहीं होगा।

उत्तर—अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर भेद की कल्पना अनादि संस्कारों के आधार पर सिद्ध होती है ॥४२८॥ रूपादि विषयों का अपने निरूपक ज्ञान से भेद न होने पर भी कल्पित भेद वाले भिन्न ज्ञान से निरूपण माना जाता है।

अज्ञात सत्ता ज्ञान से निरूपित नहीं होती अतः ज्ञान से अन्यत्र विशेष देश-काल में अवस्थित बाह्य पदार्थ की ज्ञान-भेद-कल्पना का अवतार होता है। अन्वय-व्यतिरेक

वार्तिकालङ्कारः

प्रकल्पनावतारः। न चान्वयव्यतिरेकयोः परमार्थतः संवेदनमिति प्रतिपादितम्। यतः—

प्रत्यक्षेणान्वयस्यैव स्वरूपस्य च वेदनम्। भावाभावविभागस्यावेदने वेदनाभिमा ॥४२९॥

अवेदनेऽपि वेदनाभिमानः कस्यचिद्। यथा कृतमेतन्मया दृष्टमेतन्मयेति। तत्रातीतत्वादवेदनस्य विस्मरणे भवत्यभिमान इति चेत्। किमिदं विस्मरणन्नाम। विपरीताध्यारोप इति चेत्। इहापि समानम्। संस्कारक्षय इति चेत्, न, संस्कारस्याभावात्। न हि संस्कारस्य प्रागभावमन्तरेण क्षयः। न हि भूतं क्षयमुपनेतुं शक्यमिति प्रतिपादितम्। यदि च संस्काराभावः कारणं विपरीताध्यारोपस्य। भेदाध्यारोपोऽन्वयव्यतिरेकाध्यारोपोऽपि तथास्त्विति कोऽत्र विरोधः। न च परमार्थतोऽन्वयव्यतिरेकप्रतिपत्तिरन्यत्राभिमानात्। अभिमानमात्रमेव सकलमिति। तस्माद् विवेकतो ग्रहणेऽपि पूर्वापरयोरेकताभ्युपगन्तव्याऽन्यथा ज्ञानमात्रकम्। न च साभ्युपगन्तुं शक्या। यतः—विवेकीनि निरस्यान्यदेति।

न ह्यदृश्यमानमस्तीति शक्यमभ्युपगन्तुम्। न च तस्मिन्नसत्यवयवाविवेकिनो निर्विवेकस्यावयविन इति शक्यप्रतिपादनम्। तस्माद् बाह्यमर्थमभ्युपगच्छता सकृदेव ग्रहणमभ्युपगन्तव्यम्।

नन्वनेकमेकेन कथन्दृश्यते सकृत्। न हि दर्शनमेकत्र प्रवृत्तमन्यत्र तदेव प्रवर्त्तितुम्प्रभवति। यद्यनेकदर्शनमेवमेव नान्यथेति प्रतिपादितम्। परमार्थतस्तु स्वसंवेदनमेकमेव।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के आधार पर परमार्थतः संवेदन रूपता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा केवल स्वरूप भूत अन्वय का ही ग्रहण होता है। भावाभाव-विभाग के अवेदन में वेदनाभिमान होता है ॥४२९॥ अर्थात् कतिपय लोगों को अज्ञान में ज्ञाताभिमान होता है। अतएव लोग कहा करते हैं—"कृतमेतत् मया," "दृष्टमेतन्मया"। यदि कहा जाय कि वहाँ वेदन का विस्मरण हो जाने पर अवेदन का अभिमान होता है। तब प्रश्न उठता है कि यह विस्मरण क्या है? यदि कहा जाय कि विपरीत-अध्यारोप विस्मरण है। तब वह तो यहाँ है ही, अभिमानमात्र नहीं। संस्कार-नाश को विस्मरण मानने पर विरोध आता है कि संस्कार थे ही नहीं तो नाश किसका होगा? किसी पदार्थ का प्रागभाव होने पर ही ध्वंस होता है। भूत या अतीत वस्तु का क्षय नहीं किया जा सकता—ऐसा कहा जा चुका है। यदि संस्काराभाव ही विपरीत अध्यारोप का कारण है, तब भेदाध्यारोप और अन्वय-व्यतिरेक का अध्यारोप भी उसी प्रकार हो सकता है, विरोध क्या? अध्यारोप के बिना अन्वय-व्यतिरेक की पारमार्थिक प्रतिपत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि सकल पदार्थ अभिमानात्मक ही हैं। फलतः पूर्वापर की विवेकिता के होने पर भी एकता माननी पड़ती है, अन्यथा ज्ञानमात्र ही तथ्य है। पूर्वापर की एकता मानी नहीं जा सकती, क्योंकि अदृश्मान वस्तु है—ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, जैसे तन्तवादि से भिन्न पटरूप अवयवी की सत्ता पृथक् नहीं मानी जा सकती, वैसे ही ज्ञानकारता से भिन्न विषय की पृथक् बाह्य सत्ता नहीं मानी जा सकती। अन्यथा समक्ष विषयों का युगपद् ग्रहण होना चाहिए।

शङ्का—अनेक विषयों का एक ज्ञान के द्वारा युगपत् ग्रहण क्योंकर होगा? एक ज्ञान जब एक विषय के ग्रहण में प्रवृत्त होता है। तभी अन्य विषय के ग्रहण में प्रवृत्त कैसे होगा? एक काल में अनेक पदार्थों का ग्रहण कर सकता है—यह पहले ही प्रतिपादित

को वा विरोधो बहवः सञ्जातातिशयाः पृथक् ।
भवेयुः कारणं बुद्धेर्यदि नात्मेन्द्रियादिवत् ॥ २२३ ॥

बहुत परमाणुओं के पुञ्ज में यदि ऐसी अतिशयता आ जाती है कि मिलकर एक ज्ञान के जनक बन जाते हैं, तब विरोध क्या ? आत्मा और इन्द्रिय आदि भी तो मिलकर ही ज्ञान के जनक माने जाते हैं ॥ २२३ ॥

वार्त्तिकालङ्कारः

नान्येनान्यस्य ग्रहणसम्भवः ।

किञ्च । न ग्रहणन्नाम कस्यचिदपि तु तदाकारतया बुद्धेरुत्पत्तिः । न चानेकमेकस्याजनकम् । यतः—को वा विरोधो बहव इति ।

यथैव हीन्द्रियार्थमनस्कारा आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षा वा सकृदेकमिन्द्रियविज्ञानं जनयन्ति तथा यदि परमाणवोऽपि को विरोधः ।

नन्वनित्यत्वेऽपि परमाणूनां कोऽतिशयः । न हि परमाणवः सहकारिसन्निधानेऽपि महान्तो भवन्ति । सूक्ष्मताञ्चेन्न परित्यजन्ति कथं ग्राह्याः । तदप्यसत्—

महत्तातिशयो नात्र सामर्थ्यातिशयः स तु । असामर्थ्यादहेतुत्वममहत्वात्तु नेष्यते ॥ ४३० ॥

यदि परमाणोः स्वरूपानुकारिधीजननन्दृश्यता । सा नास्त्येवेति सिद्धसाध्यता । अथ विज्ञानमात्रजननम् । तदस्त्येव न विरुद्धं केशादिषु दर्शनात् । यथैव केशा दवीयसि देशेऽसंसक्ता अपि घनसन्निवेशावभासिनः परमाणवोऽपि तथेति न विरोधः । तदपि सूक्ष्माः कथञ्जनयन्ति । केवलवदेवेति चेत् । केवलानामसामर्थ्यात् । असामर्थ्यमेव

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

हो चुका है । परमार्थतः स्वसंवेदन ज्ञान एक ही होता है । अन्य से अन्य का ग्रहण नहीं हो सकता । दूसरी बात यह भी है कि ग्रहण का अर्थ होता है—विषयाकारतया बुद्धि उत्पत्ति । अनेक विषय एक ज्ञान के जनक नहीं होते ।

समाधान—जैसे इन्द्रियार्थ मनस्कार अथवा आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के सन्निकर्ष मिलकर एक इन्द्रिय-विज्ञान के जनक होते हैं । वैसे ही यदि अनेक परमाणु भिन्न कर एक ज्ञान उत्पन्न करते हैं, तब क्या विरोध ?

यदि कहा जाय कि परमाणुओं को अनित्य मान लेने पर भी उनमें वह कौन-सी विशेषता है कि मिल कर एक ज्ञान उत्पन्न कर देते हैं ? जब तक वे सूक्ष्मता का त्याग नहीं करते तब तक कितना भी सहकारी करने का सन्निधान हो वे महान् (महत्त्वगुणवान्) नहीं हो सकते । वे प्रत्यक्ष ज्ञान के ग्राह्य क्योंकर होंगे ?

तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ महतातिशय सामर्थ्यातिशय नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान की हेतुता उनमें महत्त्वाभाव के कारण नहीं मानी जाती ॥४३०॥ अर्थात् यदि परमाणुओं में स्वरूपानुकार ज्ञान की जनन-योग्यता दृश्यता मानी जाती है । वह तो है नहीं, अतः सिद्ध-साध्यता है । यदि विज्ञानमात्र- जनन हैं, वह तो है ही, किसी किसी प्रकार का विरोध नहीं, क्योंकि केशादि के समूह में ज्ञान-जनन देखा जाता है । जैसे दूर-दूर बिखरे केश देखे नहीं जाते किन्तु मिलकर सब सन्निवेश होकर प्रत्यक्ष हो जाते हैं, वैसे ही परमाणु भी समूहित होकर दृश्य हो जाते हैं, कोई विरोध नहीं । किन्तु यहाँ भी सन्देह होता है कि परमाणु सूक्ष्म (महत्तत्त्व-रहित) हैं, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान के जनक क्योंकर हो सकेंगे ? अर्थात् जैसे प्रत्येक परमाणु सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष

हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन ।
तत्र बुद्धिर्यदाभासा तस्याः तद्ग्राह्यमुच्यते ॥ २२४ ॥

विषयगत ज्ञान-हेतुता ही ग्राह्यता है। यद्यपि ज्ञान की हेतुता इन्द्रियों में है, किन्तु ग्राह्यता नहीं, तथापि हेतुओं में बुद्धि यदाकारा होती है, वह ग्राह्य होता है। बुद्धि इन्द्रियाकारा नहीं होती, अतः इन्द्रियग्राह्य नहीं, अपितु घटाद्याकारा होती है, अतः घटादि ही ग्राह्य होते हैं ॥ २२४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

हेतुभावविरोधि न सूक्ष्मता। केशवदेव न चेन्द्रियादीनां स्थूलतादिविशेष उपजायते सामग्र्यवस्थायाम्। अथ च सामर्थ्यविशेषादेव जनकत्वम्। कथन्तर्हि परेण सन्निहितेन तत्सामर्थ्यान्न दृश्यते। अदृश्यमानं कथमस्ति। कथञ्च समानत्वे तदेकस्य कार्यञ्जनयति नापरस्येति विभागः। दूरदेशतादिसहकारिताविभागात्।

ननु दूरदेशत्वेनापि त एव केशाः कुतो विभागः। सामग्र्यन्तरानुप्रवेशादिति विचारितमेतत्। यदि कारणत्वाद् ग्रहणञ्चक्षुरादीनामपि ग्राह्यताप्रसङ्गः कारणत्वात्। यदाह—हेतुभावादृते नान्येति।

रूपायतनसामान्येन तदाकारता न परमार्थतः। तथा हि नीलपरमाणुसञ्चयान्नीलाकारता विज्ञानस्य। परमाण्वाकारता मा भूत्।

ननु यदि परमाण्वाकारता न प्रतिभाति परमाणूनामियन्नीलाकारतेति कुतः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं होता, वैसे परमाणु-समूह भी सूक्ष्म है, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जैसे प्रत्येक परमाणु में प्रत्यक्षता का सामर्थ्य नहीं, वैसे ही परमाणु-राशि में भी सामर्थ्य नहीं। केश-राशि के समान इन्द्रियादि में कोई स्थूलता नहीं आती क्योंकि उसकी सामग्री का अभाव है। फिर भी परमाणु-राशि में सामर्थ्य-विशेष से प्रत्यक्ष-जनकत्व यदि माना जाता है, तब प्रश्न उठता है कि तब परमाणु-राशि दिखाई क्यों नहीं देती? केशोण्डुक के समान दोषपूर्ण नेत्रवाले को जैसे वह दिखता है, दूसरे को नहीं दिखता। यदि केशोण्डुक में ही प्रत्यक्ष-सामर्थ्य माना जाता है, तब सब को उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए। जब दृश्यमान ही नहीं, तब कैसे जाना जाय कि सामर्थ्य है। बाह्य वस्तु जब सभी दर्शकों के लिए समान हैं, तब वह एक को प्रत्यक्ष और दूसरे को अप्रत्यक्ष—ऐसा विभाग होगा? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि सन्निहित देशरूप सहायक सामग्री जिसे सुलभ है, इसे प्रत्यक्ष होगा। उसके अभाव में प्रत्यक्ष नहीं होगा।

शंका—दूरदेश वाले व्यक्ति के लिए भी तो केश-राशि नहीं है, अतः विषय-विभाग कैसे? केशादि तो ज्ञान की सामग्री में ही अनुप्रवृष्ट हैं—यह पहले ही निर्णीत हो चुका है। यदि कारणों का भी विषय-कोटि में प्रवेश माना जाता है, तब चक्षुरादि का भी ग्रहण होना चाहिए, क्योंकि वे भी ज्ञान के कारण हैं। इसका यह समाधान किया गया है कि समस्त कारण ग्राह्य नहीं होता, अपितु ज्ञान जिसके आकार का ग्रहण करता है, वही ग्राह्य होता है। रूपायतन (रूप, चक्षु और ज्ञान) में सामान्यतः तदाकारता मानी जाती है, परमार्थता नहीं। अर्थात् होता है, भले ही परमाण्वाकारता न हो।

शंका—यदि ज्ञान में परमाण्वाकारता प्रतीत नहीं होती, तब "परमाणूनामियं

कथं वाऽवयवी ग्राह्यः सकृत् स्वावयवैः सह ।

न हि गोप्रत्ययो दृष्टः सास्नादीनामदर्शने ॥ २२५ ॥

जिसके मत में नियम है—"दानेकं सकृत् गृह्यते" । उसके मत में सास्नादि के अदर्शन-काल में उन अवयवों के सहित गोरूप अवयवी का दर्शन क्योंकर होगा ? ॥ २२५ ॥

गुणप्रधानाधिगमः सहाप्यभिमतो यदि ।

सम्पूर्णाङ्गो न गृह्येत सकृन्नापि गुणादिमान् ॥ २२६ ॥

यदि "नीलो गौः"– इस प्रकार विशेषण-विशेष्य-भावापन्न कतिपय पदार्थों का ग्रहण सकृद् मान लिया जाता है, तब समग्र गुण, कर्म समान्यादि सकृद् ग्रहण दृष्ट-विरुद्ध होने से सम्भव नहीं ॥ २२६ ॥

विवक्षापरतन्त्रत्वाद् विशेषणविशेष्ययोः ।

यदङ्गभावेनोपात्तं तत् तेनैव हि गृह्यते ॥ २२७ ॥

विशेषण-विशेष्यभाव सभी पुरुषों का एक जैसा नहीं होता, अपितु प्रत्येक पुरुष अपनी-अपनी विवक्षा के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है—कोई "दण्डी पुरुषः" कहता है तो कोई 'पुरुषो दण्डी' । जिस व्यक्ति का जिसमें अनुभाव (विशेषणभाव) विवक्षित है, उसी के लिए विशेषणभाव होता है, अन्य के लिए नहीं, फलतः सर्वाङ्गाङ्गीभाव का ग्रहण सम्भव नहीं ॥ २२७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अन्यथाऽयोगादिति न दोषः । यदि च सकृदनेकन्न गृह्यते तदायमपरो दोषः । यदाह—कथं वावयवी ग्राह्य इति ।

गृह्यत एवेति चेत् । न । तथा हि—न हि गोप्रत्ययो दृष्ट इति ।

यदेव विशेषणत्वेनोपादित्सितं तेनैवाङ्गेन ग्रहणात् सम्पूर्णाङ्गस्याग्रहणम् । सर्वं एव ते विशेषणमिति चेत् । न । यतः—विवक्षापरतन्त्रत्वादिति ।

न हि विशेषणविशेष्यभावः पारमार्थिकः । विशेषणस्यैव परेणान्यदा च तेनैव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नीलाकारता", ऐसी प्रतीति कैसे होती है ?

समाधान—परमाणु-संयोग न होने पर परमाणुओं के समूह का संयोग भी नहीं हो सकता । यदि अनेक पदार्थों का सकृत् ग्रहण नहीं होता तब परमाणुपुञ्जरूप घटादि का ग्रहण कैसे होगा ? यदि नीलादि गुण और गवादि प्रधान का एक साथ ग्रहण माना जाता है तब भी गवादि प्रधान द्रव्य के विशेषणभूत गुण, कर्म और सामान्य का पूर्णतया ग्रहण सम्भव नहीं । क्योंकि 'नीलो गौः' यहाँ पर विशेषण के रूप में एक नीलमात्र का ग्रहण किया गया है, अतः केवल नील-गुणविशिष्ट गौ का ही ग्रहण हुआ, पीतादि गुण, कर्म और सामान्य आदि का नहीं । यदि कहा जाय कि नील के समान ही पीतादि भी गौ के गुण हैं तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि गुणप्रधान-भाव पुरुष की अपनी विवक्षा पर निर्भर होता है । एक पुरुष 'दण्डी पुरुषः' प्रयोग करता है तो दूसरा 'पुरुषो दण्डी', एक काल में सभी पुरुषों की विवक्षा के अधीन सभी गुणों का प्रधान के साथ प्रयोग नहीं

स्वतो वस्त्वन्तराभेदाद् गुणादेर्भेदकस्य च।
अग्रहादेकबुद्धिः स्यात् पश्यतोऽपि परापरम् ॥ २२८ ॥

"गौः स्वतः न गौः" है और "न अगौः", अपितु गोत्व के सम्बन्ध से गौ और गोत्व के असम्बन्ध से अगौ। द्रव्य के भेदक जाति, गुणादि विशेषणों का द्रव्य के साथ ग्रहण होता नहीं, अतः विभिन्न पदार्थों को देखते हुए भी एकाकार बुद्धि आपाततः होती है ॥ २२८ ॥

गुणादिभेदके ग्रहणान्नानात्वप्रतिपद् यदि।
अस्तु नाम तथाप्येषां भवेत् सम्बन्धिसङ्करः ॥ २२९ ॥

प्रथमतः शुद्ध द्रव्य का ग्रहण हो जाने के पश्चात् यदि द्रव्य-भेदक गुण, कर्म, सामान्यादि का ग्रहण होता है, तो क्या हुआ ? उनके सम्बन्धियों का साङ्कर्य ही हो जाता है ॥ २२९ ॥

शब्दादीनामनेकत्वात् सिद्धोऽनेकग्रहः सकृत्।
सन्निवेशग्रहायोगादग्रहे सन्निवेशिनाम् ॥ २३० ॥

वार्तिकालङ्कारः

विशेष्यतया प्रतीतेः। तथा हि गोविषाणं विषाणी गौः। गौः शुक्लो गौर्वर्तुलः परिमण्डलो वा न भवतीति प्रतिपत्तिवैचित्र्यन्दृश्यते। न युगपत्सकलविशेषणग्रहणम्। अनेकस्य विशेषणत्वेन सकृद् गृहीतुमशक्यत्वात्। न चाविकल्पितो विशेषणविशेष्यभावग्रहः अपि च—स्वतो वस्त्वन्तराभेदादिति।

स्वतो हि गौर्न गौर्नागौः। गोत्वयोगाद् गौरिति। तथा हि शुक्लो न शुक्लो नाप्यशुक्लः शुक्लयोगाच्छुक्ल इत्यादि। ततश्च गुणादेर्भेदस्य युगपद् ग्रहात् परापरदर्शनेऽप्येकबुद्धिरेव स्यात्। पश्चाद् गुणस्य केवलस्य ग्रहणमिति प्राप्तम्। अथ गुणस्य ग्रहणाद् भेदबुद्धिः पश्चाद् भविष्यति। अत्रोच्यते—गुणादिभेदग्रहणादिति।

पूर्वमेकतया द्रव्ये गृहीते पश्चाद् विशेषणग्रहणेऽपि योजनाविवेकेन न भवतीति सङ्करप्रसङ्गः। तथा हि—एकतया गृहीते पश्चाद् विशेषणमेकत्रैवानेकमपि योजितमित्यनेकमपि विशेषणमेकस्येति स्यात्। देशाभेदेन भिन्नयोजने नैकमिति चेत्, न, देशभेदस्यापि विशेषणत्वात् सोऽपि देशभेद एकस्यैवेति स्यात्। तस्मादनेकमेकदा न गृह्यते। पश्चाच्च विशेषणं गृहीतन्न ज्ञायेत कस्येति। भिन्नाभिन्नविशेषणपक्षे तु, न भेदः कस्यचिदस्तीति सुतरां सम्बन्धिसङ्करः। साङ्ख्यदर्शने तु—शब्दादीनामनेकत्वादिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

हो सकता। जैसा कि कहा गया है "स्वतो गौर्न गौः नाप्यगौः" किन्तु "गोत्वसम्बन्धात्तु गौः, तदसम्बन्धात्तु अगौः" (?) विशेषणों का सम्बन्ध विशेष्य को विशिष्ट बनाता है, स्वतः उसमें विशिष्टता नहीं रहती। सभी विशेषणों का एक काल में ग्रहण न होने के कारण विशेष्य में भेद-व्यवहार भी नहीं होता। पश्चात् विशेषणों का ग्रहण हो जाने पर पश्चात् द्रव्य का भेद क्यों न होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रथमतः एकत्वेन गृहीत वस्तु यदि पश्चात् नाना हो जाती है तब सर्वत्र साङ्कर्य प्रसक्त होगा। फलतः अनेक पदार्थों का एकसाथ ग्रहण नहीं होगा विशेषण का पश्चात् ग्रहण होने पर यह

सांख्य-मत में भी शब्दादि प्रपञ्च, सुख, दुःख, मोहात्मक रूप में अनेक माने जाते हैं, अतः शब्दादि का ग्रहण होने पर युगपत् अनेक ग्रहण सिद्ध हो जाता है, क्योंकि सन्निवेशी पदार्थों का ग्रहण न होने पर सन्निवेश (समूह) का ग्रहण नहीं हो सकता। मुट्ठी का ग्रहण तब तक नहीं होता, जब तक मुट्ठी की घटकीभूत उँगलियों का ग्रहण न हो ॥ २३० ॥

वार्तिकालङ्कारः

पञ्चानान्तन्मात्राणां सन्निवेशविशेषः सकलं घटादिवस्तु त्रिगुणात्मकं वा। ततः शब्दादिग्रहणे त्रिगुणग्रहणं तन्मात्रग्रहणं वा। न च तदग्रहणे तत्सन्निवेशग्रहणसम्भवः। नाङ्गुल्यग्रहणे मुष्टेर्ग्रहणम्। न च कर्णान्तरमेकमेवोत्पत्तिमत्। सर्वस्य कार्यस्य कारणादभिन्नत्वेनेष्टत्वात्। परिणामपक्षश्च तैरिष्यते, न च कार्यपक्षः। परिणामश्च तत्त्वादप्रच्युतस्य धर्मान्तरपरित्यागोऽपरस्परोत्पत्तिः। तत्र शब्दपरिणाम आकाशः। शब्दस्पर्शपरिणतिर्वायुः। शब्दस्पर्शरूपपरिणतिस्तेजः। शब्दस्पर्शरूपरसपरिणतिरुदकम्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धपरिणतिः पृथिवीत्यनेकता घटादीनाम्। तद्ग्रहणेनेकग्रहणमिति सिद्धम्। शेषः परिहारः पूर्ववदेव।

तस्मात् सकृदनेकग्रहणेऽपि न सविकल्पकत्वम्। निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति स्थितम्। यद्यविकल्पकं प्रत्यक्षङ्कथन्तर्हि धर्मिधर्मादिग्रहणम्प्रत्यक्षतः। प्रत्यक्षेण चाग्रहणे धर्मिणोऽनुमानावताराभावः। धर्मिणोऽप्यनुमानेन ग्रहणे तत्राप्यपरो धर्मीत्यनवस्थापातः। धर्मिग्रहणे चानेकधर्मखचितात्मनस्तस्य ग्रहणमिति कथं विकल्पकत्वम्। अत्रोच्यते—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञान नहीं हो सकता कि वह विशेषण किसका है। विशेषण और विशेष्य के भिन्नाभिन्न पक्ष पर भी साङ्कर्य प्रसक्त होता है।

साङ्ख्यदर्शन में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों का सन्निवेश घटादि के रूप में माना जाता है अथवा सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं। अतः शब्दादि का ग्रहण हो जाने पर अनेकता का ग्रहण होता है। शब्दादिरूप सन्निवेशी का ग्रहण न होने पर उनके सन्निवेश या समूह का ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे कि लोक में कहावत प्रसिद्ध है—अङ्गुली का ग्रहण न होने पर मुष्ठि का ग्रह नहीं होता। सभी कार्य कारण से अभिन्न माने जाते हैं, क्योंकि साङ्ख्यमत में परिणाम पक्ष का ग्रहण है, आरम्भ पक्ष का नहीं। परिणाम पक्ष में पूर्वत्व का परित्याग न होकर रूपान्तर की प्राप्ति मानी जाती है। जैसे की शब्द-स्पर्श की परिणति वायु है। शब्द-स्पर्श-रूप का परिणाम तेज है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस का परिणाम जल है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का परिणाम पृथिवी है। अतः घटादि पदार्थों में अनेकता ही सिद्ध होती है। फलतः युगपद् अनेक पदार्थों का ग्रहण होने पर भी सविकल्पकत्व प्रसक्त नहीं होता। प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही होता है, यह कहा जा चुका है।

यदि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है, तब दण्डी पुरुष के प्रत्यक्ष में दण्ड और पुरुष का धर्म-धर्मी भाव कैसे? धर्मी का प्रत्यक्षतः ग्रहण के अभाव में अनुमान की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। धर्मी का प्रत्यक्ष से ग्रहण न मानकर अनुमान से मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है। धर्मी का प्रत्यक्षतः ग्रहण मानने पर उसके अनेक धर्म समुच्चरित

वार्तिकालङ्कारः

धर्मिणोऽनेकरूपस्य नेन्द्रियात् सर्वथा गतिः। स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः ॥४३१॥

न ह्यनेकरूपादिधर्मयोगी कश्चिद् धर्मी गृह्यते। इन्द्रियविज्ञानेनापि तु स्वेनैव संवेद्यरूपेण कर्त्ता च तदेव रूपमध्यक्षस्य विषयः। तथा हि—

परस्परवियोगेन रूपादेश्चक्षुरादिकात्। ग्रहणञ्जायते तेषामेकाधारतयाऽगतेः ॥४३२॥

न खलु रूपादिधर्मीन्द्रियविज्ञानैरुपलभ्यते। रूपादीनामेव परस्परविवेकिनां ग्रहणान्नापर आधारस्तद्गता वा ग्रहणगोचर इति प्रतिपादितमेतत्।

ननु यदेवाहमद्राक्षन्तदेव स्पृशामीत्यादिगतेर्गम्यत एकाधारतैकता वा। न प्रत्यभिज्ञानं भवति प्रत्यक्षमिति प्रतिपादितत्वात्। रूपस्पर्शविज्ञानप्रबोधितानादिवासनातः तथा प्रत्ययोदयात्। तथा हि—

चाक्षुषं रूपमात्रस्य स्पृश्यमात्रस्य चापरम्। संवेदनं वेदनायाम्प्रवृत्तमिति दृश्यते ॥४३३॥

न चापरेण परस्परसमागमस्तयोरुपलभ्यते। स्पृशन्नेष पश्यतीति चेत्, न, रूपे स्पर्शनिवेशाभावात्। एकता च तथा सिध्यति यद्येकार्थनिवेशप्रीतीतिः।

ननु दृष्टं शुक्लं स्पर्शनेन मलिनीकृतमुपलभ्यते हस्तलग्नञ्च। तत्कथन्नैकार्था-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रूपत्व का प्रत्यक्षतः ग्रहण होता है, तब प्रत्यक्ष-निर्विकल्पक कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनेक धर्मात्मक धर्मी का इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता, क्यों कि स्वसंवेद्य और अनिर्देश्यरूप रूप इन्द्रिय का विषय माना जाता है ॥ ४३१ ॥ अर्थात् रूपादि अनेक धर्मों से विशिष्ट किसी धर्मी का ग्रहण नहीं होता, अपितु स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष धर्म-धर्मी-भाव से रहित निर्विकल्प को विषय करता है। अर्थात् जैसे रूपरसादि के पुञ्ज-भूत घटादि के केवल रूप का ही ग्रहण चक्षु करता है, वैसे ही समस्त विकल्पों से रहित निर्विकल्प वस्तु मात्र का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है, अनेक धर्माधारत्वेन वस्तु का नहीं ॥ ४३२ ॥

रूपादि गुणों का धर्मी इन्द्रियों और ज्ञानों के द्वारा गृहीत नहीं होता, केवल परस्पर भिन्न रूपादि गुणों का ही ग्रहण होता है, उनसे भिन्न कोई गुणों का आधार द्रव्य गृहीत नहीं होता—इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा चुका है। "पदेवाहपद्राक्षम् तदेव स्मरणाय"—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा के द्वारा गुणादि के आधार द्रव्य और उसका एकता का ग्रहण होता है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा की प्रत्यक्ष प्रमाणत्व का निरास किया जा चुका है। वस्तुतः रूपस्पर्शादि-ज्ञान से प्रबोधित संस्कारों के द्वारा वैसी प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् चक्षु के द्वारा रूपमात्र और त्वगिन्द्रिय के द्वारा स्पर्शमात्र का ग्रहण होता है, उसी के आधार पर वैसा आभास हो जाता है ॥ ४३३ ॥ उक्त ज्ञानों से भिन्न किसी ज्ञान के द्वारा दोनों के आधार द्रव्य का या उसकी एकता का ग्रहण नहीं होता। यदि कहा जाय कि आधार द्रव्य का स्पर्श करता हुआ ही पुरुष उसको देखता है, अतः उसकी एकता का ज्ञान क्यों नहीं होगा ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ एकता की सिद्धि तब हो सकती थी, जब उन दोनों इन्द्रियों के द्वारा एक ही अर्थ का ग्रहण होता, किन्तु वैसा नहीं, अपितु चक्षु के द्वारा केवल रूप और त्वगन्द्रिय द्वारा केवल स्पर्श का ही ग्रहण होता है।

नेत्र से गृहीत शुक्ल वस्त्र को मैले हाथों से स्पर्श करने पर धब्बे पड़ जाते हैं, अतः दृष्ट और स्पष्ट वस्त्र की एकता सिद्ध क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न के उत्तर में

वार्तिकालङ्कारः

भिनिवेशनम् । तदेत्तदाकाशावकाशकाशावलम्बनम् ।

यदा तत् स्पृश्यते वस्तु यस्य च स्पर्शगोचरः । तदा तेनाप्रतीतिश्चेदनुमानन्न साधकम् ।।४३४।।

प्रत्यक्षयोः परस्परं ग्राह्यग्राहकयोरनभिनिवेशे प्रत्यक्षेण भेदपरिच्छेदे नानुमान-सहस्रमपि सामर्थ्यपथप्रस्थायि । अथ तदेव स्पृशामीति मानस एष प्रत्ययः प्रमाणम् । न हीन्द्रियजमेव प्रमाणमिति प्रमाणमवतरति । इन्द्रियजमप्यर्थाव्यभिचारतः प्रमाणन्नेन्द्रि-यजत्वात् । मानसजत्वादित्यपि सम्भवात् । नैतदस्ति । यतः—

यदेवाद्राक्षमित्यादि प्रत्ययेऽव्यभिचारिता । नानुमानाद् विना कश्चिदर्वाग्दृगवगच्छति ।।४३५।।

तत्र हि यदि कश्चित् पर्यनुयुंक्ते । कथमवगतिर्भवतः प्राग्दृष्टस्य स्पृश्यतेति । तदा किमेवमेव प्रतीतिरिति नैतदस्ति । यद् दृष्टन्तत्स्पर्शकाले न दृष्टम् । ततः कथन्तदेव स्पृश्यत इति प्रतीतिः । तत्रेदमेवोत्तरम्—"येन तन्मलिनीकृतम् ।" ततो ज्ञायत एतदित्य-नुमानमुपदिशति । अस्पृश्यता तर्हि कथम्मलिनीक्रियते । स्पृश्यता तर्हि कस्मान्न प्रतीयते शुक्लमेतदिति स्पृश्यतायाः शुक्लेतरयोः समानरूपत्वादिति चेत् । न सदुत्तरमेतत् । यतः—

समानमसमानञ्च वस्त्वेकमिति साहसम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इतना ही कहा जा सकता है कि यह तो डूबते हुए व्यक्ति के समान केवल कुशकाशाव-लम्बन के समान निरर्थक है । जब रूपादि का प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तु की एकता सिद्ध करने में सफल नहीं हो सका, तब वह एक प्रकार का अनुमान प्रयोग उसकी एकता क्योंकर सिद्ध कर सकेगा ? ।। ४३४ ।। अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्ष और स्पर्श का एवं त्वाच प्रत्यक्ष और रूप का ग्राह्य-ग्राहक भाव न होने के कारण दोनों प्रत्यक्षों को मिलाकर एक प्रत्नभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष का उपपन्न होना सम्भव नहीं, अतः अभिमत एकता सिद्ध क्यों कर होगी ? प्रत्यक्ष प्रमाण से असिद्ध साध्य की सिद्धि अनुमान से कभी नहीं हो सकती ।

शंका—उक्त ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष विषयगत एकता का साधक न होने पर भी "तदेव स्पृशानि"— इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष प्रमाण क्यों न होगा ? ऐसा कोई नियम नहीं कि "इन्द्रियजमेव प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" इन्द्रिय-जन्य ज्ञान भी अर्थाव्यभिचारी होने के कारण ही प्रमाण होता है, केवल इन्द्रिय-जन्य होने से नहीं । अन्यथा मानस ज्ञान में भी मनोजन्यत्वात् प्रमाणता प्रसक्त होगी ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि "यदेवाद्राक्षम्, तदेव स्पृशामि"— इस प्रकार के ज्ञान में अर्थाव्यभिचारिता का अनुमान के बिना कोई साधारण (अयोगी) पुरुष अवगति नहीं कर सकता ।। ४३५ ।। यदि कोई ऐसा प्रश्न करता है कि "कथम-वगतिर्भवतः प्राग्दृष्टस्य स्पृश्यता ?" जब कि प्राग्दृष्ट पदार्थ स्पर्श-काल में है ही नहीं, तब उसी का स्पर्श कैसे ? इस प्रश्न का एकमात्र यही उत्तर है कि—"येन तन्मलिनी-कृतम्" । इस प्रकार एक अनुमान मात्र प्रस्तुत किया जाता है—"दृश्यमेव स्पृश्यम्, दृश्यस्यैव स्पर्शनेन मलिनीकृतत्वात् ।" यदि दृष्ट और स्पष्ट की एकता नहीं, तब दृष्ट वस्त्र का स्पर्श के द्वारा मलिनीकरण कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि नील और पीत की एकता है, तब नील और पीत रूपों की भी एकता होनी चाहिए, क्योंकि शुक्ल और अशुक्ल का स्पर्श एकात्मक है—ऐसा कहना एक दुःसाहस-मात्र है, क्योंकि स्पर्श तो नीलानील का समान और रूप असमान है, अतः उनकी

वार्तिकालङ्कारः

यत एव स्पर्शस्य समानताऽसमानता च रूपस्य तेन तयोरेकता न युक्ता विरुद्धधर्माध्यासात् । अथ प्रतीयते । तद्विचार्यते । किमेकाकारया प्रतीत्या अथ नानाकारया । नानाकारया प्रतीयमानं कथमेकम् । अथैकाकारतया । तदसत्यम् । रूपमप्रतीयमानं स्पर्शे प्रतीयमाने कथमेकाकारमतिग्राह्यम् । न हि प्रतीयमानमप्रतीयमानञ्च ग्राह्यमप्रतीयमानताऽयोगात् । तस्माद् न रूपादीनाम्भेदेनावयवी नाम कश्चित् । तस्मात् स्वेनैव रूपेण वेद्यन्ते रूपादयो न परस्पररूपेण । तथा स्वसंवेद्यमेव रूपन्न परसंवेद्यमत एव शब्देन परस्मै निर्द्देष्टुमशक्यत्वादवाच्यगोचरमिन्द्रियविज्ञानम् । यदि तर्हि शब्देन न निर्दिश्यते इन्द्रियगोचरः कथं यमहमश्रौषन्तमेव पश्यामीति गतिः । अनिर्दिष्टस्य हि कथमेवम्प्रतीतिः । तस्मादेव हि निर्देश्य इत्यवसीयते । तदेतदसत् । यतः—

प्रत्यभिज्ञा प्रमाणन्न भवत्येवेति साधितम् । ततस्तत्प्रत्ययादेष प्रतीतोऽर्थः कथम्मतः ।।४३६।।

न तावच्छब्दात् प्रतीतिकाले सोऽर्थः प्रतिभासते । सन्देह एव शब्दादर्थेऽन्यथा प्रत्यक्षप्रतीत इव न सन्देहसङ्गतिः ।

अथ समानः शब्दात् प्रतिभासो भावाभावयोरर्थस्य तेन सन्देहः । प्रत्यक्षेऽपि कस्मादेवन्न भवति । तत्र प्रतिभासविशेषोपलक्षणादेवन्न भवति । अत्रापि प्रतिभास-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

एकता कहना सम्भव कैसे होगा ? अर्थात् स्पर्श में समानाकारता और रूप में असमानाकारता है, अतः समानत्व और असमानत्वरूप विरुद्ध धर्मवाले पदार्थों की एकता हो ही नहीं सकती ।

दृष्ट और स्पृष्ट के एकत्व की जो प्रतीति कही जाती है, उस पर विचार किया जाता है कि वह एकत्व की प्रतीति क्या एकाकार-प्रतीति के कारण या अनेकाकार-प्रतीति के द्वारा ? अनेकाकार प्रतीयमान पदार्थ एक कैसे ? एकाकार-प्रतीति के द्वारा भी नहीं कह सकते, क्योंकि रूप अप्रतीयमान और स्पर्श अप्रतीयमान है, तब दोनों एकाकार प्रतीति के द्वारा ग्राह्य क्योंकर होंगे ? प्रतीयमान और अप्रतीयमान—दोनों ग्राह्य कैसे ? अन्यथा अप्रतीयमानता सम्भव नहीं । फलतः रूपादि अवयवों से भिन्न अवयवी नाम की कोई वस्तु नहीं । रूपादि स्वरूपतः ही वेद्य होते हैं, परस्पररूपेण नहीं, अतः रूप स्वसंवेद्य ही होता है, परसंवेद्य नहीं, अतः शब्द के द्वारा अन्य पुरुष को इङ्गित नहीं किया जा सकता, फलतः इन्द्रियज विज्ञान अवाच्य-विषयक ही होता है ।

शंका—यदि ऐन्द्रियक ज्ञान का विषय शब्द के द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता, तब "यमहमश्रौषम् , तमेव पश्यामि"—ऐसा भान कैसे होता है ? अनिर्दिष्ट की ऐसी प्रतीति सम्भव नहीं, अतः सिद्ध होता है कि इन्द्रियज विज्ञान का विषय निर्देश्य होता है ।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा ज्ञान प्रमाण ही नहीं होता—यह सिद्ध किया जा चुका है, तब उसके द्वारा प्रतीयमान अर्थ सत्य कैसे होगा ।।४३६।। "सोऽयम्"—इस प्रकार के शब्द के द्वारा पूर्वतन पदार्थ-विषयिणी प्रतीति के समय वह पदार्थ तो होता नहीं । शब्द के द्वारा अर्थ में सन्देह ही होता है, अन्यथा प्रत्यक्षतः प्रतीत अर्थ के समान सन्देह की सङ्गति नहीं होती, यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा शब्द के द्वारा समान प्रतिभास होने के कारण विषय में सन्देह हो जाता है, तब प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष में भी वैसा क्यों नहीं होता ? वहाँ विशेष प्रतिभास की

वार्तिकालङ्कारः

विशेषग्रहणं केनापनीयते विशेषाभावादेव । न तर्हि भावस्वभावग्राही शाब्दः प्रत्ययः । प्रत्यक्षविलक्षणत्वात् । यदि तु स्वरूपप्रतिपादनम्भवेत् । दर्शनमप्रमाणमेव भवेद् गृहीतग्रहणादर्थाभावश्च स्यात् । शाब्दादेव रूपस्वरूपप्रतिपत्तेः । अथ सामान्याकारेण प्रतीयते । कामलोपहतलोचनोऽपि तर्हि पीताकारेण शुक्लम्प्रत्येति । तदपि प्रायकत्वात् प्रमाणम्प्रसक्तम् । भवतु तदपि प्रमाणमिति चेत्, न, बाधनात् । गामानयेति शब्दः प्रत्ययो न बाध्यत इति प्रमाणमेव । न । अत्रापि बाधनात् । गामानयेति यद्यस्तित्वमाक्षिप्तन्तत्कदाचित् न भवत्यपि । अथ नाक्षिप्तम् । तत आनयनासम्भवात् सुतरामप्रमाणत्वम् । अथ यदि सम्भवत्यानयेति वक्तुरभिप्रायः । तदा सन्दिग्धानयनचोदनादप्रमाणमेव । सन्दिग्धमेव चोदितमिति चेत् । सन्दिग्धमेव गृहीतमिति सर्वः सन्देहप्रत्ययः प्रमाणम्भवेत् । न चाप्रमाणेन वस्तु गृह्यते । कथन्तर्ह्यानयनादावव्यभिचारः । नाव्यभिचारः सम्भवः । कस्यचिदकरणात् । न ह्यवश्यञ्चोदितं करोति । किञ्च—

क्रियायाङ्कारकः शब्दो यदि वा ज्ञापको मतः ।
कारकत्वेऽविसंवादाभावतो न प्रमाणता ॥ ४३७ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उपलब्धि होने से सन्देह नहीं होता, तब जिज्ञासा होती है कि प्रत्यभिज्ञा-स्थल पर भी विशेष प्रतिभास का ग्रहण क्यों नहीं किया जाता, कोई विशेषता तो उपलब्ध होती नहीं। अतः यह पर्यवसित होता है कि शाब्द ज्ञान विषयवस्तु के स्वरूप का ग्रहण नहीं करता, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान से विलक्षण है। यदि शब्द वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करता है, तब "घटं पश्य"—ऐसे शब्द-श्रवण के अनन्तर प्रवृत्त घट-दर्शन अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि विषयवस्तु का बोध शब्द ही करा देता है, दर्शन उसी को विषय करता है, अतः दर्शन गृहीत-ग्राही होने से स्मृति के समान प्रमाण क्योंकर होगा ? यदि कहा जाय कि शब्द के द्वारा वस्तु का केवल सामान्याकारता ही ज्ञान होता है, तब कामला रोग से पीड़ित व्यक्ति को भी पीताकारेण शुक्ल शङ्ख दीखता है, अतः पीत-दर्शन भी प्रमाण होना चाहिए। वह प्रमाण हो नहीं सकता, क्योंकि उसका बाध हो जाता है। "गामानय"—इत्यादि शब्दों से जनित ज्ञान बाधित नहीं होता, अतः प्रमाण है। उसी प्रकार "पीतः शङ्खः"—यह ज्ञान भी बाधित होने से प्रमाण नहीं होगा। "गामानय"—यहाँ अस्तित्व का आक्षेप किया जाता है, वहाँ कदाचित् अस्तित्व नहीं भी होता है। यदि अस्तित्व का आक्षेप नहीं किया जाता, तब आनयन सम्भव न होने से अप्रमाणता निश्चित है। यदि वक्ता का अभिप्राय यह है कि "सम्भवति तत्र गौः तमानय"। तब सन्दिग्धार्थ के आनयन में प्रवर्तक वाक्य अप्रमाण है ही। सन्दिग्ध के आनयन की ही यदि प्रेरणा दी जाती है, तब यदि वहाँ गौ मिल जाती है, तब सभी सन्देह-प्रत्यय प्रमाण हो जाएंगे। अप्रमाण ज्ञान से वस्तु का लाभ नहीं होता, तब आनयन-वाक्य में अव्यभिचार कैसे ? वहाँ अव्यभिचार सम्भव नहीं, क्योंकि प्रेरणा से कुछ नहीं किया गया। यह आवश्यक नहीं कि प्रेरणार्थ अवश्य ही किया जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि प्रेरणा शब्द क्रिया का कारक या ज्ञापक होता है। कारक अर्थ में अविसंवाद न होने से शब्द में प्रमाणता नहीं मानी जाती ॥४३७॥ अर्थात् कारक अविसंवादी है—ऐसा व्यवहार नहीं होता। कार्य की उत्पत्ति हो जाने

सर्वतो विनिवृत्तस्य विनिवृत्तिर्यतो यतः ।
तद्भेदोन्नीतभेदा सा धर्मिणोऽनेकरूपता ॥ २३१ ॥

'नीलो घटः' यहाँ पर नील, पीतादि सभी धर्मों से व्यावर्तक है और घट व्यावृत्त होने वाला इस प्रकार व्यावर्तक और व्यावृत्त होने वाले पदार्थों का कल्पित भेद नील और घट के धर्म और धर्मी भाव का कल्पक माना जाता है। वस्तुतः उनमें धर्म-धर्मी भाव सिद्ध नहीं होता ॥ २३१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि कारकोऽविसंवादीति व्यवहारः। आप्तिस्तु कृते सति प्रामाणान्तरात्। ज्ञापकत्वन्तु स्वरूपस्य भाविन्याः क्रियायाः भावादसम्भवि। न ह्यविद्यमाना क्रिया स्वरूपेण गृह्यते। स्वरूपभावे भाविनी न स्यात्। सामान्यं गृह्यत इति चेत्। तर्त्हि सामान्यं क्रियाऽसम्भवेऽपीति सामान्यप्रतिपत्तौ क्रियायान्न प्रवर्त्तते। तस्माच्छब्दो न ज्ञापक इन्द्रियार्थस्य। तस्मादनिर्देश्यमेवेन्द्रियगोचरः। कथन्तर्हि धर्मिधर्मानेकताप्रतीतिः? अत्रोच्यते—सर्वतो विनिवृत्तस्येति।

व्यावृत्तिभेदपरिकल्पितो हि धर्म्यादिव्यवहारः। तथा हि। प्रथमतरम्प्रतिभासमानः कनककलशः न तावत् वर्णसंस्थानादिभ्यो भेदेनावभासते? नापि ते ततो भेदभासिनः? अपि त्वेकमेव वर्णाद्यात्मकं साक्षादवभासगोचरः। तत्रेदानीमपरापरानेकाकारपदार्थान्तरव्यावर्त्तनमाश्रित्यापोद्धारपरिकल्पनया भेदमारचयन्ति व्यवहारपद्धतिमध्यासीनाः संसारसरित्पतिपतिताः।

यद्यभेदो भवेद् वर्णसन्निवेशविशेषयोः। अनीलात् कलशान्नीलः कलशो भिद्यतां कथम् ॥४३८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर उसकी उपलब्धि प्रमाणान्तर से होती है। भावी क्रिया का वर्तमान अभाव होने के कारण ज्ञापकत्व सम्भव नहीं, क्योंकि अविद्यमान क्रिया स्वरूपतः गृहीत नहीं होती। यदि उस क्रिया का स्वरूप विद्यमान माना जाता है, तब वह भाविनी नहीं। यदि कहा जाय कि सामान्य का ग्रहण होता है, तब यह आपत्ति उठती है कि सामान्यतो क्रिया के असम्भव होने पर ही होता है। अतः सामान्य के ज्ञान से क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः यह सिद्ध होता है कि शब्द इन्द्रियार्थ का ज्ञापक नहीं होता। फलतः शब्द के द्वारा अनिर्देश्य पदार्थ ही इन्द्रिय का विषय होता है।

प्रश्न—नील और घटादि में धर्म-धर्मी भाव की अनेकता कैसे प्रतीत होती है?

उत्तर—नील और घटादि का वस्तुतः धर्म-धर्मी भाव नहीं होता। नील श्वेतादि का व्यावर्तक होता है और घट पटादि का। इस प्रकार व्यावृत्ति के द्वारा परिकल्पित धर्म-धर्मी का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् प्रथमतः प्रतीयमान 'सुवर्ण कलशः' यहाँ पर न तो कलश की कपाल-संस्थान से अतिरिक्त प्रतीति होती है और न भेद की। अपितु एक वर्णादिकात्मक घट अवभासित होता है। पाश्चात् काल में अपरापर अनेक पदार्थों में व्यावृत्ति होने के कारण अध्यारोप और अपवाद के द्वारा व्यावहारिकगण भेद की कल्पना किया करते हैं, क्योंकि वे संसाररूपी महासागर में पतित हैं, उनके लिए कोई अवलम्बन होना चाहिए। यदि वर्ण और सन्निवेश से भिन्न कोई घट होता है, तब अनील कलश से भिन्न नील कलश कैसे? प्रत्युत तब नील और पीत दोनों भी परस्पर अभिन्न हो जायेंगे, क्योंकि "स्वाभिन्नाभिन्नस्य स्वाभिन्नत्वम्"

वार्तिकालङ्कारः

यदि वर्णसंस्थानादीनामभेद एव। तदा कलशादनीलान्नीलस्य व्यावृत्तिर्न स्याद्। अनीलेनापि तत्संस्थानात्मना नीलेनैव भाव्यम्। संस्थानस्य नीलवर्णादभिन्नत्वात्। भवति चानीलमपि संस्थानादेकम्। तस्माद् भेदस्तयोरिति लोकस्य कल्पनाभेदभासिनी। पारमार्थिक एव तर्हि भेद इति चेत्। न कल्पनामात्रेणोपचरितम्पारमार्थिकम्। यदि तदेव सितत्वादिकमसंस्थानात्मना प्रतिभासेत, भवेत् पारमार्थिको भेदः। एकार्थसमवायस्याभेदावभासहेतुत्वादभेदावभासो भेदेऽपीति चेत्। नन्वेकार्थसमवायेऽपि रूपरसयोरस्ति भेदावभासिता। भिन्नेन्द्रियग्राह्यता तत्रेति चेत्। यद्यभेदेनावभासकरी शक्तिः समवायस्य भिन्नेन्द्रियग्राह्यता दुर्घटैव। समानदेशत्वादभेदावभास इति रूपरसादिभिरनेकान्तः। एवं गोत्वादिकाच्छावलेयत्वादयः शावलेयत्वादेः खण्डमुण्डादयो भेदकल्पनया व्यवस्थाप्यन्ते भेदेनेति स्थितम्।

तत्र क्वचिद् धर्मी रूपादिभ्यो भिन्नः कल्प्यते यथा घटः। यदि घटावयव्येको न स्यात् क्रमेण रूपरसग्रहणे घट प्रतीतिर्न स्यादिति क्वचिद्धर्मः। यदि गोत्वमभिन्नम्भिन्नाभिन्नं वा न भवेत्। शावलेयादीनान्तदभिन्नानाम्भेदो न स्यात्। एवमन्यदपि योज्यम्। तस्माद् व्यावृत्तिभेदमुपादाय भेद उन्नेयः।

नन्वानुमानिकोऽपि भेदो भेद एव। सत्यं यदि प्रत्यक्षपूर्वकं तदनुमानन्न स्यात्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ऐसा नियम प्रसिद्ध है—नील से अभिन्न घट और घट से अभिन्न पीत है, अतः पीत नील से अभिन्न हो जाता है, घट का भेदक नहीं हो सकता ॥४३८॥

उसी प्रकार कम्बुग्रीवादिरूप संस्थान से नील और अनील—दोनों अभिन्न होने के कारण परस्पर अभिन्न हो जाते हैं। व्यावहारिक प्राणियों की भेद-भावना काल्पनिकमात्र है। धर्मों से धर्मी का भेद पारमार्थिक क्यों न मान लिया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि कल्पनामात्रतः उपचरित पदार्थ का पारमार्थिक होना युक्ति-युक्त नहीं। यदि श्वेत पट तन्तु-समूह से भिन्न प्रतिभासित होता, तब पारमार्थिक भेद हो सकता था। यदि कहा जाय कि यद्यपि तन्तु-समूह और पट का भेद है, तथापि समूह और पट—दोनों तन्तुओं में समवेत होने के कारण परस्पर अभिन्न प्रतीत होते हैं। तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि एक ही आश्रय में समवेत दो पदार्थों का अभेद माना जाय, तब एक ही फल में समवेत रूप और रस का जैसे भेद अवभासित होता है, वैसे ही तन्तु-समूह और पट का भेद होना चाहिए। रूप और रस में तो एक इन्द्रिय की ग्राह्यता न होने से भेद अवभासित होता है किन्तु वह एक इन्द्रिय से ग्राह्य तन्तु-समूह और पट में क्यों होगा? इसका उत्तर यह है कि यदि समवाय में अभेदावभास की शक्ति है, तब भिन्न इन्द्रिय-ग्राह्यता क्या करेगी? "तन्तु-समूहपटयोरभेदावभासः, एकाश्रयवृत्तित्वात्"—यह हेतु रूपरसादि में अनैकान्तिक है। इसी प्रकार "गोत्वादि से शावलेयत्वादि भेद-कल्पना के द्वारा भिन्नरूप से व्यवस्थापित किये जाते हैं। उनमें कहीं धर्मी रूपादि से भिन्न कल्पित होता है, जैसे घट। यदि घटादि अवयवी एक नहीं, तब क्रमशः रूप और रस का ग्रहण करने पर "घटः"—ऐसी प्रतीति नहीं होगी। यदि गोत्व अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न नहीं होगा। तब उससे अभिन्न शावलेयादि का भेद नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य योजना कर लेनी चाहिए। फलतः व्यावृत्ति-भेद के द्वारा धर्मधर्मी के भेद उन्नेय हैं।

वार्तिकालङ्कारः

यथाग्निः प्रत्यक्षे प्रतिभासितोऽनुमानेन प्रतीयमानस्तथैव भवति। नत्वेवङ्कदाचिदपि धर्मधर्मिभेदः। यदि प्रतिभाति किमनुमानेनेति चेत्। अग्नावपि समानमेतत्। कालान्तरादौ चेदनुमानमिहापि तथाऽस्तु।

अथात्र नित्यानुमेयता। तदप्यसत्। तथाहि—

नित्यानुमेये दृष्टान्तः केन सिध्यति तत्त्वतः। अनुमानान्तरासिद्धौ सेयमन्धपरम्परा ॥४३९॥

अथ घटादयो दृष्टान्ताः वर्णादिभ्यो भिन्नाः। तथा हि। ययोरन्वयव्यतिरेकौ तयोर्भेदो यथा घटशकलयोः तथा च वर्णसंस्थानयोरिति। नान्वयस्य तत्रापि प्रत्यक्षेणाग्रहणात्। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यान्तत्र भेदः। कथन्तर्हि युगपद् भेदप्रतिभासनादेव। अथ चित्रप्रतिभास एवान्वयव्यतिरेकमन्तरेण स्यान्न भेदः। एवन्तर्हि न कुतश्चिद् भेद इत्यद्वैतप्रसङ्गात् सुतरामेव भेदसाधनमयुक्तम्। अथवा—

विकीर्य प्रतिभासेन घटादौ भेदभावना। संस्थानादेः स नास्त्येव न पटादिसमानता ॥४४०॥

अन्वयस्तु गोत्वादेर्न प्रत्यक्षगम्य इति न तस्य भेदोऽनन्वितात्। एकपरामर्शयोगेन तु त एवान्वयितया व्यवह्रियन्ते। एकपरामर्शगोचर एव तर्हि सामान्यमन्यद् भेदेभ्यः। नैकपरामर्शगोचरस्य भेदेनानवभासनात्। एकपरामर्श एव भिन्नेषु कथमिति चेत्। अत्रोच्यते—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आनुमानिक भेद भी भेद है—ऐसा तब कहा जा सकता है, जब कि वह अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक न हो। जैसे कि प्रत्यक्षतः प्रतिभासित अग्नि अनुमान के द्वारा प्रतीयमान वैसी ही होती है किन्तु धर्मधर्मी का भेद कदाचित् भी वैसा नहीं होता। यदि धर्म-धर्मि-भेद प्रतीत होता है, तब अनुमान की क्या आवश्यकता ? यह प्रश्न तो अग्नि के विषय में भी हो सकता है। यदि अग्निस्थल पर अनुमान कालान्तर में प्रवृत्त होता है, तो यहाँ भी हो सकता है। धर्म-धर्मि-भेद में नित्य अनुमेयता है—ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि नित्यानुमेय विषय का दृष्टान्त कैसे सिद्ध होगा ? अनुमानान्तर मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है ॥४३९॥ अर्थात् "घटादय रूपादिभ्यो भिन्नाः, ययोरन्वयव्यतिरेकौ भवतः, तयोर्भेदः यथा घटकपालयोः, तथा च घटवर्णादयः"। ऐसा अनुमान नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें अन्वय का ग्रहण प्रत्यक्षतः नहीं होता। दृष्टान्त में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा भेद का ग्रहण नहीं होता, अपितु युगपत् भेद-प्रतिभासन से होता है। यदि कहा जाय कि युगपत् तो चित्र ज्ञान का प्रतिभास अन्वय-व्यतिरेक के विना होता है, भेद का नहीं—ऐसा मानने पर तो भेद का भान किसी से भी नहीं, परिशेषतः विज्ञानाद्वैतवाद ही सिद्ध होता है, भेद-साधन सर्वथा अयुक्त है। अथवा घटादि में लोक-प्रसिद्ध पटादि-भेद-प्रतिभास से जनित संस्कारों के बल पर घटादि में वर्णसंस्थानादि का भेद अवभासित होता है, वस्तुतः भेद नहीं होता ॥४४०॥

गोत्वादि जाति का गवादि व्यक्तियों के साथ अन्वय प्रत्यक्ष-गम्य न होने के कारण अनन्वित का भेद नहीं होता। "एकोऽयं गौः"—इस प्रकार की एकता के परामर्श से गोत्वादि ही व्यवहृत होते हैं। तब तो एकता-परामर्श के विषयीभूत सामान्यादि भेदों से अन्य हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एकता-परामर्श के विषयीभूत जाति-वर्ण-संस्थानादि का भेद प्रत्यक्षतः अवभासित नहीं होता। भिन्न पदार्थों में एकता-परामर्श क्योंकर उपपन्न होगा ?—इसका उत्तर यह है कि दृष्ट पदार्थों में

ते कल्पिता रूपभेदा निर्विकल्पस्य चेतसः ।

न विचित्रस्य चित्राभाः कादाचित्कस्य गोचरः ॥ २३२ ॥

वे (धर्मिधर्मादि) पदार्थ बुद्धि के कल्पित आकारविशेष विचित्र हैं, अतएव कादाचित्क चित्त (प्रत्यक्ष) के विषय नहीं होते ॥ २३२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न दृष्टेऽनुपपन्नत्वमदृष्टे नोपपन्नता । दर्शनादर्शनाभ्यां हि भावाभावौ व्यवस्थितौ ॥४४१॥

एकपरामर्शो हि दृश्यमानत्वादुपपन्नः । तद्वदेव त्वदृश्यमानेनाभेदेनाप्युपपत्तिमता भाव्यमिति नेयं भावना । न च भिन्नेष्वेकपरामर्शस्तस्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानात् । न चायमेकपरामर्शः क्वचिदेकतायान्दृष्टः । उपलब्धेर्हि भवति । सा च क्रमवती । न चैकैकक्षणपरामर्शः शक्यः प्रतिपत्तिसंवेदनाभावात् । तस्मादनेकभाव्येवैकपरामर्शः सर्वत्र । तस्मात् कल्पनाकृतमेव सकलं धर्मधर्मित्वम् । तदेव प्रत्यक्षेण गृह्यतामिति चेत् । नैतदस्ति । यस्मात्—ते कल्पिता रूपभेदादिति ।

प्रत्यक्षं हि साक्षात्कारणाकारप्रवृत्तन्न तस्योत्प्रेक्षितविषयाकारता युक्ता । अथ भावापेक्षितया हि कदाचिदेव प्रत्यक्षप्रतिभासिता । अकादाचित्कास्तु विकल्पितरूपप्रतिभासाः । एकाकारञ्च प्रत्यक्षमनेकाकारता च विकल्पस्य । विकल्पप्रत्यक्षयोरत आकाराभावादपि भेदो हेतुभेदादपीति परमार्थः ।

ननु सितादिधर्मभेदा अकल्पिता अपि सन्ति ते भविष्यन्तीन्द्रियगोचराः । नैतदपि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुपपन्नता और अदृष्ट पदार्थ में उपपन्नता कभी नहीं होती । इस प्रकार दर्शन से भाव और अदर्शन से अभाव व्यवस्थित होता है ॥ ४४१ ॥

स्वकीय जाति गुण और संस्थानदि से घटादि पदार्थों का एकता-परामर्श दृष्ट होने के कारण सर्वथा उपपन्न (उचित) है । उसी प्रकार दृश्यमान अभेद को भी उपपन्न होना चाहिए । यह कोई भावना (कल्पना मात्र) नहीं, अपितु वस्तु-स्थिति है । भिन्न-भिन्न पदार्थों में अभेद-परामर्श हो भी नहीं सकता, क्योंकि वह वस्तु-स्व का रूप अवगाही होता है । अनेकता में एकता, का परामर्श इसलिए नहीं हो सकता कि अनेक पदार्थों की उपलब्धि युगपत् नहीं होती, अपितु क्रमवती होती है । एक-एक क्षण का परामर्श सम्भव नहीं, क्योंकि उनकी न तो वैसी प्रतिपत्ति होती है और न संवेदन । फलतः अनेक पदार्थों में कल्पित एक परामर्श ही सर्वत्र होता है । अतः तन्तु-पटादि का सकल धर्म-धर्मिभाव कल्पित है ।

शंका—"इह तन्तुषु पटः"—इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा धर्म-धर्मिभाव का ग्रहण क्यों नहीं ?

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि साक्षात्करणत्मक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होने से धर्म-धर्मिभाव की कल्पना को विषय नहीं कर सकता । भावात्मक आकार की अपेक्षा करने के कारण प्रत्यक्ष-प्रतिभासिता कादाचित्की होती है किन्तु विकल्पित प्रतिभासा प्रतीति तो अकादाचित्की है । प्रत्यक्ष एकाकार और विकल्प अनेकाकार होता है । इस प्रकार विकल्प और प्रत्यक्ष का आकार-भेद एवं हेतु भेद से महान भेद है ।

शंका—घटादि धर्मियों के शुक्ल-पीतादि धर्म अकल्पित भी हैं, वे इन्द्रियों के विषय हो जायेंगे, कल्पना की क्या आवश्यकता ?

यद्यप्यस्ति सितत्वादि यादृगिन्द्रियगोचरः ।
न सोऽभिधीयते शब्दैर्ज्ञानयो रूपभेदतः ॥ २३३ ॥

यद्यपि सितत्वादि सामान्य (जाति) है । घटादि धर्मी में जैसा सितत्वादि का विशद आकार इन्द्रिय का विषय होता है, वह शब्दों के द्वारा प्रतिपादित नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय-जन्य और शब्द-जन्य इन दो ज्ञानों में पहला स्फुट और दूसरा अस्फुट है ॥ २३३ ॥

एकार्थत्वेऽपि बुद्धीनां नानाश्रयतया स चेत् ।
श्रोत्रादिचित्तानीदानीं भिन्नार्थानीति तत् कुतः ॥ २३४ ॥

यद्यपि इन्द्रिय और शब्द से जनित ज्ञान समान विषयक हैं, तथापि श्रोत्रादि इन्द्रियों से जनित ज्ञान भिन्नविषयक माने जाते हैं, वह क्यों ? इसका उत्तर यह है— "आश्रयभेदात् ।" अर्थात् एक घटविषयक चाक्षुषज्ञान और स्पार्शन ज्ञान का भेद ज्ञान के कारणीभूत इन्द्रियों के भेद से होता है ॥ २३४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

चोद्यम् । यतः—यद्यप्यस्ति सितत्वादिरिति ।

सितं हीन्द्रियेण न धर्मतया धर्मितया वा कस्यचित् परिगृह्यते । भेदेन वा संस्थानात् । शब्देन तु भेदेन धर्म्यादितयाऽस्पष्टादितया ग्रहणमित्यनिर्देश्यमेव रूपम्प्रतिपत्तीन्द्रियमतयः । तस्माज्ज्ञानाकारभेदान्न शाब्दी मतिरिन्द्रियग्राह्येषु वर्त्तते । तस्माद् रूपभेदो न युक्त एकार्थत्वे ।

अथापि स्याद् । आश्रयभेदादाकारभेदो भविष्यति । तथा हि कामलावलेपलोपितलोचनशक्तिः सितमपि पीतम्पश्यत्याश्रयभेदतः । तैमिरिकः स्पष्टेतरत् । एवमन्यत्रापीति न दोष एकार्थत्वेऽप्याकारभेदमभ्युपगच्छतः । नैतदस्ति । यतो हि—एकार्थत्वेऽपि बुद्धीनामिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—"शुक्लः घटः"—इत्यादि रूपों में इन्द्रियों के द्वारा न तो शुक्लादि किसी की धर्मता के रूप में गृहीत होते हैं और न पटादि पदार्थ किसी की धर्मिता के रूप में । वे अपने संस्थान (अवयव-समूह) से भिन्न भी प्रतीप्र नहीं होते । शब्द ("इह तन्तुषु पटः"—इत्यादि वाक्यों) के द्वारा अवश्य संस्थानादि से भिन्न एवं पटतन्त्वादि की धर्मितया प्रतीति होती है, किन्तु वह स्फुट नहीं, अस्फुटावभासमात्र होती है । अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि शब्द के द्वारा अनिर्देश्य रूप (स्वलक्षण) को ही इन्द्रिय-जन्य बुद्धियाँ ग्रहण करती हैं । इस प्रकार ज्ञानाकार का भेद होने के कारण शाब्दबोध इन्द्रिय-ग्राह्य विषय का ग्रहण नहीं करता, फलतः संस्थानादि से भिन्न पटादि का स्वरूप सिद्ध नहीं होता ।

शङ्का—ज्ञानगत आकारों का भेद आश्रयभूत इन्द्रियादि के भेद से वैसे ही हो सकता है, जैसे कामला दोष से दूषित नेत्रवाला पुरुष शुक्ल शङ्ख को पीत शङ्ख देखता है । अर्थात् पीलिमा का आश्रय पित्तरोग है, अतः शङ्ख को पीत देखता है । तमिरिक व्यक्ति भी तिमिर दोष के कारण बाहर केशोण्डुक देखता है । समानार्थक सामग्री के भेद से भी आकार-भेद माना जाता है । फलतः इन्द्रिय और शब्दरूप सामग्री के भेद से

जातो नामाश्रयोऽन्योऽन्य चेतसां तस्य वस्तुनः ।
एकस्यैव कुतो रूपं भिन्नाकारावभासि तत् ॥ २३५ ॥

सामान्यादिविषयक ज्ञानों के आश्रय (इन्द्रिय और शब्दरूप कारण) भिन्न-भिन्न हैं। तथापि सामान्यादिरूप विषयवस्तु एक है, तब ज्ञानों में भिन्नाकारता (स्फुटता-अस्फुटता) क्यों ? ॥ २३५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि ह्याश्रयभेदादाकारभेदसम्भवो लुप्ता तर्हि नानात्वव्यवस्थाऽकारभेदस्यैकार्थताया अपि सम्भवात् । शब्दादीनामप्याश्रयश्रोत्रादिभेदादेवाकारभेदः । पीताद्यवभासानाञ्च भ्रान्तता सा शाब्दादीनामपि प्राप्ता । शक्तिभेदोऽप्यनेन प्रत्युक्तः ।

य आह—शब्दशक्तिरेवेयमीदृशी येनान्यथात्वप्रतिपत्तिः । भेदेनान्यथा च । अन्यथा प्रतिपत्तौ भ्रान्तता न विचार्या स्यात् ।

ननु शब्देनान्यथाप्रतिपादितोऽप्यर्थक्रियाकारी दृश्यते । तत्कथम्भ्रान्ततास्य युक्ता । तथा हि वक्त्रासवादिशब्दैः स एव प्रतिपादितः तामर्थक्रियां करोति । नार्थप्रतिबद्धेयमर्थक्रियाऽपि तु भावनाप्रतिबद्धा । यथा गरुडादिभावनाप्रतिबद्धा विषशमनादय इति । तस्मादेकार्थत्वे नाकारभेदः सत्यस्याश्रयभेदे । अपि च—जातो नामाश्रयादन्य इति ।

आश्रयभेदो हि ज्ञानस्याभेदमुपजनयेन्न त्वर्थस्य । अर्थस्तु नीलादिक एक एव स

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

एकार्थक ज्ञान के आकारों का भेद क्यों न होगा ?

समाधान—उक्त शङ्का समुचित नहीं, क्योंकि यदि आश्रय-भेद से आकार का भेद सम्भव हो जाता है, तब भिन्नार्थता की व्यवस्था ही लुप्त हो जाती है, क्योंकि एकार्थक ज्ञानों के भी नानाकार मान लिये जाते हैं तब "भिन्नाकाराणां भिन्नार्थता" का नियम सुरक्षित क्योंकर रहेगा ? शब्दादि कारण सामग्री का भी तो उनके आश्रयीभूत श्रोत्रादि के भेद से भेद होता है। "शङ्खः पीतः" इत्यादि भ्रान्ति भी शाब्दज्ञानों में प्रसक्त होती है। शक्ति-भेद का भी इसी प्रकार निरास किया जा सकता है।

शक्ति-भेद का उपपादन कोई ऐसे करता है कि शब्द-शक्ति ही ऐसी होती है कि जिससे अन्यथात्व की प्रतिपत्ति हो जाती है। उसके न होने से अन्यथात्व नहीं होता।

शङ्का—शब्द के द्वारा प्रतिपादित पदार्थ भी अर्थक्रियाकारी होता है, तब उसकी भ्रान्तता कैसे ? अर्थात् वक्त्रासव (लाला) आदि शब्दों के द्वारा प्रतिपादित पदार्थ भी उसी अर्थक्रिया का जनक होता है।

समाधान—उक्त कथन उचित नहीं, अन्यथा अर्थक्रिया को भी पुरुष अपनी भावना के बल पर वैसा मान लेता है, वस्तुतः वैसा नहीं होता, जैसा कि कहा गया है—"वञ्चनार्थ उपन्यासः लालावक्त्रासवादिवत्" (श्लो० वा० आलं. ८)। गरुड-ध्यान से सर्प-विष की निवृत्ति भी एक भावनामात्र है। अतः एकार्थक ज्ञानों का आश्रयभेद से नहीं होता।

दूसरी बात यह भी है कि आश्रय का भेद ज्ञान के भेद का ही जनक होगा, अर्थभेद का नहीं। नीलादि रूप अर्थ तो एक ही विभिन्न ज्ञानों में अवभासित होगा। अवि-

वार्तिकालङ्कारः

तस्मिन् विज्ञाने एकरूप एव प्रतिभासेत। न ह्यविद्यमानस्य प्रतिभासः। प्रतिभासश्चेत् न तर्हि स प्रतिभासते। नान्यस्मिन् प्रतिभासमानेऽन्यस्य प्रतिभास इति सम्बन्धः। अथ तस्य कारणत्वात् तस्य प्रतिभासः। कारणत्वेन तर्हि विषयत्वमिति चक्षुरादीनामपि विषयताप्रसङ्गः।

भवतु को दोषः इति चेत्। एकार्थताविरोधः। चाक्षुषोऽपि विषयत्वात्। विषयत्वे हि एकार्थत्वे हि बुद्धीनामपि प्रकृतं व्याहन्यते। न हि विषयत्वे आश्रयभावः। तत एष बाह्यार्थः। स्यादेकार्थत्वेऽपि बुद्धीनान्नानार्थतया स चेदिति परस्परव्याहतिः। तस्मात् प्रतिभास एव स्वेन रूपेण विषयत्वम्। नापरः प्रकारः। अथ शब्दाश्रयत्वादिति परिहारः प्रतीताच्च शब्दात् स्वेन रूपेणार्थप्रतीतिः। न चासावर्थप्रतीतिविषयः प्रतीतत्वात्। अर्थोऽपि तर्हि न विषयः स्वेन रूपेण प्रतीतेः।

अथ तस्मादर्थस्य प्राप्तिरिति विषयः। तदयुक्तम्। तस्य तस्मात् प्राप्तिरिति कः सम्बन्धः। स्वरूपेण हि संप्राप्यते। कथमन्यतः प्राप्त उच्यते। ततः प्रवृत्तेरिति चेत्। प्रवृत्तिरेषा प्रतीतेः कथमिति चिन्त्यम्। तस्मादाकारात्तस्य प्राप्तिर्दृष्टेति चेत्। स एवाकारस्तस्मात् प्रतीयते। ततस्तत्र प्रवृत्तिरित्यानुमानिकी प्राप्तिर्न शाब्दीति स्यात्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्यमान का प्रतिभास नहीं होता है। ज्ञान-भेद का प्रतिभास होने पर भी अर्थ-भेद का प्रतिभास नहीं होता। अन्य का प्रतिभास होने पर अन्य का प्रतिभास नहीं होता ऐसा व्याप्तिरूप सम्बन्ध है। आश्रय-भेद कारण है, अतः उसका ग्राह्य में प्रतिभास होना चाहिए, तब तो कारणीभूत चक्षु इन्द्रिय का भी चाक्षुष ज्ञान में भान होना चाहिए।

यदि चाक्षुष ज्ञान में चक्षु का भी भान मान लिया जाय, तब क्या विरोध ? विरोध यही कि विभिन्न कारणों से जनित ज्ञान भी एकार्थक न रह कर भिन्नार्थक हो जायगा, क्योंकि चाक्षुष ज्ञान का विषय चक्षु और शब्द-जन्य ज्ञान का विषय शब्द भिन्न-भिन्न हैं। चक्षु यदि ज्ञान का विषय होगा, तब आश्रय नहीं बन सकेगा, क्योंकि वह बाह्य है और ज्ञान आन्तरिक। यदि एकार्थक ज्ञानों को नानार्थक मान लेने पर परस्पर-व्याघात उपस्थित होता है। अतः प्रतिभास ही स्वरूपेण विषय होता है, अन्य कोई प्रकार सम्भव नहीं।

यदि कहा जाय कि श्रोत्र शब्द का आश्रय है, विषय नहीं। शक्ति-ग्रहणकाल में प्रतीत शब्द के प्रतीत अर्थ की स्वरूपतः प्रतीति होती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो अर्थ भी विषय नहीं होगा, क्योंकि पहले से प्रतीत है, किन्तु विषय अप्रतीत होता है।

शङ्का—कथित दोषों से बचने के लिए अर्थ की प्राप्ति को विषय क्यों न मान लिया जाय ?

समाधान—ज्ञान तो स्वयं प्राप्तिरूप है। अतः ज्ञान से अर्थ-प्राप्ति का अर्थ है—अर्थ-प्राप्ति से अर्थ-प्राप्ति। ऐसा कहना तो असंगताभिधान है। जब कि स्वरूपतः प्राप्ति मान ली गई, तब वह अन्यतः कैसे ? यदि कहा जाय कि ज्ञान से प्रवृत्ति होती है। तब प्रश्न उठता है कि प्रतीत (प्राप्त) अर्थ के लिए प्रवृत्ति कैसे होगी ? यदि कहा जाय कि ज्ञानगत घटाकार से घट की प्राप्ति देखी जाती है। तब तो वही आकार उसी से प्रतीत होता है, तब उसमें प्रवृत्ति होती है—इस प्रकार आनुमानिकी प्राप्ति

वृत्तेर्दृश्यपरामर्शेनाभिधानविकल्पयोः ।
दर्शनात् प्रत्यभिज्ञानं गवादीनां निवारितम् ॥ २३६ ॥

शब्द और इन्द्रिय—दोनों समानविषयक नहीं, तब "सास्नादिमती गौः"—ऐसा शब्द सुनने के पश्चात् गौ को आँख से देखकर "सेयं श्रुतपूर्वा गौः"—ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह कैसे होगी ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि "प्रत्यभिज्ञानं निवारितम् ।" अर्थात् कथित प्रत्यभिज्ञा का निरास पहले ही किया जा चुका है ॥ २३६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ततश्चासावनुमानस्यैव विषयो न शब्दस्येति प्राप्तम् । ततश्चानिर्देश्यमेव रूपमिन्द्रियबुद्धेर्विषयः अनुमानविषयता तर्हि प्राप्ता । नानुमानेऽपि तस्य स्वरूपस्याप्रतिभासनात् । कथन्तर्ह्यप्रतिभासिते प्रवृत्तिः । सर्वदा प्रतिभासित एव प्रवृत्तिरिति प्रतिपादितम् ।

ननु प्रतीतमेतन्मयेति प्रवर्त्तते । सत्यम् । तथापि न परमार्थ एषः । अप्रतीते च प्रतीत्यभिमानतः । सकल एव प्रवृत्तिमाननन्त्येष एव परमार्थः । यत्राभिमानः स एव विषय इति चेत्, पारमार्थिकं शब्दविषयत्वमिन्द्रियविज्ञानार्थस्य वार्यतेऽतः सांवृतमिति न दोषः । तदेव यदि परेणाभ्युपगम्यते सिद्धमस्त्यत्र समीहितम् । यदि तु स एव स्वेन रूपेण प्रतीयते । पारमार्थिकं विषयत्वम्प्रतिपादितम्भवेत् । तस्मान्नानाश्रयत्वेऽपि स्वरूपेणाप्रतीयमानन्न विषयः । कस्यचित् तद्रूपस्य तत्रानुप्रवेशाद् विषय एवेति चेद् यदि तर्हि परमार्थतस्तदयं शब्दप्रतीत्यनुप्रविष्टम् । अन्येनापि स्पष्टरूपग्राहिणा प्रयीयेत । न ह्यनुप्रविष्टमन्यथा प्रत्येतुं शक्यमिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होगी, शाब्दी नहीं । निष्कर्षतः यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द के द्वारा अनिर्देश्य आकार ही ऐन्द्रियक प्रतीति का विषय होता है । अनुमान की विषयता भी उसमें प्राप्त नहीं होती, क्योंकि अनुमान में भी उसके स्वरूप का प्रतिभास नहीं होता ।

शङ्का—अप्रतिभासित अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह नहीं कि अज्ञार्थ में भी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि सर्वदा प्रतिभासित अर्थ में ही प्रवृत्ति होती है ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है । यद्यपि "प्रतीतमेतन्मया"—इस प्रकार के अभिमान से भी कभी-कभी प्रवृत्ति हो जाती है, तथापि यह परमार्थ नहीं, क्योंकि सभी प्रवृत्तिमान् पुरुष "प्रतीतमेव मया"—इस प्रकार का निश्चय करके ही प्रवृत्त होते हैं, यह वस्तुस्थिति है ।

समाधान—ऐन्द्रियक विषयों में पारमार्थिक शब्दविषयत्व का ही निषेध किया जाता है, सांवृत विषयता का नहीं, अतः आविद्यिक विषयता को लेकर विषयज्ञान हो जाता है और ज्ञात में प्रवृत्ति सुसम्पन्न हो जाती है, कोई दोष नहीं आता । ऐसा यदि प्रतिवादी मानता है, तो वादी का भी मनोरथ सिद्ध हो जाता है । यदि इन्द्रियार्थ ही शाब्द ज्ञान में भासित होता है, तब उसमें शाब्द ज्ञान की पारमार्थिक विषयता प्रतिपादित हो जाती है । अतः आश्रयों के नाना होने पर भी स्वरूपेण प्रतीयमान अर्थ शब्द का विषय नहीं । यदि किसी भी रूप से शाब्दवृत्ति में प्रविष्ट पदार्थ शब्द का विषय माना जाय । तब शब्द-शक्ति-ज्ञान से रहित व्यक्ति को भी प्रतीत होना चाहिए, क्योंकि शाब्द प्रतीति में प्रविष्ट अर्थ का अन्यथा भान नहीं हो सकता ।

अन्वयाच्चानुमानं यदभिधानविकल्पयोः ।

दृश्ये गवादौ जात्यादेस्तदप्येतेन दूषितम् ॥ २३७ ॥

दृश्यभूत गवादि पदार्थों में जो अनेक स्थानों पर अभिन्नाकार अभिहित और दृश्यमान पदार्थों के अन्वय से एकजातीयता का अनुमान किया जाता है, वह भी दूषित हो जाता है, क्योंकि शब्द और विकल्प –दोनों ही वस्तु का स्पर्श ही नहीं करते ॥ २३७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ननु प्रत्यभिज्ञानादाकारभेदेऽप्येकत्वन्न विरुध्यते । तदपि न सत्यम् । यतः—वृत्तेर्दृश्यापरामर्शेनेति ।

सम्प्रत्येव प्रत्यययोऽप्यभिधानविकल्पाभ्यान्दृश्यं वस्तु न स्पृश्यते इति । गृहीतम्प्रत्यभिज्ञायते । न च शब्दविकल्पाभ्यां ग्रहणम् । तत्कुतः प्रत्यभिज्ञा । कथन्तर्हि स एवायं यो मम तदाऽनेन प्रतिपादित इति प्रत्ययः ।

नन्वप्रतिपन्नेऽपि भवति प्रतिपन्नाभिमानः । कथन्तर्हि न बाध्यते । बाध्यत एव परामृशतः । प्रतीतिभेदो हि बाधकः स चास्त्येव शब्दविकल्पयोः स्मर्यमाणविषयत्वात् । तच्च स्मरणम्पूर्वंगृहीतस्य दर्शनमिदानीन्तनस्य । यदि पुनर्दृश्यपरामर्श एवाभिधानविकल्पयोः स्यात् किन्दर्शनेनेति प्रतिपादितम् । तस्मात् प्रत्यभिज्ञानमप्यभिमानमात्रकमेव न परमार्थतः प्रतिपत्तिः । दर्शनात् तु पूर्वानुसारेण विकल्प एव केवल एकत्वव्यवहारसाधको न परमार्थग्रहणमित्याह—"अन्वयाच्चानुमानमिति ।"

न ह्यभिधानविकल्पाभ्यां वस्तुसंस्पर्श इति । न ह्यन्वयः परमार्थतः कस्यचिद् गृह्यतेऽभिमानमेतदिति प्रतिपादनात् । यथादृष्टस्यैव स्मरणात् । दृश्ये चासंस्पृश्यमाने

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—आकार का भेद होने पर भी प्रत्यभिज्ञा के द्वारा एकता का भान विरुद्ध नहीं ।

समाधान— उक्त कथन सत्य नहीं, क्योंकि आज भी शब्द और विकल्प से जनित ज्ञान प्रत्यक्ष के विषय का स्पर्श नहीं करते । स्पृष्ट (गृहीत) विषय की ही प्रत्यभिज्ञा होती है । अतः विषयगत एकता की प्रत्यभिज्ञा क्योंकर होगी ?

प्रश्न—यदि शब्द और इन्द्रिय एकार्थ के ग्राहक नहीं, तब "स एवायं यो ममानेन प्रतिपादितः"—ऐसा ज्ञान क्यों होता है ?

उत्तर—अज्ञान वस्तु में भी ज्ञातता का अभिमान हो जाता है । तब उस प्रकार का एकता-ज्ञान बाधित ही होगा, क्योंकि प्रतीतिविशेष ही बाधक ज्ञान होता है । वह तो है ही, क्योंकि शब्द और विकल्प ज्ञान –ये दोनों ही स्मर्यमाणविषयक होते हैं । स्मरण सदैव पूर्व गृहीत का ही होता है और दर्शन इदानीन्तन का होता है । यदि शब्द और विकल्प ज्ञान में दृश्य का परामर्श होता है, तब पुनः दर्शन की क्या आवश्यकता ? ऐसा कहा जा चुका है । फलतः प्रत्यभिज्ञान अभिमानमात्र है, पारमार्थिक ज्ञान नहीं । पूर्वानुभव-जनित संस्कारमात्र के आधार पर जनित केवल विकल्प प्रत्यय ही एकता-व्यवहार का साधक है, परमार्थ ग्रहण नहीं ।

शब्द और विकल्प के द्वारा वस्तु का संस्पर्श नहीं किया जाता । कथित अन्वय-बोध परमार्थतः नहीं, अभिमानमात्र है—ऐसा कहा जा चुका है । स्मरण सदैव यथा-

दर्शनान्येव भिन्नान्यप्येकां कुर्वन्तिकल्पनाम् ।
प्रत्यभिज्ञानसंख्यातां स्वभावेनेति वर्णितम् ॥ २३८ ॥

गोत्वादि सामान्य यदि नहीं, तब "सोऽयं गौः"—ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है दर्शननामक इन्द्रिय-विज्ञान एक अर्थ को विषय नहीं करते, अपितु क्षण-भेद-भिन्न पदार्थों का ग्रहण करते हैं। तथापि पूर्व संस्कारों के द्वारा समानाकारतामूलक सामान्य की कल्पना हो जाने मात्र से प्रत्यभिज्ञा नामक कल्पित व्यवहार प्रवृत्त हो जाता है, उससे किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती ।।२३८।।

वार्तिकालङ्कारः

दृश्यसम्बन्ध्यन्वयि रूपन्न गह्यते । तेन दृश्यसामान्यमस्तीति न प्रतीतिः । कथन्तर्हि स एवायं गौरित्येककल्पना । अत्राह—"दर्शनान्येव भिन्नानीति ।"

दर्शनानि खलु परापरविविक्तपदार्थोपग्रहभाञ्जि जायमानानि नैकाकारव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तग्रहसामर्थ्यपथस्थितानि । केवलं स्वभावानुरूपसंस्कारबीजप्रबोधसामर्थ्यपाटवाटोपङ्कटप्रविष्टानि गत्यन्तराभावात् प्रत्यभिज्ञानकल्पनामुपजनयन्ति । तदनुरोधतो जात्यादिकल्पनानर्थपथप्रस्थानम् । तस्मादनिर्देश्यविषयं प्रत्यक्षमिति स्थितम् ।

(१५) मानस-प्रत्यक्षम्—

"मानसञ्चार्थरागादिस्वसंवित्तिरकल्पिका ।।" (प्रमाणसमुच्चये)

मानसमप्यर्थरागादिस्वरूपसंवेदनमकल्पकत्वात् प्रत्यक्षम् । अनुभवाकारप्रवृत्तेः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दृष्ट का ही होता है । दृश्य जब असंस्पृष्ट है, तब दृश्य-सम्बन्धी अन्वयी रूप का ग्रहण नहीं होता । अतः दृश्य-सामान्य है—ऐसी प्रतीति नहीं होती ।

तब "स एवायं गौः"—ऐसी एकत्व की कल्पना कैसे हो गई ? इस प्रश्न का उत्तर है कि दर्शन (प्रत्यक्ष ज्ञान) सदैव परापर-परामर्श-रहित पदार्थोपग्रहणरूप होते हैं एवं एकाकारता को छोड़कर पूर्वापर की एकता के ग्रहण के सामर्थ्य से रहित होते है । वे ही केवल स्वभावानुरूप संस्कार-प्रबोधन-सामर्थ्य से युक्त होकर प्रत्यभिज्ञान विकल्प को उत्पन्न करते हैं । उसी के अनुरोध पर जात्यादि की कल्पना हो जाती है । अतः यह स्थिर हो जाता है कि शब्द के द्वारा अनिर्देश्यार्थविषयक ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।

(१५) मानस प्रत्यक्ष—

"मानसं चार्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका" यह वचन प्रमाणसमुच्चय का है । इसका अर्थ यह है कि अर्थविषयक रागादि (इच्छासुखादि) को विषय करनेवाला मानस ज्ञान भी स्वसंवेदन के समान निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है ।

[पूरे पद्य का इस प्रकार पुनरुद्धार किया गया है—

चित्तमप्यर्थरागादि स्वसंविन्निर्विकल्पकम् ।
योगिनां गुरुनिर्देशादसंकीर्णार्थमात्रकम् ।।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के समान ही वे तीनों भी प्रत्यक्ष के भेद हैं—मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगज प्रत्यक्ष । सविल्पक ज्ञान नाम जाति आदि की कल्पनाओं से संकीर्ण होता है किन्तु ये सभी असंकीर्ण अर्थ (निर्विकल्पक) को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष कहलाते हैं] ।

(१५) मानस प्रत्यक्ष—

पूर्वानुभूतग्रहणे मानसस्याप्रमाणता ।
अदृष्टग्रहणेऽन्धादेरपि स्यादर्थदर्शनम् ॥ २३९ ॥

मानस प्रत्यक्ष यदि पूर्वतन ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीतार्थ का ग्राहक है, तब वह अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि अगृहीतार्थ का ग्राहक ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। यदि मानस ज्ञान को इन्द्रिय ज्ञान से अगृहीतार्थ का ग्राहक माना जाता है, तब अन्धे को भी रूप आदि का दर्शन होना चाहिए ।। २३९ ।।

क्षणिकत्वादतीतस्य दर्शनस्य न सम्भवः ।
वाच्यमक्षणिकत्वे स्याल्लक्षणं सविशेषणम् ॥ २४० ॥

अन्धादि के रूपादि-दर्शन-प्रसङ्ग को दूर करने के लिए यदि मानस प्रत्यक्ष को इन्द्रिय-गृहीतार्थ का ही ग्राहक माना जाता है तो वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि क्षण-भङ्ग-वाद में ऐन्द्रियकार्थ द्वितीय क्षण में रहता ही नहीं, तब मानस ज्ञान किसका ग्रहण करेगा ? पदार्थों को यदि अक्षणिक माना जाता है, तब गृहीतार्थ-ग्राहक मानस ज्ञान में अप्रमाणता आ जाती है। फिर भी मानस ज्ञान को प्रमाण मानना अभीष्ट है, तब "कल्पनापोढमभ्रान्तं मानसं प्रत्यक्षम्"—ऐसा लक्षणान्तर करना होगा ।।२४०।।

वार्तिकालङ्कारः

ननु चक्षुरादिविज्ञानमेवानुभवाकारेण वृत्तमुपलभ्यते। चक्षुरादिजनितमिन्द्रिय-विज्ञानमेव। अथ तत उत्पन्नं मानसन्तदा तेन पूर्वानुभूतग्राहिणा भवितव्यम् तथा हि—पूर्वानुभूतग्रहणमिति।

न हि पूर्वानुभूतमस्मर्यमाणरूपतया प्रत्येतुं शक्यम्। अस्मर्यमाणतया साक्षात्करण अनुभूतमिति कथम्। वस्तुतः पूर्वानुभव इति चेत्। कथमवगन्तव्यम्। प्रत्यभिज्ञानञ्च प्रतिक्षिप्तम्। अथादृष्टं गृह्णाति। तथा सति—अदृष्टग्रहणेऽन्धादेरिपीति।

अर्थस्यापि मानसमस्ति। ततस्तस्य सकलार्थग्रहणप्रसङ्गोऽन्यस्य च। ततोऽन्धब-धिराद्यभावः। यतः—क्षणिकत्वादतीतस्येति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—मानस ज्ञान भिन्न नहीं, अपितु चक्षुरादि से जनित ऐन्द्रियक ज्ञान ही अनुभवाकारेण उपलब्ध होता है। चक्षुरादि के द्वारा जनित ज्ञान ऐन्द्रियक ही है, मानस नहीं। यदि कहा जाय कि ऐन्द्रियक ज्ञान उत्पन्न वह मानस ज्ञान ही है, तब वह पूर्वानुभूतार्थ का ग्राहक ही होगा।

समाधान—पूर्वानुभूतार्थविषयक ज्ञान स्मरणात्मक ही होगा, उससे भिन्न नहीं। यदि स्मरण से भिन्न उसे साक्षात्कारात्मक ज्ञान माना जाता है, तब उसका "पूर्वानु-भूतम्"—ऐसा आकार क्योंकर होगा। यह पूर्वानुभव ही है—यह सिद्ध कैसे होगा ? यदि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा कहा जाय, तो वह नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का निरास किया जा चुका है।

यदि यह मानस ज्ञान इन्द्रियगृहीतार्थ का ग्राहक है, तब अन्धादि को भी "दृष्टम्"—ऐसा ज्ञान होना चाहिए। यदि बाह्यार्थ का मानस ज्ञान भी माना जाता है, तब संसार में अन्ध-बधिरादि का अभाव हो जाना चाहिए। जब कि सभी भाव

निष्पादितक्रिये कञ्चिद् विशेषमसमादधत् ।
कर्मण्यैन्द्रियमन्यद्वा साधनं किमितीष्यते ॥ २४१ ॥

चक्षुरूप एक करण की दर्शन क्रिया जिस घटादि कर्म पर हो जा चुकी है, उस पर मानसरूप करणान्तर के द्वारा दर्शन क्रिया करने की क्या आवश्यकता, जबकि कर्मकारक पर उससे कोई विशेषता का आधार नहीं किया जाता ॥ २४१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

क्षणक्षयिणो हि सर्वभावास्ततोऽतीतस्य कथं ग्रहणं येन गृहीतमेव गृह्णीयात् । अथाक्षणिकत्वमभ्युपगम्यते । तदा पूर्वदर्शनगृहीतत्वाद् गृहीतग्रहणमप्रमाणं स्मृतिवदेव । गृहीतग्राहित्वेऽपि वा प्रमाणं मानसमिति सविशेषणं लक्षणवक्तव्यम् । किञ्च—निष्पादितक्रिये कश्चिदिति ।

यस्य हीन्द्रियविज्ञानेनैव स्वरूपपरिच्छेदस्तस्य किमपरेण कर्त्तव्यम् । तदेव स्वरूपं परिच्छिद्यत इति चेत् । परिच्छिन्ने कः परिच्छेदार्थः । य एव पूर्वः स एव । अपरिच्छिन्नेऽपि कः परिच्छेदार्थः । स्वरूपावभासिता । सान्यत्रापि को दोषः ।

नन्वेवन्नित्यन्नित्यं परिच्छिन्नमेवास्ते । तत्किमपरन्तत्र करिष्यति । इदानीमन्येन परिच्छिद्यते । न नित्यत्वादिदानीमपि तेनैवेति नापरस्य सामर्थ्यम् । परिच्छेदकस्य तस्याभावादिति न सङ्गतम् । परिच्छेदकाभावे नित्यताऽग्रहणात् । अन्येन ग्रहीष्यते इति चेत् न अप्रत्ययत्वात् । कथमन्यः स्वकाल एव प्रतियन् प्रत्येति नित्यताम् । तस्मात्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पदार्थ क्षणिक हैं, तब अतीतार्थ का प्रत्यक्ष क्योंकर होगा ? अतः मानस प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीतार्थ का ग्रहण नहीं हो सकता, यदि पदार्थों को अक्षणिक माना जाता है, तब मानस ज्ञान गृहीतार्थ का ग्राहक होने के कारण स्मृति ज्ञान के समान ही अप्रमाण हो जायगा । गृहीत-ग्राही होने पर भी यदि मानस ज्ञान प्रमाण माना जाता है, तब प्रमाण का लक्षण अगृहीतार्थ-ग्राहित्व न करके कोई अन्य विशेष लक्षण करना होगा ।

दूसरी बात यह भी है कि जब किसी वस्तु के स्वरूप का परिच्छेद (निश्चय) कर दिया गया, तब उसी अर्थ के ग्राहक अन्य (मानस) ज्ञान की क्या आवश्यकता ? इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के परिच्छेद का जो प्रयोजन, वहीं मानस प्रत्यक्ष का भी, अन्यथा अपरिच्छिन्न के परिच्छेद का क्या अर्थ ? अर्थात् ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष का जो कार्य है—वस्तु के स्वरूप का स्थिरीकरण, वही अन्य मानस ज्ञान का भी है । इसमें क्या दोष ?

शङ्का—यदि विषय नित्य है और वह प्रत्यय ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष से नित्य परिच्छिन्न है, तब वहाँ दूसरा मानसप्रत्यक्ष और अधिक क्या करेगा ? इस प्रश्न का यदि यह कह दिया जाता है कि प्रथम प्रत्यक्ष जो पहले किया था, अब द्वितीय (मानस) प्रत्यक्ष के द्वारा वही परिच्छेद किया जाता है । तो वह उचित नहीं, क्योंकि अपरिच्छिन्न नित्य पदार्थ के परिच्छेद का सामर्थ्य प्रथम प्रत्यक्ष में ही निहित है, द्वितीय प्रत्यक्ष में नहीं और पहला अब है नहीं । किन्तु यह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि परिच्छेदक के अभाव में नित्यता का ग्रहण कैसे होगा ? द्वितीय (मानस) प्रत्यक्ष के द्वारा नित्यता का ग्रहण होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह प्रत्यक्ष पहले था नहीं । अर्थात् पूर्वापर का ग्राहक प्रमाण ही नित्यता का ग्रहण कर सकता है किन्तु मानस प्रत्यक्ष पूर्व में न होने से वैसा परिच्छेद नहीं कर सकता । अतः प्रथम परिच्छे-

सकृद् भावश्च सर्वासां धियां सद्भावजन्मनाम् ।
अन्यैरकार्यभेदस्य तदपेक्षाविरोधतः ॥ २४२ ॥

यदि अक्षणिकभाव (स्थिर पदार्थ) से ही सभी ज्ञानों का जन्म माना जाता है, तब दोनों प्रत्यक्षों का एक साथ जन्म होना चाहिए, क्रमशः नहीं। यदि कहा जाय कि स्थिर बीज भी खेत और जलादि सहायक सामग्री के क्रम से अङ्कुरादि कार्यों को क्रमशः जन्म देता है, युगपत् नहीं। तो वह कहना संगत नहीं, क्योंकि बीजादि भी क्षणिक हैं, अतः सापेक्ष कारण क्षण में वैसा हो सकता है, किन्तु नित्य कारण में सापेक्षता मानना विरुद्ध है॥ २४२॥

वार्त्तिकालङ्कारः

तेनैव परिच्छेदकेनासितव्यमिति व्यर्थमपरं ग्राहकं तद्रूपेणैव प्रतिपत्तेरिति।—सकृद् भावश्च सर्वासामिति।

तदाकारनिवेशे हि नित्ये प्रवर्त्तमानं सकलमेव विज्ञानं समानकालं किन्न कालत्वे नित्यैकत्वविषयत्वं विरुध्यते। आकारभेदात्। अथोत्तरकालकारणान्तरादुपजायते। तदापि तत्कालाभिनिवेशेनैव भवितव्यमन्यथा तद्ग्रहायोगात्। सत्यस्वप्नदर्शनवत्। सत्यस्वप्नदर्शनं हि तत्कालानुयातेनैव ग्राहकमीक्षते। न चानुभवाकारमपरमिन्द्रियविज्ञानात्मा न समुपलभ्यते। अनुपलब्धेन चोपलम्भ इति न युक्तं प्रमाणाभावात्। अन्ये तु—

मानसेन यदि नोपलम्भनं मानसेन पुनरस्मृतिर्भवेत्।
न स्वयं विदितमत्र केनचित् स्मर्यते तदपरेण जातुचित् ॥४४२॥

यदीन्द्रियविज्ञानेन गृहीतं मनसा न स्मर्यते। भिन्नत्वात् सविकल्पकेनापि गृहीतन्न स्मर्यते। तयोरपि भेदात्। मानसत्वादिति चेत्। विज्ञानत्वादित्यपि स्यात्। तथा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दक को ही द्वितीय क्षण में होना चाहिए। अतः द्वितीय ग्राहक व्यर्थ है गृहीत का परिच्छेद करने में।

नित्य पदार्थ में अनेक ज्ञानों के उत्पादन का सामर्थ्य है, तब ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष—दोनों युगपत् उत्पन्न हो सकते हैं। यदि दोनों ज्ञान भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न होते हैं, तब उनमें नित्यैकविषयत्व नहीं बनता, क्योंकि उनके आकारों का भेद हो जाता है। यदि मानस प्रत्यक्ष ऐन्द्रियक ज्ञान के अनन्तर कारणान्तर (सहकारी कारण) से उत्पन्न होता है, तब भी वह अनन्तर काल-विशिष्टत्वेन ही नित्यार्थ का ग्राहक होगा। अन्यथा अनन्तर क्षण का वैसे ही ग्रहण न हो सकेगा, जैसे सत्यस्वप्न-दर्शन में। सत्यस्वप्न-दर्शन में विषय-लाभ क्षण का ग्रहण नहीं होता। ऐन्द्रियक विज्ञान से जनित अन्य अनुभवाकार ज्ञान उपलब्ध भी नहीं होता। द्वितीय क्षण में अनुपलब्ध पूर्वतन विषय से साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है—ऐसा मानना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं।

अन्य आचार्यों का कहना है कि यदि मानस ज्ञान ऐन्द्रियक विषय का उपलम्भक नहीं होता, तब उस विषय की मानस स्मृति भी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि स्वयं गृहीत का ही कालान्तर में स्मरण होता है, अन्य-गृहीत का नहीं ॥४४२॥ यदि इन्द्रिय-विज्ञान के द्वारा गृहीतार्थ का मन से स्मरण नहीं होता, क्योंकि ग्राहक और स्मर्ता दोनों भिन्न हैं। तब सविकल्प मानस ज्ञान के द्वारा गृहीतार्थ का मन से स्मरण नहीं

तस्मादिन्द्रियविज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवम् ।
मनोऽन्यमेव गृह्णाति विषयं नान्यदृक् ततः ॥ २४३ ॥

कथित आपत्तियों के कारण वह मानना पड़ता है कि इन्द्रिय-ज्ञानरूप समनन्तर प्रत्यय से जनित मानस प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय विषय से भिन्न विषय का ही ग्राहक होता है। अतः वह विषय अन्य ज्ञान के द्वारा गृहीत नहीं होता ॥ २४३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

हि—तस्मादिन्द्रियविज्ञानेति ।

मानसमपीन्द्रियविज्ञानेन स्वविषयान्तरविषयसहकारिणा जनितम्प्रत्यक्षम् । नन्विन्द्रियविज्ञानसमानकालभावि यदि तद् इन्द्रियविज्ञानेनैव तस्य ग्रहणात् मानसं व्यर्थम् । इन्द्रियविज्ञानोपरमे वा अनुपलब्धमेवापरमिति कस्य लक्षणमेतत् । अत्रेद-मुच्यते—

इदमित्यापि यज्ज्ञानमभ्यासात् पुरतः स्थिते । साक्षात्करणवत्तत्तु प्रत्यक्षम्मानसम्मतम् ।।४४३।।

इदमिति पुरोवर्त्तिनि साक्षात्करणाकारेण प्रवर्त्तमानं मानसम्प्रत्यक्षम् । अथ चक्षुर्व्यापारादुपजायमानञ्चाक्षुषमेव । न रूपप्रतिभासमात्रे चक्षुष उपयोगोऽभिनिवेशे तु पूर्वाभ्यासस्य तेन चक्षुषोऽत्र व्यापाराभावात् । मनसः पूर्वाभ्यासलक्षणादुत्पत्तेर्मानसं प्रत्यक्षमेतत् ।

अथापि स्यात् । तदाकारस्य चक्षुरादिविज्ञानेनैव ग्रहणात् मानसं व्यर्थम् । न व्यर्थम् । अधिमुक्तेरधिकायाः सम्भवात् । इदमित्येव कृत्वा प्रवर्तते । तेन प्रवर्त्तकत्वात्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होना चाहिए, क्योंकि दोनों का भेद है। यदि कहा जाय कि ये दोनों मानसत्वेन अभिन्न है, तब ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष विज्ञान और मानस विज्ञान—ये दोनों भी विज्ञानत्वेन अभिन्न हैं।

समनन्तर-प्रत्ययरूप ऐन्द्रियक विज्ञान से जनित मानस ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। ऐन्द्रियक विषय का द्वितीय क्षण भी ऐन्द्रियज्ञान का सहायक होता है।
[न्यायविन्दु में वार्तिकार ने यही लक्षण किया है—"स्वविषयानन्तरविषय-सहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्" (न्या०वि० पृ० ५७) ।] ।

शंका—यदि इन्द्रिय-विज्ञान के समान काल में ही मानस ज्ञान होता है, तब वह व्यर्थ है, क्योंकि विषय का ग्रहण प्रथम (ऐन्द्रियक) ज्ञान से ही हो जाता है मानस ज्ञान क्या करेगा ? ऐन्द्रियक ज्ञान का उपरम हो जाने पर मानस ज्ञान भी नहीं रहता तब मानस ज्ञान का कथित लक्षण किस में घटेगा ?

समाधान—"इदम्"—इस प्रकार प्रतीयमान पदार्थ में जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, वही मानस प्रत्यक्ष है ॥ ४४३ ॥ यदि कहा जाय कि "इदम्"—इत्याकारक ज्ञान तो चक्षु-व्यापार से जायमान होने के कारण चाक्षुष ही है। तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि चाक्षुष व्यापार तो पुरः स्थित पदार्थ के रूप-ग्रहण में ही उपक्षीण हो जाता है, अभिनिविष्ट धर्मी का ग्रहण तो अभ्यस्यमान मानस प्रत्यक्ष से ही होता है। पूर्वाभ्यासात्मक मन से उत्पन्न होने के कारण वह मानस प्रत्यक्ष ही है।

यह जो कहा गया कि वह विषय वस्तु तो प्रथमभावी चाक्षुष ज्ञान से गृहीत हो जाती है, उसके लिए मानस ज्ञान व्यर्थ है। वहाँ सिद्धान्ती का कहना है कि वह व्यर्थ

वार्तिकालङ्कारः

प्रमाणम्। इन्द्रियज्ञानन्तर्हि प्रवर्त्तकन्नं स्यात्। नात्यन्ताभ्यासादन्यविकल्पनेऽपि वृत्तेः प्रमाणमेव। तस्मादेवंभूतं मनः पूर्वगृहीतन्नं प्रत्येत्यपितु तदुत्तरकालभावि। न च गृहीतग्राहिसन्निहिते पूर्वग्रहणस्यावृत्तेः। आकारद्वयन्तर्हि समानकालं प्राप्तम्।

नन्वाकारद्वयमेवेदं कथन्तर्ह्येकत्वाध्यावसायः। तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रन्यायेनेत्यदोषः। सुखादयोऽपि तर्ह्यभ्यासादुपजायमानाः पुरोवर्त्याकारग्राहिणी मानसप्रत्यक्षरूपाः प्राप्तास्तत ऐन्द्रियं सुखमिति लुप्तमेतत्।

सत्यं। लुप्तमेवैतन्नालुप्तेनानेन किञ्चित्। ऐन्द्रियस्यैव सुखासुखस्योत्पत्तिरिति विरुध्यत इति चेत्। अत्रापि मूलाचार्यवचनं विरुध्यते। "रागद्वेषमोहसुखदुःखादिषु स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वान्मानसं प्रत्यक्षमिति।" इयन्तर्हिधर्मकीर्तेरकीर्तिरायाता, ऐन्द्रियस्यैव सुखासुखस्येति। सुखादिशब्देन न सुखहेतूरसादिकमेवोच्यते—कटु मिष्टम्प्रतिभात्यविकल्पयतोऽपीन्द्रियज्ञान इति यावत्। मानसमेव वाऽविकल्पकत्वसाधर्म्यात् तथोच्यते—इत्यविरोधः। यदि तर्हि मानसमन्यथाग्राहीन्द्रियज्ञानमन्यथा ग्राह्यनेकाकारम्भीभविष्यतीति चेत्। न। इन्द्रियज्ञानेऽपि स एव प्रसङ्गः। इन्द्रियविज्ञानमपि यथाभ्यासन्ना-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं, क्योंकि अधिमुक्ति रूप अधिक कार्य का जनक मानस प्रत्यक्ष ही है। "इदम्"—इस रूप से मानस ज्ञान प्रवृत्त होकर पुरुष का प्रवर्तक होता है, अतएव वह प्रमाण कहलाता है। मानस ज्ञान यदि प्रवर्तक है, तब ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष प्रवर्तक नहीं होगा—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभ्यास के कारण अन्य विकल्प के रहने पर भी ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष प्रवृत्त होता है, अतः वह प्रमाण है। फलतः मानस ज्ञान पूर्व गृहीत विषय पर विश्वास नहीं करता, अपितु मानस ज्ञान अनन्तर उत्पन्न ऐन्द्रियक ज्ञान गृहीत-ग्राही है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सन्निहित अर्थ में पूर्व ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं हुई थी। तब तो एक काल में दो आकारों की प्राप्ति होती है।

शंका—उक्त स्थल पर जब दो आकार हैं, तब दोनों ज्ञानों के विषय एकत्वाध्यवसाय कैसे ? यदि कहा जाय कि तैमिरिक रोगवाले व्यक्ति के द्वारा दृष्ट दो चन्द्रों में एकत्वाध्यवसाय होता है, वैसे ही प्रकृत में एकत्व-निश्चय होता है। तबतो सुखादि भी अभ्यास से उपजायमान होकर पुरोवर्त्ती आकार के ग्राहक मानस प्रत्यक्षरूप प्रसक्त होते हैं। तब सुख ऐन्द्रियकता लुप्त हो जाती है।

समाधान—उसकी लुप्तता उचित ही है, क्योंकि उसकी अलुप्तता का कोई प्रयोजन नहीं। एक ही ऐन्द्रियक विषय की सुखरूपता और असुखरूपता विरुद्ध क्यों नहीं होती ? मूल ग्रन्थकार ने तो सुखादि का मानस प्रत्यक्ष ही माना है—"रागद्वेषमोहसुखदुःखादिषु स्वसंवेदनमिन्द्रियानपक्षत्वात् मानसं प्रत्यक्षम्"। अतः यह धर्मकीर्ति की अपकीर्ति होती है कि सुखासुख को ऐन्द्रियक कहना। 'सुख' शब्द के द्वारा सुखादि के हेतु रसादि पदार्थों का ग्रहण नहीं किया जा सकता। यद्यपि कटु, मिष्ट, आदि विकल्पों का प्रतिभास होता है, तथापि यह निर्विकल्पात्मक मानस प्रत्यक्ष ही है। अतः कोई विरोध नहीं आता। यदि एक ही वस्तु का मानस ज्ञान अन्यथा ग्रहण करता है और ऐन्द्रियक ज्ञान अन्यथा। तब तो अनेकाकारता प्रसक्त होती है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि यह दोष तो ऐन्द्रियक ज्ञान के पक्ष में भी प्रसक्त होती है, क्योंकि इन्द्रिय-विज्ञान में भी अभ्यास के अनुरूप ही नानाकारता प्रतीत होती है।

स्वार्थान्वयार्थापेक्षैव हेतुरिन्द्रियजा मतिः ।
ततोऽन्यग्रहणेऽप्यस्य नियतग्राह्यता मता ॥ २४४ ॥

मानस प्रत्यक्ष में समनन्तर प्रत्ययत्वेन अपेक्षित ऐन्द्रियक विज्ञान स्वकीय विषय-क्षण से जनित होकर ही सहायक होता है, अतः अन्धादि के रूपादि-दर्शन का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता, नियत ग्राह्यता उपपन्न हो जाती है ॥ २४४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नाकारम्प्रवर्त्तमानन्न निवार्यमेव ।

एवं तर्हीदमित्यपि विज्ञानमभ्यासादिन्द्रियजमेव भवतु । न । मानसत्वं व्यापारान्तरस्यापि प्रतीतेः । इदमेवमिति मानस एव व्यापार एवमेव प्रतीतेः ।

कथन्तर्ह्ययम्मानसः प्रत्ययः स इत्यपि परोक्षे न प्रवर्त्तते । नेदं साधीयः ।

परोक्षे वर्तमानस्य साक्षात्करणवृत्तिता । नेति प्रत्यक्षता तस्य कथमित्यवधार्यताम् ॥४४४॥

साक्षात्कारित्वमेव प्रत्यक्षतार्थः । तदेव मानसं क्वचित्साक्षात्कारणाकारं क्वचिन्नेति कुतः ? इन्द्रियविज्ञानमपि तर्हि क्वचिद् भ्रान्तं क्वचिन्नेति कुतः । तिमिरस्य सामग्र्यन्तरस्य भावादिति चेत् । इहापि सामग्र्यन्तरमस्त्येव । यतः—स्वार्थान्वयार्थापेक्षैवेति ।

स्वार्थ इन्द्रियविज्ञानस्य प्रथमः क्षणः प्रबन्धो वा । तदन्वयो योऽर्थक्षणस्तदर्थापेक्षमेवेन्द्रियविज्ञानम्मानसञ्जयति । यत्तु पुनरनया सामग्र्या नोत्पत्तिमत्तदप्रत्यक्षम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसका निवारण नहीं किया जा सकता ।

यदि ऐसा है, तब "इदम्"—इस प्रकार जो ज्ञान है, वह भी अभ्यासानुरूप ऐन्द्रिय ज्ञान ही क्यों नहीं मान लिया जाता ? ऐसा प्रश्न नहीं कर सकते, क्योंकि उसमें मानस व्यापार-जन्यता ही प्रतीत होती है । "इदम्-वनम्"—यह मानस व्यापार ही है, क्योंकि वैसी ही प्रतीति होती है ।

यह मानस प्रत्यक्ष कैसे ? क्योंकि "सः"—इस प्रकार के परोक्ष अर्थ में प्रत्यक्ष प्रवृत्त नहीं होता ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि परोक्षार्थ का साक्षात्करण सम्भव नहीं, अतः परोक्षार्थ का साक्षात्कार से अवधारण कैसे होगा ? ॥४४४॥ अर्थात् साक्षात्कारित्व ही 'प्रत्यक्षता' शब्द का अर्थ है । वही कहीं मानस कहीं साक्षात्करणाकार होता है और कहीं नहीं—ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय-विज्ञान कहीं भ्रमरूप होता है, कहीं नहीं—ऐसा क्यों ? यदि कहा जाय कि तिमिरादिरूप सहायक सामग्री की सहायता से भ्रमादि कार्यविशेष होता है। तब प्रकृत में भी विशेष सामग्री की सहायता से कार्य विशेष हो जाता है ।

अर्थात् मानस ज्ञान का जनक इन्द्रिय-विज्ञान है और इन्द्रिय ज्ञान के विषयीभूत प्रथम क्षण से जनित विषय का द्वितीय क्षण सहायक सामग्री है, क्योंकि उसकी सहायता से ही इन्द्रिय-ज्ञान मानस ज्ञान को जन्म देता है, अतः मानस ज्ञान के द्वारा अन्धादि को रूपदर्शन की प्रसक्ति नहीं होती । जो ज्ञान कथित सहायक सामग्री के द्वारा जनित नहीं, वह मानस प्रत्यक्ष नहीं । अपनी नियत सामग्री से जनित होने के कारण मानस ज्ञान में विषयान्तर-ग्राह्यता प्रसक्त नहीं होगी, क्योंकि विषयान्तर से वह जनित नहीं ।

तदतुल्यक्रियाकालः कथं स्वज्ञानकालिकः ।
सहकारी भवेदर्थ इति चेदक्षचेतसः ? ॥ २४५ ॥

मानस ज्ञान का जनक इन्द्रिय-ज्ञान है और विषय का द्वितीय क्षण इन्द्रिय-ज्ञान का सहायक कहा जाता है, किन्तु इन्द्रिय-ज्ञान प्रथम क्षण में और सहायक विषय द्वितीय क्षण में, अतः समानकाल में न होने के कारण वह सहायक नहीं हो सकता, क्योंकि बीजादि की क्षिति-सलिलादि सहायक सामग्री समान काल में ही होती है ॥ २४५ ॥

असतः प्रागसामर्थ्यात् पश्चादनुपयोगतः ।
प्रागभावः सर्वहेतूनां नातोऽर्थः स्वधिया सह ॥ २४६ ॥

कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में जो विद्यमान ही नहीं, उसमें कार्य-जनन का सामर्थ्य नहीं हो सकता और कार्योत्पत्ति के पश्चात् होनेवाले पदार्थ का कार्योत्पत्ति में कोई उपयोग नहीं, कार्य (स्वकीय ज्ञान) के पूर्व में होनेवाला विषय ही ज्ञान के जनकीभूत इन्द्रिय-ज्ञान का सहकारी हो सकता है ॥ २४६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अत एव च नियतग्राह्यतया न विषयान्तरस्य गतिः। यतो न विषयान्तरेण जन्यते। तेनैव जन्यते अन्येन नेति किमेतत्। इन्द्रियविज्ञानेऽपि समानमेतत्। चक्षुर्विज्ञानमपि कस्मान्न शब्देन जन्यत इति। नियतहेतुफलभाव इति चेत्। अत्रापि न ब्रह्मशाप इति समानमन्यत्रापि।

ननु द्वितीयेऽपि क्षण इन्द्रियविज्ञानेनैव गृह्णाति। तथा च दृश्यते। न, मानसस्यापि तत्रोल्लेखस्य सम्भवात्। न च तत् सविकल्पकम्पुरोवर्तिस्पष्टाकारमात्रत्वात्। यदि तर्हीन्द्रियविज्ञानसमानकालभावि मनोविज्ञानं प्रत्यक्षङ्कथमिन्द्रियविज्ञानमस्य समनन्तरप्रत्ययः। पूर्वकस्य हीन्द्रियविज्ञानस्य मनोविज्ञानार्थः स्वविज्ञानकालिकासहकारी न भवति भिन्नकालयोः सहक्रियाऽयोगात्। अत्रोच्यते—तदतुल्यक्रियाकाल इति।

न युक्तम्। यतः—असतः प्रागसामर्थ्यादिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

'तेनैव विषयेण मानसं जन्यते'—ऐसा कहने की क्या आवश्यकता ? यह नियम तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में भी है। "चक्षुर्विज्ञानं कस्मान्न शब्देन जन्यते ?" —इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि यहाँ हेतु-हेतुमद्भाव नियत है, तब मानस ज्ञान के लिए भी वही समाधान है। यह व्यवस्था अन्यत्रापि समान है।

शङ्का—मानस ज्ञान की क्या आवश्यकता ? द्वितीय क्षण में भी इन्द्रिय-विज्ञान के द्वारा ही विषय का ग्रहण हो सकता है, जैसा कि लोक में देखा जाता है।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि मानस ज्ञान का भी द्वितीय क्षण में उल्लेख सम्भव है। वह सविकल्पक ज्ञान है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह पुरोवर्ती विषय का स्पष्ट (विशद रूप से) भासक होता है, जो कि प्रत्यक्ष का ही स्वभाव है।

शङ्का—यदि इन्द्रिय-विज्ञान का समानकालभावी मनो-विज्ञान प्रत्यक्ष है तब इन्द्रिय-विज्ञान उसका समनन्तर प्रत्यय क्योंकर होगा ? क्योंकि समनन्तर प्रत्यय सदैव कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में ही रहता है। इसी प्रकार मनोविज्ञान का विषय मनोविज्ञान के काल (द्वितीय क्षण) में है और इन्द्रिय-विज्ञान प्रथम क्षण में, अतः

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारोऽर्पणक्षमम् ॥ २४७ ॥

मानस ज्ञान द्वितीय क्षण में है और उसकी विषयवस्तु प्रथम क्षण में। अतः मानसज्ञान अपने से भिन्न काल में विद्यमान वस्तु का ग्रहण कैसे करेगा ? क्योंकि वह उस काल में था ही नहीं। इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है कि हेतु सदैव कार्य के पूर्वक्षण में होता है। विषयवस्तु मानसज्ञान का जनक है। अतः उसका पूर्व में रहना न्यायोचित है। ज्ञान अपने पूर्ववर्ती विषय के आकार का ग्रहण करता है या यों कहा जाय कि पूर्वक्षण में विद्यमान विषयवस्तु ही अपने उत्तर क्षण में विद्यमान ज्ञान में अपने आकार का अर्पण कर सकता है। विषयनिष्ठ विज्ञानगत आकार समर्पण की हेतुता ही यहाँ ज्ञान की ग्राह्यता कही जाती है ॥ २४७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न हीन्द्रियविज्ञानेनासमानकालो मनोविज्ञानार्थः। तस्य मनोविज्ञानात् पूर्वकालत्वात्। हेतुर्विषयो न च हेतोः फलेन समानकालता। फलेन समानकालतायां हि प्रागसत्त्वं असतश्चासामर्थ्यं प्राक्। पश्चात् कार्यकाले सामर्थ्यमिति चेत्। कर्मकाले कार्यस्य विद्यमानत्वाद् व्यर्थं सामर्थ्यम्। एवं हि स कार्यस्य कालो यदि तदा कार्यस्य तत्त्वम्। तस्मात् प्रागेव सत्त्वम् सर्वहेतूनाम्। अतोऽर्थो हेतुर्न फलभूतस्वग्राहकज्ञानसमानकालभावी। तथा हि—भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति।

ननु प्रतिभाससमानमेव स्वेन रूपेण ग्राह्यता न तदाकारविज्ञानजननम्। प्रतिभासनञ्च ज्ञानसमकालमिति कथं हेतुत्वमेव ग्राह्यता। किमिदं प्रतिभासनन्नाम, किमर्थस्वभावोऽथान्यदेव। यद्यर्थस्वभावो नीलादिवत्। नापैति कदाचिदपि तत्स्वभावादिति सर्वदा प्रतिभासप्रसङ्गः। ज्ञानाभावान्न प्रतिभासनमिति चेत्। ननु ज्ञानेनापि तदेव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसका वह विषय सहकारी कारण कैसे होगा ?

दूसरी बात यह भी है कि कार्य (मनोविज्ञानादि) के पूर्व काल में न होने वाले विषय में अपने कार्य (विज्ञान) के जनन का सामर्थ्य नहीं होता। विषयरूप हेतु में फलरूप मानस ज्ञान की समानकालता भी नहीं हो सकती। कार्य के पश्चात् होने वाले कारण का कार्य के उत्पादन में कोई उपयोग नहीं। फलतः कार्य के पूर्वकाल में ही सभी कारणों की सत्ता न्यायसंगत है। अतः यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान का कारणीभूत विषय सदैव अपने कार्यभूत विज्ञान का समानकालभावी नहीं होता। तब यह प्रश्न उठता है कि पूर्वक्षणभावी विषय का उत्तरक्षणभावी ज्ञान ग्राहक कैसे ?

समाधान—पूर्वक्षणभावी विषयवस्तु में जो उत्तरक्षणभावी ज्ञान की हेतुता है, वही उसकी ग्राह्यता है। विषय अपने आकार से ज्ञान को आकारित करता है या यूँ कह दिया जाय कि वह साकार विज्ञान को जन्म देता है।

शङ्का—स्वरूपेण प्रतिभासमानता ही विषयता मानी जाती है, स्वाकार विज्ञानजनन नहीं। प्रतिभासन सदैव ज्ञान-समानकालीन का ही होता है, अतः हेतुत्व को ग्राह्यता कैसे कह दिया गया है ?

समाधान—यह प्रतिभासन पदार्थ क्या है ? क्या अर्थ का स्वरूप है अथवा कुछ अन्य ? यदि नीलादि के समान अर्थ का स्वरूप है तब वह अपने स्वरूप से

वार्तिकालङ्कारः

कर्त्तव्यन्तच्च प्रागप्यस्तीति कथमप्रागप्रतिभासनम् । ज्ञानस्य व्यर्थता चेत् । अयमपरस्तवैव दोषो न तु तत्स्वरूपस्यैव प्रागप्रतिभासनम् । तदेवास्ति तदेव नास्तीति व्याहतम् । अथ ज्ञाने सति दृश्यते नान्यथेति चेत् । किमिदानीं ज्ञानस्य कारकत्वं प्रतिभासनं प्रति । न च कारकत्वं समानकालत्वात् । असत इत्यादिप्रतिपादनात् । समानकालन्दृश्यते न च ज्ञानमन्तरेणेति किमत्र कुर्मः । एवन्तर्हि चाक्षुषस्तदैवोत्पत्तिमत् । ततो नार्थस्वभावः प्रागर्थे सतीदानीमुत्पत्तेः । यतः—

यस्मिन् स्थिते यदुत्पन्नं स्थित एव विनश्यति । तस्मात् तदन्यदेवास्तु भेदलक्षणसम्भवात् ।।४४५।।

वदनप्रतिबिम्बं हि वदने सति सम्भवात् । पश्चाद् वदनतो भिन्नम्प्रतिभासस्तथास्तु नः ।।४४६।।

भिन्नदेशत्वतो भिन्नम्प्रतिबिम्बं भवेत् यदि । प्रमाणप्रतिपन्नश्च स भेदो मुखबिम्बयोः ।।४४७।।

प्रतिभासस्य भेदस्य नार्थात् साधनमीक्ष्यते । तेनैकतार्थतः सिद्धा नीलादिप्रतिभासयोः ।।४४८।।

एवन्तर्हि—

यथैव चक्षुरादिभ्य इदानीम्प्रतिभासभूः । नीलादेरपि तद्वत् स्याद् योगक्षमसमत्वतः ।।४४९।।

यथैव चक्षुरादिभ्योऽर्थस्य प्रागेव सम्भवः । प्रतिभासस्य तद्वत् स्यादिति नैवेदमीक्ष्यते ।।४५०।।

यस्माद् यदीष्यते भिन्नो नीलादिः प्रतिभासतः ।
प्राक् सत्त्वन्तस्य नीलादेः प्रतिभासादितीष्यताम् ।। ४५१ ।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

से कदाचित् भी प्रच्युत नहीं होता । अतः उसका सदैव प्रतिभास प्रसक्त होता है । यदि कहा जाय कि ज्ञान न होने के कारण प्रतिभास नहीं होता, तब प्रश्न उठता है कि जिस वस्तु का स्वरूप पहले ही विद्यमान है, ज्ञान आकर वहाँ क्या करेगा ? उसको भी जो करना है, वह पहले ही विद्यमान है। ज्ञान यदि कुछ नहीं करता तो वह व्यर्थ हो जायेगा । यह दोष स्वयं आपके ऊपर ही अवतरित होता है। ज्ञान से पहले यदि प्रतिभासित नहीं होता, अप्रतिभासित का स्वरूप नहीं, अतः "तदेवास्ति तदेव नास्ति इति व्याहतम्" । यदि कहा जाय कि ज्ञान का उदय हो जाने पर ही वह दिखाई देता है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार विषय-प्रतिभासन के प्रति ज्ञानगत जो कारकता अभिमत है, वह क्या है ? अपने समान काल में होने वाले कार्य की कारकता ज्ञान में कैसे, क्योंकि असत् की कारकता ही प्रतिपादित होती है । ज्ञान के बिना समान काल की वस्तु भी दिखाई नहीं देती । यदि ऐसा है तब उसी काल में उसकी उत्पत्ति माननी होगी, पूर्व नहीं । जिसके होने पर जो उत्पन्न होता है, और स्थिति-काल में ही नष्ट हो जाता है, वह उससे भिन्न हो जाता है, क्योंकि उसमें भेद का लक्षण घट जाता है ।।४४५।। मुख का प्रतिबिम्ब मुख के होने पर ही सम्भव है । पश्चात् मुख से भिन्न वस्तु का ही प्रतिभास होगा ।।४४६।। यदि देश के भेद से प्रतिबिम्ब का भेद माना जाता है तब मुख और बिम्ब का वह भेद कहा जायगा ।।४४७।। प्रतिभास के भेद की सिद्धि विषयवस्तु से नहीं की जा सकती । अतः नील और नीलप्रतिभास की एकता सिद्ध होती है ।।४४८।। यदि ऐसा है तब यह मानना होगा कि जैसे इस समय चक्षु आदि से प्रतिभास होता है वैसे ही सदैव विषय का प्रतिभास होगा, क्योंकि योग-क्षेम में समानता होती है ।।४४९।। जैसे विषयवस्तु की सत्ता चक्षुरादि से पहले होती है वैसे प्रतिभास की पहले नहीं देखी जाती ।।४५०।। जो जिससे भिन्न होता है, उसका प्रकाश तभी होगा, जब कि वह उससे पहले होगा । फलतः नीलादि पदार्थों की सत्ता उनके प्रतिभास से पहले सिद्ध होती है ।।४५१।।

कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत् ।
तत् तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते ॥ २४८ ॥

यद्यपि एक कार्य के हेतु अनेक होते हैं तथापि ज्ञान जिस विषय के आकार का अनुकरण करता हुआ उत्पन्न होता है, उस विषय को उस ज्ञान का ग्राह्य कहा जाता है ॥ २४८ ॥

(१६) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

अशक्यसमयो ह्यात्मा रागादीनामनन्यभाक् ।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी ॥ २४९ ॥

रागद्वेष, सुखदुःखादि समस्त चित्त और चैतसिक धर्मों का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहलाता है । क्योंकि रागादि का स्वरूप अन्यज्ञान के द्वारा गृहीत न होकर

वार्तिकालङ्कारः

तदनन्तरमुत्पन्नन्नीलादिप्रतिभासवत् । विज्ञानं ग्राहकन्तस्य पितृरूपग्रहो यथा ॥४५२॥

उक्तञ्च—कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽपीति ।

पुत्रः पितू रूपं गृह्णातीति यथा व्यपदेश इति ।

(१६) स्वसंवेदन-प्रत्यक्षम्

सुखादीनामपि स्वसंवेदनम्मानसं प्रत्यक्षम् । नन्वेवं विकल्पस्य स्वरूपस्याप्रत्यक्षता प्राप्ता । तथा च परोक्षविज्ञानसमयप्रसङ्गः । न, सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनस्य प्रत्यक्षत्वात् । सुखादिग्रहणन्तु स्पष्टं संवेदनदर्शनार्थम् ।

ननु विकल्पस्य निर्विकल्पकत्वाभावात् कथम्प्रत्यक्षता । न हि विकल्पस्य स्वरूपमविकल्पकम् । अर्थे विकल्पकत्वमिति चेत् । तदसत् । यतः—

अर्थे विकल्पकत्वं चेत् स्वरूपेऽपि विकल्पकम् । न हि स्वरूपे तस्यान्यत् स्वरूपमुपपत्तिमत् ॥४५३॥

अत्राह—अशक्यसमयो ह्यात्मा इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसके अनन्तर उत्पन्न नीलादि का प्रतिभास वैसे ही होता है, जैसे पिता के रूप का ग्रहण पुत्र के द्वारा किया जाता है ॥४५२॥ लोक में यह प्रसिद्ध है कि "पुत्रः पितू रूपं गृह्णाति" ।

(१६) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष

सुखादि का भी स्वसंवेदन मानस प्रत्यक्ष होता है । यदि संदेह हो कि इस प्रकार तो विकल्प स्वरूप की प्रत्यक्षता प्रसक्त होती है, तब तो परोक्ष विज्ञान की भाषा लागू होती है । तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सभी चित्त और चैतसिक धर्मों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही माना जाता है । सुखादि का ग्रहण केवल उसकी स्पष्टता के कारण किया गया है ।

शंका—विकल्प निर्विकल्पक न होने से उसका प्रत्यक्ष क्योंकर होगा । विकल्प का स्वरूप अविकल्प नहीं होता ? विकल्पकत्व अर्थ में है, यह कहना भी उचित नहीं ? क्योंकि अर्थ को लेकर यदि विकल्पकता है, तब स्वरूप में भी विकल्पत्व होगा । क्योंकि वस्तु से भिन्न उसका स्वरूप नहीं होता ॥४५३॥ इसके उत्तर में कहा जाता है कि उत्पन्न होता हुआ ही सुखादि का स्वरूप संवित् का विषय हो जाता है, क्योंकि उसके

अपने ज्ञान के द्वारा ही गृहीत होता है। अतएव उसके साथ वाच्य-वाचक भाव का समय (संकेत) सम्भव नहीं है ॥ २४९ ॥

वार्त्तिकालङ्कारः

उत्पत्तिमासादयन्नेव सुखाद्यात्मा संविदां विषयभावं बिभर्त्ति। तदतिरेकेण तत्संविदोऽभावात्। तदा च कोऽवसरः पूर्वापरभावाभिलापसंयोजनस्य। पश्चात् संयोजनमिति चेत्। न, तदा तदभावात्। पूर्वरूपतया हि संवेदने परेण तदा तत्संवेदनमेव न स्यात्। न हि पूर्वादिरूपतयान्यथा वा संवेद्यमानाः सुखादयस्संविदिता भवन्ति। परसुखसंवेदनवत्। तस्माद् वर्त्तमानतया सुखादीनां ग्रहणे स्पष्टतया वा निर्विकल्पकमेव ग्रहणम्। अथ मानसं सुखं विकल्पग्रहणं ग्राह्यमिति मतिः। तदप्यसद्। यतः—

स्मृत्यासंवेदने तस्य यदि मानसतोच्यते। न तस्य सुखसंवित्तम्पूर्ववृत्तिप्रतीतितः ॥ ४५४ ॥

तदैव चोदिते तस्य साक्षाद् वित्तौ न कल्पना।
अभिलापस्य संसर्गादिति चेन्नाभिलापिता ॥ ४५५ ॥

सुखस्य तद्विविक्तत्वे कथं संसर्गसम्भवः। समानकालविन्मात्रान्नैष संसर्ग उच्यते ॥४५६॥

मानसोऽपि न रूपादेराकारः स्वात्मनि स्थितः। तदैवोदयसद्भावाद् विकल्पविषयः कथम् ॥४५७॥

नन्वर्थेऽपि विकल्पत्वं कथमस्योपपत्तिमत्। अर्थस्याग्रहणात् तेन स्वरूपस्याप्यकल्पनात् ॥४५८॥

सत्यमेवैतदुक्तम्भवता।

यदि ग्रहणमर्थस्य विकल्पः कथमत्र सः। अथाग्रहणमर्थस्य विकल्पः कथमत्र सः ॥४५९॥

अथार्थारोपतस्तत्र विकल्पत्वन्निरुच्यते। ग्रहणाग्रहणे मुक्ता तत्राप्यर्थोऽस्ति नापरः ॥४६०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतिरिक्त संवित् का कोई स्वरूप नहीं होता। तब मध्य में पूर्वापराभिलाप संयोजन को कोई अवसर नहीं मिलता। पश्चात् संयोजन शब्द का किसके साथ होगा, क्योंकि उस समय वह है ही नहीं। पूर्वरूपतया किसी वस्तु का संवेदन हो नहीं सकता, क्योंकि पूर्वकाल में संवेदन ही नहीं था। सुखादि का संवेदन पूर्वरूपतया होता भी नहीं, जैसे कि परकीय सुखादि का संवेदन नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि वर्तमान स्फुटरूप से सुखादि का ग्रहण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही है। यदि कहा जाय कि मानस सुख विकल्प का ग्राही है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्मृति के द्वारा संवेदन न होने पर यदि उसकी मानसता मानी जाती है, तब उसकी पूर्ववृत्तिता की प्रतीति कैसे होगी ॥४५४॥ विषयक्षण के समय ही उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान में किसी प्रकार के विकल्प की कल्पना नहीं हो सकती। अतएव शब्द-कल्पना न होने के कारण उसमें अभिलाप्यता नहीं होती ॥४५५॥ सुख यदि अपने ज्ञान से भिन्न होता तब उसके साथ ज्ञान का सम्बन्ध सम्भव कैसे हुआ? क्योंकि समानकाल में ज्ञान मात्र से उसका संसर्ग नहीं होता ॥४५६॥ रूपादि का मानस आकार भी अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं, क्योंकि उसी काल में उसका उदय होता है, तब उसका विकल्प कैसे? ॥४५७॥ सुख के समान ही अर्थ में उसकी विकल्पकता की उपपत्ति नहीं होती। अर्थ का ग्रहण न होने के कारण तत्स्वरूपता की कल्पना भी उसमें नहीं होती ॥४५८॥

आपने जो कहा, वह सत्य है—

यदि वहाँ अर्थ का ग्रहण है तब वह विकल्प कैसे? और यदि अर्थ का अग्रहण है, तब भी वह विकल्प क्योंकर होगा? ॥४५९॥ यदि वहाँ अर्थारोप होने के कारण

वार्तिकालङ्कारः

ग्रहणारोपसद्भावे विकल्प इति चेन्मतिः । ग्रहणारोपयोरैक्ये द्वयोः सम्भव इत्यसत् ॥४६१॥
तत्रैकपक्षनिक्षिप्तो दोषः प्रागेव वर्णितः । अथ भेदस्तयोरस्ति द्वयमेव प्रसज्यते ॥४६२॥
सविकल्पकसंवित्तिरविकल्पा तदैव च ।

तस्मात्—

ग्रहाभिमानो यत्रास्ति विनाशग्रहणमुच्यते । स एव हि विकल्पोऽस्मिन्नस्मत्पक्षे निरीक्षितः ॥४६३॥
अभिमानोऽपि कस्तत्र ग्रहणाग्रहणात् परः । इति चेदग्रहे यस्य प्रवृत्तिं प्रति कर्त्तृता ॥४६४॥
प्रवर्त्तकत्वमग्राह्ये यदि सर्वत्र किन्न तत् । प्रवर्त्तकत्वं ग्राह्येऽपि यदि कस्मात् प्रवर्त्तते ॥४६५॥
सर्वन्तर्हि भवेज्ज्ञानमिदानीं सविकल्पकम् । अगृहीत एव सर्वस्मात् यतो ज्ञानात् प्रवर्त्तते ॥४६६॥

अत्र ब्रूमः—

असाक्षात्करणाकारे यत्र स्यात् कल्पनान्तरैः । व्यवहारः स एवात्र विकल्पो लोकसम्मतः ॥४६७॥
दर्शनाभिमतिर्यत्र तज्ज्ञानमविकल्पकम् । साक्षात्कृत्यधिमोक्षाच्च प्रत्यक्षमिति गीयते ॥४६८॥
परमार्थस्तु विज्ञानं सर्वमेवाविकल्पकम् । स्वग्राह्यविषये सर्वस्याविकल्पनवृत्तितः ॥४६९॥

किञ्च—

वासनाबलतः पूर्वसंविद्भेदानुसारतः । यत् ज्ञानं जायते क्वापि तदुक्तं सविकल्पकम् ॥४७०॥
तत्त्वर्थपरतन्त्रत्वमादधानं प्रवर्त्तते । निर्विकल्पकमित्युक्तन्तज्ज्ञानव्यवहारतः ॥४७१॥
सुखादीनान्तु रूपस्य स्वसंवित्याऽविकल्पनात् । अविकल्पकता तत्र सर्वेषामेव सम्मता ॥४७२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विकल्प कहा जाता है, तब भी आरोप कैसे ? ॥४६०॥ सर्वथा ग्रहण और अग्रहण को छोड़कर कोई तीसरा कल्प सम्भव नहीं ॥४६१॥ प्रत्येक पक्ष में दोषों का प्रदर्शन पहले ही किया जा चुका है। यदि उनका भेद है, तब दोनों दोष प्रसक्त होते हैं ॥४६२॥ क्योंकि सविकल्पक संवित् उसी काल में निर्विकल्प हो जाता है।

अतः जहाँ ग्रहणाभिमान है, वहाँ विनाश-ग्रहण कहा जाता है। वही विकल्प इस असत्पक्ष में देखा जाता है ॥४६३॥ ग्रहण और अग्रहण से भिन्न यह अभिमान है—ऐसा यदि कहा जाता है, तब प्रश्न उठता है कि ग्रहण में जैसे प्रवर्तकत्व होता है, अग्रहण में क्यों नहीं ? ॥४६४॥ यदि अग्रहण होने पर भी प्रवृत्ति होती है, तब सर्वत्र प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? ग्रहण-पक्ष में ही प्रवर्तकत्व क्यों ? ॥४६५॥ परमार्थतः विज्ञान सर्वत्र अविकल्पक ही होता है। सभी विज्ञानों की स्वग्राह्यार्थ में प्रवर्तकता होती है, क्योंकि वह वहाँ निर्विकल्प होता है ॥४६६॥

समाधान—साक्षात्करण न होने पर भी जहाँ अन्यान्य कल्पनाओं के होने पर लोकव्यवहार होता है, वही लोक में विकल्प माना जाता है ॥४६७॥ जहाँ "दृष्टं मया"—ऐसा दर्शनाभिमान होता है, वही ज्ञान निर्विकल्पक होता है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं ॥४६८॥ परमार्थतः समस्त ज्ञान अविकल्पक ही होता है, क्योंकि अपने ग्राह्य विषय में सभी ज्ञानों की वृत्ति होती है ॥४६९॥

दूसरी बात यह भी है कि—

वासनाओं (अनादि संस्कारों) के बल पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सविकल्पक कहलाता है ॥४७०॥ वह अविकल्प ज्ञान अपने में अर्थपरतन्त्रता का आधान (आरोप) करता हुआ ही प्रवृत्त होता है—ऐसा ज्ञान-व्यवहार से सिद्ध होता है ॥४७१॥

वार्तिकालङ्कारः

तस्मात् तेषां स्वसंवित्तिर्नाभिजात्यानुषङ्गिणी । न कर्मकरणत्वेन सोऽभिजल्पोऽत्र सङ्गतः ।।४७३।।

अथापि प्रतिभासमान एव प्रबन्धेन सुखादाविदं सुखादीति यदा विज्ञानमधिमुक्तिरूपमुपजायते तदा कस्मान्न सविकल्पकता ? अत्र मानसं प्रत्यक्षमर्थ इवेति वर्णितम् । तथा हि—

अर्थरूपे सुखादौ च यदेदमिति वर्तते । स्वरूपग्रहसाक्षात्त्वे सर्वन्तन्मानसम्मतम् ।।४७४।।

न हि तत्रापि कथञ्चित् कल्पनावकाशः । तेन तदविकल्पकत्वात् प्रत्यक्षमेव ।

ननु स्वसंवेदनं मानसञ्च पदद्वयमपि समुदितन्तदा परस्परासंस्पर्शात् कथं न द्वयाकारप्रतीतिः ? भवत्येव । तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनन्यायेन त्वेकार्थाभिनिवेशादेवमव्यवहारः । ननु तत्रापि कथं स्वसंविदितत्वे न भवति तथा व्यवहारः । अनुमानस्य तथा वृत्तेः । तत्र हि सामान्यरूपकार्यदर्शने तदेकत्वानुमानेन च द्वितीयस्य दर्शनमिति तदेकताव्यवहारः । इह तर्हि द्वयोरपि दर्शनात् कथमेकताव्यवहारः । न चानुमानमत्र । स्वसंविदितत्वे किमनुमानेन ? ननु परम्परासंवेदनात् कथं द्वयं संविदितम् । पुरुष एकस्तस्य तद् द्वयं संविदितमिति चेत् , न, संवेदनव्यतिरेकेण पुरुषस्याभावात् । ताभ्याञ्च न द्वयसंवेदनम् । अथरूपरससंवेदनवत् संवेदनं द्वयोः । तत्रापि कथं स्वसंविदितत्वे सतीति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सुखादि के स्वरूप का स्वसंवेदन अविकल्पात्मक ही होता है, अतः वैसे सभी ज्ञानों में अविकल्पता ही सम्मत है ।।४७२।। अतः उनकी स्वसंवित्ति अभिजल्प (शब्द) सम्बन्धिनी नहीं। कर्मत्वेन या करणत्वेन भी शब्द की यहाँ संगति नहीं ।।४७३।। यदि सन्तानरूपेण प्रतिभासमान विज्ञान 'इदं सुखम्' इस प्रकार अधिमुक्ति स्वरूप उत्पन्न होता है, तब उसमें सविकल्पकता क्यों नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में मानस प्रत्यक्ष का वर्णन इस प्रकार किया गया है । सुखादिरूप अर्थों में जब ज्ञान प्रवृत होता है तब स्वरूप ग्रहण की साक्षात्कारता उसे मानस प्रत्यक्ष सिद्ध करती है ।

प्रश्न—'स्वसंवेदनम् मानसम्' इस प्रकार ये दो पद हैं । अतः उनसे प्रतिपादित ज्ञान में दो आकारों की प्रतीति क्यों नहीं ?

उत्तर—अवश्य होती है, किन्तु वैसे ही जैसे तैमिरिक को द्विचन्द्रता का भान होता है । वहाँ एक अर्थ का अभिनिवेश व्यवहारतः नहीं होता ।

प्रश्न—वहाँ भी स्वसंवित्ति होने के कारण वैसा व्यवहार क्यों नहीं होता ? वैसा वहाँ अनुमान किया जा सकता है । सामान्य कार्य को देखकर सामान्य कारण की कल्पना अनुमान है ? अतः एकता व्यवहार वहाँ भी होना चाहिए ।

उत्तर—यहाँ तो दोनों का दर्शन होता है, एकता व्यवहार कैसे होगा ? अनुमान भी सम्भव नहीं, स्वसंवेदन में अनुमान का क्या उपयोग ।

प्रश्न—जब कि वहाँ पर द्वित्व या परता का भान नहीं होता तब कैसे कहेंगे 'द्वयं संविदितम्' ?

उत्तर—संवेदन से भिन्न पुरुष की कोई पृथक् सत्ता नहीं, अतः द्वित्व का संवेदन नहीं हो सकता । यदि कहा जाय, रूप और रस संवेदन के समान ही दोनों का संवेदन होता है, तब वहाँ भी स्वसंविदित अर्थ में प्रसंग से परसंवेदनता का प्रतिपादन किया गया है । फलतः स्वसंवेदन एक ही है और वह चित्ताकार है । ऐसा कहा जा चुका है । यह सब-कुछ व्यवहारतः बाह्यार्थ का आश्रय लेकर और ग्राह्य-ग्राहक भाव को मानकर

अवेदकाः परस्यापि ते स्वरूपं कथं विदुः ।
एकार्थाश्रयिणा वेद्या विज्ञानेनेति केचन ॥ २५० ॥

नैयायिकों का कहना है कि रागादि और ज्ञान दोनों ही विषयता सम्बन्ध से विषय पर रहते हैं। दोनों का सामानाधिकरण्य होने के कारण ग्राह्य-ग्राहक भाव हो जाता है॥ २५० ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिपादितं परसंवेदनेऽपि प्रसङ्गादिति । तस्मात् स्वसंवेदनमेकमेव चित्राकारमिति प्रतिपादितमेतत् ।

इदञ्च पुनर्बाह्यार्थमाश्रित्य ग्राह्यग्राहकभावश्चाभ्युपगम्योच्यते । परमार्थतस्तु सकलमेव स्वसंवेदनमात्रन्नेन्द्रियादिप्रत्ययविभागोऽस्ति । इन्द्रियव्यापारस्यापि समानकालतया वेद्यत्वाद् रूपादिवत् । अथ चक्षुरादीनां व्यवहारतः कारणत्वम् । तथा समानसंवेदनयोर्मानसेन्द्रियविज्ञानयोश्च भेदः ।

नन्वत्र व्यवहारो नास्ति व्यावहारिकः । आनुमानिकोऽपि व्यवहार एवेत्यदोषः । आत्मादिष्वपि तर्ह्यानुमानिकोऽपि व्यवहार एवेत्यादीनामपि सत्त्वप्रसङ्गः । न तत्र बाधकव्यवहारसद्भावात् । तस्मात् सुखादीनामात्मा विशेषरूपो शक्यसमय इति स्थितमेतत् । तदुक्तम्—अवेदकाः परस्यापीति ।

यदपि तावद् विज्ञानं परस्य वेदकन्तस्यापि तावत्स्ववेदनन्नास्ति किमत्र पुनः परावेदिनां सुखादीनाम् ।

ननु वेद्यत्वात् स्ववेदनम्भविष्यति सुखादिकमन्यथा वेदनमेव न स्यात् । न, स्वसंवेदनस्यासिद्धत्वात् । परेण वेदने घटादिवदस्ववेदनम् । घटादिवदेव तर्हि बहिर्देशत्ववेदनप्रसङ्ग इति चेत्, न, एकार्थसमवायिना विज्ञानेन वेदनात् । घटादीनां हि नैका-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कहा गया है। परमार्थतः समस्त विज्ञान तो स्वसंवेदनात्मक है। इन्द्रियादि प्रत्ययों का विभाग उसमें नहीं है। क्योंकि इन्द्रियव्यापार समानकालिक होने के कारण रूप आदि के समान वेद्य ही है। यदि व्यवहार के बल चक्षु आदि में कारणता का प्रतिपादन किया जाता है, तब समानसंवेदनात्मक मानस और इन्द्रिय-विज्ञानों का भेद कहा जा सकता है।

शंका—इस विषय में व्यवहारसिद्ध कोई व्यवहार नहीं। यदि कहा जाय कि आनुमानिक व्यवहार भी व्यवहार ही है, तब आत्मादि के विषय में भी आनुमानिक व्यवहार होने के कारण उनकी सत्ता प्रसक्त होती है।

समाधान—वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें बाधक व्यवहार का सद्भाव दिखाया जा चुका है। अतः सुखादि का स्वरूप संकेतगम्य है, यह स्थिर हो जाता है।

जो वादी कहता है कि विज्ञान अपने से भिन्नार्थ का ग्राहक होता है, उसके मत में स्वसंवेदन है ही नहीं, तब परावेदी सुखादि की बात ही क्या है ?

शङ्का—यदि कहा जाय कि वेद्य होने के कारण सुखादि का स्वसंवेदन हो जायगा, अन्यथा सुखादि का वेदन ही न होगा। तो वैसा नहीं कर सकते, क्योंकि सुखादि का स्वसंवेदन असिद्ध है। यदि सुखादि का भिन्न ग्राहक के द्वारा ग्रहण माना जाता है, तब घटादि के समान ही बहिर्देशत्व और परवेदनत्व प्रसक्त होता है।

तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः ।
तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥ २५१ ॥

तद्रूपात्मक भाव तद्रूपात्मक कारण से और अतद्रूपात्मक भाव अतद्रूप कारण से उत्पन्न होता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने सजातीय प्रत्यय से उत्पन्न होता, अतः ज्ञान के जनकीभूत चित्त और अर्थ से जनित सुखादि क्या अज्ञानरूप होंगे ? कभी नहीं, सुखादि भी ज्ञानस्वरूप ही हैं ॥ २५१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

र्थसमवायो विज्ञानेन । तेन तेषां ग्राह्यरूपतया तटस्थत्वेन वेदनम् । सुखादयस्तु पुनरभेदे- नैव विज्ञानात्प्रतीयमाना विज्ञानरूपमिवापन्ना ग्राहकाकारतयान्तःसन्निविष्टा वेद्यन्त इति न घटादिवत् प्रसङ्ग इति केचित् । तेषाम्—तदतद्रूपिणो भावा इति ।

न तावदेतत् प्रत्यक्षप्रतिपत्तिकमेव वः । अनुमानात् प्रतीतिस्तु न विना लिङ्गमिष्यते ॥४७५॥

न खलु विज्ञानाद् भेदेन प्रतीयन्ते सुखादयः । एकार्थसमवायस्य विरोधिनः सम्भ- वात् । अनुमानम्पुनर्न लिङ्गमन्तरेण प्रवर्त्तते । स्यादत्र लिङ्गं यदि हेतुभेदो दर्शयितुं शक्यः । न ह्य प्रत्यक्षमनुमानाद् विना प्रत्येतुं शक्यम् । हेतुभेदात्तु भेदम्प्रतिपद्यस्व । अवश्यं हि सामग्रीभेदात् कार्यभेदः । कार्यभेदस्तु न भेदं साधयति । कारणादेकस्मादपि कार्यभेददर्शनाद् भस्मधूमवत् । न च सुखादिविज्ञानयोर्भेदस्य साधकः कार्यभेद उपल- भ्यते । तस्मात्कारणभेद एवोपदर्शयितव्यः स च नास्ति । कस्मादभिन्नहेतुकमभिन्नरूप- श्चोपलभ्यमानम्भिन्नमिति व्यपदिश्यते किमत्र प्रमाणमिति यावत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—सुखादि का स्वसमानाधिकरणीभूत ज्ञान के द्वारा ग्रहण होता है । घटादि भी चित्त के आकार हैं और विज्ञान भी वहाँ रहता है, अतः विज्ञान घटादि का समानाधिकरण है । उसी के द्वारा ग्राह्यत्वेन घटादि का वेदन होता है । सुखादि का विज्ञान से अभेद होने के कारण विज्ञानरूपेण ही प्रतीयमान होते हैं, ग्राहकाकार के रूप में ही प्रतीत होते हैं । अतः घटादि के समान उनमें परवेद्यत्व प्रसक्त नहीं होता—ऐसा कुछ लोगों का कहना है । उनके मतानुसार सुखादि की प्रत्यक्ष प्रतिपत्ति नहीं हो सकती और अनुमान लिङ्ग के बिना नहीं हो सकता ॥ ४७५ ॥

विज्ञान-भिन्नत्वेन सुखादि की प्रतीति भी नहीं होती । उसके विपरीत ज्ञान- समवायि-समवेतत्व सुखादि में होने से विज्ञानाभेद ही सिद्ध होता है । भेद-साधक अनुमान लिङ्ग के अभाव में प्रवृत्त नहीं हो सकता । यहाँ लिङ्ग तब सम्भव था, जब कि विज्ञान के हेतु से सुखादि के हेतु का भेद दिखाया जा सकता । अप्रत्यक्ष वस्तु पर अनुमान के बिना विश्वास नहीं किया जा सकता । हेतु-भेद से अवश्य भेद सिद्ध होता, क्योंकि सामग्री के भेद से कार्य का भेद होता ही है । कार्य का भेद कारण-भेद का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि एक कारण से कार्य-भेद वैसे ही देखा जाता है, जैसे एक ही अग्निरूप कारण से भस्म और धूम दो कार्य देखे जाते हैं । सुखादि और विज्ञान के भेद का साधक कोई कार्य-भेद भी उपलब्ध नहीं होता, अतः सुखादि और विज्ञान का भेद सिद्ध करने के लिए कारण-भेद ही दिखाना होगा । वह कोई है नहीं । अभिन्नहेतुक और अभिन्नस्वरूप सुखादि और विज्ञान भिन्न हैं—यह कैसे कहा जाय ? और इसमें क्या प्रमाण ?

सार्थे सतीन्द्रिये योग्ये यथास्वमपि चेतसि ।
दृष्टं जन्म सुखादीनां तत् तुल्यं मनसामपि ॥ २५२ ॥

सार्थ इन्द्रियरूप योग्य सामग्री से तज्जातीय कार्य का जन्म देखा जाता है। वह कार्यकारणभाव चित्त और सुखादि का भी है, अतः सुखादि कार्य अपने कारण के तुल्य ज्ञानात्मक ही होगा ॥ २५२ ॥

असत्सु सत्सु चैतेषु न जन्माजन्म वा क्वचित् ।
दृष्टं सुखादेर्बुद्धेर्वा तत् ततो नान्यतश्च ते ॥ २५३ ॥

इन्द्रिय और अर्थादि के होने पर सुखादि से भिन्न वस्तु का जन्म नहीं और इन्द्रियादि के होने पर सुखादि का अजन्म नहीं देखा जाता, अतः सुखादि ज्ञानात्मक ही हैं, संस्कारादि सहायक सामग्री से अन्यथा नहीं हो सकता ॥ २५३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथवा यदि विज्ञानमन्यत् सुखादिभ्यः सुखादीनां विज्ञानस्य तत्को हेतुः। चक्षूरूपमनस्काराः ततश्च सुखादिकमुत्पद्यते एव विज्ञानहेतोश्चक्षुरादेः। तथा च तत्किमज्ञानं विज्ञानेन कस्मादिव न वेद्यते। नास्त्येवेति चेत्। न, विज्ञानहेतुकत्वेनोत्पत्तेः कथमस्यावेद्यमानता। भवत्पक्षेऽपि कस्मान्नैवमिति चेत्। न, वासनाप्रबोधविशेषस्य हेतुत्वात्। वासनाप्रबोधविभागबलात् कदाचित् सुखरूपं विज्ञानं दुःखरूपमन्यथा वेति नानुमपपन्नम्। समानहेतुत्वमेवोपदर्शयति—सार्थे सतीन्द्रिये योग्य इति।

न चक्षुरन्तरेण रूपदर्शनसुखम्। न च मनोहारिरूपमन्तरेण। नापि शोकादिना मनस्युपहते। विज्ञानजन्मनोऽपीयमेव सामग्री ततो न हेतुभेदो भेदस्य बोधकः। नापि हेतावात्ममनस्संयोगे रूपादिसामग्रीतः सुखमुत्पन्नमविज्ञानं युक्तिमत्। अथ तदा नोत्पन्नमेव सुखं तदवश्यमेवाविद्यमानमविज्ञानम्। न ह्यविद्यमानं ग्रहीतुं शक्यम्। अत्रोच्यते— असत्सु सत्सु चैतेष्विति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अथवा यदि विज्ञान भिन्न है सुखादि से—इसमें क्या कारण? चक्षु, रूप और मनस्कार ही वह सामग्री है, जिससे सुखादि उत्पन्न होते हैं, वही सामग्री विज्ञान की जनिका है। यदि सुखादि अज्ञानरूप (विज्ञान से भिन्न) हैं, तब क्या उनका वेदन नहीं होता? नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जब सुखादि विज्ञानहेतुहेतुक हैं, तब उनमें अवेद्यमानता क्योंकर रहेगी? आपके पक्ष में भी ऐसा क्यों नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वासना (संस्कार) का विशेष प्रबोध उसका हेतु माना जाता है। वासना-प्रबोध-विभाग के बल पर कदाचित् सुखरूप विज्ञान दुःखरूप अन्यथा भी होता है—ऐसा अनुपपन्न नहीं।

सुखादि और विज्ञान में समानहेतुकत्व ही दिखाया जाता है—"स्वार्थे सतीत्यादि" से। अर्थात् न तो चक्षु के बिना रूप-दर्शन-जनित सुख होता है और न मनोहारी रूप के बिना। उसी प्रकार शोकादि से आहत मन के बिना दुःख नहीं होता। यही इन्द्रिय, विषय और मन आत्मक सामग्री ही विज्ञान को जन्म देती है। अतः यहाँ हेतु-भेद कार्य-भेद का साधक नहीं। विज्ञान के हेतुभूत आत्म-मनः-संयोग और रूपादि विषय से जनित सुखादि को विज्ञान से भिन्न अविज्ञानरूप मानना युक्ति-युक्त नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

न च खलु चक्षूरूपालोकमनस्कारेषु सत्सु सुखादय उदयभाजो येन विज्ञानात् कारणान्तरं सुखादिकस्य कल्प्येत। ततो विज्ञानकारणमेव सुखादिकारणम्। अथ तच्च तदन्यच्च सुखादीनां धर्मादिकारणं तदेवाधर्मादि। तदपि नास्ति। यतः सत्सु चक्षुरादिषु नाजन्म दृष्टं येन कार्यव्यतिरेकात् कारणान्तरपरिकल्पनावकाशः स्यात्।

अथ व्यतिरेकमन्तरेणापि धर्म्यादि कारणमेव। इष्टं सुखमनिष्टं दुःखन्तत्रावश्यं धर्माधर्मयोः कारणत्वम्। सर्वप्रवादिप्रसिद्धञ्चैतत् स्थापयित्वा चार्वाकमेकम्। तदप्यसत्। यतो हि—

धर्मादीनान्न सामर्थ्यं सिद्धमव्यतिरेकतः। सुखादिमात्रे धर्मादेः सामर्थ्यन्नेष्टसाधने ॥४७६॥

धर्मादिकं हि सुखादिसाधनानि समं श्रयति न सुखादीन्येव। अन्यथा तत्साधनमन्तरेणापि सुखादिप्रसङ्गः। अथापि स्यात्। सत्यपि सुखासुखसाधने रूपादौ शोकादिनोपहतेऽन्तःकारणसामर्थ्येन सुखमुत्पत्तिमत्। ततो धर्म एव कारणन्न रूपादीति गम्यते। तदयुक्तिमद्। यतः—

अधर्मेणैव शोकादिसामग्री ढौकिता सती। तत उत्पत्तिमद् दुःखन्न तद् दुःखमधर्मतः ॥४७७॥

शोकादिसामग्र्येवाधर्मेणोपनीता दुःखन्तस्यास्तु दुःखं स्वयमेवोदयवत्।

अथवास्तु सुखमेव धर्मादन्यतो दुःखम्। तथापि तेन भिन्नं संवेदनञ्जनयितव्य-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—यदि उस समय सुख उत्पन्न ही नहीं हुआ, तब उसे अवश्य ही अविद्यमान और अविज्ञानात्मक मानना होगा, क्योंकि अविद्यमान वस्तु का ग्रहण नहीं किया जा सकता।

समाधान—यदि चक्षु, रूप, आलोक और मनस्काररूप सामग्री के रहने पर भी सुखादि उत्पन्न न होते, तब विज्ञान से भिन्न सुखादि के कारणान्तर की कल्पना की जाती। अतः विज्ञान का कारण ही सुखादि का कारण पर्यवसित होता है। यदि कहा जाय कि चक्षुरादि सामग्री के साथ धर्मादि भी सुखादि के कारण और अधर्मादि दुःखादि के। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि चक्षुरादि के रहने पर सुखादि का अजन्म नहीं देखा जाता कि कार्य के अभाव से कारणान्तर की कल्पना को अवकाश मिलता।

शंका—कार्याभाव के बिना भी धर्मादि को कारणान्तर मानना होगा। इष्टरूप सुख का कारण धर्म और अनिष्टभूत दुःख का कारण अधर्म अवश्य मानना होगा। यह तथ्य तो सभी वादिगणों के मन में प्रसिद्ध है, केवल एक चार्वाक को छोड़ कर।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि सुखादि की असाधारण कारणता धर्मादि में नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उनका कहीं भी व्यतिरेक (अभाव) नहीं। वे सर्वसाधारण हैं॥ ४७६॥ अर्थात् धर्मादि सुखादि के साधनों का ही संग्रह करते हैं, सुखादि का नहीं। अन्यथा साधनान्तर के बिना ही केवल धर्म से सुखादि का लाभ प्रसक्त होता है। यदि सुख-दुःखादि के समस्त विषयादि के रहने पर भी धर्म के अभाव में सुख उत्पन्न न होता, तब अवश्य ही धर्म को सुखादि का साधन माना जा सकता था, किन्तु वैसा नहीं, क्योंकि अधर्म के द्वारा शोकादि सामग्री के प्राप्त हो जाने पर दुःख उत्पन्न हो जाता है, अतः दुःख केवल अधर्म से उत्पन्न होता है, ऐसी बात नहीं॥ ४७७॥ उसी प्रकार दुःख की शोकादि सामग्री ही अधर्म के द्वारा संगृहीत होती है, दुःख तो अपने-आप हो जाता है।

सुखदुःखादिभेदश्च तेषामेव विशेषतः ।
तस्या एव यथा बुद्धेर्मान्द्यपाटवसंश्रयाः ॥ २५४ ॥

सुखदुःखादि यदि अभिन्नहेतुक हैं, तब उनका भेद क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है—"सुखदुःखादि ।" अर्थात् एक ही बुद्धि की मन्दता और पटुता से समान कार्य में अवान्तर भेद हो जाते हैं, वैसे ही एक ही ज्ञानजनक सामग्री के अवान्तर भेदों से सुखदुःखादि में भेद प्रतीत होता है ॥ २५४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मिति कुतः । संवेदनाव्यतिरेकिसुखजननेऽपि न धर्मेण भवतः किञ्चिदुपकृतमिति । सुखादिना हि भवतः प्रयोजनन्तच्चाव्यतिरिक्तमपि संवेदनतो न कटु भवति । अथ कारणभेदाद् भेदस्तदप्यसत् । यतः—

अस्त्येव शुद्धविज्ञानात् सुखज्ञानस्य भिन्नता । एकान्तेन तु यो भेदः स नैतावति सिध्यति ॥४७८॥

धर्मसहिता हि सामग्री तदेव कार्यं विशिष्टं जनयेन्न त्वत्यन्तं भिन्नमेव । अधिकोपकारेण तस्या एव विशेषात् । सार्द्रेन्धनत्वे धूमो हि भस्मनो नातिरिच्यते । न हि भस्मनोऽत्यन्तमतिरिच्यते धूमः श्यामतादिमलिनीकरणस्य तत्रापि सम्भवात् । तस्मान्न धर्मादेरत्यन्तव्यतिरेकजनने सामर्थ्यावधारणम् । अत एवाह—सुखदुःखादिभेदश्चेति ।

यदि विज्ञानसुखादीनां समानहेतुता विज्ञानं विज्ञानमित्येतावदेवास्तु कथं सुखादिभेदः । तस्या एव सामग्र्याविशेषात् । क्षीराद्यवसेके धात्री बीजादिसामग्रीवत् । न हि क्षीराद्यवसेकाधिक्येऽपि धात्री बीजं जनयति, धात्रीविलक्षणमेव कार्यम् । अपि तु तद्रूप-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अथवा सुख ही धर्म से और दुःख ही अधर्म से होता है—ऐसा मान लिया जाय । तथापि धर्मादि के द्वारा संवेदन-जनयितव्य है—ऐसा क्यों ? संवेदन से अभिन्न केवल सुख के उत्पादन से आपका कोई विशेष अपकार नहीं होता । आशय यह है कि सुख से आपका प्रयोजन है । वह यदि संवेदन से अव्यतिरिक्त है, तब वह सुख कोई कड़ुआ तो नहीं हो जायगा ।

यदि सुख और संवेदन का कारण-भेद से भेद माना जाता है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि शुद्ध विज्ञान से अवश्य ही सुख ज्ञान की भिन्नता है, तथापि आत्यन्तिक भेद नहीं ॥ ४७८ ॥

धर्म-सहित इन्द्रियादि सामग्री विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करती है, अत्यन्त भिन्न नहीं । जैसे—केवल अग्नि धूम और भस्म को उत्पन्न करती है, वही अग्नि गीले लकड़ी से युक्त होकर उसी कार्य को उत्पन्न करती है, उससे भिन्न नहीं । अन्तर केवल इतना रहता है कि गीली लकड़ियों के प्रभाव से धूम अधिक काला रहता है । अतः धर्म-सहित चक्षुरादि सामग्री अतिरिक्त कार्य को जन्म न देकर कुछ विशेषता से युक्त उसी कार्य को पैदा करती है । वार्त्तिककार ने कहा है—"सुखदुःखादि भेदश्च" । यदि विज्ञान और सुखादि की एक ही सामग्री है, तब उससे जनित कार्य में केवल विज्ञान-रूपता या सुख-रूपता ही रहनी चाहिए, उभय रूपता क्यों ? जैसे—दूध में अवसित आँवले से दो कार्य नहीं होते, एक ही कार्य होता है । अधिक या कोई विशेषता नहीं होती । अपितु पूर्व कार्य का अतिक्रमण करके भिन्न कार्य भी नहीं होता, वैसे ही धर्म-सहित विज्ञान की सामग्री से अधिक कार्य क्यों होगा ? इस पर सिद्धान्ती का कहना

वार्तिकालङ्कारः

मनतिक्रम्यापरविशेषाधिष्ठितम् । अथ भिन्नमपि कस्मान्न जनयति ? न, भिन्नमेव जनयतीत्येवं वक्तव्यम् । एवञ्च कारणभेदाद् भेदस्तया प्रतिपादितो भवति । यदि सामग्री भिन्नकार्यजनिकेति प्रसिध्यति ।

अपि च । प्रज्ञादयोऽपि धर्मा आदित एवोत्पत्तिमन्तस्ततस्तेषामपि बुद्धेर्भेद एव प्रसक्तः । अथाभ्यासादेः प्रज्ञादयो न धर्मादेः । एवं सति सुखादयोऽपीष्टानिष्टाभ्यासादिति न धर्मादिहेतुता तेषां स्यात् । इष्टादिसन्निधानं धर्मादिति चेत् । न तर्हि सुखादीनां धर्मादुत्पत्तिरपि त्वविगुणमनस्कारादेरेव । तच्च मनस्कारादेरविगुणत्वं ज्ञानेऽपि कारणमिति न भिन्नसामग्रीजन्याः सुखादयः ।

अथापि स्यात्—न प्रज्ञादयः सुखादिहेतुधर्मादिहेतुकाः प्रज्ञासद्भावात् । यत् सुखन्तदेव धर्मादिहेतुकन्तेन सुखादीनां समानकारणत्वमसिद्धम् । तदपि न सुभाषितम् । यतः—

प्रज्ञादयो न धर्मादेरपि त्वेते सुखादयः । इति प्रमाणतस्सिद्धं कुत एतद् भवादृशाम् ॥४७९॥

न हि प्रमाणादप्रसिद्धं स्वप्रक्रियाप्रपञ्चप्रकाशनमात्रं परेषाम्परितोषस्य । न च प्रज्ञादयो धर्मादन्यतो भवन्ति । धर्मं विनाप्यभ्यासाद् दृश्यन्ते इति चेत् । न, धर्ममन्तरेण तस्यैवाभ्यासस्य सकलत्वायोगात् । जडत्वादेवाकलत्वमिति चेत् । सुखादीनामपि तर्हि सन्तानविशेषादेव सम्भवः । तथा हि—

सुखं सर्वापदां हेतावदीनत्वे स्वभावतः । सन्तानातिशयादेव पूर्वाभ्यासप्रवर्त्तनात् ॥४८०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है कि केवल चक्षुरादि सामग्री से जो कार्य होता है, उसकी अपेक्षा धर्म-सहित सामग्री से कार्य विलक्षण होता है । इस प्रकार से करण-भेद से कार्य-भेद की सिद्धि बन जाती है, जैसा कहा जा चुका है ।

"अपि च" प्रज्ञादि धर्म आदि से ही उत्पत्तिमान हैं । अतः उनका भी बुद्धि से भेद प्रसक्त होता है । यदि कहा जाय कि अभ्यासादि से प्रज्ञादि उत्पन्न होते हैं, धर्मादि से नहीं, तब सुखादि भी इष्टानिष्ट के प्रभाव से उत्पन्न होंगे । उनमें धर्मादि की हेतुता नहीं बनेगी । इष्ट का सन्निधान धर्म से होता है, तब सुखादि की उत्पत्ति धर्म से न होकर अपनी नियतमनस्कारादि सामग्री से ही होगी । वैसी अविगुणता ज्ञान में भी कारण है । अतः सुखादि भिन्न-सामग्री-जन्य नहीं होते ।

यदि कहा जाय प्रज्ञादि सुखादि के हेतु-भूत धर्मादि से उत्पन्न होते हैं । जो केवल सुख है, वही धर्मादिहेतुक होता है, अतः सुखादि में समानकारणता सिद्ध नहीं होती, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रज्ञादि धर्मादि से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु सुखादि ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा किस प्रमाण के आधार पर आपको ज्ञात हुआ ॥४७९॥

जो वस्तु प्रमाण से सिद्ध नहीं, अपितु केवल अपनी प्रक्रिया-प्रपञ्च के द्वारा रचित है, वह दूसरे वादिगणों को परितोष नहीं दे सकती । प्रज्ञादि न तो धर्म से उत्पन्न होते हैं और न अन्य से । धर्म के बिना भी अभ्यास के द्वारा वे देखे जाते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि धर्म के बिना अभ्यास में सफलता नहीं आ सकती । अविकलता जड़ता के कारण होती है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो सुखादि का भी सन्तान-विशेष से ही सम्भव हो जाता है । सभी आपत्तियों के हेतु में अदीनत्व ही स्वाभाविक सुख है । वह सन्तान अक्षय या पूर्वाभ्यास के कारण होता है ॥४८०॥

वार्तिकालङ्कारः

सुखं स्वभावातिशयादेव पूर्वाभ्यासप्रवर्त्तितादसतामपि दुराचाराणान्दर्शनात्। सत्यपि धर्मे समतार्दाशनोऽभावात्। समताभावनाभ्यासविपर्ययसहायाद् धर्मादेरेवेति चेत्, एवन्तर्हि न धर्मस्य सामर्थ्यमभ्यासपूर्वकत्वाच्च प्रज्ञादिवद् बोधरूपा एव सुखादयः।

ननु विषयादिभ्यः सुखादय उत्पत्तिमन्तो विज्ञानन्तु विज्ञानहेतुकाद् भावनाख्यात् संस्कारादिति हेतुभेदः। तथा हि—

सोऽयं यमहमद्राक्षं पूर्वसंस्कारसम्भवात्। इति तद्रूपविज्ञानं सुखादाविदमस्ति किम् ॥४८१॥

तदसद्, सुखादिष्वप्यस्य हेतुत्वम्। तथा हि भावनावशादेव सुखादयोऽपि जायन्त इति प्रतिपादितमेव।

अथापि स्यात्—मानसा एव सुखादयः संस्कारतो भवन्ति नेन्द्रियजाः। एवन्तर्हि मानसमेव विज्ञानं संस्कारादिति समानमेतत्। अथेन्द्रियजस्यापि विज्ञानस्य पाटवादिविशेषो भावनाविशेषादेव। सुखादीनामपि तर्हीन्द्रियजानान्तत एव पाटवादिकमिति समानम्।

किञ्च मानसमेव सकलं सुखादिकमिति प्रतिपादितम्।

ननु गृहीते क्वापि वस्तुनि भावनावशात् तत्रैव वस्तुनि पुनः पुनर्ज्ञानोदयलक्षणात् पाटवं युक्तिमत्। सुखादीनामपि यद्यनेन ज्ञानेन ग्रहणन्तदा युक्तन्तद् ग्रहणं पटु भवतीति स्वसंवेदनपक्षे तु कीदृशी भावना। तथा हि—

स्वं वेदनञ्चेदुत्पन्नं कीदृशी तत्र भावना। स्वं वेदनञ्चेन्नोत्पन्नं कीदृशी तत्र भावना ॥४८२॥

अपरापरस्य सुखसंवेदनस्योत्पत्तेर्नाभ्यासयोगः। यदि पुनःपुनस्तदेवोपलभ्यते

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थात् सुख स्वभाव-अतिशय के द्वारा पूर्वाभ्यास से प्रवर्तित सदाचार से होता है। धर्म के होने पर भी समतादर्शी को नहीं होता। सुख-दुःख में समता अभ्याससहकृत धर्म से ही होती है, ऐसा यदि कहा जाता है, तब धर्म का कोई सामर्थ्य प्रतीत नहीं होता। अपितु प्रज्ञादि के समान ही सुखादि बोध-रूप ही सिद्ध होते हैं।

शंका—सुखादि की उत्पत्ति विषयादि से होती है और विज्ञान की उत्पत्ति विज्ञान-हेतुक भावना-संज्ञक संस्कार से। इस प्रकार से दोनों के हेतुओं में भेद सिद्ध होता है। अर्थात् 'सोऽयं यमहमद्राक्षम्' इस प्रकार की प्रक्रिया पूर्व संस्कार के आधार पर होती है। उसी प्रकार तद्-रूप विज्ञान में सुखादि रूपता क्या होती है ॥४८१॥

समाधान—सुखादि में भी इसकी हेतुता है, क्योंकि भावना या संस्कार के द्वारा ही सुखादि उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जा चुका है।

यदि कहा जाय मन से ही सुखादि उत्पन्न होते हैं, इन्द्रियादि से नहीं, तब विज्ञान भी मानस है, संस्कार मात्र से भी उत्पत्ति हो सकती है। अतः दोनों में समानता आ जाती है। यदि इन्द्रिय से जन्य भी विज्ञान पाटवादि विशेष भावनाओं के द्वारा होता है, तब सुखादि में भी इन्द्रियजत्व और पाटवाभ्यास की कारणता को लेकर समानता सिद्ध होती है। दूसरी बात यह भी है कि सकल सुखादि कार्य मानस ही होता है, ऐसा प्रतिपादित हो चुका है।

यहाँ सन्देह होता है कि किसी एक वस्तु का ग्रहण होने पर उसी वस्तु का पुनः-पुनः स्मरण करने पर भावनासंज्ञक संस्कार उत्पन्न होता है। सुखादि का भी यदि इसी एक ही ज्ञान से ग्रहण होता है, तब वहाँ पटु ग्रहण अवश्य होगा, किन्तु स्वसंवेदन-

वार्तिकालङ्कारः

तदाभ्यासव्यपदेशः । अर्थस्तु पुनरेक एव तत्र भावनाप्रयुक्ता परापरविज्ञानेनानुभवे ।

ननु सुखमप्येकं किन्न भवति । नन्वेकस्य कः पुनः पुनरर्थः । अर्थस्य पुनरेकतायामप्यनुभवावृत्तिकृतस्पौनःपुन्यम् । तदप्यसत्—

ज्ञानस्य यदि भेदोऽस्ति विषयेभ्यो गतिः कुतः ।
प्रत्यभिज्ञाप्रसादाच्चेत् सुखादावप्यसौ न किम् ॥ ४८३ ॥

ननु सुखमेकन्न भवति । कथन्तत्र प्रत्यभिज्ञा । विषये तु ज्ञानभेदेऽपि तदेकत्वायुक्ता । ननु न विषयभाविनी प्रत्यभिज्ञाऽपि तूपलम्भभाविनी । न च ज्ञानभेद एकस्योपलम्भः । ज्ञाने च कथम्प्रत्यभिज्ञा । न परमार्थतस्तत्र प्रत्यभिज्ञा ।

अथैकत्वेन तदेकत्वमारोप्य ज्ञानमेकमिति व्यवह्रियते । अत्र विचार्यते—किमिदं स्वसंवेदनं ज्ञानमिति पक्ष उच्यते । अथ ज्ञानान्तरवेद्यमथार्थापत्तिवेद्यम् । किञ्चातः ?

स्ववेदनञ्चेदाश्रित्य प्रत्यभिज्ञा कथं भवेत् । न हि दृश्यस्य भेदेन तदैवैकत्वविभ्रमः ॥४८४॥

स्वसंवेदनपक्षे हि परिस्फुटे भेदवेदने कथं विषयाभेदेऽपि तदैव तत्कृत आरोपविभ्रमः । ज्ञानान्तरवेदनेऽपि समानमेतत् अर्थापत्तिवेदने त्वर्थानुरूपा ज्ञानकल्पना ततो ज्ञानमप्यभिन्नमेव कल्पनीयम् । अथान्यथा नोपपद्यत इत्यर्थापत्तिः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पक्ष में कैसी भावना ? जैसा कि प्रसिद्ध है कि यदि ज्ञान स्वसंवेदनात्मक है, तब वहाँ भावना कैसे होगी ? और यदि स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, तब भावना कैसे ? ॥४८२॥ अर्थात् अपरापर सुख-संवेदन की उत्पत्ति होने पर अभ्यास का योग ही उपस्थित नहीं होता । यदि एक ही वस्तु पुनः-पुनः उपलब्ध होती है, तब अभ्यास-व्यवहार होता है । जहाँ एक ही विषय का चिन्तन बार-बार होता है, वहाँ परस्पर विज्ञान के द्वारा ग्रहण होने पर भावना का प्रयोग होता है ।

शंका—सुख को भी एक क्यों नहीं मान लिया जाय, यदि सुख एक है, तब पुनः-पुनः का क्या अर्थ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है—अर्थ की एकता होने पर भी अनुभव की आवृत्ति के लिए पुनः पुनः का प्रयोग होता है ।

समाधान—वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि विषय से यदि ज्ञान का भेद है, तब उसका भान कैसे होगा ? यदि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा माना जाय तो सुखादि में भी प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं ॥ ४८३ ॥

यदि कहा जाय सुख एक नहीं होता, अतः उसकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? ज्ञान का भेद होने पर भी विषय की एकता उचित है । यदि कहा जाय प्रत्यभिज्ञा भी विषयभामिनी नहीं होती, अपितु उपलम्भभामिनी होती है । ज्ञान का भेद होने पर एक का उपलम्भ होता है, तब ज्ञान में प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्यभिज्ञा परमार्थतः नहीं होती । यदि अर्थ की एकता का ज्ञान में आरोप करके "ज्ञानम् एकम्" ऐसा व्यवहार किया जाता है, तब वहाँ यह विचार किया जाता है कि क्या यह स्वसंवेदन-ज्ञान का पक्ष है ? अथवा ज्ञानान्तरवेद्यता या अर्थापत्तिवेद्यता इसमें क्या अन्तर ? स्वसंवेदन पक्ष में प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? क्योंकि दृश्यार्थ का भेद होने पर वहाँ एकत्व का भ्रम नहीं होता ॥ ४८४ ॥

अर्थात् स्वसंवेदन पक्ष में भेद का स्पष्ट अवभास होने पर विषय-अभेद-पक्ष में भी आरोपविभ्रम कैसे होगा ? ज्ञानान्तर का भेद होने पर भी यह प्रसंग समान है ।

वार्तिकालङ्कारः

वेदनामात्रमर्थस्य वेदनामात्रकल्पकृत् । नानेकैनैकतार्थस्य ग्राह्येत्येकं प्रकल्प्यताम् ॥४८५॥

न ह्यनेकेन विज्ञानेनापरापरकालभाविना स्वकालार्थपरिच्छेदकेन पूर्वापरकालभाव्येकोऽर्थ इति शक्यं कल्पयितुमेकस्याव्यापारात् समूहस्य चाभावात् ।

आत्मैकः सोऽनुसन्धायी तस्य स्मरणसम्भवात् । स्मरणे ह्यस्य सामर्थ्यं सन्धाने चापि विद्यते ॥४८६॥

तदेतदसत् ।

बोधरूपात्मतापक्षे हि नेदं युक्तिमदीक्ष्यते । आवृत्तिरेकरूपस्य कथमस्य प्रमाण्विता ॥४८७॥

भिन्नाभिन्नात्मपक्षेऽयमदोष इति चेत्, येन रूपेणाभिन्नस्तेन रूपेण न प्रत्यभिज्ञानम् । ज्ञानभेदेन भिन्नत्वात् । ज्ञानस्याभेदे तदभिन्नस्य भेदस्य । येन तु रूपेण ज्ञानाद् भेदस्तेन रूपेणैकता ततो नावृत्तिः ।

अथाबोधरूप आत्मा तदा स ज्ञानेन बुद्धयते तच्च भिन्नमिति कथन्तेनाभेदग्रहणम् । तस्माज्ज्ञानभेदेनैकत्वग्रहो युक्त इत्येकमेव ज्ञानं परिकल्पनीयमर्थापत्त्या ।

अथार्थापत्त्या ज्ञानभेदः परिगृह्यते तथापि नैकत्वं विज्ञाने प्रतीयतेऽतः कथं प्रत्यभिज्ञा ?

अथालक्षितनानात्वस्य प्रत्यभिज्ञानम् । तथा सति सुखादिष्वपीति तदेकत्वस्य संवृत्या सम्भवात् । तत्रैव पुनःपुनरनुभव इति भवत्यभ्यासात् सुखादीनाम्पाटवादिवि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थापत्ति-भेदन पक्ष में अर्थानुरूप ज्ञान की कल्पना होती है । अतः ज्ञान की अभिन्नता भी कल्पनीय हो जाती है । यदि अर्थापत्ति का स्वरूप अन्यथानुपपत्ति माना जाय, तब अर्थ की वेदना मात्र से वेदना मात्र की कल्पना अनेक ज्ञानों के द्वारा एकता की कल्पना करनी होगी ॥४८५॥

अपरापर-कालभावी अनेक विज्ञानों के द्वारा स्वकाल-परिच्छेदकों के द्वारा परिच्छेद-पूर्वापर-कालभावी एक अर्थ की कल्पना करनी होगी । वह उचित नहीं, क्योंकि एक का वैसा व्यापार नहीं और समूह का अभाव है । न्यायादि मतानुसार आत्मा एक है, उसको दृष्ट वस्तु का स्मरण हो सकता है, क्योंकि एक आत्मा का विगत के स्मरण और पूर्वापर की प्रत्यभिज्ञा में सामर्थ्य माना जाता है ॥४८६॥ वह न्यायमत संगत नहीं, क्योंकि आत्मा की बोधरूपता के पक्ष में यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । एक रूप की आवृत्ति प्रमित नहीं होती ॥ ४८७ ॥

यदि कहा जाय आत्मा के भिन्नाभिन्न पक्ष में उक्त दोष नहीं आता, क्योंकि जिस रूप से अभेद है, उस रूप से प्रत्यभिज्ञा नहीं, क्योंकि ज्ञान के भेद से विषय का भेद हो जाता है । ज्ञान का अभेद होने पर भेद नहीं होता । जिस रूप से ज्ञान से भेद है, उस रूप से एकता और आवृत्ति नहीं होती ।

यदि आत्मा अबोध रूप है, तब ज्ञान से वह बोधमान नहीं होता । वह भिन्न है, अतः उसके द्वारा अभेद का ग्रहण कैसे होगा ? अतः ज्ञान के भेद से एकत्वग्रह नहीं होता । अतः एक ज्ञान की परिकल्पना रूप अर्थापत्ति यहाँ अवतरित होती है ।

यदि अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञान-भेद का ग्रहण किया जाता है, तब भी विज्ञान में एकत्व की प्रतीति न होने से प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ?

यदि कहा जाय कि नानात्व का बोध न होने से प्रत्यभिज्ञा होती है, तब सुखादि में भी एकत्व की संवृत्ति से प्रत्यभिज्ञा सम्भव है । उसी में ही पुनः-पुनः अभ्यास के

वार्तिकालङ्कारः

शेषः । अभ्यासाच्च सुखादीनामुत्पत्तिर्बोधरूपाणामेव ।

नन्वभ्यासात् गमनादयोऽपि विकटादिरूपा भवन्ति न च ते बोधरूपाः । अत्रोच्यते—

अबोधरूपादभ्यासादबोधस्यैव सम्भवः । बोधरूपात् तथाभ्यासाद् बोधरूपोदयो न किम् ॥४८८॥

प्रज्ञादिवदेव ।

अथापि स्याद् । बोधरूपाभ्यास इति किं स्वसंवेदनाभ्यासः । अथ बोधरूपगृहीतार्थाभ्यासः । यदि स्वसंवेदनाभ्यासस्तत्संवेदनमसिद्धम् । अथ द्वितीयः पक्षः सोऽनैकान्तिकसम्भवादयुक्त एव । बोधरूपगृहीतगमनाभ्यासेऽपि गमनादिबोधरूपतानुपलम्भात् । अत्रोच्यते—

योऽभ्यस्यते यथाभूतः स तथैव प्रकृष्यते । अन्तः संवेदनाभ्यासः सुखादीनान्तथा फलः ॥४८९॥

अन्तः संवेदनरूपा हि सुखादय उपलब्धाः । जडरूपाः सन्त एकार्थसमवायेनोपलभ्यन्ते तथेत्येतत्तु न संवेदनसमासादनोपनतपरितोषम् । ततः स्वसंवेदनरूपमेवाभ्यस्यति । ततस्तथाभूतमेव भावनाप्रकर्षाभ्यासे प्रादुर्भवेत् । प्रथमन्तर्हि स्वसंवेदनाभावः स्यात् । न । यज्जातीय इत्यादिना तस्यापि तथाभूतत्वात् । तस्माद् भावनाबलादुपजायमानाः प्रज्ञादिवत् संवेदनस्वभावा एवेति स्थितम् । अनेनैतदपि निरस्तम्—तदतद्रूपिणो भावा इति ।

तस्यायमर्थः । परस्परसहकारित्वेन चक्षुर्मनस्कारपुरोवर्त्तिशकटादयः समान-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्वारा सुखादि पाटव-विशेष उत्पन्न हो जाता है । अभ्यास के द्वारा बोध-रूप सुखादि की उत्पत्ति हो जाती है ।

यदि कहा जाय कि अभ्यास के द्वारा गमनादि भी पाटवयुक्त होते हैं, किन्तु वे बोधरूप नहीं, तब हमारा यह कहना है कि अबोधरूप के अभ्यास से जब अबोधरूप सम्भव है तो बोधरूप के अभ्यास से बोधरूपता का उदय क्यों नहीं हो सकता॥४८८॥ वैसा ही प्रज्ञादि के समान ही सम्भव है ।

शंका—बोधरूप अभ्यास का अर्थ क्या स्वसंवेदनाभ्यास है ? अथवा बोधरूप गृहीत अर्थाभ्यास ? यदि स्वसंवेदनाभ्यास है, तब उसका संवेदन असिद्ध है । यदि द्वितीय पक्ष माना जाता है, वह अनैकान्तिक हो जाने के कारण युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि बोधरूप गृहीत गमन के अभ्यास में भी गमनादि की बोधरूपता का उपलम्भ नहीं होता ।

समाधान—जो वस्तु जिस रूप में अभ्यास का विषय बनती है, उसी रूप में वह सन्निहित होती है । आन्तरिक संवेदनाभ्यास सुखादि का वैसा ही फल होता है ॥४८९॥

अर्थात् संवेदन रूप सुखादि उपलब्ध होते हैं, वे जड़-रूप होकर एकार्थ-समवाय-सम्बन्ध से उपलब्ध होते हैं । अतः यह संवेदन, समासाधन और उपनय परितोषावह नहीं । अतः स्वसंवेदन के रूप में ही सुखादि का अभ्यास माना जाता है । अतः वैसा ही स्वरूप भावना के प्रकर्ष का अभ्यास होने पर प्रादुर्भूत होता है । तब पहले स्वसंवेदन का अभाव होना चाहिए, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यज्जातीय पद के द्वारा उसका भी ग्रहण हो जाता है । फलतः भावना के बल पर उपजायमान सुखादि पुत्रादि के समान संवेदन-स्वभावक होते हैं । इसके द्वारा पूर्वाक्षेप का निरास हो जाता है ।

वार्तिकालङ्कारः

सामग्रीका उपजायमानाः सर्वे बोधरूपाः स्युरबोधरूपा वा । न हि तत्र कश्चित् प्रधाने-तरविवेक इति । सा हि रूपादिसामग्री बोधाबोधरूपानेककार्यजनने दृष्टशक्तिका नान्यथा शक्या विधातुम् । तयैवानैकान्तिकत्वमत एवेति चेत्, न, अन्यथाहेत्वर्थस्य विवक्षितत्वात् ।

भावनोदयजन्मानो यथा प्रज्ञादयस्तथा । सुखादयोऽपि किन्तस्मात् कारणादस्वसंविदः ॥४६०॥

यो हि यथा भूतोऽभ्यस्यते स तथैव भवतीति प्रमाणार्थः । न च रूपादीनामान्तरस्वभावाभ्याससम्भवः । यस्य तावदर्थापत्तिगम्याः प्रज्ञादिविशेषास्तेन ते आत्मसमवायिन इति कथमवगन्तव्यम् । केवलमर्थापत्त्या येन विना यन्नोपपत्तिमत् तदवगम्यते । न चात्मसमवायित्वेन विनाऽबोधरूपतया च नोपपत्तिमत् किञ्चित् । केवलमपरेणापि केनचिद् भवितव्यं यतो परोक्षतार्थस्य जाता । ततः कथमात्मसमवायादिगतिः । तस्मात् मयैतदवगतमित्यान्तरत्वमेव बोधस्याभ्यस्तं जनेन ? येनातरत्वप्रतीतिरिति परिहारः ।

येऽपि बुद्ध्यन्तरस्य प्रत्यक्षताम्बुद्धौ वर्णयन्ति तेषामपि सा आत्मसमवायिनी बोधरूपा च प्रतिभातीत्येवमवश्यमयमभ्युपगमः । अन्यथा पदार्थान्तरमेव भवेत् । ग्राहकत्वस्य तु प्रसिद्धिरेव । तस्मात् प्रत्यक्षान्तरे तदारूढग्राहकत्वैवासौ प्रतिभाति । तथा च सति तत्रापि सोऽर्थः प्रतिभासते । नष्टस्य च कथं प्रतिभासः । केवलाबुद्धिः प्रतिभा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आशय यह है कि परस्पर सहकृत होकर चक्षु, मनस्कार एवं पुरोवर्त्ति शकटादि पदार्थ सभी समान सामग्री से उपजनित होकर बोधरूप ही होंगे या अबोधरूप। उनमें किसी प्रकार का गुणक-प्रधान-भाव नहीं होता। वह रूपादि सामग्री बोधाबोधरूपक काय के जनन में सशक्त देखी गयी है। उसका अन्यथाकरण नहीं हो सकता। यदि कहा जाय उसी कार्य में अनैकान्तिकता क्यों नहीं मान ली जाय, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ हेतु पद से अन्यथा अर्थ विवक्षित है। भावना के उदय से जैसे प्रज्ञादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सुखादि भी। तब सुखादि अस्वसंवेदन रूप क्यों होंगे ॥४६०॥

जिसका जिस रूप में अभ्यास किया जाता है, वह वैसा ही होता है, यह प्रमाण पद का अर्थ है। रूपादि के आन्तरिक स्वभाव का अभ्यास नहीं हो सकता। जिसके मत में अर्थापत्तिगम्य प्रज्ञादि विशेष होते हैं, उसके मत में वे आत्मसमवायी हैं, यह कैसे माना जायेगा ? केवल अर्थापत्ति के द्वारा, क्योंकि अर्थापत्ति का स्वरूप है—'येन विना यन्नोपपत्तिमत् तदवगम्यते।' आत्मसमवायीत्व के बिना अबोधरूपता उपपत्तिमत् नहीं होती। अतः अन्य भी किसी साधन को होना चाहिए, जिससे अर्थ की परोक्षता हो सके। अतः आत्मसमावयी आदि का ज्ञान कैसे होगा ? अतः 'मया एतदवगतम्' इस प्रकार के आन्तरत्व का अभ्यास होता है। उसके उत्तर में यही कहना होगा कि जिसके अभ्यास के बिना आन्तरत्व नहीं बनता, उसी का अभ्यास अपेक्षित है।

जो लोग एक बुद्धि का दूसरी बुद्धि से प्रत्यक्ष मानते हैं, उनके मत में भी वह बुद्धि आत्मसमवायिनी और बोधरूप प्रतिभासित होती है, ऐसा अवश्य मानना होगा, अन्यथा वह भिन्न-पदार्थ होगी। ग्राहकत्व की प्रसिद्धि है। अतः प्रत्यक्षान्तर में ग्राहकत्वेन ही प्रतीत होती है। अतः ज्ञान के ज्ञान में भी वह अर्थ प्रतिभासित होता

वार्तिकालङ्कारः

समाना कथं ग्राहिकात्वेन ग्रहणत्वेन वा प्रतिभासेत । तथात्मादयोऽपीति चोद्ये आत्मसमवेतत्वेन बाध्यारोपोऽनादिकालिक उपजायत इति परिहारः स्यात् । तथा च सति तथैव भावनाबलादुपजायमानाः । प्रज्ञादयो वा सुखादयोऽपि बोधरूपा एव ।

ननु तथापि बुद्ध्यादीनां स्वसंवेदनरूपतान्नाभ्युपगच्छन्ति परे । नन्वसंवेदनत्वेऽपि सति न प्रत्यक्षता नान्तरत्वमिति प्रतिपादितम् । स्वसंवेदनत्वे पुनस्तथाभूतमेवात्मानञ्चकासयन्त्यर्थञ्च सा चकास्तीति युक्तमेतदेव ।

अथ भावनाबलादपि सुखादय उदयन्त्यागिन आत्मसमवायिन एव सन्त एकार्थसमवायिविज्ञानग्राह्याः ।

तेन बोधेन संस्पर्शाद् बोधरूपावभासनम् । न तु बोधस्वभावेनेत्येवं कस्मान्न कल्प्यते ॥४६१॥

अत्रोच्यते—

अनादिभावनाभावादिदमेवमिति स्थितेः । तदन्यप्रक्रियाकल्पो न लोकेनावतार्यते ॥४६२॥

यद्भावनाबलादिदमुपजायते इति प्रतिपाद्यते । न तत्रापरा प्रक्रिया लोके समुपजायमानोपलभ्यते । एवञ्चैवञ्चेदमिति । अपि तु भावनाबलाद् यथैतद् दृश्यते तथैवेतदिति व्यवहारः । किं वैकार्थसमवायकल्पनया प्रयोजनम् । कस्य तर्हि तत् सुखं यद्यात्मनि समवायो नेष्यते । एवन्तर्हि कस्य स आत्मा यद्यन्यत्र तस्य समवायानिष्टिः ।

स्वतन्त्र आत्मा नित्यत्वात् पराधीनः कथं हि सः ।
सुखादीनां त्वनित्यत्वे पराधीनत्वकल्पना ॥४६३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है । नष्ट अर्थ का प्रतिभास कैसे ? इसके उत्तर में ऐसा प्रश्न किया जा सकता है कि केवल बुद्धि प्रतिभासित होती हुई ग्राह्यकत्वेन या ग्रहणत्वेन प्रतिभासित होती है । वैसे ही आत्मवादी भी आत्मसमवेतत्वेन अध्यारोपित प्रतीत होते हैं । यह उसका परिहार है । उसी प्रकार भावना के बल पर जायमान प्रज्ञादि और सुखादि बोधरूप होते हैं ।

शंका—तथापि बुद्ध्यादि में स्वसंवेदनरूपता अन्य विद्वानगण नहीं मानते । यदि कहा जाय उनके असंवेदनरूप होने पर भी प्रत्यक्षता नहीं होती । अतः उनमें आन्तरत्व नहीं, किन्तु उनके स्वसंवेदनरूप होने पर आत्मा का प्रकाश और अर्थ का प्रकाश मानना उचित ही है । यदि कहा जाय भावना के द्वारा जायमान सुखादि आत्मसमवायी होकर एकार्थ समवायी ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होते हैं । जिस बोध के साथ अर्थ संस्कृष्ट होता है, उसके द्वारा उसका अवभासन होता है । बोध स्वभाव के द्वारा नहीं, ऐसी कल्पना क्यों नहीं की जाती ॥४६१॥

समाधान—अनादि भावना का अभाव होने से वैसा ही होता है, उससे भिन्न अन्यथा कोई कार्य-कारणभाव नहीं देखा जाता ॥ ४६२ ॥

जिस भावना के बल पर यह उत्पन्न होता है, उसी से उसका भान होता है । ऐसा ही शास्त्रों में प्रतिपादित है, अन्य कोई प्रक्रिया वहाँ लोक में उपलब्ध नहीं होती । इस प्रकार यही स्थिर होता है—भावना के द्वारा जो वस्तु जैसी देखी जाती है, वैसा ही उसका लोक में व्यवहार होता है । एकार्थसमवाय की कल्पना का प्रयोजन कुछ भी नहीं । यदि आत्मा में सुख का समवाय नहीं, तब वह सुख किसका ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि वह आत्मा किसका ? यदि उसका कहीं

वार्तिकालङ्कारः

आत्मा हि नित्यत्वात् स्वातन्त्र्यादनाश्रितो युक्त इति युक्तमेतत् । सुखादयस्तु गुणा अनित्याश्च ततो नियमेन तेषामाश्रितत्वेन भाव्यम् । तदेतदसद् । यतः—

आश्रयत्वे गुणत्वं स्याद् गुणत्वे वाश्रयस्थितिः । अन्योऽन्यसंश्रयादेवं न स्यादन्यतरस्थितिः ॥४९४॥

यदि गुणत्वं प्रथमं सिध्येत् तदा गुणेनाश्रितेन भवितव्यमिति कल्पनावतारः । न च तत् सिध्यति पराश्रयत्वात् सिद्धेः । नाश्रयाश्रयिभावः कस्यचिदस्तीति प्रतिपादितमेतत् ।

यद्यप्युक्तन्नित्यत्वात् स्वतन्त्र आत्मा न सुखादयो विपर्ययादिति ।

अनित्यमपि हेतुभ्य उत्पत्तेर्निरपेक्षणम् । कर्त्तव्यतास्य नास्तीति परत्रायत्तता कथम् ॥४९५॥

यदि तन्नोत्पन्नमेव कथमस्य परायत्तता । अथ कुतश्चिद्धेतोरुत्पन्नन्ततोऽपि का तस्य परायत्तता । स्वकार्यजनने परायत्ततेति चेत् । स्वहेतोरेव कार्यजननन्तस्येति नान्याधीनतायोग इत्यलम्प्रसङ्गेन । तस्मात् सुखादय एव स्वतन्त्रा भवन्तु किमाश्रयेणात्मनोपकल्पितेन ।

अस्वसंवेदने च सुखादीनां कथमर्थग्राहकता । एकार्थसमवायिविज्ञानेन वेदने भविष्यतीति चेत् । अत्रोच्यते—किमेकार्थसमवायिना विज्ञानेनेन्द्रियजेन वेद्यन्तेऽथान्येन ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समवाय इष्ट नहीं। यदि कहा जाय आत्मा स्वतन्त्र है, नित्य है, वह पराधीन क्योंकर होगा ? सुखादि तो अनित्य हैं, अतः उनके पराधीनत्व की कल्पना हो जाती है ॥ ४९३ ॥

अर्थात् आत्मा नित्य है, स्वतन्त्र है । अतः उसका किसी के आश्रित न होना उचित ही है, किन्तु सुखादि गुण हैं, अनित्य हैं । अतः उनका किसी के आश्रित होना युक्ततर है—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि आश्रित होने पर आत्मा गुणरूप हो जायगा और गुण होने पर आश्रित, इस प्रकार अन्योन्याश्रयता उपस्थित होती है ॥ ४९४ ॥

यदि गुणत्व पहले सिद्ध होगा, तब उसके द्वारा आश्रित की कल्पना को अवसर मिलेगा । किन्तु गुणत्व की सिद्धि गुण और द्रव्य आदि का आश्रय-आश्रयिभाव संभव नहीं, क्योंकि उनका अभेद होता है, इसका प्रतिपादन किया जा चुका है । यद्यपि यह कहा जा चका है कि आत्मा नित्य होने से स्वतन्त्र है, किन्तु सुखादि वैसे नहीं । अनित्यता भी आत्मा में प्रतीत नहीं होती, क्योंकि हेतुओं से कार्य की उत्पत्ति का नाम अनित्यता है । आत्मा में कार्यता न होने के कारण पराश्रयत्व कैसे रहेगा ॥४९५॥

यदि आत्मा उत्पन्न नहीं होता, तब उसमें पराश्रयत्व कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि वह किसी हेतु से उत्पन्न नहीं । यह भी कहा गया है कि आत्मा को अपना कार्य उत्पन्न करने में अदृष्टादि की अपेक्षा होती है, यही उसकी पराश्रयता है । वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि वह आत्मा अन्य किसी की अपेक्षा न करके केवल अपने बल पर कार्य उत्पन्न करता है । अन्याधीनता उसमें कदापि नहीं ।

उसी प्रकार सुखादि को भी स्वतन्त्र मान लेना चाहिए । उनमें आश्रितता की कल्पना क्यों ? जबकि सुखादि को संवेदनरूप नहीं माना जाता, तब उनमें अर्थग्राहकता कैसे ? यदि कहा जाय स्वसमवायी संवेद विज्ञान के द्वारा उनका प्रकाश हो जायगा, इस पर हमारा कहना है—एक-अर्थसमवायी विज्ञान की कल्पना से क्या

यस्यार्थस्य निपातेन ते जाता धीसुखादयः ।
मुक्त्वा तं प्रतिपद्येत सुखादीनेव सा कथम् ! ॥ २५५ ॥

जिस विषय के सन्निपात (सन्निधान) सुखादि उत्पन्न होते हैं। अतः उस सामग्री को छोड़कर ज्ञान सुखादि का भान कैसे कर सकेगा ? ॥ २५५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न तावदिन्द्रियविज्ञानेन । यतः—यस्यार्थस्य निपातेनेति ।

सैवेन्द्रियबुद्धी रूपाद्यभिनिवेशिनी कथं सुखादीनेव प्रतिपद्यते या चक्षुरादिना रूपादिषु नियुक्ता । न हि सुखे प्रवृत्तञ्चक्षुर्ममेति बुद्धिः । अथ सुखग्राहकं विज्ञानं रूप एव प्रवृत्तं वर्त्तयिष्यति । तथासत्यतिप्रसङ्ग इति प्रतिपादितम् । अनुमानस्यापि चाक्षुषत्व-प्रसङ्ग इति ।

अथेन्द्रियज्ञानादपरो ग्राहकाकारो नोपलभ्यते तेन तेनैवेत्युच्यते । विकल्पोऽपि तर्हि समानकाल इन्द्रियविज्ञानेनैव गृह्यत इति प्राप्तम् । अनुमेयेऽपि प्रसङ्ग इति निवेदि-तम् । न हि तत्रापरो ग्राहकाकार उपलभ्यत इति । अथ ग्राह्याकारात् तथा ग्राहका-कारपरिकल्पना । विकल्प्येऽपि शब्दे समानमेतत् । सुखादावपि ग्राहकाकारः किन्न कल्प्यत इति चेत्, न, ग्राह्यत्वेनाननुभवात् । न ह्येकार्थसमवायेऽपि ग्रहणान्तरेण ग्रहणाद् ग्राह्यता नास्तीति शक्यं वक्तुम् । एकलोलीभावेन प्रतिपत्तेरिति चेत् । स तर्हि तदात्मा सुखम्बुद्धिर्वा । एकस्यापि स्वरूपेणाग्रहणात् सुखाकारमेव केवलं संवेदनम् । अपरस्याप्यसंवेदनस्य सुखभाव इति चेत्, न, परोपधानत्वस्याप्रतीतेः । वृक्षपिण्डाकार-प्रतिपत्तिवत् । अथानुमानात् परोपधानता साध्यते । यत् प्रतीयते तत्परोपधानं पिण्ड-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लाभ ? वहाँ भी सन्देह होता है कि वैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा सुखादि का प्रकाश होता है अथवा अन्य ज्ञान के द्वारा ? इन्द्रियजन्य ज्ञान के द्वारा प्रकाश सम्भव नहीं, क्योंकि अग्रिम वार्तिक के द्वारा उसी तथ्य पर प्रकाश डाला गया है—'यस्यार्थस्य निपातेन' इत्यादि के द्वारा । अर्थात् ऐन्द्रियक बुद्धि रूपादि अनेक विषयों से सन्निकृष्ट है। अतः केवल सुखादि का प्रकाश उसके द्वारा क्यों ? 'सुखे मम चक्षुः प्रवृत्तम्' इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती। यदि रूपादि में प्रवृत्त होकर चक्षु सुखादि का भासक माना जाता है, तब अतिप्रसङ्ग उपस्थित होता है, यह कहा जा चुका है कि इस प्रकार तो अनुमान में भी चाक्षुषता माननी होगी।

यदि इन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा कोई अन्य ग्राहकाकार उत्पन्न नहीं होता, तब विकल्प को भी इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा गृहीत मानना होगा। अनुमेय अर्थ में भी दृष्यता प्रसक्त होगी, यह कहा जा चुका है। यदि ग्राह्याकार से वैसे ही ग्राहकाकार की कल्पना की जाती है, तब विकल्पात्मक शब्द में भी वैसा ही मानना होगा। यह भी एक प्रश्न उठता है कि सुखादि में भी ग्राहकाकार की कल्पना क्यों नहीं होती ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुखादि में ग्राह्यता ही अनुभूत होती है। एकार्थसंवेद ज्ञान के द्वारा सुखादि का भान होने पर उनमें ग्राह्यता नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। यदि कहा जाय तादात्म्य अभ्यास के द्वारा वैसी प्रतिपत्ति होती है तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि वह तादात्म्यभाव सुख है अथवा उसकी बुद्धि। एकात्म वस्तु का भी स्वरूपेण ग्रहण नहीं होता, केवल सुखाकार ही संवेदन होता है। यदि उससे भिन्न असंवेदन को

अविच्छिन्ना न भासेत तत्संवित्तिः क्रमग्रहे ।
तल्लाघवाच्चेत् तत्तुल्यमित्यसंवेदनं न किम् ! ॥ २५६ ॥

यदि इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा विषय का ग्रहण होता है और उसके अनन्तर मानस प्रत्यक्ष के द्वारा सुखादि का ग्रहण माना जाता है, तब विषय और सुख की संवित्ति में निरन्तरता का प्रतिभास कैसे होगा ? ॥ २५६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वत् । न । बाह्यार्थाभावप्रसङ्गात् । वासनोपधानस्य सम्भवात् । तस्मात् यद् यथा प्रतीयते तत् तथैवोपगन्तव्यम् । न तु तदनुमानेनान्यथा स्थापनीयम् । ततो बाह्यार्थः स्वरूपेण ग्राह्यतया प्रतीयमानस्तथावस्थाप्यते प्रतीतिमात्रानुबन्धित्वात् स्थापनायाः । सुखादिकन्तु न ग्राह्यतया वेद्यते ततः स्वसंवेदनम् ।

अथात्ममनोयोगमात्रादुत्पन्नं ज्ञानं सुखादीनां ग्राहकं नेन्द्रियजम् । तथा सति युगपज्ज्ञानानुदयात् क्रमग्रहणेन भाव्यम् । ततश्च—अविच्छिन्ना न भासेतेति ।

क्रमग्रहे ह्युपगम्यमाने न सुखादिबुद्धिरविच्छिन्ना प्रतिभासेत । अयमेव हि क्रमो यदसहभूतत्वन्नाम । सहैव च रूपादिग्रहणेन सुखादिग्रहणमुपलभ्यते । तत्र च सहग्रहणमिति विरुद्धम् । न हि विरुद्धयोरेकत्र भावः । यतः—तल्लाघवाच्चेत् तत्तुल्यमिति ।

यदि सुखग्रहणस्य लघुवृत्तेरविच्छेदप्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिरेव नान्तराप्रतिपत्तिः । तदेतल्लाघवमग्रहणेऽपि सुखादेः समानमित्यग्रहणमेवाविच्छिन्नं सुखरूपयोः प्रसक्तम् । अथाग्रहणमप्यविच्छिन्नं प्रतिभात्येव । यतः—

सुखस्याग्रहणं रूपग्रहणादपरन्न हि । रूपस्याप्यग्रहो नास्ति सुखग्रहणतः परः ॥४९६॥

ततश्च सुखस्याविच्छिन्नमग्रहणम्भवेदित्ययमर्थो रूपादेर्ग्रहणमविच्छिन्नमिति । तद-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी सुखरूपता माना जाता है, तब परोपधान की प्रतीति होनी चाहिए, वह नहीं होती, जैसे कि कई वृक्षों की एकाकार प्रतीति । यदि अनुमान के द्वारा—'यत् प्रतीयते तत् परोपधानं पिण्डवत्' इस प्रकार के अनुमान के द्वारा परोपधानता की कल्पना की जाती है तो वैसा नहीं कर सकते, क्योंकि वैसा करने पर बाह्य अर्थ का अभाव प्रसक्त होता है । बाह्य अर्थ के न होने पर भी संस्कार रूप उपाधि के द्वारा उनका भान हो सकता हैं । अतः यह मानना आवश्यक है कि जो जैसा प्रतीत होता है, वह वैसा ही है । अनुमान के द्वारा उसका अन्यथाकरण नहीं किया जा सकता । निष्कर्ष यह निकला कि ग्राह्य घटादि रूप पदार्थ स्वरूपतः बाह्य अवस्थित हैं, क्योंकि प्रतीत मात्र के द्वारा वैसी स्थापना की जाती है । किन्तु सुखादि ग्राह्य रूप से प्रतीत नहीं होते । आत्ममनः-संयोग से जनित ज्ञान सुखादि का ग्राहक होता है, इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं । ऐसा कहने पर युगपत् ज्ञानों का उदय न होकर क्रमिकत्व उपस्थित होता है । वार्तिककार ने यही कहा है—'अविच्छिन्ना न भासेत' इत्यादि से । यदि सुख ग्रहण में अविलम्बता के कारण वैसी प्रतीति हो जाती है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसी प्रतिपत्ति नहीं । यही तथ्य सुखादि के शीघ्र ग्रहण में भी है । अतः सुख और रूपादि के ग्रहण में अविच्छेद या युगपत् भाव की प्रतीति नहीं होनी चाहिए । यदि अग्रहण भी अविच्छिन्न रूप से प्रतीत माना जाय तो वैसा नहीं मान सकते, क्योंकि सुख का ग्रहण रूप-ग्रहण के पश्चात् नहीं हो सकता, क्योंकि सुख-ग्रहण से भिन्न रूप का ग्रहण नहीं ॥ ४९६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्त्येव एवं विपर्ययेऽपि वाच्यम् । ततः सिद्धसाधनमेवैतदग्रहणन्न किमिति । अत्रोच्यते—

एकस्य भावो योऽन्यस्याभावत्वेन निरुच्यते । तद्विविक्ततया तस्य तदभावस्य चिन्तितः ॥४९७॥

न हि स्वरूपेण कस्यचिदसावभावोऽपि तु तद्विविक्तत्वेन । ततश्च रूपग्रहणं सुखग्रहणविविक्तमुपलभ्यत इत्यभ्युपगमे तद्विविक्तग्रहणं लाघवेनेति तदविच्छेदस्य सम्भवात् कथं सुखसंवेदनम् । सुखसंवेदनस्यापि स एव क्रम इति द्वयोरप्यग्रहणमिति ।

साधूक्तमग्रह एव न किमिति । न हि परत्राप्युपलभ्यमाने परस्य तद्विविक्तग्रहणम् । तद्विविक्तग्रहणमेव तत्स्वरूपस्य तत्राप्रवेशादिति चेत्, न, परस्परस्वरूपाप्रवेशग्रहणेऽक्रमग्रहणं समानकालग्रहणेऽपि सम्भवात् । अवयवावयविनोस्तुल्यकालग्रहणाभ्युपगमात् ।

ननु दूरतस्सान्तरानेककेशग्रहणेनान्तरस्याग्रहणेऽप्यग्रहणमेव केशरूपस्य । तत्र यथा निरन्तरकेशरूपग्रहणेन तदन्तराग्रहणम्बाध्यते न तथान्तराग्रहणेन केशग्रहणबाधा । एवमत्रापि नाग्रहणमन्तरा ग्रहणस्य बाधकम् । अत्रोच्यते—

अन्तरग्रहणन्तत्र नैव सद्बाधकङ्कथम् । असन्न बाध्यन्नापीष्टं लोकः केवलमिच्छति ॥४९८॥

कस्मादन्तरग्रहणमेव न भवतीति चेत्—

शक्तिरेषैव भावानां सा किं पर्यनुयुज्यते । तेनान्तराणां ग्रहणमनुत्पन्नं न बाधकम् ॥४९९॥

न च बाध्यम् । केवलं व्यपदेश एव यथाकथञ्चिल्लोके निरूढिमागतः । तत्र तु

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतः रूपग्रहण और सुखग्रहण का अविच्छेद नहीं होना चाहिए । तब प्रश्न उठता है कि सिद्ध-साधनता क्यों मान ली जाय ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि जो एक का भाव अन्याभावत्वेन कहा जाता है तद्-विविक्तता तद्-अभाव पौर्वापर्येण कहा जा चुका है ॥ ४९७ ॥

किसी वस्तु का स्वरूपेणाभाव नहीं होता, अपितु तद्-भिन्नत्वेन । अतः रूपग्रहण सुख-ग्रहण से अविविक्त है । ऐसा मानने पर तद्-अविविक्त ग्रहणलाघव के कारण सम्भव हो जाता है । सुखसंवेदन का भी वही ग्रहण है, अतः दोनों का ग्रहण प्रसक्त होता है । वार्तिककार ने ठीक ही कहा है—'अग्रहायेव न किम् ?' अन्य की उपलब्धि होने पर अन्य में विविक्त ग्रहण नहीं होता । यदि कहा जाय तद्-विविक्त ग्रहण ही उचित है, क्योंकि उसके स्वरूप का उसमें ग्रहण नहीं होता, तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि परस्पर स्वरूप का अप्रवेशक ग्रहण होने पर अक्रमग्रहण समानकालग्रहण में भी सम्भव है, क्योंकि अवयव और अवयवी का एक काल में ग्रहण माना जाता है ।

शंका— दूर से सान्तर और अनेक केश का ग्रहण होने पर भी उनका अग्रहण ही माना जाता है, वहाँ जैसे निरन्तर केशग्रहण के द्वारा सान्तर अग्रहण का बाध हो जाता है और अन्तर का ग्रहण न होने पर केशग्रहण का बाध नहीं होता । वैसे ही यहाँ पर भी अग्रहण के बिना बाध क्यों होगा ?

समाधान—अन्तर-ग्रहण उसका बाधक कैसे ? क्योंकि लोक में असत् वस्तु न बाधित होती है और न बाधक ॥ ४९८ ॥

वहाँ पर अन्तर-ग्रहण ही क्यों नहीं मान लिया जाता ? इसका उत्तर यह है कि भाव-पदार्थों की शक्ति ही ऐसी है, स्वभाव पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं किया जा सकता । अतः सान्तर अर्थों का ग्रहण अनुत्पन्न होकर बाधक नहीं होता ॥४९९॥

वार्तिकालङ्कारः

पुनः सुखरूपादिग्रहणयोरग्रहणन्नोत्पन्नमिति न युक्तम् । तथा सति न क्रमग्रहणसम्भवः । अस्त्येवाग्रहणन्तत्र परं ग्रहणन्नोत्पन्नमिति चेत् । नैतदस्ति । यतो हि—

ग्रहणे ग्राहकन्नास्ति ग्राहके ग्राहकान्तरम् । परैरप्येवमेवेष्टमन्यथा त्वसमंजसम् ॥५००॥

ग्रहणेन हि स्वप्रकाशात्मना भवितव्यं ग्राहकस्य तु कारणात्मनः कर्तुर्वा ग्राहकमपरमिष्यताम् । अप्रकाशे ग्रहणे सर्वार्थाग्रहणप्रसङ्गः । ग्रहणञ्चेत् स्वप्रकाशमिन्द्रियादन्यतो वा यदि भवेत् किमिदानीमपरेण ग्राहकेणेति चेत् । अयमपरोऽस्यैव दोषः । न त्वप्रकाशं स्वयं ग्रहणन्नाम । अपरेण प्रकाश्यते तच्चेत् । नन्वपरेणापि प्रकाशनम्परोक्षमेव तस्याप्यपरेणेत्यर्थंतैवायाता सर्वस्य जगत इति प्रतिपादयिष्यते । तच्च प्रतिभासमानम्परस्परकालविवेकेनोत्पन्नङ्कथम्परस्परस्य न बाधकमिति यत्किञ्चिदेतत् । अथ सुखग्रहणम्बाध्यत एव कदाचित् केवलस्य रूपादेर्ग्रहणात् । तथा हि मनोहारिरूपदर्शनेऽपि कदाचिन्न सुखसंवेदनमस्ति, ततः केशान्तरग्रहणमेव सुखग्रहणमपि नोत्पन्नमिति बाधनमवस्थाप्यते । नैतदपि सत् । यतः—

सर्वदैव न किम्बाधा केशान्तरविदो यथा । तदा तु न सुखादीनामुदयो लोकसम्मतः ॥५०१॥

यथा केशग्रहणमन्तरा ग्रहणस्य बाधकं सर्वदैव । एवं रूपादिग्रहणमपि सुखादिग्रहणस्य स्यात् । न च परमार्थतस्तत्केशग्रहणं केशस्वरूपस्याप्रतिपत्तेः । यदा तु सुखा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का—ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल व्यवहार ही लोक में इसी प्रकार से आ गया । वस्तुतः सुख और रूपादि का अग्रहण उत्पन्न ही नहीं हुआ, क्योंकि वैसा होने पर क्रम-ग्रहण सम्भव नहीं । यदि कहा जाय कि वहाँ पर अग्रहण है ही, ग्रहण कभी उत्पन्न नहीं हुआ तो उस पर हमारा कहना यह है कि ग्रहण होने पर ग्राहक नहीं और ग्राहक होने पर ग्राहकान्तर नहीं । अन्य वादियों को भी ऐसा ही इष्ट है, अन्यथा इसका सामञ्जस्य नहीं होता ॥ ५०० ॥

नैयायिकादि का जो कहना है कि ग्रहण (ज्ञान) को अप्रकाश रूप ही होना चाहिए और आत्मा को ज्ञान का कारण या कर्त्ता मानना चाहिए । वह उचित नहीं, क्योंकि ज्ञान के अप्रकाशरूप होने पर सभी अर्थों का अग्रहण प्रसक्त होता है । ग्रहण यदि प्रकाशात्मक है और वह इन्द्रिय या अन्य किसी से उत्पन्न होता है, तब उसके अन्य ग्राहक की क्या आवश्यकता ? ज्ञान के स्वप्रकाश-पक्ष में ही यह अन्य दोष भी है । जो अप्रकाशात्मक है, वह स्वयम्प्रकाश कदापि नहीं हो सकता । यदि वह अपर ज्ञान से प्रकाशित होता है तब भी वह परप्रकाश-परम्परा अर्थात् सिद्ध है । वह प्रतिभासमान होकर विभिन्न कारणों में उत्पन्न होता है । अतः उसमें बाध्यबातकभाव निश्चित रूप में होगा ।

यदि कहा जाय कदाचित्केवल रूप का ग्रहण होता है, उससे उत्पन्न सुख का बाध हो जाता है । अर्थात् मनोहारी रूप का दर्शन होने पर भी कदाचित् सुख-संवेदन नहीं होता, अतः ज्ञात होता है केशान्तर्ग्रहण के समान सुखग्रहण उत्पन्न ही नहीं हुआ, अतः बाधित हो जाता है । इसीलिए सुख को संवेदन-स्वरूप नहीं कहा जा सकता तो वैसा कहना उचित नहीं । केशान्तर्ग्रह के समान ही सुख का सदैव बाध क्यों नहीं होता ? क्योंकि सुख का उदय लोकसम्मत नहीं ॥ ५०१ ॥ अर्थात् जैसे केशग्रहण के बिना रूपदर्शन होता है, केशग्रहण बाधित हो जाता है, इसी प्रकार सुखादि-ग्रहण का भी बाध

न चैकथा द्वयज्ञानं नियमादक्षचेतसः ।
सुखाद्यभावेऽप्यर्थाच्च जातेस्तच्छक्त्यसिद्धितः ॥ २५७ ॥

यदि कहा जाय कि एकमात्र ऐन्द्रियक बुद्धि के द्वारा बाह्य विषय और सुख का ग्रहण माना जाता है तो सम्भव नहीं, क्योंकि उनका नियमतः बाह्य रूपादि के ग्रहण में उपयोग माना जाता है, आत्मा के गुणभूत सुख के ग्रहण में नहीं ॥ २५७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिपत्तिः केवलरूपादिग्रहणे तदा सुखमेव नोदपादि । न तूत्पन्नमग्रहणं केवलमिति व्यवस्था । अनुपलम्भादनुत्पन्नव्यवहार इति चेत् । उच्छिन्न इदानीमुत्पादादिव्यवहार-स्ततोऽनुपलब्धिरपि । तस्माद् यदैव सुखादीनामुत्पत्तिग्रहणस्य तदैव सुखादीनामुत्पत्तिः । तदापि न रूपादिग्रहणेनाभिभवः । भवन्मते केशान्तराग्रहणवत् प्राप्तः । अथैकैवेन्द्रिय-बुद्धिरथ सुखादिग्रहणे प्रवर्त्तिष्यते तेनायं क्रमग्रहणदोषो न भवेत् । तदसदित्याह—न चैकया द्वयज्ञानमिति ।

यदीन्द्रियबुद्धिरेवार्थसुखादिग्राहिणी युक्तं न चैतदिति प्रतिपादितम् । आत्ममनः-संयोगमात्रजेनातिन्द्रियजेन सुखादिकं गृह्यते प्रत्ययेनेत्यभ्युपगमात् । अथ कश्चिदेवमभ्यु-पगच्छेत् तदपि न शक्यम् । सुखाद्यभावेऽप्यर्थादेव केवलादुत्पादादिन्द्रियबुद्धेः सुखादीनां कारणत्वानिर्धारणात् । यो हि येन विना नोत्पत्तिमान् सत्स्वपि समर्थेष्वन्येषु तस्य तत्कारणत्वावधारणम् । न च रूपादिसामग्र्यामपि विना सुखादिकमनुत्पत्तिमदि-न्द्रिय चेतः ।

अथापि स्यात् । नीलं यदा पीतेन सहेन्द्रियवेदने प्रतिभाति न तदा तस्य सामर्थ्यं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होना चाहिए । परमार्थतः केश का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उसके स्वरूप की प्रति-पत्ति नहीं होती । जब सुखात्मक प्रतिपत्ति होती है, केवल रूपादि के दर्शन से उस समय सुख ही उत्पन्न नहीं होता । उत्पन्न हो और गृहीत न हो, ऐसा सम्भव नहीं । अनुत्पन्नता का व्यवहार देखकर सुख के अनुत्पत्ति की यदि कल्पना करना चाहें तो नहीं कर सकते, क्योंकि "इदानीमुच्छिन्नः" इस प्रकार के व्यवहार से अनुपलब्धि की भी कल्पना हो सकती है । फलतः यह मानना पड़ता है जब सुखादि की उत्पत्ति का ग्रहण होता है उसी समय सुख की उत्पत्ति होती है । रूपादि ग्रहण के द्वारा उसका अभिभव कभी भी नहीं होता । यदि सन्देह हो कि एकमात्र इन्द्रियबुद्धि सुख के ग्रहण में प्रवृत्त होती है, अतः क्रमिक ग्रहण का दोष नहीं होता तो वैसा कहना उचित नहीं है । वार्तिककार ने यही कहा है "तत् चैकया" इत्यादि से । यदि एक इन्द्रिय-बुद्धि ही सुखादि-बुद्धि में प्रवृत्त होती है तब वह युक्तियुक्त नहीं, यह कहा जा चुका है । क्यों कि आत्मा और मन के अतीन्द्रिय संयोग मात्र से सुखादि का ग्रहण होता है, ऐसा माना गया है । यदि कोई ऐसा ही मानता है तो वह नहीं माना जा सकता, क्योंकि सुखादि के न होने पर भी केवल पदार्थ की उत्पत्ति मात्र से उसमें सुखादि के कारणता की अवधारणा नहीं होती । क्योंकि जो जिसके बिना उत्पन्न नहीं हो सकता उसे ही उस अर्थ का कारण माना जाता है । रूपादि सामग्री के रहने पर भी सुखादि उत्पन्न नहीं होते ।

यदि कहा जाय ऐसा भी देखा जाता है कि जहाँ पर पीत के साथ नील का भी

पृथक् पृथक् च सामर्थ्ये द्वयोर्नीलादिवत् सुखम् ।
गृह्येत केवलं तस्य तद्धेत्वर्थमगृह्णतः ॥ २५८ ॥

यदि रूपादि और सुखादि का अपने ज्ञान के उत्पादन में पृथक्-पृथक् सामर्थ्य माना जाता है, तब विषय-निरपेक्ष केवल सुख का ग्रहण होना चाहिए। किन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि स्त्री आदि विषयों के न होने पर केवल सुख का ग्रहण होता नहीं ॥ २५८ ॥

न हि संवेदनं युक्तम् अर्थेनैव सहग्रहे ।
किं सामर्थ्यं सुखादीनां नेष्टा धीर्यत् तदुद्भवा ॥ २५९ ॥

विषय-निरपेक्ष सुख-संवेदन का होना उचित भी नहीं, क्योंकि विषय के साथ ही सुख का ग्रहण होता है। केवल सुख से ऐन्द्रिय ज्ञान अभीष्ट नहीं। अतः वह केवल सुख की ग्राहिका नहीं ॥ २५९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्यान्नीलमन्तरेणापि पीतादुत्पत्तेः। अथ च तत्रापि तस्य सामर्थ्यम्। अथ नीलपीताव-भासि विज्ञानन्न केवलात् पीताज्जायते। एवन्तर्हि सुखरूपावभासस्यापि न केवलाद् रूपादिति समानो न्यायः। न समानमेतत्।

नीलस्येन्द्रियविज्ञाने पृथक्सामर्थ्यदर्शनात्। शक्तिसिद्धिस्समूहेऽपि न सुखस्यैवमीक्षणम् ॥५०२॥

अभ्युपगमे वा—पृथक् पृथक् च सामर्थ्यमिति।

रूपादेरेव सुखादिरहितादुत्पद्यते तदक्षविज्ञानम्। न हि विज्ञानात् पूर्वसुखादिक-मस्ति रूपवत् विज्ञानेन सह तत एव रूपादेस्तस्योत्पत्तेः। अथ समानकालभाविनोऽपि सहभूहेतुत्वमिष्यते। तदसत्। सहभूहेतुत्वेन परस्परप्रतिबद्धं द्वयम्भवतु भूतवन्न तु वेद्यवेदकभावः।

असंवेदनरूपस्य ग्रहणन्न परस्परम्। स्वसंवेदनरूपस्य ग्रहणन्न परस्परम् ॥५०३॥
स्वहेतोरुन्मुखीभावाद् यदि ग्रहणमिष्यते। समानकालस्याप्यस्य परसंवेदनात्मना ॥५०४॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिभान होता है तब उसका सामर्थ्य नील में नहीं माना जाता, क्योंकि नील के बिना भी केवल पीत से उसकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि वहाँ पर भी उसका सामर्थ्य माना जाय, नील और पीत उभयावभासी विज्ञान केवल पीत से उत्पन्न नहीं होता। तब सुखरूपावभास का भी केवल रूप के दर्शन से अवभास नहीं होता तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों का वैशम्य है। नील का ऐन्द्रियक विज्ञान में पृथक् सामर्थ्य देखा जाता है। इसी प्रकार समूह में भी सुख की शक्ति सिद्ध हो जाती है ॥ ५०२ ॥

किन्तु पृथक् सामर्थ्य मानने पर सुखादि-रहित केवल रूपादि विषयों का ऐन्द्रि-यक विज्ञान होना चाहिए। विज्ञान से पूर्व सुखादि की सत्ता ही नहीं होती, क्योंकि विज्ञान के साथ ही रूपादि से उसकी उत्पत्ति मानी जाती है।

यदि समानकालभावी सहभूत पदार्थों का हेतुत्व माना जाता है, वह उचित नहीं, क्योंकि सहभूत पदार्थों की हेतुता होने से दोनों परस्पर प्रतिबद्ध होंगे, न कि उनमें वेद्य-वेदकभाव। असंवेदन रूप विषय का ग्रहण जब होता है, तब स्वसंवेदन रूप का परस्पर ग्रहण नहीं होता ॥५०३॥ स्वकीय हेतु के उन्मुखी भाव से यदि ग्रहण

विनार्थेन सुखादीनां वेदने चतुरादिभिः ।
रूपादिः स्त्र्यादिभेदोऽक्ष्णा न गृह्येत कदाचन ॥ २६० ॥

अतः विषय और सुख दोनों का सहसंवेदन नहीं हो सकता । यदि अर्थ के बिना चक्षुरादि के द्वारा उत्पन्न ज्ञानों से सुखादि का वेदन माना जाता है, तब स्त्री आदि के रूप-विशेष का चक्षुरादि ज्ञान के द्वारा कभी ग्रहण नहीं होना चाहिए ॥ २६० ॥

न हि सत्यन्तरङ्गेऽर्थे शक्ते धीर्बाह्यदर्शनी ।
अर्थग्रहे सुखादीनां तज्जानां स्यादवेदनम् ॥ २६१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सुखे तदुन्मुखीभूतं कथमिन्द्रियजम्मतम् । नाक्षव्यापारवित्तत्र प्रागेवैतन्निवेदितम् ॥५०५॥

अपि च पृथक् सामर्थ्ये केवलं सुखादि गृह्येत । नीलवदेव गृह्यत एवेति चेत् । न । न हि सुखहेतुरूपादिग्रहणमन्तरेण सुखादिग्रहणं युक्तम् । संवेद्यमानमप्ययुक्तमेव । न खलु ललनालालित्यप्रतिपत्तिमन्तरेण सुखेन कश्चिदर्थी । तदैव तत् सुखमिच्छति सकलः कामी जनः । न चैवमुपलब्धिः । अथ तस्यैव सामर्थ्यम् । एवन्तर्हि चन्द्रमसोऽपि द्वितीयस्य स्यात् । अत एवाह । अर्थेनैव सहग्रहे । तथा हि—किं सामर्थ्यं सुखादीनामिति ।

न ह्यन्वयव्यतिरेकमन्तरेण सामर्थ्यसिद्धिः । न चेष्यते नेष्टैव तदुद्भवा चक्षुरादिबुद्धिः परेषामिति । अपि च—विनार्थेन सुखादीनामिति ।

सुखदुःखादिहेतुत्वेन रूपादिकम्प्रतिकूलाप्रतिकूलत्वेन च स्त्र्यादिकन्न गृह्येत । केवलस्य ग्रहणे कारणं किमप्यस्तीति प्रतीतिः स्यात् । सहग्रहणे कारणप्रतीतिरिति चेत् । परस्परन्नीलादीनामपि कारणत्वप्रतीतिः स्यात् । न च भवति । तस्मादनुपपन्नमेतत् । यदि च सुखं केवलञ्चक्षुरादिना गृहीतुं शक्यं तदा रूपादिग्रहन्नैवोपजायते । यतः—न हि सत्यन्तरङ्गेऽर्थ इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

माना जाता है, तब समान-कालोत्पन्न परसंवेदनात्मक अर्थ का ग्रहण भी होना चाहिए ॥ ५०४ ॥ यदि संदेह हो कि सुख में उन्मुखीभूत अर्थ का इन्द्रियजन्य ज्ञान कैसे होगा, तो वह उचित संदेह नहीं । क्योंकि अक्षर-व्यापार के समान मानस व्यापार नहीं होता । यह पहले ही कहा जा चुका है ॥ ५०५ ॥ अपि च पृथक् सामर्थ्य मानने पर नील के समान ही सुख का भी पृथक् ग्रहण होना चाहिए । पृथक् ग्रहण होता ही है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुखादि के हेतुभूत रूपादि दर्शन के बिना सुखादि का ग्रहण युक्तियुक्त नहीं माना जाता । क्योंकि ललनालालन-जनित प्रतिपत्ति के बिना सुख हो ही नहीं सकता । उसी समय ही सकल कामी पुरुष सुख की इच्छा किया करते हैं । किन्तु ऐसी उपलब्धि नहीं होती, उस समय यदि उसका सामर्थ्य माना जाता है तब द्वितीय चन्द्रमा की भी कामना होनी चाहिए । अतएव कहा गया है "अर्थेनैव सहग्रहे" इत्यादि । अन्वय-व्यतिरेक के बिना सामर्थ्य की सिद्धि नहीं होती । वैसा अभीष्ट भी नहीं । अर्थजनित चक्षुरादि की बुद्धि अन्य लोग भी मानते हैं । अपि च सुख-दुःखादि-हेतुत्वेन रूपादि और प्रतिकूल-अनुकूल-भावेन स्त्र्यादि के समान ग्रहण नहीं होना चाहिए । केवल सुख के ग्रहण में कोई कारण प्रतीत नहीं होता । सहग्रहण में प्रतीति कारणता वास्तव में होती है, ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि नील आदि

सुखादि के ग्रहण में अन्तरङ्ग का सन्निहित होना आवश्यक है। बाह्यदर्शनी बुद्धि सुख की ग्राहिका नहीं हो सकती। इन्द्रिय बुद्धि के द्वारा विषय का ग्रहण हो जाने पर सुखादि के ग्रहण में आत्मा का सामर्थ्य माना जाता है। विषयजन्य सुखादि का आत्मा से ग्रहण होता है॥ २६१॥

धियोर्युगपदुत्पत्तौ तत्तद्विषयसम्भवात्।
सुखदुःखविदौ स्यातां सकृदर्थस्य सम्भवे॥ २६२॥

इन्द्रिय-बुद्धि और मनोबुद्धि इन दोनों के उत्पन्न हो जाने पर विषय और सुख-दुःख के हेतुओं का सम्भव हो जाता है, तब सुख और दुःख का ज्ञान उत्पन्न होता है॥ २६२॥

वार्तिकालङ्कारः

बाह्यस्त्र्यादिभेददर्शनमन्तरेण यदि सुखसंवेदनमेव न भवेत् तदा बाह्यदर्शनन्तः न्नान्तरीयकत्वात् सुखसंवेदनस्य। अथार्थग्रहोऽपीष्यत एवेति मतिस्तदायमपरो दोषः। तथा हि—अर्थग्रहे सुखादीनामिति।

अर्थग्रहणकाले हि यद्यपि सुखमुदयवत् तथापि तस्य ग्रहणसामग्री नास्ति। इन्द्रियार्थमनःसंयोगभाविना मनसारूपाद्यर्थस्य ग्रहणम्। न चापरम्मनोऽस्ति युगपज्ज्ञा-नोत्पत्त्यनभ्युपगमात्। अतस्तज्जं सुखादिकन्न गृह्येत। अथ युगपद् विज्ञानोदय इष्यते तदाप्यपरो दोष इत्याह—धियोर्युगपदुत्पत्ताविति।

अर्थस्येष्टानिष्टस्य सम्भवे सति युगपत् सुखदुःखादिसंवेदनं निवारयितुन्न शक्यते।

ननु दृश्यत एवैतत्। तथा हि शीतकाले शीतोष्णस्पर्शसंवेदनजन्मनी सुखदुःखे वेद्येते। तदप्यसत्। यतः। सदा स्यातामित्यभिप्रायः। न च रणरसावर्जितचेतसः

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पदार्थों की भी करणत्व प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु नहीं होती। अतः पृथक् ग्रहण सर्वथा अनुपपन्न है। यदि सुखादि केवल चक्षुरादि के द्वारा गृहीत हो सकता है, तब रूपादि का ग्रहण नहीं होना चाहिए। क्योंकि बाह्य स्त्रियादि दर्शन के बिना यदि सुखसंवेदन ही नहीं होता तब 'बाह्यदर्शनम्' उसका नान्तरीयक होने के कारण सुख-संवेदन भी नहीं होता। यदि अर्थ का ग्रहण भी उसी समय माना जाता है, तब यह एक दूसरा दोष उपस्थित होता है—अर्थग्रहण काल में यद्यपि सुख का उदय होता है तथापि उस समय उसके ग्रहण की सामग्री नहीं। इन्द्रिय, अर्थ, मनःसंयोग आदि सामग्री के होने पर मन के द्वारा रूपादि अर्थों का ग्रहण होता है। मन एक है, दो नहीं। अतएव युगपद् अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। अतः उससे सुखादि का ग्रहण नहीं होता। यदि युगपद् अनेक ज्ञानों का उदय माना जाता है, तब यह भी एक दोष उपस्थित होता है कि इष्टानिष्ट रूप अर्थ के सम्भव होने पर युगपद् सुख-दुःख आदि का संवेदन हटाया जा नहीं सकता।

शङ्का—सुख-दुःख का संवेदन एकसाथ होता देखा जाता है, जैसेकि शीतकाल में शीत-स्पर्श-जनित दुःख और ऊष्ण-स्पर्श-जनित सुख एकसाथ अनुभूत होते हैं।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि वार्तिककार का अभिप्राय है कि सुख-दुःख की अनुभूति सदैव युगपद् होगी। किन्तु रणबाँकुरे वीर पुरुषों के लिए अपने

वार्तिकालङ्कारः

स्वामिसम्माननोपकारनिर्देशपराधीनमात्मानं सफलञ्चिकीर्षतः शास्त्रसंस्पर्शदुःखसंवेदनम्। अवश्यञ्च दुःखहेतुसद्भावे तदुत्पत्तिः। ततश्च सुखदुःखसहसंवेदनप्रसङ्गः।

अथापरेणाभिभवात् परस्यावेदनम्। तदयुक्तमभिभवस्यासम्भवात्। महत्त्वादिनाभिभव इति न सम्यक्। हस्तिमशकयोर्युगपत् प्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। इष्टत्वेनेत्यपि न सम्यक्। द्वयोरपि सह दर्शनात्। दुःखसुखयोर्हि युगपदनुभवस्य प्रतिपादितत्वात्। पटसंस्कारात् क्वाप्यनुभव इति चेत्, न, भावनाव्यतिरेकेण संस्कारस्यापरस्यादर्शनात्। भावनाबलेन चेदुत्पत्तिस्तु वः सुखादयस्तदा बोधरूपा एवेति प्रतिपादितम्।

अथापि स्याद्। तदा—

भावनाबलतो ज्ञानं सुखादिषु विवर्त्तते। सुखादयस्तु रूपादिकारणादेव भाविनः ॥५०६॥

इयमप्यलीककल्पना। यतः—

यद्वस्तुबलतो ज्ञानं जायते तत्र भावनाम्। नाङ्गीकुर्वन्ति विद्वांसस्तथाचेदसमंजसम् ॥५०७॥

यदि सुखादिकं सन्निहितमेव तद्भावनामन्तरेणापि दृश्यन्त एव। न हि प्रागचिन्तितानानुभूता भावा एकदैव नोपलब्धिविषयाः। तत्रापि व्यवहिता भावनास्तीति चेत्। किमत्र प्रमाणम्। अपि च। ज्ञानस्य भावना नार्थाकारभावनां विना। केवलस्य भावयितुमशक्यत्वात्। भावनाबलेन चेदुदयवज्ज्ञानं किमर्थादिकमपेक्षते। अथार्थेन सहाभ्यासात् तथा सत्यर्थाकारोऽपि भावनाबलादेवोपजायते। तथा सति स्वप्नादिज्ञा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

राजा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर समर में दुःख नहीं होता, अपितु होता है, क्योंकि दुःख-हेतु के सद्भाव में दुःख की उत्पत्ति स्वाभाविक है। अतः सुख-दुःख का सहसंवेदन अवश्य प्रसक्त होता है। यदि सुख का प्रबल दुःख या दुःख का प्रबल सुख से अविभव हो जाने से सहसंवेदन क्योंकर होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऐसा मानने पर हस्ति और मशक की प्रतिपत्ति युगपद् न हो सकेगी, किन्तु दोनों की सहप्रतिपत्ति अनुभवसिद्ध है। यदि कहा जाय कि संस्कारों की तीव्रता के कारण कहीं-कहीं सह-अनुभव हो जाता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि भावना के बिना संस्कार की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। भावना के बल पर उत्पत्ति सुखादि की भी हो जाती है, क्योंकि सुख-दुःखादि भी बोधरूप हैं, ऐसा कहा जा चुका है।

शंका—यदि भावना के आधार पर सुखादि का ज्ञान कहा जाय तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुखादि अपने नियत कारण रूपादि से ही उत्पन्न होते हैं ॥५०६॥

समाधान—उक्त कल्पना भी अलीक है, क्योंकि जिस वस्तु के बल पर सुखादि का ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ भावना नहीं मानी जाती। अतः उक्त कथन असमंजस है ॥ ५०७ ॥

यदि सुखादि सन्निहित हैं तब भावना के बिना भी उत्पन्न होंगे, क्योंकि पूर्व में अचिन्तित और अननुभूत पदार्थ उपलब्ध नहीं होते। वहाँ भी यदि व्यवहितरूपेण भावना मानी जाती है, तब प्रश्न होता है कि उसमें प्रमाण क्या? ज्ञान की भावना अर्थाकार भावना के बिना नहीं होती, क्योंकि केवल की भावना नहीं की जा सकती। भावना के बल पर यदि ज्ञान का उदय माना जाता है, तब अर्थापत्ति की विशेषता किसलिए? यदि अर्थ के साथ अभ्यास होता है, तब अर्थाकार भी भावना के बल पर ही हो जायगा। फलतः स्वप्नादि के समान सभी ज्ञान विषय-रहित हो जायेंगे। जो

सत्यान्तरेऽप्युपादाने ज्ञाने दुःखादिसम्भवः ।
नोपादानं विरुद्धस्य तच्चैकमिति चेन्मतम् ॥ २६३ ॥
तदज्ञानस्य विज्ञानं केनोपादानकारणम् ।
आधिपत्यं तु कुर्वीत तद्विरुद्धेऽपि दृश्यते ॥ २६४ ॥

शंका—केवल अर्थ के रहने पर दुःखादि का सम्भव नहीं होता, अपितु आन्तरिक समानान्तर प्रत्यय रूप ज्ञान के रहने पर ही दुःखादि का सम्भव होता है, किन्तु कथित उपादानापेक्ष ज्ञान सुख-दुःख में से विरुद्ध अर्थों का उपादान कारण नहीं हो सकता ।

समाधान—कथित विज्ञान अज्ञान और सुखदुःखादि का उपादान कारण माना जाता है। अतः सुखादि का ज्ञान अज्ञान के कार्य में आधिपत्य (सहकारित्व) माना जाता है ॥ २६३-२६४ ॥

अक्ष्णोर्यथैक आलोको नक्तञ्चरतदन्ययोः ।
रूपदर्शनवैगुण्यावैगुण्ये कुरुते सकृत् ॥ २६५ ॥

विरुद्धार्थों की एक ही वस्तु में सहकारिता का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जैसे—एक ही आलोक मनुष्य एवं सिंह-विडालादि नक्तञ्चर प्राणियों के नेत्रों का सहकारी और असहकारी अर्थात् मनुष्य के नेत्रों का साद्गुण्य और सिंह आदि के नेत्रों का वैगुण्य सम्पादन करता है ॥ २६५ ॥

तस्मात् सुखादयोऽर्थानां स्वसंक्रान्तावभासिनाम् ।
वेदकाः स्वात्मनश्चैषामर्थेभ्यो जन्म केवलम् ॥ २६६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नवदर्थरहितमेव ज्ञानमिति बाह्यरूपसुखादिविज्ञानात् सिषाधयिषितार्थस्याप्यबाह्यरूपता साधितेति महती परस्य परदूषणाभिज्ञता ।

अथापि मतिः । युगपत्सुखदुःखासम्भव एव । यतः—सत्यान्तरेऽप्युपादान इति ।

यद्युपादानपूर्वकं ज्ञानमपेक्ष्य सुखादि सम्भवति तदा नोपादानमेकं विरुद्धस्य युक्तं द्वयस्य । किन्तु तदेवायुक्तं विरुद्धानामपि ज्ञानं सुखादीनां दृष्टम् । अथ विरुद्धस्योपादानन्न भवत्येव । तथा सत्यविज्ञानस्य विज्ञानमुपादानं कथम्भवेत् । न चोपादानभावो नाम आधिपत्यमेव केवलं कारणानां कार्ये । तच्च विरुद्धोऽपि । यथा कौशिकेतरयोरक्ष्णोरुपघातेतरौ भवत आलोकादेकस्मादेव । ततः—तस्मात् सुखादयोऽर्थानामिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लोग बाह्य-रूपादि ज्ञान से सुख की सिद्धि करना चाहते हैं, उन्हें निरास होना पड़ेगा। ऐसा स्वीकार करने पर परकीय-सिद्धान्ताभिज्ञता का उपहास मात्र होगा ।

यदि उपादान-सापेक्ष ज्ञान से सुखादि उत्पन्न होते हैं, तब एक काल में विरुद्ध अर्थों का उपादान युक्त नहीं, किन्तु वही अयुक्त है, क्योंकि विरुद्ध सुख-दुःखादि का ज्ञान देखा जाता है। यदि विरुद्ध अर्थों का उपादान नहीं हो सकता, तब अविज्ञान स्वरूप विज्ञान का उपादान कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि उपादान न होने पर भी कारणों का केवल कार्य में आधिपत्य (सामर्थ्य) ही होता है तो वह विरुद्धार्थ में भी हो

सुखादि का अन्य से वेदन सम्भव नहीं, अतएव सुखादि ज्ञान-स्वरूप है। अपने स्वरूप में संक्रान्त ज्ञान अर्थों के भासक होते हैं और अपरोक्षतः अपने भी वेदक होते हैं। इसको छोड़कर और कोई ग्रहण का प्रकार नहीं। अतः इन सुखादि पदार्थों का अर्थ से जन्म होना ही ग्रहीतृत्व माना जाता है और उससे भिन्न कोई व्यापार नहीं ॥ २६६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यद्यबोधरूपाः सुखादयो रूपादिसामग्रीतो विज्ञानसमानकाल एवोदयवन्तस्तदा सर्वदेष्टानिष्टविषयसंमुखाभावे युगपत् सुखदुःखविदौ स्याताम्। तवापि कस्मान्नैवमिति चेत्, न, वासनाप्रबोधस्य तादृशस्याभावाद् रूपादिविकल्पवत्। कदाचिदेव कस्यचित् किञ्चिदेव भवति वासनाप्रबोधकारणम्। ममाप्येवमिति चेत्। न। यतः—

वासनाबलभावित्वे बोधतैव प्रसज्यते। वासना स्मृत्यभिज्ञानकारणत्वेन लक्षिता ॥५०८॥

ननु स्मृत्यादयोऽपि न स्वरूपसंवेदनात्मकास्तत्राप्यर्थस्यैव प्रतिभासनात्। वर्ण-संस्थानात्मकं तत्रार्थरूपमेव प्रतिभाति। न चापरन्तत्र विज्ञानरूपं संवेदनविषयः। तस्मात् परोक्षैव सकला बुद्धिः।

यद्यर्थ एव तत्रास्ति प्रतिभासस्य गोचरः। प्रत्यक्षवत् तदर्थस्य ग्रहणं सङ्गतं भवेत् ॥५०९॥

न ह्यर्थः स्वेन रूपेण भासमानो प्रत्यक्षो भवितुमर्हति, स्वरूपप्रतिभासस्यैव प्रत्य-क्षत्वाद्, अन्यस्य प्रत्यक्षलक्षणस्याभावात्। तथा सति न प्रत्यक्षस्मरणयोर्विशेषः। अथ पूर्वत्वेन परोक्षतया च प्रतिभाति ततोऽयमदोष इति चेत्। केयम्परोक्षता नाम। न हि सा प्रत्यक्षेणोपलब्धा।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकता है। जैसे कि उलूक और उससे भिन्न प्राणियों के नेत्रों में सूर्यतेज का उपघात और अनुपघात सह देखा जाता है।

यदि सुखादि अबोध-रूप हैं और रूपादि सामग्री से विज्ञान के समान काल में उत्पन्न होते हैं, तब इष्टानिष्ट विषयों का सन्निकर्ष न होने पर युगपद् सुख और दुःख वेदन होना चाहिए। आपके मत में भी ऐसा क्यों नहीं ? इसका उत्तर है कि संस्कारों का उद्बोधन न होने के कारण वैसा नहीं होता। कदाचित् ही किसी पुरुष को कोई ही वासना प्रबोध का कारण होता है। हमारे मत में भी ऐसा ही होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि भावना के बल पर उत्पन्न होने पर भी बोधरूपता ही प्रसक्त होती है, उसका कारण यह है कि संस्कार स्मृति और ज्ञान दोनों के कारण माने जाते हैं ॥ ५०८ ॥

शंका—स्मृत्यादि भी ज्ञानस्वरूप-संवेदनात्मक नहीं होते, केवल अर्थ (विषय) का ही प्रतिभास होता है। वर्णसंस्थानात्मक पदार्थ ही प्रतिभासित होता है। उससे भिन्न विज्ञानतत्त्व का सवेदन नहीं होता, अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि सकल बुद्धि परोक्ष ही होती है।

समाधान—यदि अर्थमात्र प्रतिभास का विषय होता है, तब अवश्य ही अर्थ का प्रत्यक्ष ग्रहण मान लेते ॥५०९॥ किन्तु अर्थ स्वरूपेण अवभासमान होकर कभी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान का स्वरूपतः प्रतिभास ही प्रत्यक्ष माना जाता है। इससे अन्य और कोई प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यक्षेणोपलब्धे च स्मरणस्य प्रवर्त्तनम् । अन्यथा पूर्वरूपस्य ग्रहणे स्मरणं कथम् ॥५१०॥

न हि स्मरणपूर्वार्थविषयम् । अथ गृहीतस्यैवार्थस्य परोक्षताग्रहणात् स्मरणं तदिति मतिः । तदप्यसत् । यतो हि—

परोक्षता किमर्थस्य स्वभावो वेदनस्य किम् । अर्थस्यासौ स्वभावश्चेत् प्रत्यक्षे प्रतिभासताम् ॥५११॥

यो ह्यर्थस्य स्वभावः स प्रत्यक्षे प्रतिभाति यथा नीलादिता । शक्तिनियमात् स्मरण एव प्रतिभातीति चेत् । यथा भावाभावात्मके वस्तुनि भावरूपता प्रत्यक्षेण गृह्यतेऽभावरूपता तु पररूपेण भावप्रमाणगोचरः । तदपि स्वपक्षपातित्वम् । तथा हि—

अभावस्य हि भावत्वे कथम्प्रत्यक्षतोऽग्रहः । व्यतिरेके ततस्तस्य भावस्योभयता कथम् ॥५१२॥

आकारभेदलक्षणत्वाद् भावभेदस्य । आकारस्य भेदेनाप्यभेदे सकलमेकरूपम्भवेत् । अथ भावयोराकारभेदादिनैकता न भावाभावयोः । भावयोरभावतो भेदात् । भावाभावयोस्तु नापरो भावः । अन्यथानवस्था स्यात् ।

अभावो यद्यभिन्नः स्याद् भावाद् भेदग्रहः कथम् । प्रमाणभेदादिति चेदभेदग्रहणं कुतः ॥५१३॥

यदि प्रत्यक्षेण भावांशः परिगृह्यते प्रमाणान्तरेणाभावांशस्तथा सति परस्परेणा·मिश्रता प्रतिपत्तेः कथमेको भावाभावात्मको भवतीति प्रतिपत्तिः । यदि चक्षुर्विज्ञानेन

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

फलतः प्रत्यक्ष और स्मरण में कोई अन्तर नहीं । यदि कहा जाय कि पूर्वत्वेन प्रतीयमान पदार्थ स्मरण में परोक्षत्वेन ही प्रतीत होता है—"पूर्वं इष्टचरोऽयम्" । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह परोक्षता क्या है ? वह प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष-इष्ट पदार्थ में ही स्मरण की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा पूर्व-दृष्ट का ग्रहण न होने पर स्मरण क्योंकर होगा ? ॥५१०॥ स्मरण पूर्वार्थ-विषयक नहीं होता । यदि गृहीतार्थ का ही परोक्षतया ग्रहण स्मरण कहलाता है ।

तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि परोक्षता क्या अर्थ का स्वभाव है ? अन्यथा ज्ञान का ? यदि यह अर्थ का स्वभाव है, तब ॥५११॥ जो अर्थ का स्वभाव है, वह प्रत्यक्ष में प्रतिभासित होता है, जैसे नीलादिता । शक्ति का नियम ऐसा ही है कि स्मरण में ही वह प्रतिभासित होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे भावाभावात्मक वस्तु में भावरूपता प्रत्यक्षतः गृहीत होती है और अभावरूपता पररूपेण अभाव प्रमाण का विषय होती है । वह कहना स्वपक्षपातितामात्र है, क्योंकि अभाव का भावतया प्रत्यक्षतः अग्रहण कैसे हो सकता है ? अन्यथा भाव में उभयरूपता कैसे ? ॥५१२॥ अभाव से भाव का भेदक आकार-भेद ही होता है । यदि आकार का भेद होने पर भी पदार्थों का अभेद माना जाता है, तब तो सकल जगत् एकरूप अभिन्न हो जायगा । यदि कहा जाय कि आकार-भेद के द्वारा दो भाव-पदार्थों का ही भेद होता है, भाव और अभाव का नहीं, क्योंकि भाव से अभाव का भेद होता है । भावाभाव से भाव भिन्न नहीं होता, अन्यथा अनवस्था हो जायगी । यदि अभाव पदार्थ भाव से अभिन्न होता है, तब उनका भेद-ग्रह कैसे ? प्रमाण-भेद को यदि भेदक माना जाता है, तब अभेद-ग्रहण कैसे ? ॥ ५१३ ॥

यदि प्रत्यक्षतः भावांश का ग्रहण माना जाता है और अभावांश का ग्रहण प्रमाणान्तर से, तब परस्पर अभिज्ञता की प्रतिपत्ति हो जाने से भावाभाव की एकता-प्रतिपत्ति क्योंकर होगी ? यदि चक्षुर्विज्ञान के द्वारा रूप-प्रतिपत्ति और अन्य विज्ञान के

वार्तिकालङ्कारः

रूपप्रतिपत्तिरन्येन शब्दादेः। कथम्मयैव द्वयम्प्रतिपन्नमिति कर्त्तुरेकताप्रतिपत्तिः। अनादिवासनात एषा प्रतीतिर्न तु तत्त्वत इति कस्यात्रोपालम्भः। एवमत्रापीति चेत्। यद्येवमनादिवासनाबलादेवाभावव्यतिरेकप्रतीतिरपि भविष्यति किमर्थान्तरकल्पनया। प्रमाणमपि तदभावाख्यं वासनाबलभाव्येव न पारमार्थिकम्। ततो विलक्षणत्वादेव ततो व्यावृत्तं किमभावेन। वैलक्षण्यञ्च प्रत्यक्षत एव प्रतिभाति। तत इदमत्र नास्तीति तदुत्तरकालभावी तत्सामर्थ्यभावी गृहीतग्राहित्वादप्रमाणमेव नाभावो नाम प्रमाणान्तरम्। अभावेन प्रमाणेन मयाऽभावः प्रतिपन्न इति प्रातिस्विकोऽयं व्यवहारः। लोकस्य तु येन मया नोपलब्धन्दर्शनयोग्यं सत् तेनेह नास्ति तस्य चात्राभाव इति समानार्थो व्यवहारः। सा चानुपलब्धिः प्रत्यक्षमेवेति वक्ष्यामः। परमार्थतस्तु नाभावो नाम प्रमाणान्तरन्न च प्रमेयमित्यसिद्धौ दृष्टान्तस्तदात्मकेऽपि शक्तिनियमे।

अपि च। यथाऽभावः प्रमाणान्तरन्तथा स्मृतिरपि स्यात्। परोक्षत्वे प्रमाणमेव स्मृतिरिति चेत्, न, प्रमाणलक्षणायोगात्।

परोक्षत्वे गृहीतेऽपि क इवार्थः प्रसिध्यति। अनुमानस्य वृत्तिर्हि धर्मिसम्बन्धवेदनात् ॥२१४॥

स्यादेतत्। परोक्षत्वे ज्ञाते सत्यत्रेदानीम्प्रत्यक्षस्यानवसर इत्यनुमानं प्रवर्त्तयन्ति प्रेक्षावन्तः। तत इदं प्रयोजनं परोक्षत्ववेदनस्येति स्मृतेः प्रामाण्यम्। नैतद्। यतः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्वारा शब्दादि की प्रतिपत्ति होती है, तब "मयैव द्वयं प्रतिपन्नम्"—इस प्रकार कर्तृगत एकता की प्रतिपत्ति कैसे होगी? वह प्रतिपत्ति अनादि वासना के बल पर होती है, तत्त्वतः नहीं—ऐसा उपालम्भ किस को दिया जाता है? वैसा ही प्रकृत में भी यदि माना जाता है, तब अनादि वासना के बल पर अभाव और भाव की भी प्रतिपत्ति हो जायगी, अर्थान्तरकल्पना की क्या आवश्यकता? अभावाख्य प्रमाण भी वासना-बल से ही उपपन्न हो जाता है, पारमार्थिक नहीं। भाव की विलक्षणता मात्र से अभाव की प्रतीति हो जाती है, अभाव पदार्थ की क्या आवश्यकता? वैलक्षण्य की प्रतीति तो प्रत्यक्षतः ही हो जाती है। उसके पश्चात् उत्पन्न ज्ञान गृहीत-ग्राही होने से अप्रमाण ही होता है। फलतः अभाव नाम का प्रमाणान्तर सिद्ध नहीं होता है। "अभावेन प्रमाणेन मयाऽभावः प्रतिपन्नः" इस प्रकार का व्यवहार प्रमाणान्तर सिद्ध करता है। वैसे ही "येन मया नोपलब्धाः तेन इति नास्ति अतः अभावः" इस प्रकार का व्यवहार भी वैसा ही है। अभाव किसी भी प्रत्यक्ष का ही होता है, ऐसा आगे भी कहा जायेगा। परमार्थतः अभाव नाम का प्रमाणान्तर और अभाव नाम का प्रमेय दोनों असिद्ध ही हैं।

'अपि च' जैसे अभाव प्रमाणान्तर है, ऐसे ही स्मृति भी प्रमाणान्तर माननी होगी। यदि कहा जाय कि परोक्षार्थ में स्मृति प्रमाण ही है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्मृति में प्रमाण का लक्षण नहीं घटता। परोक्षार्थ का ग्रहण हो जाने पर भी पदार्थ की प्रसिद्धि क्योंकर होगी? परोक्षार्थ में अनुमान की प्रवृत्ति तो धर्मी के सम्बन्ध से हो जाती है, स्मृति क्योंकर होगी ॥ ४१४ ॥

आक्षेप—परोक्षार्थ का ज्ञान हो जाने पर भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति का अवसर नहीं होता। अतः अनुमान को प्रेक्षावान पुरुष प्रमाण माना करते हैं। अतः परोक्षार्थ के वेदन का यही फल सिद्ध हो जाता है। अतः अनुमान के समान स्मृति भी प्रमाण

वार्त्तिकालङ्कारः

सम्बन्धग्रहणपक्षधर्मसमाश्रयणमात्रकादेवानुमानप्रवृत्तेः। न हि कश्चिद् धूमादिकार्यदर्शनानन्तरमुपजायमानानुमानवह्निग्रहणे परोक्षतान्ततः प्रागेवावधारयति। अवधारणे वा प्रयोजनम्। अथ कदाचिदवधारयत्येव कश्चिदिति चेत्। तदपि यत्किञ्चित्। तथा हि—

प्रयोजकोंऽशः किं कश्चित् कदाचित्कतयेक्ष्यते। प्रयोजकोऽर्थः किं कश्चित् कारणत्वन्निवर्त्तते ॥५१५॥

प्रयोजको हि कारणमेव। न चान्वयव्यतिरेकव्यतिक्रमे कारणत्वन्तल्लक्षणकत्वात्तस्य। अपि च—

स्मरणेन परोक्षत्वं ज्ञाप्यते कस्य वस्तुनः। यस्यानुमानेन गतिस्तन्न स्मरणगोचरः ॥५१६॥

अनुमानकालभावी हि योऽर्थः स न स्मरणगोचरः। अन्यथानुमानस्य वैयर्थ्यमर्थादापतति। परोक्षतया तस्य स्मृत्यैव ग्रहणात्। परोक्षतामेव तस्य स्मृतिरवगच्छति न तदातनसत्तामिति चेत्। कस्य तर्हि सा परोक्षता प्रतीयते। पूर्वगृहीतस्येति चेत्। तत्कालावधेरेव वस्तुनः। तर्हि स्मरणं परोक्षतां वेत्ति नान्यस्येति व्यर्थकमेवं स्मरणम्। स्मृत्वा परोक्षताम्प्रवर्त्तते ततः प्रमाणं स्मरणन्नानुमानप्रवर्त्तनादिति चेत्। स्मृत्वा प्रवर्त्तत इति विचार्यमेतत्। किन्तत्कालसत्तायां प्रवर्त्ततेऽथैदानीन्तन्यामिति।

तत्काले यदि वर्त्तेत प्राप्तुमेतन्न शक्यते। प्राप्त्यर्थी च प्रवर्त्तेत प्रेक्षावत्तैव नान्यथा ॥५१७॥

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्यों नहीं ?

समाधान—स्मृति की प्रमाणता युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अनुमान में पक्षधर्मतादि के ग्रहण द्वारा अभिहित अर्थ का ज्ञान हो जाने पर अनुमान में प्रमाणता सिद्ध हो जाती है, किन्तु स्मृति में वैसा सम्भव नहीं। धूमादि कार्य-दर्शन के अनन्तर उपजायमान अनुमान परोक्षार्थ में प्रमाण हो जाता है। वह्नि रूप अर्थ की विद्यमानता जिस अनुमान से सिद्ध होती है, स्मृति के आधार पर उसकी विद्यमानता सिद्ध न होकर कदाचित् सत्ता के ज्ञान मात्र से स्मृति उत्पन्न हो जाती है, किन्तु उतने मात्र से प्रवृत्ति नहीं होती। प्रयोजक वह्नि ज्ञान के विषयीभूत वह्नि की विद्यमानता उसके ज्ञान की प्रमाणता में आवश्यक है। वह अनुमान से होती है, स्मृति से नहीं ॥ ५१५ ॥

प्रयोजक पदार्थ कारण ही होता है, अन्वय-व्यतिरेक का व्यतिक्रम होने पर कारणत्व नहीं माना जाता है, अपितु 'यत् सत्त्वे यत् यद् अभावे यदभावा तत् तस्य कारणम्' इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक पदार्थ सापेक्ष कार्य माना जाता है। यह भी एक यहाँ जिज्ञासा होती है कि स्मरण के द्वारा परोक्षत्व किस वस्तु में ज्ञापित होता है। इसका उत्तर है जिसका अनुमान के द्वारा अनुगम होता है, वह स्मरण का विषय नहीं ॥५१६॥ अर्थात् अनुमानकाल में होने वाला पदार्थ स्मरण का विषय नहीं होता है, अन्यथा अनुमान व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि वह पदार्थ परोक्षतया स्मृति के द्वारा विहित हो जाता है। यदि कहा जाय परोक्षता ही स्मृति के द्वारा अवगत होती है, तत्काल सत्ता नहीं। तब प्रश्न उठता है स्मृति के द्वारा परोक्षता किसकी अवगत होती है ? यदि कहा जाय पूर्व गृहीत की स्मृति होती है तब पूर्व गृहीत पदार्थ के ग्रहण से वर्तमानकाल में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि प्रवृत्ति होती है, तब स्मरण को प्रमाण ही मानना होगा, किन्तु स्मृति के द्वारा प्रवृत्ति होती है। यह विचारणीय है कि तत्काल सत्ता के निश्चय होने से प्रवृत्ति होती है अथवा 'इदानीन्तन' सत्ता निश्चय से। पूर्वकालीन सत्ता की स्मृति से वर्तमान प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि वस्तु को

अर्थात्मा स्वात्मभूतो हि तेषां तैरनुभूयते ।
तेनार्थानुभवख्यातिरालम्बवस्तु तदाभता ॥ २६७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

इदानीन्तनमस्तित्वन्न स्मृत्या ज्ञायते ततः कथम्प्रमाणता । पूर्वकालेऽर्थे परोक्षता ज्ञायते स च प्राप्तुमशक्यः । अथवा प्रत्यक्षेणैव परोक्षताग्रहणम् । तत्कालावधेर्ग्रहणं यत् प्रत्यक्षेण तदेवोत्तरकालापेक्षया परोक्षत्वमिति । तदाकारता तु संस्कारबलादस्यात्मभूतैव स्मरणस्य । तथाभूतार्थ एवासाविति चेत् । नार्थताधिमुक् । अधिमोक्षवशादेव तथा तत्त्वव्यवस्थितिः । स्वरूपं हि स्वसंवेदनेन प्रतीयमानमर्थ इति वा नार्थ इति वा न व्यवस्थामाप्नोति । तदुत्तरयाधिमुक्त्या तथा व्यवस्था । सा च नास्ति स्मरणाकारे । तथा हि । सोऽर्थो योऽर्थो दृष्टः पूर्वमयन्तु पुनराकार इदानीं भावनाबलादेवोदयभागिति प्रतियन्ति प्रेक्षावन्तः ।

यथास्वसंवेदनसंस्कारादुपजायमाना स्मृतिरात्मसंक्रान्तार्थाकारस्य सांवेदिका तथा सुखादयोऽपि । यतस्तेऽपि भावनासंस्कारसमुपनतान्तरं स्प्रष्टव्यविशेषस्यात्मभूतस्यैव वेदकाः । कथन्तर्हि रूपादिकार्थापेक्षणं तद्द्वारेण तदनुरूपवासनाप्रबोधात् ।

स्पृश्यसंसर्गसंभूतसुखाकारप्रवेदनात् । संस्कारो जायते तस्य प्रबोधस्तस्य दृष्टितः ॥५१८॥

आलिङ्गनसुखसंवेदनसंस्कारो हि गाढतरमुपजातः पुनस्तादृशरूपदर्शनात् प्रबोधमुपगच्छंस्तथाभूतमेवान्तरस्पर्शसुखसंवेदनं जनयति । एतदेव दर्शयति—अर्थात्मा स्वात्मभूतो हीति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्राप्त करने के लिए ही प्रेक्षावान की प्रवृत्ति होती है ॥५१७॥ जबकि स्मृति के द्वारा पदार्थ की वर्तमान सत्ता का निश्चय होता तब स्मृति में प्रमाणता कैसे ? परोक्षता के द्वारा पूर्वकालीन पदार्थ की सत्ता का निश्चय होता है । पूर्वकालीन पदार्थ इस समय प्राप्त नहीं किया जा सकता अथवा प्रत्यक्ष के द्वारा ही परोक्षता का कारण होता है । प्रत्यक्ष के द्वारा तत्कालीन सत्ता का ग्रहण उत्तरकाल की अपेक्षा परोक्षता माना जाता है । तदाकारता संस्कार के बल पर जो प्रतीत होती हैं, वह स्मरण का स्वरूप ही है । यदि तथाभूत अर्थ ही प्रतीत होता है, तब अर्थता अधिमुक्ति नहीं होगी । अधिमोक्ष के द्वारा ही तत्त्व की व्यवस्था होती है । स्वरूप स्वसंवेद्य प्रतीयमान अर्थ में ही होता है अथवा अनर्थ में ऐसी व्यवस्था प्राप्त नहीं होती । उसके उत्तरकाल में अभिमुक्ति के द्वारा वैसी व्यवस्था होती है, वह स्मरण के आकार में नहीं, क्योंकि जो अर्थ पूर्व में देखा गया, वह इस समय नहीं । वर्तमान आकार संस्कार के आधार पर ही बनता है, ऐसा ही प्रेक्षावान पुरुषों का निश्चय है ।

जैसे स्वसंवेदनजनित उत्पन्न संस्कार से स्मृति होती है वैसे ही आत्मसंक्रान्त अर्थाकार की भी होती है । सुखादि भी वैसे ही हैं, क्योंकि वे भी भावना रूप संस्कार से जनित हैं । अतः आत्मस्वरूप वस्तु के ही भेदक होते हैं, तब रूपादि अर्थों की अपेक्षा और उसके अनुरूप वासना प्रबोध से होती है । स्पृश्य वस्तु के सांसर्ग से सम्भूत सुखाकार की प्रवेदना से संस्कार उत्पन्न होता है और उसका प्रबोधन दृष्टि-विशेष से होता है ॥ ५१८ ॥

रूपवती वस्तु के आलिङ्गन से जनित गाढतर संस्कार पुनः तादृश रूप-दर्शन से

सुखादि की अर्थाकारता ज्ञान का स्वरूप होने के कारण ज्ञान के द्वारा अनुभूत होती है। अर्थात् यद्यपि सुखादि ज्ञानात्मक हैं, अतएव ज्ञान के द्वारा अनुभूत होते हैं। सुखादिगत ज्ञानानुभाव्यत्व रूप उपाधि के द्वारा आलम्बनरूपता प्रतीत होती है, वस्तुतः बाह्यार्थं बाध्य के अनुसार न तो सुखादि में आलम्ब्यमानता या विषयता होती है और न ज्ञान में सालम्बनता। ज्ञान में ही सुखादि स्वरूपता होने के कारण सुखादि बोधकता या सालम्बनता प्रतीत मात्र होती है ।। २६७ ।।

वार्तिकालङ्कारः

स्वात्मभूत एवान्तरस्प्रष्टव्यविशेषः सुखादिभिरनुभूयते। तत्र एवार्थानुभवख्यातिः। अन्यथा परसंवेदने तेनेति न सम्बन्धो भवेत्। तथा हि—

स्वरूपानुभवो युक्तः स्वरूपं हेतुतो यतः। परस्य रूपानुभवः कथं तस्य पृथक्कृतः ।।५१९।।
अन्यरूपं हि नान्यस्य कथन्तस्मात् प्रकाशते। प्रदीपात्तु तथाभूतभास्वरत्वोदयो घटे ।।५२०।।
न तु प्रकाशाद् विज्ञानात् प्रकाशोऽर्थः प्रजायते। कार्यतायां हि तज्ज्ञानादवबोधः कथम्भवेत् ।।५२१।।

यस्य हि यत्कार्यन्न तेन कारणेन तदवगम्यत इति न्यायः। अन्यथावबोधादुपजायमानः कायिको व्यापारस्तेन वेदितो भवेत्। तस्मादात्मरूपमेव वेदयितुं युक्तम्। अथोन्मुखीभावाद्धि वेदनं न स्वसंवेदनात्। तदयुक्तम्—

स्वरूपमुन्मुखीभावः स्वहेतोर्यदि जायते। अर्थस्यात्र किमायातं येनासौ वेदितो भवेत् ।।५२२।।
अर्थादप्युन्मुखीभावस्तस्येत्येवमथोच्यते। चक्षुषोऽप्युन्मुखीभावस्तस्य तद्वेदनन्न किम् ।।५२३।।
चक्षुषोऽर्थोन्मुखत्वञ्चेदर्थस्येति कथं मतिः। अर्थोन्मुख्यप्रतीतिस्तु प्रतीतेऽर्थे भवेदियम् ।।५२४।।

न ह्यप्रतीयमाने स्वरूपेणार्थे तदुन्मुखताप्रतीतिः प्रतीयते चेदर्थः स्वयं किमिदानीं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उद्बुद्ध होकर वैसे ही आन्तर स्पर्श-सुख को उत्पन्न करते हैं। इसी तथ्य को दिखाया गया है—अर्थात्मा इत्यादि से। अर्थात् स्वात्मभूत वस्तु-विशेष के स्पर्श से सुख अनुभूत होता है। वही अर्थानुभव-ख्याति है, अन्यथा पर-संवेदन मानने पर उस वस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं होगा। अर्थात् ज्ञानस्वरूप वस्तु का स्वरूप-सुख युक्ति-युक्त है। पर-संवेद्य वस्तु का स्वरूप-सुख क्योंकर होगा ? ।।५१९।। अन्य का स्वरूप अन्य प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता। प्रदीप-प्रभा घटाकार होकर ही घट का प्रकाश करती है, अन्यथा नहीं ।।५२०।। प्रकाशात्मक विज्ञान से प्रकाशार्थ उत्पन्न नहीं होता। कार्यता (जन्यता) मानने पर उसका अवबोध क्योंकर होगा ।।५२१।।

जिसका जो कार्य होता है, उस कारण के द्वारा वह अवगत नहीं होता, ऐसा प्रसिद्ध है, लौकिकन्याय। अन्यथा अवबोध से उपजायमान कायिक व्यापार के द्वारा वह अवबोधित होगा। अतः ज्ञान-स्वरूप-वस्तु ही ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होती है। यह जो कहा गया कि उन्मुखीभाव के द्वारा ही वस्तु का प्रकाशन होता है, स्वसंवेदन के द्वारा नहीं, वह कहना अयुक्त है, क्योंकि स्वरूप का उन्मुखीभाव यदि स्वात्मक हेतु के द्वारा होता है, तब उस पदार्थ में क्या विशेषता होती है कि वह उससे अवबोधित हो जाता है ।।५२२।। यदि कहा जाता है कि पदार्थ के सम्बन्ध से पदार्थ का उन्मुखीभाव होने पर अवबोध होता है तब चक्षु का भी उन्मुखीभाव होने पर उसका वेदन क्यों नहीं होता ।।५२३।। चक्षु का उन्मुखीभाव यदि अर्थ का उन्मुखीभाव है तो वह कैसे ? अर्थ की उन्मुखता अर्थज्ञान के पश्चात् ही होगी ।।५२४।। अर्थात् स्वरूपतः अर्थ की प्रतीति न होने पर उसकी उन्मुखता प्रतीत नहीं होती। यदि अर्थ स्वयं प्रतीत

साङ्ख्यगतनिराकरणम्

कश्चिद् बहिःस्थितानेव सुखादीनप्रचेतनान् ।

ग्राह्यानाह न तस्यापि सकृद् युक्तो द्वयग्रहः ॥ २६८ ॥

सांख्याचार्य सुखादि विषय को प्रकृति के कार्यभूत सुख, दुःख, मोह, रूप को बाह्य स्थिति मानते हैं। स्वच्छ बुद्धि के द्वारा उनका ग्रहण माना जाता है। उनके मत में सुखादि के साथ-साथ निम्नतः ज्ञान का ग्रहण न होकर ज्ञानरहित केवल सुखादि का ग्रहण होना चाहिए, वह होता नहीं। अतः सुखादि को ज्ञानस्वरूप मानना अनिवार्य है ॥ २६८ ॥

सुखाद्यभिन्नरूपत्वान्नीलादेश्चेद् सकृद् ग्रहः ।

भिन्नावभासिनोर्ग्राह्यं चेतसोस्तदभेदि किम् ॥ २६९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

संवेदनान्मुख्येन । न खलु सिद्धोपस्थायी तदुपयोगी । तेन विनार्थस्य प्रतिभासनाप्रतीतेरिति चेत् । तेन तर्हि सहैव प्रतिभासमानतास्तु केवलं न तु ततः परम् । ततस्तस्य ग्रहणमिति याचितकमण्डनमेतत् । अपरः—कश्चिद् बहिःस्थितानेवेति ।

नियमेनेति वाक्यशेषः । न हि नीलादिवत् स्वतन्त्रमालम्बननियमेनान्येनैव सह नीलादिना सुखादि गृह्यत इति कारणमस्ति । अथ सुखदुःखादिरूपप्रधानविपरिणतिरूपा एते सुखादयः । तथा हि प्रक्रिया । प्रधानान्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्च पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीति । एतावदेव सकलं विकारजातम् । प्रकृतिस्वरूपान्वयी च विकारः । तद्यथा मृद्विकारघटादिकः । अत्रोच्यते—सुखाद्यभिन्नरूपत्वादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता है, तब ज्ञान की उन्मुखता से क्या लाभ ? अर्थात् सिद्ध वस्तु में साधन का क्या उपयोग, क्योंकि उसके बिना ही अर्थ का प्रतिभास हो जाता है। ज्ञान प्रकाश के साथ ही साथ अर्थ का प्रकाश हो जाना ही उचिततर है, क्योंकि अर्थ ज्ञान-स्वरूप है। ज्ञान से अन्य मानने पर ज्ञान के प्रकाश से अर्थ का प्रकाश होना वैसा ही है, जैसे कि कोई युवती दूसरे से आभूषण माँगकर अपना अलङ्कार बनाती है।

सांख्याचार्यों का कहना है कि बाह्य सुखादि का ग्रहण आन्तरिक ज्ञान के द्वारा होता है। वहाँ नियमतः वैसा माना जाता है, क्योंकि नीलादि विषयों के साथ ही सुखादि का भान होता है। सुखादि को ज्ञान से भिन्न बाह्य अवस्थित मानने पर विषय और सुखादि का भेद प्रतीत होना चाहिए। यदि सुख-दुःख मोहात्मक प्रधान तत्त्व का परिणाम सुखादि को माना जाता है, जैसा कि सांख्याचार्यों का कहना है कि प्रधान से महान्, महान् से अहङ्कार और अहङ्कार से पाँच तनमात्राएं, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन उत्पन्न होता है तथा पञ्च तनमात्राओं से पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में ऐसा ही कहा है—

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।"

इतना ही समस्त विकार वर्ग है। विकार सदैव प्रकृति-स्वरूप होता है, जैसे मृत् के

सुखादि का भेद होने के कारण नीलादि का सुखादि के साथ युगपद् ग्रहण माना जाता है। यदि सुखादि और नीलादि का आकार-भेद है, तब उनका भेद क्यों माना जाता है ॥ २६६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सुखादिरूपप्रधानरूपा एव सुखादय इति कुत एतत्। तद्रूपान्वयदर्शनादिति चेत्। तथा हि मृद्विकारास्तदन्वयिनो दृश्यन्ते।

नन्वनैकान्तिकमेतत्। भेरीदण्डसंयोगादुपजायते शब्दो न च भेरीदण्डरूपान्वयी। यद्यपि वायोरणूनां शब्दस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते। तथापि न सिद्धमेतत्। अथ मृद्विकारवत् समानजातीयमत्रापि कारणं परिकल्प्यते। एवन्तर्हि यत्किञ्चित् कार्यन्तद्रूपं तत्सर्वं विजातीयाद् यथा शब्दादि। कार्यञ्च घटादिस्तदपि विजातीयादेव। कुलालादिकञ्च विजातीयम्। सत्सजातीयादेव सकलमुदयवदिति न व्याप्तिः। सजातीयविजातीयाद्वोदयवदिति विपर्ययसिद्धिः। नासहायं सजातीयं कारणन्दृश्यते क्वचित्।

अथ सकलमेव सुखाद्यन्वितं दृश्यते। तेन सुखादिस्वभावमेव कारणं मृद्विकाराणां मृत्पिण्डवत्। उक्तमत्र सहायस्याप्यपरस्य कारणत्वात्। तत्समानासमानजातीयं प्रसक्त-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विकार रूप घटादि मृदात्मक होते हैं।

सांख्याचार्यों के ऐसे वक्तव्य पर हमारा कहना यह है कि सुखादि से अभिन्न होने के कारण नीलादि का युगपद् ग्रहण होता है, तब भिन्नावभासी एवं भिन्नाकार के सुख एवं नीलादि ज्ञान को अभेदी क्यों माना जाता है ? इन दोनों भिन्न मनोग्राह्य पदार्थों का एकत्व कैसे ? अर्थात् सुखादि-स्वरूप प्रधान से अभिन्न सुखादि को क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर है—तद्रूपता का अन्वय देखकर तद्रूपता का निर्णय किया जाता है। जैसे—घटादि में मृद्रूपता का अन्वय देखकर मृद्रूपता का निर्णय किया जाता है।

कथित न्याय का व्यभिचार—कथित न्याय व्यभिचारी है, क्योंकि भेरी-दण्ड-संयोग से जनित शब्द भेरी-दण्ड के स्वरूप से अन्वित नहीं होता। अतः प्रत्येक जनित पदार्थ अपने जनक पदार्थ के रूप से अन्वित क्यों होगा ? यद्यपि भेरी-दण्ड आघात से वायवी परमाणुओं में सूक्ष्म जो शब्द उत्पन्न होता है, उससे आकाश में महान् शब्द उत्पन्न होता है। उसमें उसी शब्दत्व का अन्वय देखा जाता है जो परमाणुओं के संघटन से शब्द उत्पन्न होता है। अतः उस उक्त नियम का व्यभिचार नहीं। तथापि यह तथ्य सिद्ध नहीं। यदि मृद्विकार के समान जातीय कारण की कल्पना यहाँ भी की जाती है तब यत्किञ्चित् कार्य विजातीय से उत्पन्न होकर भी सजातीय हो जाता है। घटादि कार्य भी अपने विजातीय दण्डादि से उत्पन्न होकर तद्रूप नहीं होते। जैसे कि घट के जनकीभूत कुलालादि विजातीय होते हैं और कपालादि सजातीय। तब भी समस्त कार्य सजातीय कारणों से ही उत्पन्न होता है, ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। अपितु सजातीय और विजातीय कारण से कार्य की सिद्धि देखी जाती है। विजातीय से असहकृत सजातीय मात्र से कोई कार्य नहीं देखा जाता।

यदि कहा जाय कि सकल कार्य वर्ग-सुखादि से अन्वित देखा जाता है। अतः उसका कारण सुखादि से अन्वित होना चाहिए। इसका भी उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि विजातीय सहकृत सजातीय को कारण माना जाता है, केवल सजातीय को

तस्याविशेषे बाह्यस्य भावनातारतम्यतः ।
तारतम्यञ्च बुद्धौ स्यान्न प्रीतिपरितापयोः ॥ २७० ॥

बाह्य नील-पीतादि विषय यदि सुखादि रूप हैं, तब सुखादि में अनुकूलरूपता (प्रीतिरूपता) और नीलादि में अननुकूलरूपता (परितापरूपता) का आकारभेद क्यों ॥ २७० ॥

वार्तिकालङ्कारः

ङ्कारणमिति न प्रधानसिद्धिः ।

अपि च । सुखादीनामपि ग्राह्यताद्यन्वयादपरं ग्राह्यं प्रधानं सिध्यति । ततः पर्यन्ते ग्राह्यतावस्तुत्वमित्यादि कारणं स्यात् । अथ तदपि सुखाद्यात्मकम् । सुखाद्यात्मकत्वादन्वयिनः पदार्थादित्वस्य । एवन्तर्हि घटाद्यात्मकत्वात् सुखादीनां घटाद्यात्मकत्वं प्रधानस्य प्रसक्तम् । यथेष्यते एव सर्वात्मकत्वन्तस्य । यदि सर्व एव विकारग्रामः प्रधानात्मकः तेनैवात्मरूपेण परस्परव्यावृत्तेन वेद्यते क इवात्र प्रकृतिविकारभावः । आविर्भावतिरोभावमात्रकमिति चेत् आविर्भावो विकारस्तिरोभावः प्रकृतिः । कोऽयमाविर्भावो नाम कोऽयन्तिरोभावः । व्यक्तिराविर्भावो नाम । कोऽयन्तिरोभावः । व्यक्तिराविर्भावस्तदभावस्तिरोभाव इति चेत् । केयं व्यक्तिः । दृश्यात्मता । तदभावोऽनुपलब्धिस्तिरोभाव इति ।

ननु सिद्धस्वभावे प्रमाणे न तस्यानुपलब्धिरिति शक्यम् । असिद्धौ त्वभाव एवोत्पत्तिरिति न प्रधानसिद्धिः । यदि चानुपलब्धा घटादयः पूर्वमेवंभूता एव तिष्ठन्ति किम्प्रधानकारणपरिकल्पनेन । सुखादिरूपतैवैषां प्रधानमिति चेत्, न, सुखादिरूपताया भेदेन ग्रहणात् । भिन्नावभासि मनोग्राह्यञ्च कथमभिन्नम् । अपि च—तस्याविशेषे बाह्यस्येति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं । इसके आधार पर सजातीय कारणभूत प्रधान की सिद्धि नहीं होती ।

अपितु सुखादि में ग्राह्यता आदि का अन्वय देखकर अपर ग्राह्यरूप अन्य प्रधान की सिद्धि प्रसक्त होती है । इसी प्रकार सुखादि घटादि-आत्मक हैं । अतः प्रधान में घटाद्यात्मक प्रशक्त होता है । यदि प्रधान में सर्वात्मकत्व अभीष्ट ही है, क्योंकि समस्त विकार-समूह प्रधान-आत्मक है और उसी रूप में परस्पर व्यावृत्त प्रदीप होता है । तब प्रकृति विकारभाव कैसा ? यदि कहा जाय कि आविर्भाव-तिरोभावात्मकत्व ही प्रकृति-विकारभाव है । अर्थात् आविर्भाव विकार है और तिरोभाव प्रकृति । तब प्रश्न होता है कि यह आविर्भाव क्या है ? और तिरोभाव क्या ? अभिव्यक्ति आविर्भाव है, किन्तु तिरोभाव क्या ? अभिव्यक्ति आविर्भाव है और उसका अभाव तिरोभाव । तब प्रश्न उठता है कि यह अभिव्यक्ति क्या ? उत्तर मिलता है कि दृश्यात्मता आविर्भाव है और उसका अभाव या अनुपलब्धि तिरोभाव है ।

शंका होती है कि प्रमाण-सिद्धक स्वभाव है, उसकी अनुपलब्धि नहीं कह सकते । स्वभाव की असिद्धि होने पर प्रधान की असिद्धि नहीं होती । यदि अनुपलब्धि से पहले भी घटादि ही इसी प्रकार बने रहते हैं, तब प्रधान की क्या आवश्यकता ? घटादि की सुखरूपता ही यदि प्रधानरूपता मानी जाय तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुखादिरूपता घटादि से भिन्न प्रतीत होती है । भिन्नावभासित और मनोग्राही-वस्तु अभिन्न

सुखाद्यात्मतया बुद्धेरपि यद्यविरोधिता ।
स इदानीं कथं बाह्यः सुखाद्यात्मेति गम्यते ? ॥ २७१ ॥

बुद्धि भी प्रधान का परिणाम है तथापि भावन-तारतम्य के कारण सुखादि में प्रीतिरूपता और नीलादि में परितापरूपता मानी जाती है, तब अनुभूयमान सुख अन्यत्र असम्भव होने के कारण बाह्य रूप में व्यवस्थित होगा ॥ २७१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि बाह्यनीलादिरूपा एव सुखादयः । न तर्हि नीलादिवदेव भावनाविशेषतः प्रीतिपरितापादिविशेषसम्भवः । न खलु नीलादिस्वरूपनिर्भासो भावनाविशेषतो विशिष्यमाण उपलब्धः । तथा चेद् भावनान्वयमेव सकलमान्तरम्बाह्यञ्चेति भावनाबलप्रभवमतत्त्वमेव सकलं जगदित्यापतितम् । बहीरूपेण च प्रतिभासप्रसङ्गो यदि बाह्याः सुखादयः । भ्रान्तिरियमिति चेत्, न, भ्रान्तिकारणादर्शनादबाधनाच्च । तथा हि— सुखाद्यात्मतयेति ॥ २७१ ॥

स्यादयमभिप्रायः । प्रधानपरिणतिस्वभावा यथा शब्दादयस्तथा बुद्धिरपि । अत आत्मना बुद्धिरूपसुखादिवेदने नियमेनाबहीरूपवेदनम् । भावनातारतम्यतो बुद्धितारतम्ये सुखादीनामपि तदात्मना तारतम्यम् । भावना हि नामाहंकारमनःप्रवर्त्तिता । स चाहङ्कारो बुद्धावहमिति । मनसश्च सङ्कल्पात्मकत्वात् संकल्पकमत एव भूयो भूयो भावना । ततो बुद्धिः सात्त्विकाहङ्कारपराधीना सुखात्मताप्रतिपन्ना सती तथा प्रकाशते । यद्येवम्बाह्यरूपाः सुखादय इति कथमवगतिः । बाह्यानामपि शब्दादीनां प्रधानपरिणतिरूपत्वादित्यपि न सङ्गतः समाधिः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कैसे ?

'अपि च' यदि बाह्य नीलादिरूप ही सुखादि हैं, तब नीलादि के समान भावना-विशेष के आधार पर प्रीति-परितापादि-रूपता सुखादि में सिद्ध न होगी, क्योंकि नीलादि स्वरूपता में निर्भास भावना-विशेष से नहीं होता । यदि वैसा माना जाता है तब भावनात्मकता ही समस्त आन्तर और बाह्य प्रपञ्च में सिद्ध होगी, क्योंकि भावना के बल पर ही उसका प्रभाव होता है । बाह्यरूप से प्रतिभास होता है, यदि सुखादि बाह्य माने जाते हैं । आन्तरिक सुखादि में बाह्यरूपता की भ्रान्ति नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रान्ति का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता और उसका बाध भी नहीं होता । अतः उसे भ्रान्ति क्योंकर कहेंगे ?

'सुखादिकात्मा मया बुद्धिः' इस वार्त्तिक का अभिप्राय यह है कि यदि शब्दादि प्रधान के परिणामस्वरूप हैं और बुद्धि भी वैसी ही है । अतः बुद्धि रूप सुखादि का अबहिर रूप अनुभूत होता है । भावना तारतम्य के द्वारा बुद्धि में तारतम्य और उसके माध्यम से सुखादि में तारतम्य माना जाता है । भावना अहङ्कार और मन के द्वारा प्रवर्तित होती है, वह अहङ्कार बुद्धि में अहंकारता पैदा करता है । मानस संकल्प ही पुनः-पुनः उत्पन्न होकर भावना कहलाता है । अतः बुद्धि सात्त्विक अहंकार के पराधीन होती है और वही सुखादि के रूप में अवभासित होती है । यदि ऐसा है तब सुखादि में बाह्यरूपता की प्रतीति क्यों ? इसका यदि समाधान किया जाता कि बाह्य शब्दादि प्रधान के परिणाम होने के कारण वैसे प्रतीत होते हैं, तो वह समाधान संगत

अग्राह्यग्राहकत्वाच्चेद् भिन्नजातीययोः पुमान् ।
अग्राहकः स्यात् सर्वस्य ततो हीयेत भोक्तृता ॥ २७२ ॥

जब बुद्धि भी सुखाद्यात्मक मानी जाती है, तब सुखादि की बाह्य कल्पना कैसे होगी ? बाह्य नीलादि रूप असुखरूप हैं, तथापि चेतन पुरुष निर्गुण असुखादिरूप है। भिन्न जाति पदार्थों में ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं होता, तब आत्मा सुखादि का ग्राहक कैसे होगा ? फलतः आत्मा में भोक्तृत्व नहीं बन सकेगा, क्योंकि सुखादि ग्राह्यकत्व ही भोक्तृत्व माना जाता है ॥ २७२ ॥

वार्त्तिकालङ्कारः

एतदेव कुतो जातं प्रधानपरिणामतः । शब्दाद्याः सम्भवन्त्येते न तद्रूपान्वयेक्षणम् ॥ ५२५ ॥

यदि शब्दादीनां बुद्धिवत् सुखाद्यन्वयः प्रमाणतोऽवधार्येत तदा कारणान्वयि कार्यमिति तथाभूतकारणजन्यतां जानीयाज्जगन्निवासी जनः । सुखादिरूपप्रधानविपरिणतेरेव तथा निश्चय इति चेत् । इतरेतराश्रयणमेवैतत् । तथा हि—

प्रधानपरिणामत्वे ज्ञातेऽस्य स्यात् सुखादिता । सुखादिता परिज्ञानाच्छब्दादेस्तत्त्वनिश्चयः ॥५२६॥

प्रधानपरिणामित्वे शब्दादीनां सुखाद्यन्वयः । सुखाद्यन्वये च निश्चिते प्रधान-परिणतिरूपतेत्यैकासिद्धावुभयस्याप्रसिद्धिः ।

अपि च । यदि नामाग्निपरिणतिरूपता धूमस्य तथापि किन्तस्योज्ज्वलत्वं प्रसिध्यति । प्रत्यक्षबाधितत्वान्नैवमिति चेत् । समानं शब्दादिषु ।

स्यादेतद् । यदि शब्दादयो न सुखरूपाः स्युस्तेषां ग्राहिका न बुद्धिः स्याद् भिन्न-जातीययोर्ग्राह्यग्राहकताऽयोगात् । अत्रोच्यते—अग्राह्यग्राहकत्वाच्चेदिति ॥ २७२ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं, क्योंकि ये शब्दादि किससे उत्पन्न होते हैं ? इसका यदि उत्तर दिया जाता है—प्रधानपरिणामतः, तो वह उचित नहीं, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती ॥५२५॥ यदि शब्दादि का बुद्धि के समान सुखादि में अन्वय प्रमाणतः निश्चित होता है तब कारण से कार्यन्वयित होता है । अतः तथाभूत कारण की जन्यता जगत्-निवासी मनुष्य को अवगत होनी चाहिए। सुखादि रूप प्रधान का परिणाम होने के कारण यदि वैसा माना जाता है, तब अन्योन्याश्रय प्रसक्त होता है । अर्थात् प्रधान की परिणामता का ज्ञान होने पर सुखादिता का अनुभव और सुखादिता का ज्ञान होने पर शब्दादि में प्रधान परिणामता का निश्चय होगा ॥५२६॥ अर्थात् अन्योन्याश्रय का स्वरूप यही है कि प्रधान-परिणामता का ज्ञान होने पर श्रद्धादि में सुखादि का अन्वय और सुखादि के अन्वय का निश्चय होने पर प्रधान-परिणामता अवगत होगी। इनमें से एक की असिद्धि होने पर दोनों की असिद्धि हो जायेगी ।

'अपि च' यदि धूम, अग्नि का परिणाम है तो क्या इतने से उसमें उज्ज्वलत्व सिद्ध हो जायेगा । यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष प्रमाण से धूम में उज्ज्वलत्व बाधित होने के कारण वैसा नहीं मान सकते तो वैसा ही शब्दादि के विषय में कहा जा सकता है ।

शंका—यदि शब्दादि सुख रूप नहीं है तब उनकी ग्राह्यका बुद्धि नहीं होगी, क्योंकि भिन्न जाति ग्राह्य-ग्राहकभाव युक्त नहीं मानी जाती ।

समाधान—उक्त शंका का समाधान 'अग्राह्यग्राहकत्वात्' इस वार्तिक से किया गया है । अर्थात् पुरुष शब्दादि समान जाति नहीं, क्योंकि वह अप्रधानात्मक है ।

कार्यकारणतानेन प्रत्युक्ताऽकार्यकारणे ।
ग्राह्यग्राहकताभावाद् भावेऽन्यत्रापि सा भवेत् ॥ २७३ ॥

सांख्य-मत के अनुसार कार्य और कारण में साजात्य होता है, अतः बुद्धि के कारणीभूत रूपादि विषयों में सुखाद्यात्मकत्व होने के कारण उनके ज्ञानों में भी सुखाद्यात्मकत्व होना चाहिए। वह कार्य-कारणभाव का नियम अतिप्रसक्त होने के कारण प्रत्युक्त (खण्डित) हो जाता है, क्योंकि भोक्ता पुरुष सुखादि के ग्रहण का कारण है किन्तु सुखाद्यात्मक नहीं ॥ २७३ ॥

तस्मात् ते आन्तरा एव संवेद्यत्वाच्च चेतनाः ।
संवेदनं न यद्रूपं न हि तत् तस्य वेदनम् ॥ २७४ ॥

बाह्य रूपादि पदार्थ केवल सुखादि के उपधायकमात्र हैं, सुखादिस्वरूप नहीं, सुखादि तो आन्तरिक ज्ञानस्वरूप ही हैं। संवेद्य होने के कारण सुखादि चेतनात्मक हैं और ज्ञान के (आकार) जो संवेदनात्मक नहीं, उसको संवेद्य नहीं माना जाता ॥२७४॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि पुमान् शब्दादिसमानजातीयस्तस्याप्रधानात्मकत्वात् । सुखादीनान्तु विपर्ययात् । भवतु तस्याग्राहकत्वमिति चेत्, न, भोक्तृत्वाभावप्रसङ्गात् । भोक्ता हि पुरुष इष्यते । न चानुभवादपरं भोक्तृत्वम् । तथा हि—कार्यकारणतानेन प्रत्युक्ता इति ।

कुतः—अकार्यकारण इति ।

बुद्धिशब्दादिसुखे ग्राह्यग्राहकताया भावादेव । यतो नीलादिः स्वाकारार्पणेन बुद्धिजननाद् ग्राह्यो नान्यथा ग्राह्यता कार्यकारणताभावात् । ततो ग्राह्यतयैव कार्यकारणता सिध्यति । सा च ग्राह्यता कार्यत्वदायिका पुंस्यपि शब्दादीनामिति । स चापि कार्यन्तेषां भवेत् । न तथेत्यनेकान्तः ।

अथवा कार्यकारणतानेन प्रत्युक्ता असिद्धत्वादित्याह । अकार्यकारणे बुद्धिसुखे ग्राह्यग्राहकताया भावात् । न हि यत्र ग्राह्यग्राहकभावस्तत्र कार्यकारणभावः । पुरुषशब्दादिसुखयोरिव ।

अथ बुद्धिसुखादीनां ग्राह्यग्राहकभावादेव कार्यकारणभावः । तत्त्वादेव तर्हि सा कार्यकारणता । एवं सति पुंस्यपि कार्यताप्रसङ्ग इत्यनिष्टमनैकान्तिकता वा तेनैव ।

अथवा न कार्यकारणे बुद्धिसुखे ग्राह्यग्राहकताया अभावात् । भावे वा सान्यत्रापि भवेत् । यतः—तस्मात् त आन्तरा एवेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सुखादि में उसका विपर्यय है। यदि पुरुष सुखादि का ग्राहक नहीं, तब उसमें भोक्तृत्व का भाव प्रशक्त होता है। पुरुष भोक्ता माना जाता है। सुखादि ग्राहकत्व को छोड़कर भोक्तृत्व और कुछ भी नहीं। बुद्धि और शब्दादि विषयों में ग्राह्य-ग्राहकता होने के कारण कार्य-कारणभाव है। सांख्य-मत में कार्यकारण सजातीय होता है, शब्दादि कारण सुखाद्यात्मक हैं, अतः बुद्धि भी सुखादिरूप होगी और सुखादि का ग्राहक आत्मा भी सुखादिरूप होगा, किन्तु ऐसा नहीं, तब कार्य और कारण की एक-जातीयता कैसे ? इससे उक्त व्याप्ति में अनैकान्तिकता प्रसक्त होती है। अतः बुद्धि और सुखादि में ग्राह्य-ग्राहकता का अभाव मानना होगा ? सुखादि का अग्राहक आत्मा भोक्ता कैसे होगा ?

अतत्स्वभावोऽनुभवो बौद्धाँस्तान् समवैति चेत् ।
मुक्त्वाध्यक्षस्मृताकारां संवित्तिं बुद्धिरत्र का ॥ २७५ ॥

भावना के तारतम्य से तरतमभाव से प्रतीयमान बुद्ध्यात्मक सुखादि को यदि अतत्स्वभाववाला अनुभव प्रकाशित करना है, तब स्मृताकार बुद्धि को छोड़कर इस संवेदन के समय अन्य कौन बुद्धि अनुभूत होती है, जिसको सुखाद्यात्मकत्व माना जाता है ।। २७५ ।।

वार्तिकालङ्कारः

कुतः—संवेदनं न यद्रूपमिति ।

बाह्यत्वे प्रमाणाभावादान्तरत्वेनैव संवेद्यमानत्वात् ।

यद् यथा वेद्यते वस्तु तत् तथैवोपगम्यते । संवेदनं विना नास्ति भावानाम्भावनिर्णयः ।।५२७।।

न हि यद् रूपं संवेदनन्न भवति तत् तस्य वेदनम् । न च सुखादीनां बाह्यरूपानुरूपं वेदनम् । अन्यथा वेदनमन्यथा पदार्थ इति न युक्तम् । न हि नीलस्य वेदनं पीतस्येति युक्तम् । तथा संवेदनं स्वविद्रूपतया प्रवर्त्तमानं स्वविद्रूपतामेवावेदयते । न हि परेण प्रतीयमानाः सुखादयो वेद्यन्ते । रूपादयस्तु चक्षुरादिवृत्त्या वेद्यन्त इत्यन्तं संवेदनरूपाः । अथवा निराकारेण न गृह्यन्ते सुखादयस्ततः सुखाकारेणैव वेद्यन्त इति सुखाकारता विज्ञानस्य सिद्धा । तदन्तर्गतं सुखम्बोधकरूपमेवेति सिद्धम् । घटादिवदेव तर्हि सुखादयोऽपि बाह्यास्स्युः । न युक्तमेवम् । घटाद्याकारस्य विज्ञानात्मभूतस्यापि परोपधानेनोत्पत्तेर्भावनायास्तत्र व्यापाराप्रतीतेः । सुखाद्याकारस्य भावनाबलतः प्रकृष्यमाणत्वान्न परोपधानाधीनता ।

ननु भावनाधीनतायामपि न संवेदनरूपता सुखादीनामतत्स्वभावेनानुभवेन वेदनात् । न हि भावनातः प्रकृष्यमाणा अपि सुखादयः संवेदनरूपाः । अत्रोच्यते—अतत्स्व-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञान के शब्दादि विषयों की बाह्य सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि आन्तरत्वेन ही वे संवेद्यमान हैं । जो वस्तु जैसी अनुभूत होती है, वह वैसी हो मानी जाती है । संवेदन के बिना भाव-निर्णय नहीं होता ।। ५२७ ।।

जो वस्तु संवेदनस्वरूप नहीं होती, उसका वेदन नहीं होता । सुखादि का बाह्य घटादिरूपों के अनुरूप वेदन नहीं होता, अन्यथा वेदन हो और अन्यथा पदार्थ—यह युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि पीत वस्तु का नीलरूप संवेदन नहीं होता । प्रत्येक संवेदन स्वकीय विद्रूपता का ही वेदन किया करता है । सुखादि पदार्थ भिन्न ज्ञान के द्वारा वेदित नहीं होते । रूपादि बाह्य पदार्थ तो चाक्षुष वृत्तियों के द्वारा वेदित होते हैं, अतः वे असंवेदनरूप हैं । अथवा सुखादि पदार्थ निराकार ज्ञान के द्वारा गृहीत नहीं होते । फलतः विज्ञान में सुखादिकारता सिद्ध होती है । इस प्रकार सुखादि में बोधरूपता सिद्ध हो जाती है । घटादि के समान ही सुखादि को भी बाह्य क्यों न मान लिया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घटादि भी विज्ञान के ही आकार हैं, तथापि ऐन्द्रियकवृत्ति मध्य में उपाधि है, अतः वह आकार औपाधिक है । अर्थात् ज्ञानगत अनादि भावना प्रसूत आकार अनौपाधिक और ऐन्द्रियक वृत्ति से प्रसूत औपाधिक है । सुखादि का आकार भावनाबलतः प्रकृष्यमाण होने से परोपाधि के अनधीन है ।

वार्तिकालङ्कारः

भावोऽनुभव इति ।

स्वसंवेदनत्वे हि सति बोधकरूपता सुखादीनान्न परेणात्मनाऽतदाकारेण । अतः कार्यतापि न भवति पुंसः । तदाकारतोत्पन्नत्वेन तस्य कार्यता भवेत् । न चासावस्ति तस्यातदाकारत्वात् । अतत्स्वभाव एव हि बुद्धचन्तर्गतं सुखादिकमनुभवो वेति समवैति वा । ततः समवायसम्बन्धादेकत्वाभिमानः संवेदनस्य बुद्धेश्च । यतो हि—मुक्त्वाध्यक्षस्मृताकारामिति ।

केयं बुद्धिः ? अध्यवसायः । किमिदं संवेदनम् । अनुभवः ।

ननु भेदे प्रमाणे सत्येवमुच्यते । अध्यवसायः संवेदनमिति च पर्यायमात्रम् । विषयाकारताऽसंवेदनात्मिका बुद्धिः । अनाकारसंवेदनं बोधरूपमिति चेत् । अनाकारं संवेदनमिति नात्र प्रमाणम् । अप्रत्यक्षा संवित् तेन प्रमाणाभाव इति चेत् । अनाकारसंवेदनमिति नात्र प्रमाणम् अप्रत्यक्षा संवित् तेन प्रमाणभाव इति चेत् , न, अभ्युपगमस्याहेतुत्वात् । न हि प्रत्यक्षाभावेऽनुमानमपि । ततोऽभ्युपगम एव न युक्तः । अथापरं संवेदनं विना सुखादीनामवेदनप्रसङ्ग इति चेत् । स्वसंवेदनतया वेदने को विरोधः । तावतैव च समाप्तो व्यवहार इति व्यर्थमपरम् ।

अथापि स्याद् । यदि संवेदनमपरन्नेष्यते तदा मोक्षावस्थायाम् ।

सुखदुःखविनिर्मुक्तो कथं मुक्तो भविष्यति । स्वभावस्य परित्यागे धर्मिलोपः प्रसज्यते ॥५२८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—भावना से उद्भूत होने पर भी सुखादि का आकार ज्ञान का अपना अनौपाधिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सुखादि में असुखस्वरूप विज्ञान की ग्राह्यता मानी जाती है, अतः वे संवेदनरूप क्योंकर माने जा सकते हैं ?

समाधान—सुखादि स्वसंवेद्य होने के कारण बोधरूप ही माने जाते हैं । अतः सुखादि में पुरुष की कार्यता भी नहीं होती । तदाकारता से उत्पन्न होने पर ही तत्कार्यता हो सकती थी, किन्तु वह नहीं, क्योंकि वह तदाकार नहीं । अतत्स्वरूप होने पर भी बुद्धचन्तर्गत सुखादि में अनुभव समवेत है, अतः समवाय सम्बन्ध होने के कारण संवेदन और बुद्धि का एकत्वाभिमान है । यह बुद्धि क्या है ? अध्यवसाय । यह संवेदन क्या है ? अनुभव ।

प्रश्न—अध्यवसाय और संवेदन का भेद होने पर अध्यवसाय की व्याख्या की जा सकती है—अध्यवसायः संवेदनम्, किन्तु इनका भेद नहीं, अपितु दोनों पर्याय हैं, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अध्यवसायः संवेदनम् ?

उत्तर—यदि कहा जाय कि असंवेदनात्मक विषयाकारता बुद्धि और अनाकारसंवेदन बोध है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनाकार संवेदन में कोई प्रमाण नहीं । संवित् अप्रत्यक्ष है, अतः प्रमाणाभाव है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्यक्ष का अभाव होने के कारण अनुमान भी नहीं हो सकता । फलतः वैसा अभ्युपगम ही युक्त नहीं । यदि कहा जाय कि संवेदन के विना सुखादि का अवेदन प्रसक्त होता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुखादि को स्वसंवेदन मान लेने पर अवेदन क्यों प्रसक्त होगा ? इतने मात्र से सभी व्यवहार पूरा हो जाता है, अन्य सब व्यर्थ है ।

यदि कहा जाय कि अपर संवेदन नहीं माना जाता तब मोक्षावस्था में सुख-

ताँस्तानर्थानुपादाय सुखदुःखादिवेदनम् ।

एकमाविर्भवद् दृष्टं न दृष्टं त्वन्यदन्तरा ॥ २७६ ॥

उन-उन इष्टानिष्ट अर्थों को लेकर एक सुखादिवेदन आविर्भूत होता देखा गया, अन्य कोई भी विषय और बुद्धि के अन्तराल में नहीं देखा गया ॥ २७६ ॥

संसर्गादविभागश्चेदयोगोलकवह्निवत् ।

भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना सर्ववस्तुषु ॥ २७७ ॥

यदि अयोगोलक और वह्नि के संसर्ग से बुद्धि और चेतनात्मा के संसर्ग से अविभाग (भेदानुपलम्भ) होता है, तब भेदाकार का अनुभव होने पर भी सभी वस्तुओं में भेदाभेद की व्यवस्था उच्छिन्न हो जाती है ॥ २७७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि स्वात्मा हातुं शक्यः । व्यतिरिक्तास्तु सुखादयो विवेकाध्यारोपगोचरीकृताः शब्दा एव हातुं यदि नामाभेदेनेदानीन्तनावस्थायाम्प्रतीयन्ते । यदि नामेदमिष्टन्तथापि प्रमाणाप्रसिद्धन्न सिध्यति । न हीष्टम्मम न सिध्यतीत्यप्रमाणकोऽर्थो भवति सिद्धविषयः । न च कारणानीष्टिमनुवर्त्तन्ते । न चास्यार्थस्य कारणमस्तीति प्रमाणमत्र किञ्चित् । इदानीमेव भावनाप्तौ लेशस्य हानिदृष्टेः । संवेदनान्तरमेवेदानीन्तथाभूतमुपजायते न तु सुखादेस्संवेदनाद् भेदावगमः । एवं मुक्तावस्थायामपीति न विरोधः । तस्मात्—ताँस्तानर्थानुपादायेति ।

ननु बुद्धिसुखदुःखादय इति व्यपदेशभेदादेव भेदोऽन्यथार्थभेदमन्तरेण कथं व्यपदेशभेदः । न । एकमेवेदं हर्षविषाद्यनेकाकारविवर्त्तम्पश्यामः । तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम् । अवस्थाभेदप्रत्यायनार्थमेव भेदव्यपदेशः । बीजाङ्कुरपत्रनालव्यपदेशवत् । तथा हि—संसर्गादविभागश्चेदिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दुःखादि से विनिर्मुक्त पुरुष को मुक्त क्योंकर कहा जा सकेगा ? स्वभाव का त्याग करने पर धर्मी का लोप ही प्रसक्त होता है ।।५२८।। स्वकीय आत्मा का त्याग कभी नहीं हो सकता । हाँ, उससे भिन्न-भिन्न सुखादि का परित्याग किया जा सकता हैं, क्योंकि वे अविवेक के द्वारा अध्यारोपित मात्र हैं । चाहे वे इदानींतन अवस्था में अभेदेन प्रतीत होते हैं, यदि उनका अभेद अभीष्ट नहीं है, तथापि प्रमाण के अभाव में सिद्ध नहीं होते । किसी वस्तु के लिए "इष्टं मम"—इतना कह देने मात्र से अप्रामाणिक अर्थ सिद्ध नहीं होता । कारण पदार्थ इष्टता के अनुगामी नहीं होते । किसी अप्रसिद्ध वस्तु के कारण की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि भावनामात्र से वस्तु की प्राप्ति का अभाव देखा जाता है । इदानीन्तन संवेदनान्तर ही उत्पन्न होता है, न कि सुखादि के असंवेदन से भेद का अवगम नहीं होता । इसी प्रकार मुक्तवस्था में भी होता है । कोई विरोध नहीं ।

शंका—बुद्धि, सुख, दुःखादि के व्यपदेश-भेद से ही उनका भेद प्रतीत होता है । अर्थ-भेद के बिना व्यपदेश-भेद कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि एक ही पदार्थ हर्ष-विषादादि अनेक आकारों में विवर्तित होकर प्रतीत होता है । केवल उनकी संज्ञाएँ पृथक्-पृथक् कर ली जाती हैं । अवस्था-भेद के प्रत्यायनार्थ वैसे ही भेद-व्यपदेश होता

अभिन्नवेदनस्यैक्यं यन्नैवं तद् विभेदवत् ।
सिध्येदसाधनत्वेऽस्य न सिद्धं भेदसाधनम् ॥ २७८ ॥

जिसके मत में सभी ज्ञान अभिन्नाकार के होते हैं, उसके मत में ज्ञान विषय-भेद के साधक नहीं हो सकते ॥ २७८ ॥

भिन्नाभः सितदुःखादिरभिन्नो बुद्धिवेदने ।
अभिन्नाभे विभिन्ने चेद् भेदाभेदौ किमाश्रयौ ॥ २७९ ॥

सांख्य-मत में सित-दुःखादि अभिन्न ही माने जाते हैं। बुद्धि और वेदन अभिन्नाकार के होकर भी यदि भिन्न माने जाते हैं, तब भेद और अभेद किसके आश्रित रहेंगे ? ॥ २७९ ॥

तिरस्कृतानां पटुनाप्येकदाऽभेददर्शनात् ।
प्रवाहे वित्तिभेदानां सिद्धा भेदव्यवस्थितिः ॥ २८० ॥

वेदनास्कन्ध-संगृहीत पटु चैत्त के द्वारा संज्ञादि का भेद धूमिल हो जाता है किन्तु सुखादि का अभाव होने पर भेद-व्यवस्था वैसे ही प्रकट हो जाती है, जैसे सूर्य के उदय से धूमिल तारक-मण्डल निशा-काल में प्रकट हो जाता है ॥ २८० ॥ स्वसंवेदन-निरूपण समाप्त ।

वार्तिकालङ्कारः

यदि दृष्टान्तोऽस्तीत्येतावतैव संसृष्टद्वयमेतदिति प्रमाणमन्तरेणैव कल्प्यते । तथा सति सर्वत्रैकाकारप्रतिपत्तिके स्तम्भादौ नैकत्वप्रसिद्धिः । एकताप्रसिद्धौ च तत्समुदायरूपस्यानेकत्वस्यापि न प्रसिद्धिरित्युत्सीदेत् सकलभावव्यवस्था । एकानेकव्यतिरेकेण भावस्याभावात् । तथा हि—अभिन्नवेदनस्यैक्य इति ।

तस्मादेकासिद्धौ द्वयोरप्यसिद्धिः । तस्मादभिन्नवेदनमेव तद्विपर्ययादनेकमिति युक्तम् । सांख्यस्य तु—भिन्नाभस्सितदुःखादिरिति ।

अथापि स्याद् । यथा वेदनाचेतनादीनाञ्चैत्तानां महाभूमिकादीनाञ्च परस्परभेद उपलभ्यते । अथवानुपलक्षणेऽपि भेद इष्यते । तथा बुद्धिसंवेदनयोरपि किन्नेष्यते । अभिन्नवेदनमेकमिति चित्तपरिकरभूतैश्चैत्तैरनेकान्तः । तत्रेदमुच्यते—तिरस्कृतानां पटुनापीति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है, जैसे बीज, अङ्कुर, पत्र, नालादि का व्यपदेश (व्यवहार) ।

समाधान—यदि पुष्कल प्रमाण के बिना ही केवल दृष्टान्त के बल पर अभिन्न अर्थ में भेद की कल्पना कर ली जाती है, तब एकाकार में अनुभूत स्तम्भादि में भी भेदत्व प्रसिद्ध हो जायगा, तब एकत्व-प्रसिद्धि सर्वथा उच्छिन्न हो जायगी। एकत्व की अप्रसिद्धि से अनेकत्व की भी प्रसिद्धि न हो सकेगी। फलतः सकल भाव-व्यवस्था ही उच्छिन्न हो जायगी। एक और अनेक के बिना भाव होता ही नहीं। फलतः अभिन्न वेदन एकत्व एवं भिन्न वेदन अनेकत्व का साधक मानना ही युक्ति-युक्त है।

सांख्य-मत—सांख्य मतानुसार यदि वेदन-चेतनादि चैत्त पदार्थों एवं महाभूमिक पदार्थों का परस्पर भेद उपलब्ध होता है। अथवा अनुपलक्षित भेद भी माना जाता है।

(१७) योगिज्ञान-प्रत्यक्ष

प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद् भावनामयम् ।
विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥ २८१ ॥

पहले योगिपुरुषों का जो सत्यविषयक ज्ञान कहा गया, वह भावनामय निर्विकल्पकात्मक प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह स्पष्ट एवं विशदावभासी है ॥ २८१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नैवमभ्युपगम्यते । "चित्तेभ्यश्चैतसा नान्या" इति वचनात् । अभ्युपगम्य परिहारः । यद्यप्येकेन पटुतरवृत्तिना चेतनादितिरस्कृतं न पटुतरोपलब्धिविषयस्तथाप्यन्यदोपलब्धिविषय इति भिन्नमेव वेदनादितश्चेतनादिकम् । अन्यदा स्वरूपेणोपलक्षमाणत्वात् । दिनकरनिकरपराकृतस्वप्रकाशनशक्तिकमिव तारकानिकुरुम्बं न तदा नास्ति । न त्वेवं बुद्धिसंवेदनयोरेकदापि विवेकस्य स्पष्टग्रहणम् । चैतसानान्तु कदाचित् कस्यचित् प्रकटीभूतस्य ग्रहणम् ।

ननु विकल्पप्रत्यय एव निमित्तग्रहणादिकमुपलभ्यते नाविकल्पके । न । तत्रापि सन्त्येव चैतसाः । तथा हि कदाचिदनुभवानन्तरं निमित्तविकल्पः कदाचिदिदं करिष्यामीत्यादि विकल्पः । ततोऽनुभवानुसारिविकल्पतोऽवसीयते सन्त्यविकल्पा अपि चैत्ता इति । तत एषां भेदे युक्तलेशोऽपि विद्यते नैषोऽपि बुद्धिसंवेदनयोरिति परमार्थः ॥०॥

(१७) योगि-प्रत्यक्षम्—

प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानमिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वैसे ही बुद्धि और संवेदन का भी भेद क्यों नहीं माना जाता ? अभिन्न वेदन एक है—यह नियम चित्त-परिकरभूत चैत्तों में अनैकान्तिक है ।

सांख्यमत का निराश—सांख्य-मत में चित्त और चैतसिक का भेद बताया गया, वह उचित नहीं, क्योंकि "चित्तेभ्यः चैतसा नान्याः"—इस वचन के अनुसार चित्त और चैतसिक का भेद नहीं माना जा सकता । यदि किसी एक पटुतरवृत्तिक भाव के द्वारा चेतनादि तिरस्कृत हैं, तब भी अन्य काल में उपलब्ध एवं कार्यक्षम हो जाते हैं, अतः वेदनादि से चेतनादि भिन्न ही हैं, क्योंकि अन्य काल में स्वरूपतः उपलक्ष्यमाण होते हैं। प्रचण्ड मार्तण्ड की तीक्ष्ण रश्मियों से अभिभूत तारक-मण्डल भी तो रात्रि में जगमगा ही उठता है । चैतसिक पदार्थों में तो कभी किसी का और कभी किसी का ग्रहण होता है । बुद्धि और संवेदन में तो एक काल में भी स्पष्ट भेदावभास होता है। चैतसिक पदार्थों में तो कदाचित् किसी प्रकटीभूत का ग्रहण होता है ।

शङ्का—निमित्त-ग्रहणादि विकल्प प्रत्यय भी उपलब्ध होते हैं किन्तु निर्विकल्पक अवस्था में नहीं ।

समाधान—निर्विकल्पक अवस्था में भी चैतस पदार्थ रहते हैं, जैसे कि कदाचित् अनुभव के अनन्तर निमित्त विकल्प और कदाचित् "इदं करिष्यामि"—ऐसा निमित्त होता है । अतः अनुभवानुसार विकल्पता निश्चित होती है कि इतने चैत्त विकल्प यहाँ हैं । अतः इन विकल्पों के ज्ञान में यह युक्ति-लेश है, किन्तु बुद्धि और संवेदन के भेद में वह भी नहीं—यह परमार्थ है ।

(१७) योगी का प्रत्यक्ष ज्ञान

कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः ।

अभूतानामपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥ २८२ ॥

भावनामय ज्ञान स्पष्टावभासी कैसे ? इसका उत्तर है--काम, शोक, मोह और भयादि एवं चौरदुःखस्वप्नादि-प्रसूत भय से आक्रान्त चित्त के द्वारा सम्मुख स्थित पदार्थों को जो पुरुष देखता है एवं उसके अनुरूप चेष्टा करता है, अतः वह स्पष्टावभासी है ॥ २८२ ॥

न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता ।

स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्तं न च तत् तादृगर्थवत् ॥ २८३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

चतुरार्यसत्यविषयं योगिनां ज्ञानं प्रागुक्तम् । कुतो हेतोस्तद् भवतीत्याह--भावनामयं भावनाहेतुकं भावनाबलेन च स्पष्टाभम् । स्पष्टाभत्वादेवाविकल्पकम् । ततः प्रत्यक्षम् ।

नन्वर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवाद् वर्तमानार्थविषयमविकल्पकमिति युक्तम् । अतीतानागतविषयस्याविद्यमानविषयस्य च कथम्भावनामात्रविकल्पकता । भावनाप्येवंभूतकार्यसमर्थैवेति दर्शयति अविद्यमानविषयेऽपि । तथा हि--कामशोकभयोन्मादेति ।

न ह्यभूतविषयं संवेदनमर्थसामर्थ्यत उपजायते । न च तत् सविकल्पकं पुरःस्थितत्वेन दर्शनात् । तथा च साक्षात्करणकारतयाऽविकल्पकं प्रत्यक्षम् । अथ सविकल्पकमपि सत् स्पष्टाभन्नाविकल्पकमिति चेत् । तन्न । यतो हि--न विकल्पानुबद्धस्येति ।

विकल्पस्य परोक्षविषयमेव रूपमिति प्रतिपादितम् । तच्च यदि न स्यात् तदेव सविकल्पकन्न भवेत् । स्वप्नेऽपि विकल्पाः परोक्षविषयाकाराः संवेद्यन्ते । न च ते स्पष्टावभासिनः । विप्लववलात्तु स्पष्टतायान्न किञ्चित् स्वप्नादिष्वस्पष्टं भवेत् । दृश्यन्ते च

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

चार आर्य-सत्यों के विषय में योगियों का ज्ञान पहले कहा गया । वह किस हेतु से होता है--यह कहते हैं--"भावनामयम्" अर्थात् भावनाहेतुकम् (भावना के बल पर उत्पन्न) स्पष्टाभ और स्पष्टाकार होने से अविकल्पक है, अतः प्रत्यक्ष है ।

शङ्का--अर्थ (विषय) के सामर्थ्य से समुद्भूत होने के कारण वर्तमानार्थविषयक होने के कारण अविकल्पक है--ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि अतीतानागतविषयक अविद्यमानार्थक ज्ञान केवल भावना के बल पर उत्पन्न निर्विकल्पक क्योंकर हो सकेगा ? भावना भी अविद्यमान विषय में केवल अर्थ-साधकता-सामर्थ्य को इङ्गित मात्र करती है, यही कहा गया है--कामशोकादि के द्वारा ।

समाधान--अभूतविषयक संवेदन अर्थ--सामर्थ्य मात्र से उत्पन्न नहीं होता । उसे सविकल्पक नहीं कह सकते, क्योंकि पुरतोऽवस्थितत्वेन देखा जाता है । अतः साक्षात्करणाकार होने से प्रत्यक्ष है ।

सविकल्पक ज्ञान भी स्पष्टाकार होता है, केवल अविकल्पक ही नहीं--ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि--विकल्प ज्ञान की परोक्षविषयता का प्रतिपादन किया जा चुका है । वह यदि परोक्षविषयक नहीं होगा, तब वह सविकल्पक ही नहीं होगा । स्वप्न-काल में भी विकल्प प्रत्यय परोक्षविषयाकार ही होते हैं । वे स्पष्टावभासी नहीं होते, क्योंकि विप्लव (निद्रादोष) के कारण वे विभ्रमाकार ही होते हैं, अन्यथा उनमें

सविकल्पक ज्ञान भी स्वप्नावस्था में स्पष्टाकार होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न में भी जो स्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रबोधावस्था में स्पष्टाकारत्वेन स्मृत्यारूप नहीं होता ॥ २८३ ॥

अशुभा पृथिवी कृत्स्नाद्यभूतमपि वर्ण्यते ।
स्पष्टाभं निर्विकल्पं च भावनाबलनिर्मितम् ॥ २८४ ॥

भावना-जन्य ज्ञानं स्पष्टार्थ (निर्विकल्पक) होता है, ऐसा बौद्ध-सिद्धान्त में माना ही जाता है। शरीरादि से रागादि की निवृत्ति के लिए शरीरादि में अशुभ संज्ञा (भावना) की जाती है—जैसे पानी में पड़ा-पड़ा शव गल जाता है, कीड़े पड़ जाते हैं, यह शरीर वही तो है। यह मोहक पृथिवी अकाल और महामारी फैलने पर सर्वत्र मुरदों से पट जाती है, अस्थिकङ्कालों से पट जाती है। उस भावना के बल पर समुद्भूत योगियों का ज्ञान सर्वथा स्पष्टाभ निर्विकल्पक होता है ॥ २८४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्वप्नेऽप्यनुभूतस्मरणाकारा विकल्पास्तस्मान्न विप्लवाद् विकल्पस्यापि स्पष्टता। ततो निर्विकल्प एव परिस्फुटाकारः प्रत्ययः।

अत्र वैभाषिका आहुः। ननु वस्तुनि प्रमाणप्रसिद्धे भावनाबलात् स्पष्टाभतेति युक्तम्। भावनयाऽविद्याकालुष्यापगमे स्वेन रूपेणार्थस्य प्रतिभासनात्। अविद्यमाने तु न स्वरूपमिति कस्य प्रतिभासः? योगिनान्त्वतीतानागतविषयज्ञानमतीतानागतस्य विद्यमानत्वात्। अत्राह—अशुभा पृथिवीकृत्स्नादीति।

अतत्त्वमनस्कारत्वादशुभादीनान्नाकाशे पृथिव्यादीनां सम्भवः। अथ पृथिव्यादयोऽपि विद्यन्ते योगिप्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वात्। न भावनामात्रत एव योगी भवति। अपि तु श्रुतमयेन ज्ञानेनार्थान् गृहीत्वा युक्तिचिन्तामयेन व्यवस्थाप्य भावयतान्तन्निष्पत्तौ यद-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्पष्टाकारता होती। स्वप्न में अनुभूतस्मरणाकार विकल्प ही देखे जाते हैं। फलतः विकल्पों में विप्लव-प्रसूता के कारण स्पष्टता नहीं बन सकती। परिशेषतः निर्विकल्पक प्रत्यय ही परिस्फुटाकार होता है।

वैभाषिक मत—वैभाषिकगणों का कहना है कि प्रमाण-प्रसिद्ध वस्तु का भावना के बल पर स्पष्टाभ ज्ञान का होना युक्ति-युक्त है, क्योंकि भावना के द्वारा अविद्यारूप कालुष्य का व्यपगम (नाश) हो जाने पर विषय अपने वास्तविक आकार में प्रकट हो जाता है। अविद्यमान वस्तु का तो स्वरूप ही नहीं होता, भावना से प्रतिभास किस का होगा? योगियों को अतीत और अनागत विषयों का ज्ञान तो विद्यमान ही है, भावना से उसके विषयों का विमलीभाव हो जाता है, वार्तिककार यही कह रहे हैं—"अशुभा"—इत्यादि से।

अर्थात् अतात्त्विक मनस्कार (संयम) के आधार पर आकाश में पृथिवीमण्डल का उदय हो जाता है। योगियों को उनका प्रत्यक्ष होता है, अतः उनकी विद्यमानता में सन्देह नहीं किया जा सकता। भावनामात्र से कोई योगी नहीं बन सकता, अपितु श्रुतमय ज्ञान (श्रवण) के द्वारा पदार्थ का निश्चय करके युक्ति-चिन्तामय ज्ञान (मनन) के द्वारा पदार्थ को व्यवस्थित कर जो अवितथ (सत्य) विषय का ज्ञान होता है, वही प्रमाण ज्ञान है। निष्कर्षतः शमथ (समाधि) और विपश्यना (ऋतम्भरा प्रज्ञा) इन दो

तस्माद् भूतमभूतं वा यद् यदेवातिभाव्यते ।
भावनापरिनिष्पत्तौ तत् स्फुटाकल्पधीफलम् ॥ २८५ ॥

आर्यसत्यादि भूत (सत्यार्थ) अथवा अभूत (अशुभादि) पदार्थों में जिस किसी की भी दृढ़ भावना दीर्घ काल आदरपूर्वक निरन्तर की जाती है, उसका विशदावभास निर्विकल्प ज्ञान हो जाता है ॥ २८५ ॥

तत्र प्रमाणं संवादि यत् प्राङ्निर्णीतवस्तुवत् ।
तद् भावनाजं प्रत्यक्षमिष्टं शेषा उपप्लवाः ॥ २८६ ॥

भावना-बलंभावी जो संवादि (उपदर्शितार्थ-प्रापक) होता है, वह वैसा ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, जैसा कि पहले (प्रथम परिच्छेद में) निर्णीत है। चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार प्रमाणभूत कहा जा चुका है। उसके विपरीत सब उपप्लव (भ्रम) है ॥ २८६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वितथविषयन्तदेव प्रमाणन्तद्युक्ता योगिनः तथा च शमथविपश्यनायुगनद्धवाही मार्गो योग इति वचनम् ।

तत्र योगिनां यद्यप्यमी प्रतिभासन्ते तथापि कार्यार्थिमसावतत्त्वरूपैव भावना ततोऽतत्त्वरूपेणैव तेषाममी प्रतिभासन्ते । तेन यदि योगिनामतत्त्वरूपतया प्रतिभासन्ते कथन्तावता सत्त्वम् । तस्मादतत्त्वरूपतैव तेषां योगिप्रत्ययप्रतिभासिनामपि । न हि प्रतिभासमात्रात् तत्त्वमपि तु परीक्षातः । न च कल्पनामात्रादुदयमासादयन्ती भावना तत्त्वप्रतिपत्तिहेतुः प्रमाणबलायाता तु तथेत्येकान्त एषः । तथा हि—

भावनामात्रभावित्वमतत्त्वमिति गीयते । वस्तुद्वारप्रतीतेस्तु वस्तुनिर्णय इष्यते ॥५२९॥

भावनामात्रतस्तु—तस्माद् भूतमभूतं वेति ।

न हि सदेव भाव्यतेऽन्यस्यापि भावनागोचरत्वात् । ततो यद् यदेवाभिभाव्यते तत् तत् स्फुटाकल्पधीफलमेवाभिभावनम् । भावनापरिनिष्पत्तौ । न हि भावनान्यथा भवन्ती दृश्यते । यतो हि—तत्र प्रमाणसंवादि यदिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अश्वों से जुड़े शरीररूपी रथ पर समारूढ़ योगी दिग्विजयी हो जाता है।

वैभाषिक की आलोचना—यद्यपि योगियों को कुछ लोकोत्तर ज्ञान होता है, तथापि वह सर्वथा प्रमाणभूत नहीं होता। वह भावना पर आश्रित होता है। तात्त्विक भावना-भावित तात्त्विक और अतात्त्विक भावना-भावित प्रत्यय अतात्त्विक होता है। उनके आधार पर विषयवस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। प्रतिभासमात्र के आधार पर तात्त्विकता नहीं होती, अपितु परीक्षा से उसकी तात्त्विकता जानी जाती है।

भावनामात्र से प्रतीयमान वस्तु में अतात्त्विकता ही होती है। वास्तविकता के लिए तो वस्तुतत्त्व का निर्णय आवश्यक है ॥ ५२९ ॥

भावना मात्र से तो भूत (सत्य) या अभूत (असत्य) में से किसी की भावना की जा सकती, किन्तु सत्य भावना से अर्थ की सत्ता और असत्य भावना से अर्थ की असत्ता ही पर्यवसित होती है। सत् की ही भावना होती है—ऐसा आवश्यक नहीं, अपितु

वार्तिकालङ्कारः

यत् खलु भावनाबलभावित्वेऽप्यविसंवादसम्भवि प्राङ्निर्णीतवस्तु परलोकचतुरार्यसत्यादिकं तद्विषयमेव प्रत्यक्षम्। न तु कामादिविषयम्। तद्विस्पष्टाभतया निर्विकल्पकत्वेऽप्युपप्लव एव। एतेन स्वप्नादिज्ञानानां विसंवादिनामप्रत्यक्षतैव।

ननु भावनाबलाज्ज्ञानप्रत्यक्षमिति सकलतीर्थ्यसङ्गतसंवेदनप्रत्यक्षताप्रसङ्गः। न हि तेषां भावना नास्तीति शक्यमेतत्। तथा हि—

लोकसाधारणो योऽर्थः कस्यचित् सम्भवेदसौ। इति किन्नियमो न्यायमनतिक्रम्य वर्त्तते ॥५३०॥

ततश्च तेषामपि तीर्थकरान्तराणां भावनाप्रभवप्रत्यक्षप्रसिद्धा स्वप्रक्रिया प्रपञ्चान्तर्गताः पदार्थराशयो न भवन्तीति कुत एतत्। ततश्च तदुपदेशतोऽपि वर्त्तितव्यम्। अनुमानादिना बाधनान्नेति चेत्, न। यतः—

अतीन्द्रिया न संवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा। ये भावान् वचनन्तेषान्नानुमानेन बाध्यते ॥५३१॥

अथैतदेव न ज्ञायते तैरिदन्दृष्टमिति। यदि पश्यन्ति न बाध्यत एतद् वचनम्। यद्येवम्भगवतापि व्यज्ञायि सत्यादिकमिति कुत एतत्। तदसत्। ततः—

ताथागते हि वचसि प्रमासंवाद ईक्ष्यते। प्रमाणबाधा त्वन्येषामतो द्रष्टा तथागतः ॥५३२॥

ननु पौरुषेयम्प्रमाणमप्रमाणमेवातीन्द्रियेऽर्थे। तत्कथन्तेन साधनं बाधनं

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अन्य (असत्) भी भावना का विषय होता है। अतः जो भी अभिभावित होता है, वह स्फुटाकल्प ज्ञान का हेतु होता है। भावना कभी अन्यथा नहीं होती।

जो भावना-भावित होने पर भी अविसंवादी निर्णीत वस्तु होती है, जैसे परलोक, चार आर्यसत्य, आदि, तद्विषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, कामादि-विषयक नहीं, क्योंकि वह कामादि-विषयक ज्ञान विस्पष्टाभ निर्विकल्पक होने पर भी उपप्लव (भ्रमरूप) ही होता है। इस प्रकार स्वाप्नादि विसंवादी ज्ञानों में अप्रत्यक्षता ही मानी जाती है।

शंका—भावना-बल-भावी ज्ञान भी प्रत्यक्ष है—ऐसा सिद्धान्त तो केवल बौद्धों का ही नहीं, अपितु न्यायादि सभी तैर्थिकों (दार्शनिकों) का होना चाहिए, क्योंकि उनके मत में भावना नहीं—ऐसा नहीं, अपितु वे भी भावनावादी हैं।

सर्वलोक-साधारण जो अर्थ है, वह सबका न होकर कुछ दार्शनिकों का माना जाय—ऐसा क्यों ? उस मत की सर्वसाधारणता न्यायोचित है ॥५३०॥ अतः भैषाषिकों से भिन्न अन्य दार्शनिकों के मत में कथित भावना-जनित प्रत्यक्षादि की प्रक्रिया क्यों नहीं ? यदि है, तब उनके ग्रन्थों में भी उसका उपदेश होना चाहिए। यदि कहा जाय कि उक्त प्रक्रिया अनुमानादि से बाधित है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि योगी पुरुष आर्ष चक्षु के द्वारा जिन असंवेद्य तत्त्वों का दर्शन कर लिया करते हैं, उनका अनुमान के द्वारा बाध नहीं हो सकता ॥५३१॥

यदि कहा जाय कि यही निश्चय नहीं कि उन लोगों के द्वारा यह प्रक्रिया दृष्ट है, अथवा नहीं ? यदि दृष्ट है, तब बाधित नहीं हो सकती, ऐसा कहना सम्भव है। यदि ऐसा सन्देह है, तब भगवान् बुद्ध के द्वारा भी आर्यसत्यादि ज्ञात थे या नहीं ? तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि तथागत के वचनों में प्रामाण्य का संवाद पाया जाता है, अन्य पुरुषों के वचनों में प्रामाण्य-बाध उपलब्ध होता है, अतः भगवान् तथागत सत्य-द्रष्टा हैं ॥ ५३२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वार्थस्यातीन्द्रियस्य ।

समानविषया यस्माद् बाध्यबाधकतास्थितिः । अतीन्द्रिये च संसारि प्रमाणन्न प्रवर्त्तते ॥५३३॥

योगिज्ञानेनापि तेषाम्बाधनमेव । तथा हि—

ताथागतं वचस्तेषां विरोधेन व्यवस्थिते । तद्वचो हेतुविज्ञानबाधितत्वं प्रकाशयेत् ॥५३४॥

तदेतद् विपर्ययेऽपि तुल्यम् । तदसत् । यतः—

अतीन्द्रियार्थं कथयेत् केवलं यदि वेदकः । तद्वचस्तः प्रवर्त्तेत न कश्चिदपि पण्डितः ॥५३५॥

अतीन्द्रियार्थं हि वचः सर्वेषामेव विद्यते । परस्परविरुद्धञ्च ततस्तत्राप्रवर्त्तनम् ॥५३६॥

तस्मात् परं प्रतिपादयता शक्यपरिच्छेद एवेतरैः प्रतिपादयितव्याः । असम्भवान्नैवमिति चेत् । योगिज्ञानमपि तत्र कुतः सम्भवतीति चिन्त्यमेतत् ।

वेदः स्वभावसिद्धो वा योगी तत्प्रतिपादकः । इति चेन्निर्णयो भावे वस्तुन्यत्र प्रमा कुतः ॥५३७॥

अथ शब्दपरिच्छेदो नोपादेयस्तदर्थिनाम् । इत्ययुक्तन्न दुःखस्य विच्छित्तेरप्रधानता ॥५३८॥

न खलु सकलदुःखव्यपगमो नोपादेयः । तथा हि—

आत्मात्मीयग्रहावेशाज्जन्तूनान्दुःखसङ्गतिः । तस्य व्यपगमे सर्वदुःखानां प्रलयोदयः ॥५३९॥

सुखानामपि चेदेवन्दुःखाभावः परं सुखम् । यदि संवेदयन्नास्ते सदा दुःखविपर्ययम् ॥५४०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि कहा जाय कि पौरुषेय प्रमाण तो अतीन्द्रिय अर्थ में प्रमाण नहीं हो सकता, तब उसके द्वारा कैसे किसी अतीन्द्रिय अर्थ का साधन या बाधन होगा? समानविषयता में साधन या बाधन होता है, अतः अतीन्द्रिय अर्थ में संसारी प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ५३३ ॥

योगियों के ज्ञान से भी उनका बाध ही होता है—भगवान् बुद्ध के वचन भी उसके विरुद्ध हैं, क्योंकि अतीन्द्रियार्थों के ज्ञान का कोई साधन नहीं ॥५३४॥ यह सब कुछ इसके विपरीत अर्थ में भी कहा जा सकता है।

समाधान—भावना-भावित अतीन्द्रियार्थों का अभिधान यदि केवल वेद करता, तब उसके वचन से कोई भी पण्डित प्रवृत्त नहीं होता ॥५३५॥ अतीन्द्रिय अर्थ के प्रपिपादन में सभी प्रमाणों की प्रवृत्ति देखी जाती है और परस्पर-विरुद्धार्थों का अभिधान भी देखा जाता है। तब उसमें किसी की प्रवृत्ति कैसे होगी? ॥५३६॥ अतः दूसरों की प्रवृत्ति के लिए, वही उपदेश करना चाहिए जिसका अर्थ सुस्पष्ट और कृति-साध्य हो। यदि कहा जाय कि अतीन्द्रिय अर्थ का निश्चय किसी को नहीं हो सकता, तब योगियों को भी कैसे होगा?

वेद या तो स्वभाव-सिद्ध है, या योगी उसका प्रतिपादक है—ऐसा यदि निर्णय है, तब उसके भावार्थ में प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा? ॥ ५३७ ॥ "दुःखध्वंसो मोक्षः" इस शब्द का अर्थ उपादेय नहीं हो सकता, क्योंकि जिन पदार्थों को दुःख कहा जाता है, वे पुरुषों को ग्राह्य हैं, हेय नहीं ॥ ५३८ ॥

सकल दुःख-विगम (दुःख-निवृत्ति) उपादेय (कृतिसाध्य) नहीं—ऐसा नहीं, अपितु कृति-साध्य है, क्योंकि ज्वरादि व्याधियाँ स्वरूपतः दुःखरूप नहीं, अपितु यह हमारी व्याधि है—ऐसा अहं-ममादि का अभिमान दुःख का मूल है, वही आत्मात्मीय-ग्रहावेश कहलाता है। आत्मवाद में यह बहुत बड़ा दोष है और अनात्मवाद में उसका सर्वथा अभाव है, अतः दुःख-विगम पूर्णतया सम्भव और उपादेय है ॥५३९॥ यदि सुखों

वार्तिकालङ्कारः

ततः परमुपादेयं किमन्यद् युक्तिसङ्गतम् । प्रदीपस्येव निर्वाणमिति चेन्नाप्रमाणकम् ॥५४१॥

इदम् । यतः—

दाहच्छेदादिना ज्ञानं विच्छेत्तुं हि न शक्यते । ततः प्रबन्धाविच्छेदादास्त एव निराकुलम् ॥५४२॥

तामवस्थाङ्गतस्यास्य वैमुख्यं स्याद् विवेकतः । उद्वेजनीये वैमुख्यं यदि कस्मिन् विरोधिता ॥५४३॥

शमतादर्शिनस्तस्य वैमुख्यमपि किङ्कृतम् । नास्य पीडाकृतः केचिद् समाधिबलभाविनः ॥५४४॥

क्षुदुदुःखादिसमाधानात् सर्वमेव प्रतीयते । शस्त्रादिपीडापि ततः सर्वैवास्य प्रतीयते ॥५४५॥

भावनाबलतः सर्वं शौर्यधैर्यादि सम्भवि । धृतिं विना हि नाहारः कस्यचित् परिपुष्टये ॥५४६॥

धृतेर्योगाद् तु यः कश्चिदाहारपरिपुष्टये । विनापि चैवमारादस्यार्थस्याप्तिसम्भवः ॥५४७॥

जन्मान्तरादिसंवित्तिरभ्यासादेव जायते । ततः कर्मफलज्ञानं ततः सर्वस्य वेदनम् ॥५४८॥

कार्यकारणभावस्य विशेषेण विनिश्चये । अतीतानागतज्ञानमस्य भावि परिस्फुटम् ॥५४९॥

भावनाबलतो ज्ञानम्बाह्यानामपि भावि चेत् । तदेतदिष्यतेऽस्माभिः सर्वाकारन्तु तायिनाम् ॥५५०॥

स्थिरमध्याक्षणम्भावनैरात्म्यादिप्रवेदनम् । रागादिव्याकुलत्वान्न तीर्थ्यानां वेदनन्तथा ॥५५१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में भी आत्मीयता है, तब दुःखाभाव परम सुख है। जो सदा दुःखाभाव का अनुभव करता है, वह परम सुखी है ॥५४०॥ दुःखाभाव वैसे ही परम सुख है, जैसे आचार्य अश्वघोष ने निर्वाण का स्वरूप बताया है—प्रदीप-निर्वाण के समान विज्ञान-सन्तति का निरोध ॥ ५४१ ॥

ज्ञान-सन्तति का विच्छेद-प्रकार—

ज्ञान-धारा का दाह और छेदनादि के द्वारा सम्भव नहीं। अतः निराकुल (स्वच्छ या शान्त) विज्ञान-धारा का प्रवाह ही मोक्ष या निर्वाण का स्वरूप है ॥५४२॥

उस अत्यन्त विच्छेद अवस्था को प्राप्त करने पर विवेक का प्रतिघात होता है, यदि सिद्धान्त में कहीं विरोध आता है, तब भी वैमुख्य सामने रहता है ॥ ५४३ ॥

विज्ञान की शान्त-प्रवाहिता या समता का ग्रहण करने पर किसी विरुद्ध की प्राप्ति नहीं होती ॥ ५४४ ॥

क्षुधा आदि दुःखों की शान्ति के लिए शस्त्रादि पीड़ा भी सब-कुछ उसी के लिए सही होती है ॥ ५४५ ॥

भावना के बल पर शौर्य-धैर्यादि सब-कुछ सम्भव हो जाता है, आहार धारण किये बिना शरीर की परपुष्टि नहीं होती ॥ ५४६ ॥

आहारादि की पुष्टि के लिए शरीर में उसकी धृति, परिपाक सम्यक् जरण आदि का होना परम आवश्यक है। उसके बिना आहारादि से शरीर की परि-पुष्टि नहीं होती ॥५४७॥ भावना के अभ्यास से जन्मान्तरादि का ज्ञान हो जाता है, उसके अनन्तर कर्म-फल ज्ञान और सभी प्रकार का ज्ञान हो जाता है ॥ ५४८ ॥

विशेषरूपेण कार्य-कारणभाव का निश्चय करने के लिए अतीत-अनागत का ज्ञान परिस्फुट हो जाता है ॥ ५४९ ॥

यदि कहा जाय कि भावना के बल पर ज्ञान तो इतर-मतावलम्बियों को भी हो जाता है। वह हमें भी अभीष्ट है, किन्तु सर्वाकार ज्ञान तायी या योगी पुरुषों को ही होता है ॥ ५५० ॥

भावना अभ्यास से स्थिरता, अलौकिक पदार्थों का प्रत्यक्ष तथा नैरात्म्यादि का

वार्तिकालङ्कारः

एवम्भूतार्थवचसस्तत्कर्त्तुर्ज्ञानवद् गतिः । परिशुद्धं वचो नास्ति परिशुद्धविदं विना ॥५५२॥
स्वतर्कानुस्मृतेरेष प्रपञ्चो वचसां यदि । भावनाज्ञानमप्यस्ति सदर्थेनादरो न हि ॥५५३॥
ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसम्भवः । समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम् ॥५५४॥
सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्मान्न विद्यते । रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यत्नस्य प्रवर्त्तनात् ॥५५५॥
तन्निवृत्तौ ततस्तेषाङ् कृतार्थात्माभिमानिनाम् । यत्नो नैवोत्तरस्तावद् विश्रान्तिसुखलिप्सया ॥५५६॥
पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम् । अल्पयत्नेन सर्वज्ञत्वस्य सिद्धिरवारिता ॥५५७॥
प्रदीपस्येव निर्वाणमिति चेत् तन्न सम्भवि । निष्क्लेशे ह्यात्मनि कुतस्तस्य वैराग्यसम्भवः ॥५५८॥
प्रेक्षापूर्वकृतस्तस्य तदाधिक्येन वाञ्छितम् । यदि तस्यापि किं हानिमसौ वाञ्छायनादृतः ॥५५९॥
न वीतरागस्य सुखं योषिदालिङ्गनादिजम् । वीतद्वेषस्य तु कुतः शत्रुसेना विमर्दजम् ॥५६०॥
वीतमोहस्य न सुखमात्मीयाभिनिवेषजम् । ततः किन्तादृशा तेन कृत्यम्मोक्षेण जन्मिनाम् ॥५६१॥
तदेतदसदवेत्थं मद्यपानादि चिन्त्यताम् । मद्यपानादिसुखं द्विजानान्नास्ति सन्ततम् ॥५६२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रवेदन होता है । अन्य तैर्थिकों को वह संवेदन नहीं होता, क्योंकि आत्म-रागादि से वे व्याकुल होते हैं ॥ ५५१ ॥

इस प्रकार रहस्य का ज्ञान योगियों को हो जाता है । परिशुद्ध वचन तब तक नहीं होता जब तक कि परिशुद्ध वेदन न हो ॥ ५५२ ॥

अपने तर्क के द्वारा प्रपञ्च का ज्ञान हो जाता है, तब भावना ज्ञान भी वैसा ही होता है, उसमें अनादर क्यों, वह भी सदर्थक है ॥ ५५३ ॥

निष्कर्ष यह है कि इस पुरुष के वीतराग होने पर सर्वार्थक ज्ञान हो जाता है । समाहित पुरुष को सब-कुछ अवभासित होता है या एक निश्चित सिद्धान्त ॥५५४॥

सभी वीतरागों को ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उन लोगों ने रागादि का क्षय-मात्र करने के लिए प्रयत्न किया ॥ ५५५ ॥

रागादि की निवृत्ति-मात्र से वे अपने को कृतार्थ मानने लगते हैं । उनका प्रयत्न उत्तरभावी विश्रान्त सुख-लिप्सा के लिए नहीं होता ॥ ५५६ ॥

पुनः कालान्तर में सर्वज्ञ गुणों से आकृष्ट होकर जब उस मार्ग में प्रवृत्ति होती है, तब सर्वज्ञत्व की सिद्धि अनिवार्य रूप में हो जाती है ॥ ५५७ ॥

सर्वार्थ-सिद्धि के साथ-साथ प्रदीप के निर्वाण के समान वह विज्ञान का विच्छेद नहीं होता, क्योंकि क्लेश-रहित आत्मा में किसी को वैराग्य सम्पन्न नहीं होता ॥ ५५८ ॥

प्रेक्षा-पूर्वक अधिकार्थ की इच्छा से प्रयत्न करने पर किसी प्रकार की हानि नहीं होती ॥ ५५९ ॥

वीतराग पुरुष को योषिद् आदि के आलिङ्गन से सुख नहीं होता, जिस व्यक्ति को द्वेष नहीं शत्रु से, न विमर्दन से उसे सुख क्यों होगा ? ॥ ५६० ॥

मोह-रहित व्यक्ति को आत्मीय या अभिनिवेश से सुख नहीं होता, क्योंकि उसी प्रकार का अभ्यास उसने कर रखा हैं । मोक्ष से भी उसे कोई प्रयोजन नहीं रह जाता ॥ ५६१ ॥

मद्यपानादि का चिन्तन करने वालों को भावनाभ्यासादि असत् प्रतीत होता है, किन्तु श्रेष्ठ द्विजजनों को मद्यपानादि सुख नहीं होता ॥ ५६२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

पुरीषभक्षणसुखन्नागरक्रोडजन्मिनाम् । आममानुषमांसाद्धि सुखन्नैवास्त्यरक्षसाम् ॥५६३॥
स्वामिप्रसादादिसुखं किमभृत्यस्य विद्यते । शिरस्ताडनसुखन्नादासस्य त्रिकाशवत् ॥५६४॥
इति सर्वमिदं प्रार्थ्यमायातमधिमुक्तिषु । नापारसीके मात्रादिश्रोणीसङ्गम इत्यपि ॥५६५॥
अप्राप्तस्य चावीचिं तद्वियोगसुखं क्वचित् । ततो नरकपातादि सर्वमिष्येत जन्मिभिः ॥५६६॥

अथ विशिष्टमिष्यते सुखन्तथा सति तदेवास्मदीप्सितमायातम् । अथ सर्ववेदनस्य कथं सम्भवः कथं वा तत्र संवादः । कथं वा सकलवेदने सकलरागादिपरचित्तसाक्षात्करणेन रागादितादयो दोषा इत्याह —

अनेकोपायसद्भावात् कालवैपुल्ययोगतः । अभ्यासात् सर्ववित्त्वस्य प्राप्तिरस्येति युक्तिमत् ॥५६७॥

असङ्ख्येयकल्पतयाभ्यासो हि किन्तदस्ति यन्न प्रापयति । संवादस्तु पुनरस्माकं सर्ववेदनम्प्रति नास्तीतीष्यत एवैतत् । तथा चोक्तम्—

असर्ववित् सर्वविदं कः कथं त्वामवभोत्स्यते । स्वयं विदितमाहात्म्यविस्तराय नमोऽस्तु ते ॥५६८॥

नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानीते । तथा—"मा भिक्षवः पुद्गलः पुद्गलं प्रविणोतु । अहं वा प्रविणुयां यो वा स्यान्मद्विधः" इति ।

सर्ववेदने तु सर्वात्मना परसन्तानरागादिवेदने रागादिमत्त्वमिति न सत् । तथा हि—

परसन्तानसंवित्तौ वीतरागित्ववेदने । तस्य रागित्वमप्यस्तीत्येतदत्यन्तदुर्घटम् ॥५६९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नगर या गाँव में उत्पन्न सूकर-वर्ग को पुरीषादि के भक्षण से सुख होता है। मनुष्य के कच्चे माँस के भक्षण से राक्षस इतर मनुष्यों को सुख नहीं होता ॥५६३॥

राजा की प्रसन्नता से क्या नौकर-चाकर से भिन्न व्यक्ति को सुख होता है? कभी नहीं। दास से इतर व्यक्ति को क्षेरताड़नजनित सुख नहीं होता ॥ ५६४ ॥

इस प्रकार सब कुछ यह प्रार्थनीय है, नास्तिक के लिए, क्योंकि पारसीत व्यक्ति से इतर पुरुष को मातृ-विवाह से सुख नहीं होता ॥ ५६५ ॥

जो व्यक्ति अविचिलोक नहीं पहुँचा, उसे उसके वियोग का सुख नहीं होता। अतः नरकपातादि सब-कुछ जीव अधिकारी चाहता है ॥५६६॥

यदि विशिष्ट सुख की इच्छा है, तब वही हमको भी अभीष्ट है। यदि सर्ववेदन अभीष्ट है तब वह कैसे सम्भव होगा? सकल वेदन कैसे होगा? सकल परपुरुष के रागादि का साक्षात्कार कैसे होगा? एवं राग-द्वेषादि का ज्ञान कैसे होगा? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि अनेक उपायों का सद्भाव होने पर भी भावनाभ्यास के आधार पर सब-कुछ सम्भव हो सकता है ॥ ५६७ ॥

असंख्येय-कल्प का अभ्यास वह कौन-सी वस्तु है जो उसे प्राप्त नहीं करा सकता? हम लोगों का संवाद सर्ववेदन के प्रति नहीं होता, यही कहा है। कौन-सा असर्ववेत्ता आप सर्वज्ञ को कैसे जानेगा, जिसका महात्म्य स्वयं विदित है, उसके लिए मेरा नमस्कार है ॥ ५६८ ॥

असर्वज्ञ कभी सर्वज्ञ को नहीं जान सकता। अतः भिक्षुओं! एक पुद्गल दूसरे को वरण न करे। जो मेरे समान ही है, उसका भी वरण न करूँ।

सर्व-वेदन में तो सर्वात्मना परसन्तान रागादि के वेदन में रागादिमत्व होता है, ऐसा नहीं, क्योंकि परसन्तान की सन्तति होने पर वीतरागित्व के वेदन में उसमें

वार्तिकालङ्कारः

यदैवासौ रागी पररागवेदने तथा परवीतरागवेदने वीतरागोऽपि। उभयमपि तदैवेति चेत्। न। यतो हि—

एकेनाप्यनुभूतत्वाभावे रागी कथम्मतः। तटस्थस्य हि संवित्तौ न रागित्वादिसम्भवः ॥५७०॥

तथा हि न घटवेदने घटी भवति। एवं रागादयोऽपि परसन्तानान्तर्गतास्तटस्थतयावगम्यमाना न रागित्वन्निर्वर्तयन्ति।

अथ सर्वात्मना वेदने यथा स्वयं वेत्त्यसौ तथा योग्यपीति न रागित्वहानिः। तदयुक्तम्—

तद्रूपेणैव वेद्यत्वे स्वयं रागित्वसम्भवे। कथमप्यव्यवस्थाप्यं पररागादिवेदनम् ॥५७१॥

न हि तदात्माननुप्रवेशे पररागादिवेदनम्। स एवात्मीयो राग इति। अयमप्यपरो दोष इति चेत्। तथा हि—

तटस्थत्वेन वेद्यत्वे तत्त्वेनावेदनं भवेत्। तदात्मना तु वेद्यत्वे रागितैव प्रसज्यते ॥५७२॥

तदसत्। तथा हि—

रागादिना परस्थेन तस्य वाक्कायविक्रिया। परस्था न भवत्येव तस्य रागादिवासना ॥५७३॥

वासनासामर्थ्यायातो हि रागो रागितामावहति न परवासनाबलायातः सिद्धोपस्थायितया संवेद्यमानः।

ननु स्वरूपसंवेदने रोमाञ्चादिकायविकारोऽपि कस्मादस्य न भवति वचनविकारश्च। न सदेतत्। यतो हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रागित्व भी प्राप्त होता है, ऐसा कहना महान् दुर्घट है ॥ ५६९ ॥

जबकि परराागवेदन में वह रागी होता है, तब वीतराग के वेदन में वीतराग भी होगा, दोनों सदैव हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एक व्यक्ति को भी रागानुभव न होने पर कोई रागी क्यों होगा ? क्योंकि तटस्थ व्यक्ति को संवेदन मात्र से रागीत्व प्राप्त नहीं होता ॥ ५७० ॥

जैसे कि घट के वेदन से कोई घट नहीं होता, उसी प्रकार रागादि भी परकीय सन्तान में अवस्थित हैं। अवस्थित होने के कारण तटस्थ पुरुष में उनकी संक्रान्ति नहीं हो सकती।

शङ्का—यदि कहा जाय कि सर्वात्मना वेदन होने पर जैसे स्वयं वेदन होता है, वैसे ही योगी भी। अतः रागीत्व की हानि नहीं होती तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उसी रूप से वेद्य होने पर स्वयं में रागीत्व सम्भव हो सकता है। पररागादि का वेदन किसी प्रकार भी व्यवस्थापक नहीं ॥ ५७१ ॥

जब तक तादात्म्य अनुप्रवेश न हो तब तक पररागादि का वेदन नहीं होता। दूसरे का राग भी अपना हो जाता है, यह एक और दोष उपस्थित होता है, क्योंकि तटस्थ रूप से तद्रूपेण वेदन नहीं होता। तद्रूपेण वेद्यता होने पर ही रागादिता प्रसक्त होती है ॥ ५७२ ॥

समाधान—परस्थरागादि के द्वारा साधक व्यक्ति के वाक्-कायादि में विकार होता है, स्वयं में नहीं, क्योंकि स्वयं में वासना नहीं होती ॥ ५७३ ॥

वासना के सामर्थ्य से ही रागादि को प्राप्ति होती है, तभी रागिता आती है, परकीय वासना के संक्रमण से नहीं। कायिक और वाचनिक विकार वासना के बल

वार्तिकालङ्कारः

कायवाचोर्विकारोऽयं वासनाबलसम्भवी । प्रहीणवासनस्यास्य द्वयोरपि न सम्भवः ॥५७४॥

ननु भावनाबलादेव परचित्तवेदनं भावना संस्कारश्च वासना । तत्र भावनासंस्कारसम्भवे कथन्न वासना न हि भावनावासनायाः कश्चिद्विशेषः । न युक्तमेतत् । तथा हि—

गमकस्य विशेषस्य तात्पर्येणोपलक्षणे । विशेषप्रतिभासोऽस्ति परचित्तस्य वेदने ॥५७५॥

लिङ्गविशेषोपलक्षणे हि तत्र भावनाव्यापारः । न च तत्रार्थस्य गम्यस्य भावना । सत्यां वा नात्मसम्बन्धितया । ततस्तत्र वासनाऽभावात् प्रतिभासेऽप्यरागिता । अनेनाशुचिरसादिवेदनेऽपि दोषः प्रत्युक्तः । उक्तञ्च —

अपवित्रत्वयोगः स्यादिन्द्रियेणास्य वेदने । कर्मजेन न चान्येन भावनाबलभाविना ॥ ५७६ ॥

भावनाबलात् रसनमुत्पाद्य यदि वेदनमदोष एव तदा । न हि स्वप्नेऽगम्यागमने दोषः । असत्यता तस्य तेनादोष इति चेत् । संवादे सति कथमसत्यता । यतो हि—

यदा मातुरपि स्वप्नस्तथाभूतस्तदा भवेत् । तदागम्यागतौ दोषो भवतः किन्न सम्भवी ॥ ५७७ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर उत्पन्न होते हैं, जिसकी वासनाएं प्रहीण हो गयी हैं, उसमें कायिक और वाचनिक दोनों भी विकार सम्भव नहीं ॥ ५७४ ॥

यदि कहा जाय कि भावना के बल पर ही परचित का वेदन होता है । भावना, संस्कार, वासना—ये सब पर्याय हैं । उसे भावना संस्कार के सम्भव होने पर वासना क्यों नहीं ? क्योंकि भावना और वासना में कोई विशेषता नहीं, तो वैसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि गमकविशेष तात्पर्य के आधार पर विशेष प्रतिभास और परचित्त का वेदन होता है ॥ ५७५ ॥

रागी पुरुष पर जो योगी की भावना है, उसका व्यापार रागोपस्थापक लिङ्ग-विशेष के उपलक्षित स्वरूप पर ही होता है । उसमें गम्य अर्थ का यथावत् प्रतिभास नहीं होता । होने पर भी वह पदार्थ मेरा है—ऐसी आत्मसम्बन्धिता नहीं होती, अतः योगी को रोमाञ्चादि शरीरादि-विकार नहीं होता । अतः समुचित वासना का अभाव होने से विषय-प्रतिभास होने पर भी रागिता नहीं होती । इसी प्रकार अशुचि रसादि का वेदन होने पर भी ग्राम-सूकर के समान भक्षण की इच्छा और रस-गर्धा नहीं होती ।

अर्थात् इन्द्रिय के द्वारा गृहीत अर्थ में ही रसादि-गर्धा होती है, भावना-बल भावी पदार्थ में नहीं ॥ ५७६ ॥

भावना के बल पर यदि रसना का उत्पादन करके वेदन होता है, तब कोई दोष नहीं, क्योंकि स्वप्न में अगम्य मातृगमनादि से कोई दोष नहीं होता । उसकी असत्यता होने से दोष नहीं होता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संवादी ज्ञान को असत्य नहीं कहा जा सकता । यदि पारसीक-मतानुसार माता को भी वैसा ही स्वप्न होता है, तब अगम्यागमन में दोष-सम्भव क्यों नहीं ? ॥५७७॥ अतः परकीय (पारसीक का) मत सत् नहीं ।

पर के माध्यम से पूर्वार्थ का ज्ञान मानने पर अनादि वस्तु का वेदन क्योंकर होगा ? इसका उत्तर यह है कि अक्रम (युगपत्) सभी पदार्थों का ज्ञान हो जायगा ॥५७८॥ जैसे सम्यक् अभ्यस्त शास्त्र का समस्त अर्थ एक क्षण में ही अवभासित होता

वार्तिकालङ्कारः

तस्मात् परमतमसत् ।

क्रमेण वेदनेऽनादिवस्तुनो वेदनं कथम् । इति चेन्नाक्रमेणैव सर्वार्थानां प्रवेदनात् ॥ ५७८ ॥
यथा सकलशास्त्रार्थः स्वभ्यस्तः प्रतिभासते । मनस्येकक्षणेनैव तथानन्तादिवेदनम् ॥ ५७९ ॥

यथा हि शास्त्रार्थः स्वभ्यासत एकक्षण एव मनसि प्रतिभाति । तथानाद्यनन्तवेदनमपि । परिमाणवत्त्वाच्छास्त्रस्यैति चेत् । न परिमाणवदिति प्रतिभासनमपि त्वभ्यासात् । तत् सकलं शास्त्राभिधेयं प्रतिभासितं तेन स्मरणे प्रतिभातीति चेत्, न, अपूर्वस्यापि शास्त्रार्थस्य भासनात् ।

ननु शास्त्रार्थः परस्परं सम्बद्धस्तत्र केनचित् प्रत्यासत्तिनिमित्तेनापरमपि प्रतिभाति नत्वेवमनाद्यनन्तानामिति कथमपूर्वस्य प्रतिभास इति सर्वं समानम् । तथा हि—

कार्यकारणसम्बन्धविनाभूता न विद्यते । प्रत्यासत्तिः पदार्थानां व्यवहारेऽप्यसौ न किम् ॥ ५८० ॥

कार्यकारणभावो हि पदार्थानां शास्त्रे प्रत्यासत्तिस्ततो पूर्वस्य प्रतिभासनम् । एवं च व्यवहारेऽपि तुल्यः । तथा हि—अयमस्य विकार एवंभूतेनास्य कारणेन भवितव्यम्—तच्च कारणमियत्कार्याणां पारम्पर्येण जनकम् ।

ईदृशान्यस्य पूर्वाणि येनास्य सहकारिणः । न सन्ति सन्ति वेत्येतत् परचित्तविदीक्षते ॥ ५८१ ॥
पूर्वजन्मादिवित्तौ च पारंपर्यात् परस्परम् । सम्बद्धं सर्वथा वेत्ति ततः कल्पान्तराण्यपि ॥ ५८२ ॥
कल्पात् कल्पान्तरोत्पत्तौ कार्यकारणता विदा । वेत्ति सर्वं जगत्तत्त्वं तस्य चावान्तरस्थितिम् ।५८३।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है, वैसे ही अनन्त पदार्थों का युगपत् वेदन हो जाता है ॥५७९॥ अर्थात् सम्यक् अभ्यस्त शास्त्र का सामूहिक अर्थ एक क्षण में ही अवभासित हो जाता है, अनादि और अनन्त पदार्थों का भावना-द्वारा प्रतिभास हो जाता है। शास्त्र परिमित है, अतः युगपत् अवभासित हो जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि युगपत् प्रतिभान का कारण अभ्यास है, परिमितत्व नहीं। सकल शास्त्रार्थ प्रतिभासित होने से एकदम स्मरण हो जाता है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अपूर्व और अनधिगतार्थ भी अवभासित हो जाता है भावना के बल पर।

शंका—शास्त्रार्थ परस्पर सम्बद्ध और संलग्न होने के कारण युगपत् अवभासित हो जाता है किन्तु विश्व के समस्त पदार्थ असम्बद्ध हैं, अतः उनका एक साथ अवभास क्योंकर होगा ?

समाधान—कार्य-कारणभावादि सम्बन्ध तो समस्त पदार्थों में व्याप्त हैं, अतः शास्त्र के समान ही व्यवहार में भी परस्पर व्यतिषङ्ग क्यों नहीं ? ॥५८०॥ अर्थात् जैसे कार्य-कारणभावादि सम्बन्ध शास्त्रों के पदार्थों में हैं, वैसे ही व्यवहार में भी समान हैं। घटादि पदार्थ मृत्तिका के विकार हैं। इस प्रकार साक्षात् और परम्परया सम्बन्ध शास्त्र से लेकर व्यवहार तक व्याप्त हैं—इस कार्य के कारण ऐसे हैं और उसके सहकारी कारण ये हैं। यह कार्य सहकारी ऐसे नहीं—इस प्रकार का ताना-बाना पूरे विश्व में व्याप्त है। परचित्त-वेत्ता योगी को वह सब-कुछ अवभासित होता है ॥५८१॥ पूर्वजन्मादि के वेदन में भी परम्परया परस्पर-सम्बद्ध पदार्थों का ज्ञान योगी इसी कल्प में ही नहीं, कल्पान्तर में भी किया करता है ॥५८२॥ एक कल्प से कल्पान्तर की उत्पत्ति में कार्य-कारणादि के सम्बन्ध तत्त्वों को योगी जानता है ॥५८३॥ फलतः सकल जगत् का तात्त्विक ज्ञान सकल न्यायों का अवधूनन करके योगशास्त्रों में

शब्दार्थग्राहि यद् यत्र तज्ज्ञानं तत्र कल्पना।
स्वरूपं च न शब्दार्थस्तत्राध्यक्षमतोऽखिलम् ॥ २८७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

इति सकलपदार्थवेदनं सकलनयानवधूय दर्शितम्।
इह नयमनुसृत्य यत्परन्तदपि सुखेन परैः परीयताम् ॥ ५८४ ॥

(१८) प्रत्यक्षाभास-चिन्ता

यदि भावनाबलतः स्पष्टाकारं प्रमाणं कल्पनाज्ञानं न तर्हि प्रमाणं स्पष्टाकारस्याभावात्। अथार्थेऽस्पष्टाकारतेष्यतेऽन्यथा न प्रमाणम्। स्वरूपेऽपि तर्हीष्यताम्। न। स्वरूपन्तदेव स्पष्टाकारमर्थस्तु न तथा। ततः स्वरूपे तन्निर्विकल्पकमर्थे तत्सविकल्पकमिति स्मरणम्। अर्थस्मरणं स्वरूपे प्रत्यक्षम्। कुत एतत्। स्वरूपे तदभ्रान्तमर्थे भ्रान्तमिति। स्वरूपस्यानन्यसंवेद्यत्वात्। पररूपस्य तु वेदनान्तरेण। ततस्तेन तस्यान्यथा वेदनाद् बाधा ततो भ्रान्तिः। न हि स्वरूपे स्मरणस्य संभवस्तदैव तस्योत्पत्तेर्वेदनाच्च। यदि च स्वरूपमपि पूर्वमासीदिदानीं नास्तीति नेदानीं स्मरणम्भवेत्। अथ तेनैवेदानीं स्मरणं तदिदमायातं मृतेनापि कुक्कुटेन वासितव्यम्। अत एवाह—

कल्पनापि स्वसंवित्ताविष्टा नार्थे विकल्पनात्।
स्वरूपस्याविकल्पत्वात् परोक्षत्वाप्रसिद्धितः ॥ ५८५ ॥

तेनैव तस्य ग्रहणे साक्षात्करणसंभवात्।

अत एव संवेदनं प्रत्यक्षमुक्तम्। यतः—शब्दार्थग्राहि यदिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वर्णित है किन्तु यहाँ सब-कुछ न्याय के अनुरूप ही वर्णित है कि सुखपूर्वक उसका बोध हो सके ॥ ५८४ ॥

(१८) प्रत्यक्षाभास-चिन्ता—

यदि भावना-बलतः स्पष्टाकार प्रमाण प्राप्त होता है, तब कल्पना-ज्ञान प्रमाण नहीं होगा, क्योंकि उसमें स्पष्टाकारता नहीं होती। यदि कहा जाय कि अर्थों में अस्पष्टाकारता अभीष्ट ही माननी चाहिए, अन्यथा वह प्रमाण नहीं होगा। तब ज्ञानस्वरूप में भी अस्पष्टाकारता मान लेनी चाहिए—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप सदैव स्पष्टाकार होता है। हाँ, अर्थ (विषय) स्पष्टाकार नहीं होता। ज्ञान स्वरूप में सदैव स्पष्टाकार होने से निर्विकल्पक और अर्थ में सविकल्पक होता है, जैसे स्मरण अर्थ-स्मरण भी स्वरूप में प्रत्यक्ष होता है। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक ज्ञान स्वरूप में प्रत्यक्ष और अर्थ में भ्रान्त होता है। स्वरूप सदव स्वसंवेद्य होता है। अर्थाकारता पर-संवेद्य है। अतएव उसका अन्यथा वेदन होने से बाध, अतएव भ्रान्तता होती है। स्मरण ज्ञान का उसी क्षण में स्मरण सम्भव नहीं, क्योंकि उसी क्षण में उसकी उत्पत्ति होती है। यदि स्वरूप भी पहले था, इस समय नहीं, तब इस समय स्मरण नहीं हो सकता था किन्तु इस समय स्मरण होता है, इससे यह सिद्ध होता है कि मृत कुक्कुट भी बोलता है। अतएव कहा गया है—कल्पना भी स्वसंवित्ति में इष्ट है, अर्थ में नहीं, क्योंकि स्वरूप में विकल्प नहीं होता, अतएव परोक्षत्व की प्रसिद्धि नहीं होती ॥५८५॥ उसी से उसका ग्रहण होने पर साक्षात्करण सम्भव है।

अतएव संवेदन को प्रत्यक्ष कहा गया है, क्योंकि जो ज्ञान शब्दार्थ-ग्राही जिस

"कल्पनापि स्वसंवित्ताविष्टा नार्थे विकल्पनात्" इस दिङ्नागीय वचन की व्याख्या वार्तिककार ने की है—"शब्दार्थग्राहि" इत्यादि से। अर्थात् सविकल्पक और उससे इतर अर्थ का स्वरूप न शब्दार्थ है न सामान्य है और न ही परमार्थ-विषयक, किन्तु शब्दार्थग्राहि ज्ञान जिस विषय में होता है, वह वहाँ कल्पना कहलाता है। ज्ञानों का स्वरूप स्वलक्षण होता है। शब्द का अर्थ विषय नहीं होता, अतः वाच्य होने के कारण स्वरूप में अखिल ज्ञान अविकल्पक और अध्यक्ष होता है ॥ २८७ ॥

(१८) प्रत्यक्षाभासविचारः

वार्तिकालङ्कारः

सविकल्पस्यैतरस्य च स्वरूपन्न शब्दार्थो न सामान्यन्न परमार्थविषयः। तथा सति शब्दायोजनाऽभावात् सामान्यसंसर्गाभावाच्चाविकल्पकम्। शब्दार्थग्राहि च ज्ञानं कल्पना। तस्मादव्यक्तम्। स्पष्टाभता कथन्न भवति। स्पष्टमेव तत्किमुच्यैत नेति यतः—

तद्रूपस्य परित्यागादस्पष्टमिति गीयते। स्वरूपस्य परित्यागः कथमित्यवगम्यताम् ॥ ५८६ ॥

न हि स्वरूपन्त्यक्तुं शक्यम्। तत्परित्यागे संवेदनन्नास्तीत्युक्तम्। तथा च न स्वरूपसंवेदनं न परसंवेदनमिति सर्वाभाव एव। अथार्थापत्त्या वेदनमिति न स्वरूपवेदनम्। न। अर्थापत्तेरपि स्वरूपं संवेदनेनैव गन्तव्यम्। अथात्राप्यर्थापत्तिः सापि तथेत्यनवस्था। अर्थसंवेदने सिद्धे यद्यर्थापत्तिः किमर्थसंवेदनेऽर्थापत्त्या। अर्थे सिद्धे नार्थसंवेदने सिद्ध इति चेत्। केयमर्थस्य सिद्धिः। यद्युत्पत्तिः सर्वार्थवेदनप्रसङ्गः। अथार्थज्ञानन्तदायमर्थः। अर्थज्ञानादर्थज्ञानवेदनमिति साध्वी वाचोयुक्तिः। अथार्थाज्ज्ञापनाद-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अंश में होता है, वह उसी अंश में कल्पना माना जाता है। ज्ञान का स्वरूप शब्दार्थ-ग्राही नहीं, अतः वह कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष है।

अर्थात् सविकल्प और उससे इतर (निर्विकल्प) का स्वरूप न शब्दार्थ है, न सामान्य है और न परमार्थविषयक है, अतः शब्द-योजना का अभाव एवं संसर्गाभाव होने के कारण अविकल्पक है, क्योंकि शब्दार्थ-ग्राही ज्ञान कल्पना होता है। इसीलिए वह अव्यक्त है। स्पष्टाभता क्यों नहीं होती? यह प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि स्पष्ट ही होता है, वह स्पष्ट नहीं—ऐसा क्यों कहा गया? क्योंकि जिस रूप का परित्याग कर देने से वह अस्पष्ट कहलाता है। स्वरूप का त्याग हो ही कैसे सकता है—यह सोचना चाहिए ॥५८६॥ अर्थात् स्वरूप का त्याग कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका परित्याग हो जाने पर उसका संवेदन नहीं होता—ऐसा कहा जा चुका है। स्वरूप का त्याग हो जाने पर न स्वसंवेदन हो सकता है और न परसंवेदन, तब सर्वाभाव प्रसक्त होता है। अर्थापत्ति से संवेदन स्वरूप-वेदन नहीं कहलाता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अर्थापत्ति का भी स्वरूप संवेदनात्मक ही होता है। एक अर्थापत्ति का संवेदन दूसरी अर्थापत्ति से, दूसरी का तीसरी से, इस प्रकार अनवस्था क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि अर्थ का संवेदन सिद्ध हो जाने पर अन्य अर्थापत्ति की क्या आवश्यकता? यदि कहा जाय कि अर्थ के सिद्ध हो जाने पर भी अर्थ-संवेदन सिद्ध नहीं होता, तब प्रश्न उठता है कि यह अर्थ की सिद्धि क्या है? यदि उत्पत्ति है, तब सर्वार्थ-वेदन प्रसक्त होता है। यदि अर्थापत्ति अर्थज्ञान है, तब यह अर्थ होता है

वार्तिकालङ्कारः

र्थज्ञानवेदनम् । किमिदमर्थस्य ज्ञानत्वम् । ज्ञाने प्रतिभासनञ्चेत् । अज्ञाते ज्ञाने ज्ञानप्रतिभासनङ्कथं ज्ञायते । प्रतिभासमानोऽर्थः प्रत्यक्ष एवेति चेत् । प्रत्यक्षप्रसिद्धिश्चेत् तथैवास्तु किमर्थान्तिरकल्पनया । इदमेव प्रत्यक्षमन्यथा घटेत यदि प्रत्यक्षं ज्ञानन्न स्यात् । चक्षुर्व्यापारे सत्येतद् भवत्यन्यथा नेति किं ज्ञानेन । श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षमिति चेत् । केयं श्रोत्रादिवृत्तिः । ज्ञानमिति चेत् । तज्ज्ञानं परोक्षं कथं ज्ञातम् । श्रोत्रादिवृत्तिरेव ज्ञानमिति चेत् । श्रोतादिवृत्तिः प्रत्यक्षा तेन ज्ञायते ज्ञानं तु कुतः । अन्यथा किं श्रोत्रादिव्यक्त्येति चेत् । किं भवतः प्रयोजनमपेक्ष्य भावा भवन्ति ।

कारणादेव भावानां भावो नैषां प्रयोजनात् । प्रयोजनं विना भावो न भवेदन्यथा तव ।। ५८७ ।।

यदि नामाश्रोत्रसमुम्मुखीभूतं ज्ञानस्य किमायातम् । यदि ज्ञानन्नोदपत्स्यत परोक्ष एवार्थः स्यात् । यदि ज्ञानमुत्पन्नमर्थस्य किमायातन्तथापि परोक्ष एव स्यात् । न हि ज्ञानस्योत्पत्तिरर्थस्य प्रत्यक्षता । परोक्षत्वप्रसङ्गात् । तस्याः परोक्षत्वात् । दृश्यते चेत् । यथा तर्हि दृश्यते तथैवास्तु । त्वापि कथमिति चेत् । तदाकारताज्ञानस्यार्थस्य ज्ञातत्वन्नाम । सा च स्वसंवेदनगम्या न तदाकारज्ञानान्तरगम्या येनानवस्था पतेत् । तस्मात्

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कि अर्थ-ज्ञान से अर्थ-ज्ञान का संवेदन । तब तो नितान्त सराहनीय वचन-भङ्गी प्राप्त होती है । यदि अर्थ-ज्ञापन से अर्थ-ज्ञान-वेदन कहा जाता है, तब प्रश्न उठता है कि यह अर्थ का ज्ञानत्व क्या है ? यदि ज्ञान में प्रतिभासन ही ज्ञानत्व है, तब उस पर भी प्रश्न उठता है कि ज्ञान के अज्ञात होने पर ज्ञान-प्रतिभासन क्योंकर ज्ञात होगा ? प्रतिभासमान अर्थ प्रत्यक्ष ही होता है—ऐसा मानने पर यदि प्रत्यक्ष की प्रसिद्धि है, तब अर्थापत्ति की कल्पना से क्या लाभ ? यही प्रत्यक्ष यदि अन्यथा घटता है, तब प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होगा । चक्षु का व्यापार होने पर यह (प्रत्यक्ष) होता है, अन्यथा नहीं, अतः ज्ञान से क्या लाभ ? श्रोत्रादि की वृत्ति प्रत्यक्ष है—ऐसा मानने पर जिज्ञासा होती है कि यह श्रोत्र-वृत्ति क्या है ? यदि उसे ज्ञान माना जाता है, तब वह ज्ञान परोक्ष है, ज्ञात क्योंकर होगा ? श्रोत्रादि की वृत्ति ही ज्ञान है—ऐसा मानने पर उससे श्रोत्रादि-वृत्ति प्रत्यक्ष होने से ज्ञात होती है, ज्ञान कैसे होगा ? अन्यथा श्रोत्रादि व्यक्ति की क्या आवश्यकता ? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि क्या जगत् के सभी भाव-पदार्थ आपके प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही बनाये जाते हैं ? यदि नहीं, तब जगत् को किसी व्यक्ति के लिए ऐसा नहीं पूछ सकते कि इसकी क्या आवश्यकता ? सभी भाव पदार्थों की निष्पत्ति अपने नियत कारण से होती है, किसी प्रयोजन के लिए नहीं, अन्यथा आपके लिए कोई भी भाव प्रयोजन के बिना न होगा ।। ५८७ ।।

यदि श्रोत्र सम्मुखीभूत नहीं, तब ज्ञान पर उसका क्या प्रभाव ? यदि ज्ञान नहीं होगा, तब अर्थ परोक्ष ही रहेगा । यदि ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब अर्थ का क्या लाभ ? ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर भी वह परोक्ष ही रहेगा, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति को तो कोई अर्थ की प्रत्यक्षता नहीं होती । अतः अर्थ में परोक्षत्व प्रसक्त होता है, क्योंकि उत्पत्ति परोक्ष है । अर्थ की प्रत्यक्षता देखी जाती है —ऐसा मानने पर कहा जा सकता है कि फिर जैसा देखा जाता है, वैसा मान लेना चाहिए । आपके मत में ज्ञातत्व क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान की अर्थाकारता अर्थ का ज्ञातत्व है । वह स्वसंवेदन-जन्य है, ज्ञानान्तर-ज्ञान-जन्य नहीं कि अनवस्था हो । फलतः स्वसंवेदन ही

त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम् ।
अविकल्पकमेकञ्च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम् ॥ २८८ ॥

अब प्रत्यक्षाभास का प्रसङ्ग उपस्थित होता है। कल्पनाज्ञान तीन प्रकार का होता है। (१) प्रत्यक्षाभास, जैसे मरुमरीचि में जलादि व्यवसायी भ्रान्ति ज्ञान। (२) सांवृति में संवादी व्यवसायी ज्ञान। (३) पूर्वदृष्ट-जनित संस्कार के आधार पर लिङ्गानुमेयादि ज्ञान। इनमें अविकल्पक प्रत्यक्षाभास कैसा होता है? इसका उत्तर है कि आश्रयीभूत इन्द्रिय की सदोषता के कारण तिमिरादि जनित केशोण्ड्राकादि का ज्ञान, इस प्रकार प्रत्यक्षाभास के चार भेद हैं ॥ २८८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्वसंवेदनमेव ज्ञानस्वरूपसाधनमिति युक्तम् ।

यदि तर्हि भावनाबलादुपजातवैशद्यं प्रत्यक्षं स्वप्नज्ञानमपि प्रत्यक्षप्राप्तमविसंवादकत्वमपि तत्रास्त्येव। तत्रापि गमनप्राप्तयः। नैतदस्ति। यतः—

भ्रान्तिसंवृतिसंज्ञानमनुमानानुमानिकम् । स्मार्त्ताभिलाषिकञ्चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम् ॥ ५८८ ॥

द्विविधः प्रत्यक्षाभो विकल्पो विप्लवश्च। पुनश्चतुर्विधः। तदाह—त्रिविधङ्कल्पनाज्ञानमिति ।

स एव द्विविधो विकल्पस्य त्रिधा भेदाच्चतुर्विधः। कल्पनापोढं प्रत्यक्षन्ततो विकल्पस्त्रिविधोऽपि प्रत्यक्षाभासः। तत्र भ्रान्तिज्ञानं मृगतृष्णादिषु तोयादिकल्पनाप्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षाभासम्। संवृतिसत्स्वर्थान्तराध्यारोपात् तद्रूपकल्पनाप्रवृत्तत्वात्। अनुमानतत्फलादिज्ञानं पूर्वानुभूतकल्पनयेति न प्रत्यक्षम्। प्रभास्वरस्पन्दमानमरीचिनिचयप्रतिभासं प्रत्यक्षमेव। तोयादिकल्पना तु प्रत्यक्षाभासः। तोयेऽसाक्षात्करणाकारत्वात्। संवृतिसत्स्वपि रूपादिग्रहणमात्रमेव प्रत्यक्षम्। अवयविनि तु तत्समवायकारण-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञानस्वरूप का साधन है—ऐसा मानना ही युक्त है।

शंका—यदि भावना के बल पर उपजायमान वैशद्य-ज्ञान प्रत्यक्ष है, तब स्वप्न-ज्ञान भी प्रत्यक्ष मानना होगा, अविसंवादकत्व भी उसमें होता है, क्योंकि स्वप्न में भी गमन और प्राप्त्यादि क्रियाएँ होती हैं।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि भ्रम, संवृति, अनुमान, आनुमानिक, स्मार्त ज्ञान, आभिलाषिक ज्ञान तथा केशोण्डुकादि ज्ञान प्रत्यक्षाभास कहलाते हैं। प्रत्यक्षाभास दो प्रकार का होता है—विकल्प तथा विप्लव। उसके चार भेद होते हैं—तीन प्रकार का कल्पना-ज्ञान तथा एक निर्विकल्पक प्रत्यक्षाभास। अर्थात् कथित द्विविध विकल्प के चार भेद हो जाते हैं। कल्पनापोढ भ्रम ज्ञान भी प्रत्यक्षाभास है, जैसे मृगतृष्णादि में जल-ज्ञान कल्पनामात्र से प्रवृत्त होने के कारण प्रत्यक्षाभास है। शुक्ति में अध्यारोपित रजतादि-ज्ञान सांवृतिक (आविद्यिक) आभास ज्ञान है। अनुमान और आनुमानिक फलादि-ज्ञान केवल पूर्वानुभूत कल्पना पर निर्भर होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं। प्रभास्वर एवं स्पन्दमान मरु-मरीचियों में प्रतिभासित जल-ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। हाँ, जल-कल्पना तो प्रत्यक्षाभास है, क्योंकि जल में साक्षात्करणाकारता का अभाव होता है। संवृतिसत् में भी रूपादि का ग्रहण मात्र प्रत्यक्ष होता है। पटादि अवयवी पदार्थों में पूर्व-दृष्ट रूप-स्पर्शादि का अध्यारोप हो जाता है अथवा तन्तु-समूहादि में

अनक्षजत्वसिद्ध्यर्थमुक्ते द्वे भ्रान्तिदर्शनात् ।
सिद्धानुमादिवचनं साधनायैव पूर्वयोः ॥ २८९ ॥

अनक्षजत्व की सिद्धि के लिए दो ज्ञान भ्रान्ति-दर्शन-जनित कहे गये हैं। जो पूर्वानुभूत समय-स्मृतिभावी ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे अनुमानादि अनुभूत समय-स्मृति-सापेक्षा अवयवी और जलादि की कल्पना। इससे विरुद्धोपलब्धि कही गई है ॥ २८९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

त्वेनाभिमतेन साक्षात्कारणमर्थान्तरस्य स्पर्शादेः पूर्वदृष्टस्याध्यारोपात् । द्रव्यस्य वा पूर्वपूर्वप्रत्ययेन कल्पितस्य । नावयवी रूपादिव्यतिरेकेण क्वचित् प्रत्यक्षे प्रतिभासित इति । अनुमानज्ञानं लिङ्गज्ञानम् । तत्फलं लिङ्गज्ञानन्न पूर्वानुभूतिमन्तरेण । एतच्चानुमानज्ञानं क्वचिदप्रत्यक्षम् । क्वचित्तु प्रत्यक्षमेव अकस्माद धूमादग्निप्रतिपत्तौ । न हि पूर्वानुभूतकल्पनास्ति । अविकल्प्य कथं लिङ्गप्रतिपत्तिरिति चेत् । तथैव दृष्टेः । न खलु दृष्टमन्यथा भवितुं युक्तम् ।

कस्मात् पुनः कल्पनाप्रभेदनिर्देशः । उदाहरणप्रपञ्चार्थत्वादिति चेत् , न, लक्षणस्याभेदात् । प्रपञ्चमात्रनिर्देशे त्वतिप्रसङ्गः । नैतदस्ति । अन्यदस्ति प्रयोजनमिति । तथा हि—अनक्षजत्वसिद्ध्यर्थमुक्त इति ।

अक्षजमेव तदिति परेषाम्भ्रान्तिर्मृगतृष्णिकाजलज्ञाने । तथा हि—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि प्रत्यक्ष" मित्यत्र लक्षणे मरीचिजलज्ञानव्यवच्छेदायाव्यभिचारिग्रहणं कृतम् । यदि पुनरनिन्द्रियजमेव तत् स्यात् प्रथमपदेनैव व्यावर्त्तनात् किमेतदर्थेनाव्यभिचारिग्रहणेन । द्विचन्द्रादिज्ञानस्यानर्थजन्मतस्य निवृत्त्यर्थमिति चेत् , न, अर्थसन्निकर्षग्रहणेनैव तस्य व्यावर्त्तनात् । इन्द्रियग्रहणेनानिन्द्रियजस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पूर्व-पूर्व प्रतीति के द्वारा कल्पित द्रव्य (अवयवी) का अध्यारोप हो जाता है। वस्तुतः रूपादि से अतिरिक्त कोई पटादिरूप अवयवी प्रत्यक्षतः अवभासित नहीं होता। अनुमान ज्ञान का अर्थ है—करणभूत लिङ्ग-ज्ञान। उसका फलभूत लिङ्ग-ज्ञान पूर्वानुभूति के विना प्रत्यक्ष नहीं होता। यह अनुमान ज्ञान कहीं अप्रत्यक्ष होता है और कहीं प्रत्यक्ष होने पर भी अकस्मात् धूम-दर्शन से जनित अग्नि की प्रतिपत्ति होने पर होता है, क्योंकि कोई पूर्वानुभूत कल्पना नहीं। विकल्प के बिना लिङ्ग-प्रतिपत्ति कैसे? इसका उत्तर है कि वैसे ही देखा जाता है। इष्ट (प्रत्यक्ष) कभी अन्यथा नहीं होता।

यह कल्पना-भेद का निर्देश किसलिए? इसके उत्तर में उदाहरण-प्रदर्शनार्थ—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लक्षण का भेद नहीं, प्रपञ्चमात्र का निर्देश करने पर अतिप्रसङ्ग होता है। वस्तुतः अन्य ही प्रयोजन है, वही दिखाते हैं—अनक्षजत्वेत्यादि से। मरुमरीचि में जल-ज्ञान प्रत्यक्ष है, ऐसी न्यायमत में भ्रान्ति है, जैसा कि न्याय-सूत्रकार ने कहा है—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि प्रत्यक्षम्" (न्याय० सू० १।१।४)। इस लक्षण सूत्र में मरीचि-जल-ज्ञान की व्यावृत्ति के लिए "अव्यभिचारि" पद का ग्रहण किया गया है। यदि वह ज्ञान इन्द्रिय-जन्य न होता, तब प्रथम पद (इन्द्रियार्थोत्पन्नम्) के द्वारा ही उसकी व्यावृत्ति हो जाती, "अव्यभिचारि" पद के ग्रहण की क्या आवश्यकया होती? यदि कहा जाय कि

संकेतसंश्रयाऽन्यार्थसमारोपविकल्पने ।

न प्रत्यक्षानुवृत्तित्वात् कदाचिद् भ्रान्तिकारणम् ॥ २९० ॥

रूपादि अनेक गुणों और कपालादि अनेक अवयवों में एकार्थकारिता का ख्यापन करने लिए "घटः" इस प्रकार शब्द-सापेक्ष कल्पना एवं दृश्यमान मरीचि-समूह में अन्यार्थ (जलादि) की कल्पना- ये दोनों कल्पनाएँ प्रत्यक्षता-भ्रान्ति की कल्पक होती हैं ॥ २९० ॥

वार्तिकालङ्कारः

व्यावर्त्तनम् । संवृतिसद्विषयस्य त्विन्द्रियजत्वाभिमानः परेषां सविवाद एव । अनुमानादिवचनन्तर्हि व्यर्थम् । न हि तेनानिन्द्रियजत्वं साध्यते । सिद्धत्वादनुमानादेरनिन्द्रियजत्वस्य । अत्रोच्यते—

सिद्धस्याप्यनुमानादेस्साधनत्वादुपात्तता । दृष्टान्तेन हि सिद्धेन सर्वत्रैव प्रयोजनम् ॥ ५८९ ॥

न ह्यसिद्धमसिद्धेन साध्यते । किमत्र भ्रान्तिकारणं येन साध्यता पूर्वयोरिति चेत् । आह—संकेतसंश्रयान्यार्थेति ।

संकेतसंश्रयोऽवयवी संकेतमात्रस्य तद्व्यवस्थाहेतुत्वात् । अन्यार्थो जलम् । समारोपोऽधिकाध्यारोपः । विकल्पनं स्मरणं जलं हि पूर्वदृष्टत्वात् स्मर्यते । न तस्यारोप एव केवलो दर्शनस्य समतया भावात् । अथवा विपर्यय आरोपो जलस्य विकल्पनमवयविनः । उभयत्र वोभयमिति । ते च समारोपविकल्पने प्रत्यक्षस्येन्द्रियजस्यासन्निवृत्ती कदाचिदभवत इतीदमसन्नवृत्तित्वं वा तत्र भ्रान्तिकारणन्त एव वा तेन भ्रान्तिकारण-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्विचन्द्रादि-ज्ञान जो अर्थ से जनित नहीं, उसकी निवृत्ति के लिए उक्त पद है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अर्थ-सन्निकर्ष-ग्रहण के द्वारा ही उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। सूत्र में इन्द्रिय-पद का ग्रहण होने से इन्द्रियाजन्य की व्यावृत्ति हो जाती है। संवृत्तिसत् विषय में नैयायिकों का अभिमान है कि वह इन्द्रिय-जन्य है, वह विवादास्पद है। तब अनुमानादि-वचन-ग्रहण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि उसके द्वारा अनिन्द्रिय-जन्यत्व सिद्ध नहीं किया जाता, क्योंकि अनुमानादि में अनिन्द्रिय-जन्यत्व सिद्ध है। सिद्धता और साध्यता की ऐकान्तिकता पर हमारा कहना यह है कि अनुमानादि सिद्ध पदार्थों में भी साध्यता मानी जाती है, सिद्ध दृष्टान्त के द्वारा साध्य-सिद्धिरूप प्रयोजन सिद्ध होता है ॥ ५८९ ॥

असिद्ध साधन के द्वारा किसी असिद्ध वस्तु की सिद्धि नहीं की जाती। प्रत्यक्ष और अनुमानरूप सिद्ध प्रमाणों में साध्यता-भ्रान्ति का क्या कारण ? इसका उत्तर दिया जाता है—संकेतसंश्रयेत्यादि से। संकेत-कल्पित पटादि अवयवी पदार्थ हैं, क्योंकि उनका व्यवस्थापक संकेतमात्र ही होता है। मरुमरीचि में जलरूप अन्यार्थ की कल्पना होती है। कल्पना का अर्थ स्मरण है, अध्यास या अध्यारोप स्मरणात्मक ही है, जैसा कि ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा गया है-"स्मृतिरूपः परत्रपूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः"। मरुमरीचि में पूर्वदृष्ट जल का स्मरण और अध्यारोप किया जाता है। वही वहाँ सत्यत्वेन प्रतिभासित होता है। अथवा जल का वैसे ही विपर्यय या आरोप होता है, जैसे तन्तु-समूह में पटादि अवयवी का। समारोप और कल्पना का परस्पर विनिमय होता है। मरुमरीचि को जल समझना आरोप और मरीचि-तरङ्गों को देख कर जल की

यथैवेयं परोक्षार्थकल्पना स्मरणात्मिका ।
समयापेक्षिणी नार्थं प्रत्यक्षमध्यवस्यति ॥ २९१ ॥

अतः जैसे यह अनुमानानुमानिकादि की परोक्ष कल्पना पूर्वगृहीत-समयापेक्षिणी स्मरणादिरूप प्रत्यक्ष-विषय का ग्रहण न कर कल्पित को ग्रहण करती है ॥ २९१ ॥

तथानुभूतस्मरणमन्तरेण घटादिषु ।
न प्रत्ययोऽनुयँस्तच्च प्रत्यक्षात् परिहीयते ॥ २९२ ॥

वैसे ही संकेत-काल में व्यवहार-लाघवार्थ कल्पित द्रव्यादि का पश्चात् स्मरण के बिना घटादि में "घटोऽयम्"—ऐसी एकत्व प्रतीति नहीं होती। वह प्रतीति संकेत-समारोपित अर्थ का आरोप न करके प्रत्यक्षता से च्युत हो जाती है, क्योंकि वह वस्तु-विषयिणी होती है और संकेत-सापेक्ष प्रतीति उसके विपरीत होती है ॥ २९२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

मिति। अस्मिन् भ्रान्तिकारणे सति दृष्टान्तद्वारेणानुमानम्। तथा हि—यथैवेयं परोक्षार्थकल्पनेति।

अनुमादिकल्पना हि सम्बन्धग्रहणापेक्षिणी सम्बन्धग्रहणमेव च समयः। ततस्सम्बन्धात् परोक्षार्थप्रतिपत्तिरिति नाध्यक्षतः। साक्षात्करणेन हि सा भवेत्। एवं घटादिष्वप्येकेन केनचिदिन्द्रियेण रूपादिकम्प्रतिपन्नन्ततः परिशेषे रसादौ स्मरणं पूर्वानुसारतः। रसादावेव स्मरणं नावयविनीति चेत्, न, रसादिव्यतिरेकेण तस्यानुपलक्षणात्। यदेतच्छुक्लन्तदेव कर्कशमित्याद्येकताप्रतिपत्तिविषयोऽवयवीति चेत्। तथा हि न तावद्वर्णस्य स्पर्शस्य चैकता। तत एकत्वप्रतीतिरेव न स्याद् यद्यवयवी न भवेत्। यद्यप्यवयवी तथापि कथं वर्णस्पर्शादीनां सामानाधिकरण्यम्। न हि तयोरेकता।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ऊहा कल्पना है। ये दोनों ही भ्रान्ति के कारण हैं। भ्रान्ति की अवस्था में दृष्टान्त के द्वारा अनुमान किया जाता है—"यथैवेत्यादि" से।

अनुमानादि की कल्पना दृष्टान्तापेक्षिणी होती है। दृष्टान्त में ही साध्य और साधन का व्याप्तिरूप सम्बन्ध गृहीत होता है। सम्बन्ध ग्रहण को ही समय कहा जाता है। उस सम्बन्ध के द्वारा वह्न्यादि परोक्षार्थों की प्रतिपत्ति होती है। प्रत्यक्ष से नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से साक्षात्करणात्मक प्रतिपत्ति होगी। इसी प्रकार घटादि में भी किसी एक इन्द्रिय के द्वारा रूपादि ज्ञात होते हैं और शेष रसादि का स्मरण हो जाता है। यदि कहा जाय कि स्मरण रसादि का ही होगा, अवयवी का नहीं। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि रसादि-समूह से भिन्न अवयवी की पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। 'यदेतत् शुक्लम्, तदेव कर्कश' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा का विषयीभूत अवयवी भिन्न सिद्ध होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि रूप और स्पर्शादि की वर्णता की एकता सम्भव नहीं। अतः एकत्व की प्रतीति नहीं हो सकेगी। यदि कोई एक पटादि अवयव नहीं होगा। अवयवी के मान लेने पर भी स्पर्शादि वर्णों का समानाधिकरण कैसे बनेगा? क्योंकि उनकी एकता नहीं। अवयवी रूप एक अधिकरण में रहने के कारण समानाधिकरण बन जायेगा। ऐसा तभी माना जा सकता है, जबकि उपचार माना जाय। उपचार की यहाँ प्रतीति नहीं होती। प्रतीति होने पर उपचार के आधार पर

वार्तिकालङ्कारः

एकाधिकरणत्वादेकतेति चेत्। उपचार एषः। न चात्रोपचारप्रतिपत्तिः। प्रतिपत्तौ चोपचारस्य नावयविसिद्धिस्स्यात्। अन्यथाऽप्युपचारेण सामान्याधिकरण्यसम्भवात्।

समानदेशताभावादेकार्थविनियोगतः। तद्विकारविकारित्वादेकता व्यपदिश्यते ॥५९०॥

य एव देशः स्पर्शस्य स एव रूपस्य प्रतीयते तेनैकताध्यवसायः। यदेवोदकादिधारणं स्पर्शस्य कार्यन्तत्रैव रूपस्यापि व्यापारः। स्पृश्ये मसृणतामापाद्यमाने रूपस्यापि चैकचिक्यादिता। तत एकमेवेदमिति व्यवहाराध्यवसायाः। यदि पुनरन्यदेवाधिकरणम्। रूपादिभ्यस्तेषान्तस्य विवेकेन प्रतिपत्त्या भाव्यम्। अप्रतीयमानन्तूपलब्धिलक्षणप्राप्तमसदिति। अथावयविनमन्तरेण परस्परस्य कस्मान्न विघटनम्।

सत्यप्यवयविन्येतत् कस्मान्न विघटनं त्रये। समवायसम्बन्धबलात् तस्याप्यस्तु वियोगिता ॥५९१॥
अयमेव स्वभावश्चेदादावेवेदमुच्यते। रूपादीनां स्वभावोऽयं स्वहेतोरुपपत्तिभाक् ॥५९२॥
समवायस्य नित्यस्य कुत एतद्विचिन्त्यताम्।

यद्यप्यवयवी परस्तथापि त्रितयं जातं कस्मात् त्रयस्यापि परस्परस्य न विघटनम्। अथ समवायो हेतुरविघटनेऽसावपि कस्मान्न विघटते। तस्य स एव स्वभाव इत्यपि नोत्तरम्। रूपादीनामेव स स्वभावोऽस्तु किमर्थान्तरकल्पनया। रूपादीनाञ्च स्वहेतोः स्वभाव इति युक्तिमदेतत्। समवायस्य त्वहेतुकस्य कुतः स्वभावः। समवायाश्रयस्य स्वहेतोस्स स्वभावो येन समवाय एवमिति चेत्। तत्किमनया परम्परया। तैः स्वहेतोस्तथाभूतैर्भाव्यं येन समवायस्तेषामविघटनं कुर्यात्। तद्धेतुरेव तदविघटने हेतु-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उपचार के आधार पर गौण समानाधिकरण माना जाता है। रूप और स्पर्श की वस्तुतः एकदेशवृत्तिता न होने पर भी एकार्थ विनियोग के कारण अथवा तद्विकारित्व के द्वारा एकता का उपचार हो जाता है ॥ ५९० ॥ अर्थात् जो स्पर्श का देश है वही रूप का। इस प्रकार का उपचार देखकर एकता का अध्यवसाय होता है। जो उदकादिधारण रूप का स्पर्श होता है, वही रूपादि का भी व्यापार है। स्पर्श के आधारभूत द्रव्य में मस्रिणता का जो आरोप होता है, वही रूप की भी है। फलतः पटादि द्रव्य में एकता पर्यवसित होती है। यदि अधिकरण भिन्न हो तब उनकी विविक्त प्रतिपत्ति होनी चाहिए। अप्रतीयमान की सत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि कोई अवयवी नहीं तब घट-पटादि का विघटन क्यों नहीं हो जाता? इस प्रश्न पर भी प्रश्न उठता है कि अवयवी के होने पर भी वह विघटन क्यों नहीं होता? समवाय सम्बन्ध के बल पर भी वियोगिता का सन्देह ही बना रहता है ॥ ५९१ ॥ यदि अवयवी का स्वभाव ही अविघटन रूप माना जाता है तब पहले ही यह क्यों नहीं कह दिया जाता कि अवयवी अपने कारणों के आधार पर स्वभावतः अविघटनात्मक ही होता है ॥ ५९२ ॥

नित्यभूत समवाय में यह सामर्थ्य कैसे? यह भी चिन्ता का विषय है। यद्यपि अवयवी भिन्न है तथापि रूप, स्पर्श और कपालादि का विघटन क्यों नहीं होता? यदि समवाय को हेतु माना जाता है तब यह समवाय भी विघटित क्यों नहीं होता? यह प्रश्न उठता है। यदि उसका ऐसा स्वभाव ही माना जाय तब भी प्रश्न होता है कि उसका ऐसा स्वभाव क्यों? रूप और स्पर्शादि का भी अविघटनात्मक स्वभाव माना जा सकता है, अवयवी की कल्पना की क्या आवश्यकता? रूपादि का वैसा स्वभाव अपने हेतुओं

अपवादश्चतुर्थोऽत्र तेनोक्तमुपघातजम् ।
केवलं तत्र तिमिरमुपघातोपलक्षणम् ॥ २९३ ॥

२८८वें वार्त्तिक में प्रत्यक्षाभास के चार भेद बताये हैं। उसमें चौथे प्रत्यक्षाभास का प्रतिपादन किया जा रहा है। इसका भी निर्देश करते हुए ऊपर कहा जा चुका है—"सतैमिरम्"। अर्थात् प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण किया गया है—"कल्पनापोढमभ्रान्तं"। उसी की व्याख्या है—"अतैमिरम्"। 'तिमिर' शब्द नेत्र-शक्ति के उपघातक सभी दोषों का उपलक्षण है। नेत्र में तिमिर, तिरमिरा रोग आ जाने से आकाश में केश-ग्रन्थियाँ उड़ती हुई दिखायी देती हैं, उनका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्षाभास है ॥ २९३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

रिति किमत्र न्यूनमास्ते यदर्थं परम्परेष्यते। एवमेतद् दृश्यत इति चेत्। भवतु यदि दृश्यते दृश्यमानस्यान्यथा विकल्पयितुमशक्यत्वात्। रूपादय एव तु दृश्यन्ते परस्परमवियुक्ता न तु तदधिकमित्येषामेव स स्वभावः कल्प्यताम्। तस्मादवयव्यध्यारोपो न प्रत्यक्षः।

तदस्य न्यायप्रपञ्चस्य प्रदर्शनार्थंन्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपन्यासः। सतैमिरिकग्रहणं किमर्थम्। तैमिरमपि सविकल्पकमिति कश्चित्। तद्व्यावर्त्तनार्थन्तद्वचनमन्यथा स्मार्त्तादिग्रहणेनास्यापि ग्रहणात् पृथगुपादानमनर्थकम्। यद्यविकल्पकं कल्पनापोढत्वात् प्रत्यक्षम्प्राप्तम्। न सर्वं कल्पनापोढं प्रत्यक्षमपि त्वभ्रान्तत्वे सति। "अभ्रान्तं कल्पनापोढं प्रत्यक्षं" न सर्वम्। यतः प्रकल्प्यापवादविषयं तदपवर्जिते तूत्सर्गः प्रवर्त्तते। कोऽपवाद इति चेत्। ततो हि—अपवादश्चतुर्थोऽत्रेति।

त्रिविधाद् विकल्पाच्चतुर्थन्तैमिरग्रहणमपवादः। कल्पनापोढमिति सामान्येन

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

से प्राप्त हो सकता है, किन्तु अहेतुक समवाय का वैसा स्वभाव कैसे बनेगा? समवाय के आश्रय-भूत द्रव्य का ऐसा स्वभाव अपने कारण से उत्पन्न होता है कि समवाय को वह स्वभाव प्राप्त होता है, तब इस परम्परा की क्या आवश्यकता? उसके हेतु ही ऐसे माने जा सकते हैं कि जिससे अवयवी अविघटनात्मक हो जाता है, उसकी हेतु परम्परा मानना व्यर्थ है, यदि कहा जाय कि वह ऐसा ही अनुभव-सिद्ध है, तब अनुभव-सिद्ध पदार्थ पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार तो दृश्यमान रूप, स्पर्शादि अनेक पदार्थों का वैसा स्वभाव माना जा सकता है, एक अवयवी की कल्पना किस लिए? निष्कर्ष यह है कि अवयवी का अध्यारोप प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं।

इस न्याय-प्रपञ्च का प्रदर्शन करने के लिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का उपन्यास किया जाता है। तैमिरिक का उपन्यास किस लिए? इस प्रश्न का उत्तर है—तैमिरिक ज्ञान भी किसी के मत में सविकल्पक माना जाता है उसकी व्यावृत्ति करने के लिए उस वचन का उपन्यास किया जाता है, अन्यथा स्मार्तादि का ग्रहण करने पर भी इसका ग्रहण हो जाता है, पृथक् उपादन निरर्थक है। यदि अविकल्पक कल्पनापोढ होने के कारण प्रत्यक्ष है, तब सभी कल्पनापोढ ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। अपितु अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। निर्विकल्पक ज्ञानों में भ्रमात्मक ज्ञान का अपवाद किया जाता है। यह अपवाद ज्ञान क्या है? इसका उत्तर है त्रिविध विकल्प के

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यक्षविधानमतैमिरमिति विशेषे प्रत्यक्षाभासताविधानम्। विशेषविहितश्च सामान्यविहितस्य बाधकम्। किमत्र प्रमाणम्। सामान्यप्रतिपत्तिर्विशेषप्रतिपत्त्या बाध्यते। यतः—

प्रागदर्शनमात्रेणानुमानं शेषवद् यदा। कल्पनापोढतामात्राद् विपक्षस्य प्रवर्तते ॥५६३॥
तस्यातीव प्रसक्तस्य विशेषे बाधकं स्फुटम्। ततस्तदपरत्रैव तस्य पूर्वस्य वृत्तिता ॥५६४॥

न हि सामान्यतो दृष्टमदर्शनमात्रेण विपक्षस्यानुमानमपरेण प्रत्यक्षेणानुमानेन वा न बाध्यते। तेन प्रत्यक्षसिद्धः। सामान्यविशेषयोर्विशेषे बाध्यबाधकभावः। तदर्थसूचकयोरपि वचसोः स एव बाध्यबाधकभावः। आचार्यस्तर्हि सामान्यतो दृष्टानुमानाल्लक्षणं कस्मादाह। न आचार्येण विशेषतो दृष्टमेवानुमानमभिप्रेतं तस्य तु योऽर्थः स एकेन वचसा निर्देष्टुमशक्य इत्यपवादसहितं नोक्तवान्। किमर्थन्तर्हि कल्पनापोढग्रहणसहितमेवाभ्रान्तग्रहणन्न कृतं किङ्गजस्नानाङ्गीकरणेन। सतैमिरग्रहणेन चापवादेनाभ्रान्तग्रहणार्थो लब्धव्योऽन्यथा वेति को विशेषः। अनन्तरमेव कल्पनापोढग्रहणस्य लभ्यतामिति चेत्, न, विशेषाभावात्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पश्चात् चतुर्थं तैमिरिक ज्ञान का वर्जन अपवाद है। प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण है—'कल्पनापोढं' और विशेष लक्षण है—'अभ्रान्तं'। विशेष-विहित पदार्थ सामान्य-विहित का अपवादक या बाधक होता है। इसमें क्या प्रमाण? सामान्य प्रतिपत्ति का विशेष प्रतिपत्ति से बाध होना न्यायसिद्ध है, क्योंकि पहले अदर्शन मात्र शेषवद् अनुमान कल्पनापोढ मात्रता के आधार पर विपक्ष में भी प्रवृत्त हो जाता है ॥ ५६३ ॥ उसका विशेष अर्थ में बाध हो जाता है। अतः विशेष स्थल को छोड़कर ही सामान्य में उसकी प्रवृत्ति सीमित हो जाती है ॥ ५६४ ॥

सामान्यतो दृष्ट का अदर्शनमात्र से विपक्ष के अनुमान का अन्य प्रत्यक्ष के द्वारा बाध नहीं होता—ऐसा नहीं, किन्तु बाध होता है। अतः सामान्य-विशेष का बाध्यबाधकभाव प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इतना ही नहीं, अपितु उस अर्थ के सूचक शब्दों का भी बाध्य-बाधकभाव होता है।

प्रश्न—आचार्य दिङ्नाग ने 'इदं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकत्वात्' इस प्रकार के 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान के द्वारा 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षं' इस प्रकार का लक्षण क्यों किया?

उत्तर—यद्यपि आचार्य को 'विशेषतो दृष्ट अनुमान' अर्थात् 'इदं प्रत्यक्षं अभ्रान्तत्वे सति निर्विकल्पकत्वात्' इस प्रकार का 'विशेषतो दृष्ट अनुमान' अभिप्रेत है, तथापि उसका प्रदर्शन एक वाक्य के द्वारा सम्भव नहीं। अतः भ्रान्त अर्थ के अपवाद के द्वारा लक्षण नहीं किया। तब यह प्रश्न उठता है कि 'अभ्रान्तं कल्पनापोढं' ऐसा एक लक्ष में न करके 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षं' ऐसा लक्ष करके 'अभ्रान्तं प्रत्यक्षं' इस वाक्य के भ्रम का निराकरण करना वैसा ही है जैसा कि गज स्नान करके अपने शरीर पर धूलि फेंक देता है। आचार्य का आशय यह है कि दोनों पद्धतियों में कोई विशेषता नहीं। 'अभ्रान्तं कल्पनापोढं' ऐसा लक्षण करना अथवा 'निर्विकल्पकत्वं प्रत्यक्षं, अभ्रान्तं प्रत्यक्षं' ऐसा लक्षण करना अनुचित प्रतीत नहीं होता। यदि प्रश्न किया जाय कि 'अभ्रान्त' पद का पश्चाद् ग्रहण अनुचित और पूर्व ग्रहण उचित था तो उसका समाधान

वार्तिकालङ्कारः

"अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणम् ।"

बाध्यबाधकभावश्च प्रमाणविषयः सूचितो यथा स्यादित्येवङ्कारणम् । न ह्यवश्यम्बाधकमनन्तरमेव भवति ।

अभ्रान्तग्रहणमेव कस्मान्न क्रियत इति चेत् । सत्यमेतत् । साक्षात्कारि हि प्रत्यक्षन्तच्चाभ्रान्तग्रहणेन शक्यन्निदर्शयितुम् । न ह्यसाक्षात्करणाकारमभ्रान्तं सविकल्पकस्य भ्रान्तत्वात् । परे तु सविकल्पमपि साक्षात्करणाकारमभ्रान्तमिच्छति । तदनुरोधेन द्वयमेतदुच्यते । तथा चाह—"विशेषणलक्षणे परमतापेक्षं सर्वे त्वविकल्पका एवे"ति । अथवा—

प्रतिपत्त्रपेक्षः सकलो बाध्यबाधकतानयः । अदृष्टबाधकः पूर्वं सामान्येनावगच्छति ॥५९५॥

नाचार्याभिप्रायञ्जानाति विशेषोऽत्राभिमत इति । बाधकदर्शनादवगच्छत्यसावपि पश्चाद्विशेषम् । अपौरुषेये तु वचसि प्रमाणमूलत्वाभावान्न बाध्यबाधकभावः । पौरुषेये तु पूर्वबुद्धेर्भ्रान्तता ज्ञाप्यते प्रमाणमूलया परया बुद्ध्या । न तु वेदाद् भ्रान्तबुद्ध्युदयः । तथा वेदप्रमाणता सर्वस्य तथात्वप्रसङ्गात् । अबाधने प्रमाणमेवेति चेत् , न, पश्चादपि बाधकसम्भवात् । पर्यालोचयतोऽन्य एवार्थो भवतीति प्रमाणेऽप्येवमिति चेत् , न, प्रमाणस्य स्थिरत्वात् । तथा च प्रमाणविरुद्ध आगमार्थस्त्यज्यते वेदवादिभिः । अन्यथार्थवादव्याख्यानमनिबन्धनं स्यात् । तस्मात् पौरुषेय एव वचसि बाध्यबाधक-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यह है—"अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणं ।" अर्थात् आकांक्षित पदार्थों का अव्यवहित रूपेण निर्देश करना कोई आवश्यक नहीं । व्यवहित पदार्थों का भी आकांक्षाओं के द्वारा अन्वय हो जाता । आचार्य का आशय यह है कि सामान्य-विशेष का बाध्य-बाधकभाव स्पष्ट हो जाय । बाधक का निर्देश अनन्तर होना चाहिए यह आवश्यक नहीं ।

प्रश्न —अभ्रान्त ग्रहण क्यों नहीं किया ?

उत्तर—साक्षात् ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है । उसका निदर्शन अभ्रान्त ग्रहण के द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि असाक्षात्कारी ज्ञान अभ्रान्त नहीं होता, अपितु सविकल्पक भ्रान्त माना जाता है । अन्य दार्शनिक सविकल्पक को भी साक्षात्कारी और अभ्रान्त मानते हैं । उनके अनुरोध पर लक्षणाभिधान किया गया है, जैसा कि कहा गया है—"विशेषणलक्षणे परमतापेक्षं सर्वे त्वविकल्पका एवे"ति । अथवा—

प्रतिपत्ता पुरुष की अपेक्षा सकल बाध्य-बाधकभाव माना जाता है । जिस पुरुष ने बाधक नहीं देखा, वह भी पहले सामान्यतः जान जाता है ॥ ५९५ ॥

आचार्य दिङ्नागाचार्य का अभिप्राय आप नहीं जानते । यहाँ विशेष अर्थ अभिप्रेत है—बाधक-दर्शन के पश्चात् हृदय-निहित विशेषार्थ की अवगति होती है । अपौरुषेय वेद में तो प्रमाण-कारण का अभाव होने से बाध्य-बाधकभाव नहीं होता । पौरुषेय वचनों में तो प्रमाण-मूलीभूत पर-बुद्धि के द्वारा पूर्व-बुद्धि में भ्रान्तता ज्ञापित होती है, किन्तु वेद से कभी भ्रान्त बुद्धि का उदय नहीं होता । वेद में सभी ज्ञानों में तथात्व-प्रसङ्ग से प्रमाणता मानी जाती है । जब किसी का बाध नहीं होता, तब सब कुछ प्रमाण क्यों न मान लिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि पश्चात् भी बाधक सम्भव है । यदि कहा जाय कि गम्भीर पर्यालोचना करने पर तो अन्य अर्थ ही निकलता

मानसं तदपीत्येके तेषां ग्रन्थो विरुध्यते ।
नीलद्विचन्द्रादिधियां हेतुरक्षाण्यपीत्ययम् ॥ २९४ ॥

कतिपय आचार्यों (कणाद आदि) का कहना है कि द्विचन्द्रादि ज्ञान मानस भ्रम होता है। उनके मत में 'द्विचन्द्रादिधियामक्षाण्यपि हेतुः' इस अर्थ के प्रतिपादक ग्रन्थ का विरोध होता है ॥ २९४ ॥

वार्त्तिकालङ्कारः

भावः। तैमिरमित्येव बाधकन्न कामलादीति चेत् , आह—सर्वमेव तेनोपघातजमुक्तम्। तिमिरं पुनरुपघातोपलक्षणन्नोपघातान्तराणां व्यावर्त्तकम्। यतः—

तैमिरस्यार्थशून्यत्वादसाक्षात्करणत्वतः । प्रत्यक्षाभासतान्दत्वा प्रत्यक्षत्वनिराक्रिया ॥५९६॥

सा चार्थशून्यता कामलावहलावलेपलुप्तलोचनबलानां विज्ञानस्य न न्यूनाकलयापि तेनोपलक्षणं सतैमिरग्रहणमिति न्यायवादिभिरवगन्तव्यम्। तिमिरमशेषोपघातोपलक्षणम्। अन्ये तु कल्पनापोढग्रहणं प्रत्युदाहरणमेवैतन्नापवादः। तदाह—मानसन्तदपीत्येक इति।

मानसमेवैतद् द्विचन्द्रादिज्ञानं मरीचिकाजलज्ञानवत्। तथा हि मरीचिकासु प्रथममिन्द्रियज्ञानमभ्रान्तमेवोपजायते पश्चात् जलानुभववासनाप्रबोधात् सविकल्पकं जलज्ञानम्। स च प्रबोधो मरीचिदर्शनादेव। सादृश्यभाजो मरीचय एवंधर्माणः। तथात्रापि चन्द्रविषयमभ्रान्तं प्रथमं ज्ञानं पश्चाद् द्विचन्द्राकारो विकल्पः।

तत्र केचिदाहुः- 'स्तिमिताक्ष्णोर्मध्ये स्थाता स एकः चन्द्र उभयपार्श्वे क्रमेणोपलभ्यमानः कालसौक्ष्म्याद् युगपदेव लक्ष्यते। पार्श्वद्वये च द्वित्वाध्यारोपः"। तेषां ग्रन्थविरोधः।

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमाणभूत ज्ञान कभी अन्यथा नहीं होता, वह सदैव स्थिर रहता है। प्रमाण-विरुद्ध (आदित्यो यूप आदि) अर्थों का तो वेदवादी भी त्याग कर दिया करते हैं, अन्यथा अर्थवाद वाक्यों का स्तुत्यादिरूप अन्यार्थपरक व्याख्यान निराधार हो जायगा। फलतः पौरुषेय वाक्यों में ही बाध्य-बाधकभाव पर्यवसित होता है। तैमिरिक ज्ञान ही बाधक है, कामलादि दोष नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'उपप्लव' पद सभी दोषों का वाचक है, अतः तैमिरिक दोष भी समस्त उपघातों का उपलक्षक है, दोषान्तर का व्यावर्तक नहीं, क्योंकि तैमिरिक शब्द का कोई अर्थ विशेष नहीं। उसका साक्षात्कार भी नहीं होता, अतः प्रसक्त प्रत्यक्षाभासता के द्वारा प्रत्यक्षत्व का निराकरण हो जाता है ॥ ५९६ ॥

वह अर्थशून्यता कामला, बहल, अवलेप के द्वारा लुप्त नेत्र वाले व्यक्तियों का ज्ञान दोष-युक्त कार्यों का ग्रहण करने के लिए तैमिरिक शब्द का निर्देश किया गया है। तिमिर शब्द अशेष दोषों का उपलक्षक है।

अन्याचार्य के मत में 'कल्पनापोढ' शब्द का ग्रहण प्रत्युदाहरण प्रदर्शन के लिए है, जैसाकि वार्तिककार ने कहा है—"मानसं तदपि" इत्यादि से।

द्विचन्द्रादि मानस ज्ञान मरीचिकाजल-ज्ञान के समान दोष युक्त है। अर्थात् मरीचिका समूह में पहले इन्द्रियजन्य-ज्ञान अभ्रान्त उत्पन्न होता है। उसके पश्चात् जलानुभवजनित संस्कार के आधार पर सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। वह ज्ञान

पारम्पर्येण हेतुश्चेदिन्द्रियज्ञानगोचरे ।
विचार्यमाणे प्रस्तावो मानसस्येह कीदृशः ॥ २९५ ॥

मानस भ्रम के लिए इन्द्रियों को हेतु मानना विरुद्ध नहीं, अपितु परम्परया इन्द्रिय भी उसका हेतु माना जाता है ॥ २९५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

"यद्यपीन्द्रियविज्ञप्तेः कारणं परमाणवः । अतदाभतया नास्या अक्षवद् विषयोऽणवः" ॥५९७॥

त एव हि चक्षुरादिपरमाणवस्तथान्यथा च भवन्तो द्विचन्द्रनीलाद्याभासहेतवः । द्विचन्द्रप्रतिभासस्य हि मानसत्वे नेन्द्रियहेतुतोक्तिः समर्था ।

अथ मानसत्वे परम्परया हेतुत्वमिन्द्रियस्य न विरुध्यते । साक्षाद्धेतुत्वमिन्द्रियस्य मानसत्वेन विरुद्धं द्विचन्द्रप्रत्यये । अत्रोच्यते—पारम्पर्येण हेतुश्चेदिति ।

इन्द्रियज्ञानस्य गोचरः क इति पर्यनुयुक्ते । यतः साक्षादिन्द्रियज्ञानमुत्पद्यते तदाकारतयान्यथा वेति परेण वक्तव्यम् । न तावत् तदाकारतया विषयत्वमसम्भवात् । परमाणूनामेकघनाकारस्थूलत्वाभावात् । अथातदाकारस्यापि यो हेतुः स विषयः । तदप्ययुक्तम् । इन्द्रियवदन्याकारविज्ञानहेतुत्वेऽप्यविषयत्वम् । तत्र यदि पारम्पर्येण हेतुत्वमभिप्रेतमाचार्यस्य "त एव ही"त्यादि वचसा तदा परं प्रति नेन्द्रियस्य विषयतां प्रसञ्जयेत् । साक्षात् परमाणूनां हेतुत्वे विषयत्वस्य परेणोक्तत्वात् । प्रसङ्ग एव तर्हि न युक्त इति वक्तव्यम् । किमुच्यते "प्रस्तावो मानसस्येह कीदृश" इति । अयमभिप्रायः—

परस्परविविक्ताणुप्रथमप्रतिभासनम् । विकल्पकात्तु विज्ञानात् घनाकारावभासिता ॥५९८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मरीचि दर्शन जनित होता है, क्योंकि मरीचियाँ भी जल-तरंगों के समान दूर से लहराती हुई प्रतीत होती हैं । इसी प्रकार द्विचन्द्रादि में पहले चन्द्रविषयक अभ्रान्त ज्ञान उत्पन्न होता है । उसके पश्चात् द्विचन्द्राकारज्ञान विकल्पात्मक उत्पन्न होता है । यह जो कतिपय विद्वानों का कहना है कि स्तिमित लोचनों के मध्य में जो एक चन्द्र अवस्थित है वह दोनों पार्श्वों में क्रमशः उपलभ्यमान होकर सूक्ष्म काल-भेद की प्रतीति न होकर युगपद् गृहीत होता है । नेत्र के दोनों पार्श्वों में द्विचन्द्रक का आरोप हो जाता है । उन आचार्यों का मत प्रमाणसमुच्चय ग्रन्थ से विरुद्ध हो जाता है । प्रमाणसमुच्चय का कहना है कि यद्यपि इन्द्रिय-विज्ञप्ति का कारण परमाणु है, किन्तु तदाकारता का लाभ न होने के कारण परमाणु विषय नहीं होते ॥५९७॥ अर्थात् चक्षुरादि के परमाणु अन्यथाभा न होकर द्विचन्द्रादि के रूप में प्रतिभासित होते हैं। द्विचन्द्रादि प्रतिभास मानस है । इन्द्रिय को हेतु नहीं माना जा सकता ।

शंका—यद्यपि उक्त ज्ञान मानस है । तथापि इन्द्रिय में भी परम्परया हेतु माना जाता है । उस ज्ञान के मानस होने पर इन्द्रिय में साक्षात् हेतुता विरुद्ध पड़ती है ।

समाधान—इन्द्रिय ज्ञान का विषय क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में किसी का कहना है कि जिससे साक्षात् इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है । तदाकारतया अन्यथा वा ऐसा कहना होगा, किन्तु वह सम्भव नहीं । क्योंकि परमाणुओं में एक घनाकारता-रूप स्थूल का अभाव है । यदि अतदाकार पदार्थ का जो हेतु है, उसे विषय माना जाय वह भी अयुक्त है, क्योंकि इन्द्रिय के समान ही अन्याकार विज्ञान की हेतुता नहीं होती। वहाँ यदि परम्परा सम्बन्ध से हेतुता अभिप्रेत है—'त एव हि' इत्यादि वचन के द्वारा

किं वैन्द्रियं यदक्षाणां भावाभावानुरोधि चेत् ।
तत् तुल्यं विक्रियावच्चेत् सैवेयं किं निषिध्यते ।। २९६ ।।

जैसे ऐन्द्रियक ज्ञान इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है, वैसे ही तैमिरक ज्ञान भी। इन्द्रिय व्यापार के विना तैमिरिक ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता, यदि कहा जाय कि इन्द्रियक के विकार से विक्रिया ज्ञान ऐन्द्रियक होता है, तब भी उसका निषेध नहीं हो सकता ।। २९६ ।।

वार्तिकालङ्कारः

परः प्राह—"विकल्पकस्य विज्ञानस्यैकघनावभासिता। तस्यापि पारम्पर्येण परमाणवो हेतुत्वाद् विषयः। यथा स्मरणस्यार्थविषयता।" आचार्यः प्राह—

"अतदाभतया नास्या अक्षवद् विषयोऽणवः।"

यथाक्षाणि परम्परया हेतुत्वेऽपि न विषयस्तथाणवोऽपि। अन्यथा भवन्ति ह्यक्षाणि द्विचन्द्रज्ञानस्य पारंपर्येण हेतुः। अत्रोक्तम्—"इन्द्रियज्ञानगोचरे विचार्यमाणे प्रस्तावो मानसस्येह कीदृश" इति। न च मानसत्वे विषयनिरूपणा साध्वी निर्विषयत्वात्। तथा नात्र प्रमाणं किञ्चिदिति युक्तमुत्तरमाचार्यस्य न त्वतिप्रसंगचोदनम्। तदेवोक्तं प्रस्तावो मानसस्येत्यादिना।

अन्ये तु ब्रुवते—मानसे द्विचंद्रादिज्ञाने यदेन्द्रियाणां कारणत्वं कथयति तदा मानसमेव प्रतिविषयत्वचिन्ता स्यात्। ततश्च प्रस्तावः कीदृश इत्युत्तरम्। तदयुक्तमिति प्रतिपादितम्। तथा हि—किं वैन्द्रियं यदक्षाणामिति।

यदि तावत् मानसमेतद् द्विचंद्रादिविज्ञानमिन्द्रियभावाभावानुरोधि न स्यात्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

इन्द्रिय की विषयता प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि परमाणुओं में साक्षात् हेतुता अभिमत है, तब प्रसङ्ग का उद्भावन ही अयुक्त हो जाता है। मानस का प्रस्ताव कैसा है? इसका अभिप्राय यह है कि पहले विविक्त रूप से परमाणुओं का प्रतिभासन होता है। उसके पश्चात् विकल्प विज्ञान से घनाकारावभासिता होती है ।। ५९८ ।।

अन्याचार्य का कहना है कि यद्यपि विकल्प विज्ञान की एक घनाकारावभासिता होती है तथापि परम्परा परमाणुओं में हेतु होने के कारण विषय होते हैं। जैसे कि स्मर्यमाणार्थ की विषयता होती है। जैसा कि आचार्य ने प्रमाणसमुच्चय में कहा है–"अतदाभतया नास्या अक्षवद् विषयोणवः।" अर्थात् तदाकार न होने के कारण परमाणु विषय नहीं माने जाते। जैसे कि इन्द्रिय-परम्परा हेतु होने पर भी विषय नहीं होते, वैसे ही परमाणु भी। इन्द्रियाँ द्विचन्द्रकज्ञान की परम्परया हेतु होती हैं। उस पर आचार्य का कहना यह है कि इन्द्रिय ज्ञान विषय विचार के प्रसङ्ग में मानस ज्ञान का क्या प्रसङ्ग? मानस-ज्ञान में विषय का निरूपण उचित नहीं, क्योंकि वह निर्विषयक होता है। वैसे ही आचार्य का उत्तर है 'नात्र प्रमाणं किञ्चित्' इतना ही होना चाहिए। अतिप्रसङ्ग चर्चा संगत नहीं। ऐसा ही पहले कहा जा चुका है 'प्रस्तावो मानसस्य' इत्यादि वचन के द्वारा।

अन्याचार्यों का कहना है कि द्विचन्द्रादि ज्ञान के मानस पक्ष में इन्द्रिय में कारणत्व का विधान किस लिए? इसका उत्तर है 'ततश्च प्रस्तावः कीदृशः?' अन्याचार्यों का कहना उचित नहीं। यह कहा जा चुका है।

सर्पादिभ्रान्तिवच्चास्याः स्यादक्षविकृतावपि ।
निवृत्तिर्न निवर्त्तेत निवृत्तेऽप्यक्षविप्लवे ॥ २९७ ॥

यदि द्विचन्द्रादि ज्ञान मानस भ्रान्ति है तब मन्दालोक में अवस्थित रज्वादि में सर्पादि की भ्रान्ति के समान मरीचि में जलादि भ्रान्ति के समान विचार के द्वारा निवृत्त हो जायेगी, क्योंकि इन्द्रिय विप्लव उसका हेतु नहीं। अकारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति नहीं होती ॥ २९७ ॥

कदाचिदन्यसन्ताने तथैवार्प्येत वाचकैः ।
दृष्टस्मृतिमपेक्षेत न भासेत परिस्फुटम् ॥ २९८ ॥

जैसे मरीचियों में पूर्वदृष्ट जल-स्मरण-सापेक्ष जल की भ्रान्ति होती है, वैसे ही द्विचन्द्रादि भ्रान्ति में मानसी होने के कारण दृष्ट द्विचन्द्र के स्मरण की अपेक्षा करेगी ॥ २९८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथेन्द्रियभावाभावानुरोध्यपि मानसमेवैतत् । तथा सति स्तम्भादिज्ञानेष्वपि मानसत्वप्रसङ्गः । प्रथमं स्वाकारमेव ज्ञानं पश्चादर्थाकारता मनसि अथ मानसमेवेन्द्रियं प्रसक्तम् । ऐन्द्रियस्यापि विकार एवेति चेत् । द्वयमपि तर्हीन्द्रियजं प्रसक्तम् । साक्षादिति चेत्, न, अपरस्य विकारस्यादर्शनात् । एतदनुसारेण तदपि विकृतमेव ज्ञातव्यमिति चेत् । तदपि मानसमेवेति विकृतत्वादेतद्वदित्यनवस्था । तस्मादेतदेवेन्द्रियजम्—सर्पादिभ्रान्तिवच्चास्या इति ।

यदि मानसी द्विचन्द्रादिबुद्धिरक्षविकृतावपि निवृत्तिः । अक्षविकारे हि सर्पभ्रान्तिः सत्यपि विचारे निवर्त्तते न द्विचन्द्रादिभ्रान्तिः । अथ सर्पादिभ्रान्तिरपि श्याम-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि द्विचन्द्रादि ज्ञान मानस है तब इन्द्रिय में भावाभाव का अनुविधान नहीं होना चाहिए। अपितु मानस के प्रति विषय की चिन्ता होनी चाहिए। अतएव कहा गया है—'प्रस्तावः कीदृशः ?' अन्याचार्यों का यह कहना युक्ति संगत नहीं। कहा जा चुका है 'किं वा' इत्यादि से। अर्थात् यदि द्विचन्द्रादिज्ञान मानस है तब इन्द्रिय के साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। यदि इन्द्रिय का अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान होने पर भी यह ज्ञान मानस है तब स्तम्भादि ज्ञानों में भी मानसत्व प्रसङ्ग क्यों नहीं ? पहले स्वकार ज्ञान भी पश्चात् अर्थाकार हो जाता है। अतः मानस ज्ञान भी ऐन्द्रियक क्यों नहीं ? ऐन्द्रियक का भी यह विकार है, ऐसा मानने पर दोनों में इन्द्रियजन्यत्व प्रसङ्ग होता है। साक्षात् ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उनका यह विकार प्रसक्त नहीं होता। इसके अनुसार उससे भी विपरीत समझना चाहिए। मानसत्व पक्ष में अनवस्था भी प्रसक्त होती है, अतः यह ज्ञान इन्द्रियजन्य ही है।

यदि द्विचन्द्रादि बुद्धि मानस ही है, तब इन्द्रिय की विकृति में भी इसकी निवृत्ति होनी चाहिए। इन्द्रिय विकार होने पर उपजायमान सर्प भ्रान्ति विचार होने पर निवृत्ति हो जाती है। द्विचन्द्रादि भ्रान्ति नहीं। यदि सर्पादि भ्रान्ति भी श्यामतादि की विलक्षणता से निवृत्त नहीं होती तब अन्धकार में प्रवेश करने पर सर्प भ्रान्ति होती है, वहाँ रज्वादि में तिमिरादि दोष के बिना श्यामतादि की रूपता तिमिर का

वार्तिकालङ्कारः

तादिलक्षणा न निवर्त्तते। समन्धकारे हि प्रवेशे सर्पभ्रान्तिस्तत्र रज्वादेस्तिमिरमन्तरे-णापि श्यामतादिरूपता। तिमिरतिस्कारे तु चक्षुषोऽन्यथाभूतेऽपि श्यामतादिरूपता। सा कथमक्षविकारेऽपि निवर्त्तते। ततो निवर्त्तनमसिद्धं कथं साधनम्।

यदप्युच्येत। न निवर्त्तेत निवृत्तेऽप्यक्षविप्लवे इति तदप्यसत्। न हि मनस्यपि जलभ्रान्तिर्निवृत्ताक्षविप्लवस्य दृष्टा। प्रबोधकप्रत्ययस्य आतपोपतप्तत्वस्याभावेऽभा-वात्। न चान्यसन्ताने जलभ्रान्तेरर्पणन्दृष्टम्। नासंतप्तस्य परवचनस्यासौ भवति। सर्पाकारतापि नैव दृष्टस्मरणमपेक्षते श्यामतादितायाः प्रथमतरमेव भावाद्। परिस्फु-टप्रतिभासनन्तु मानस्या अपि भ्रान्तेः स्वप्नादावस्त्येव। ततो न भासेत परिस्फुटमिति सकलमेतदयुक्तम्। तद्भावभाविता तद्विकारविकारिता तु पारम्पर्यादपि कार्ये भवत्येव। अत्रोच्यते—

श्यामताद्यवभासो यस्तत्रैन्द्रियक एव स। अनिवृत्त्यादयो धर्मास्तत्रेति न सदुत्तरम् ॥५६६॥

अवश्यं हि श्यामतादिप्रतिभासस्तत्रैन्द्रियजस्तद्विकारानिवृत्तौ न निवर्त्तते। परिस्फु-टतापीन्द्रियजन्यतायामेव न मानसत्वे। भावनाबलादातपोपतप्तस्य मानसतायामपीति चेत्। परिस्फुटतायामविकल्पिकैवासाविति नेन्द्रियजत्वाद् विशिष्यते। तथा चापवाद-त्वन्तिमिरग्रहणस्य न व्याहन्यते। सविकल्पकत्वं हि मानसत्वादभिप्रेतं परेषान्न मान-सत्वमात्रम्। तथा हि। अविकल्पकमेकञ्चेत्येतावन्मात्रमत्र साध्यम्। द्विविधः प्रत्यक्षा-भासो विकल्पो निर्विकल्पकविप्लवश्च। सा च सविकल्पिका सकलभ्रान्तिस्तदा विघटते

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तिरस्कार हो जाने पर भी चक्षु के अन्यथाभूत हो जाने से श्यामतादि चक्षु का विकार होने पर भी निवृत्त कैसे होगी? फलतः निवर्तन असिद्ध होने से साधन कैसे?

यदि कहा जाय कि निवृत्त नहीं होता और तिमिरादि के निवृत्त हो जाने पर भी द्विचन्द्र बुद्धि निवृत्त नहीं होती, क्योंकि अक्षविप्लव उसका कारण नहीं और अकारण की निवृत्ति होने पर कार्य की निवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे कि मन में जल भ्रान्ति निवृत्त होकर अक्षविप्लव नहीं -क्योंकि 'प्रबोधक प्रत्ययभूत आतप उत्तप्त-भावेऽभावा' अन्य के सन्तान में जल भ्रान्ति का अर्पण नहीं देखा जाता। सर्पाकारता भी दृष्ट और स्मरण की अपेक्षा नहीं करती। श्यामतादि का पहले ही अभाव है। परिस्फुट प्रतिभासन तो स्वप्नादि में है। अतः जो कहा गया 'न भासेत परिस्फुटम्' वह सकल अयुक्त है। 'तद्भावभावितादि' कार्य परम्परा से भी होती है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है—श्यामतादि का जो अवभास है वह ऐन्द्रियक है। अनिवृत्यादि धर्म उसमें नहीं, ऐसा कहना सदुत्तम नहीं॥ ५६६॥

श्यामतादि का प्रतिभास अवश्य ही इन्द्रियजन्य है। अतः इन्द्रिय विकार की अनिवृत्ति होने पर निवृत्त नहीं होता। परिस्फुटता भी इन्द्रियजन्यता में ही होती है, मानसत्व में नहीं। भावना के बल पर आतप-उत्तप्तता मानस में भी सम्भव है, ऐसा यदि कहा जाय तब परिस्फुटता में भी अविकल्पिका रहती है। अतः इन्द्रियजन्यत्व से कोई विशेषता नहीं आती। अतः अपवादत्व तिमिर ग्रहण में व्याहत नहीं होता। सविकल्पकत्व मानसत्व होने के कारण अभिप्रेत है, मानसत्व मात्र नहीं। अर्थात् 'अविकल्पकं एकम्' इतना ही यहाँ साध्य अभिप्रेत है। प्रत्यक्षाभास के दो भेद होते हैं—(१) विकल्प और (२) विप्लुत

सुप्तस्य जाग्रतो वापि यैव धीः स्फुटभासिनी ।
सा निर्विकल्पोभयथाप्यन्यथैव विकल्पिका ॥ २९९ ॥

सोते या जागते पुरुष की जो स्फुटावभासिनी बुद्धि होती है, वह निर्विकल्प मानी जाती है। उसके विपरीत जो अन्यथा अर्थात् अस्फुटावभासिनी होती है, उसे कल्पिक या सविकल्प कहा जाता है ॥ २९९ ॥

तस्मात् तस्याविकल्पेऽपि प्रामाण्यं प्रतिषिध्यते ।
विसंवादात् तदर्थं च प्रत्यक्षाभं द्विधोदितम् ॥ ३०० ॥

'कल्पनापोढं प्रत्यक्षं' ऐसा कहने पर तिमिरादि दोष जनित केशोण्डुकादि का निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण प्राप्त होता है, उसकी निवृत्ति के लिए 'अभ्रान्तं प्रत्यक्ष' कहा गया है। अतएव आचार्य दिङ्नाग ने प्रत्यक्षाभास के दो भेद बताये हैं—सविकल्पक और अविकल्पक ॥ ३०० ॥

वार्तिकालङ्कारः

नान्यथा परिस्फुटापि तर्हि द्विचन्द्रादिभ्रान्तिर्मानसी भवत्विति चेद्, न, मानसीभावानामन्तरेण भावात्। भावनाबलेन हि मानसी स्फुटतां भजेत तदभावादिन्द्रियजत्वन्न शक्यन्निवारयितुम्। द्विविधमेव स्पष्टाकारतायाः कारणमक्षं भावना च। अत्रापि भावनाव्यवहिता अस्त्येवेति चेत्। व्यपगतस्तर्हि बाह्यार्थवाद इत्यलम्प्रसंगेन।

का तर्हि सर्पादिभ्रान्तिर्मानसी यस्या दृष्टान्तत्वं जलादिभ्रान्तिश्च। उपघातानुग्राहकत्वावभासः। उपघातानुग्राहकत्वावभासो हि अक्षविकृतावपि निवर्त्तत एव निवृत्तेऽपि चाक्षविप्लवे न निवर्त्तत एव चिन्तयतः। एवमन्यदपि योजनीयम्। एवञ्च—सुप्तस्य जाग्रतो वापीति।

मानसत्वेऽन्यथा वोभयथाप्यविकल्पत्वं स्पष्टतायान्निर्विकल्पकत्वमिति प्रतिपादितमेतत्। तथा हि—तस्मात् तस्याविकल्पेऽपीति।

विकल्पभ्रान्तताभ्यां द्विधैव प्रत्यक्षाभासता दर्शिताचार्येण। इति करणव्यवच्छि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निर्विकल्प। वह सविकल्पिका सकल बुद्धि भ्रान्ति रूप है, उस समय विघटित होती है अन्यथा नहीं। परिस्फुटित होने पर भी द्विचन्द्रादि भ्रान्ति मानसी क्यों न मानी जाय? इसका उत्तर है कि वह मानसी भावना के बिना उत्पन्न होने के कारण मानसी नहीं मानी जा सकती। भावना के बल पर ही मानसी बुद्धि स्फुट होती है, उसका अभाव होने के कारण इन्द्रियजन्यत्व का निवारण नहीं किया जा सकता। दो प्रकार का ही स्फुटावभासता का कारण होता है—(१) अक्ष और (२) भावना। यहाँ भी भावना अव्यवहितरूपेण विद्यमान है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा मानने पर बाह्यार्थवाद समाप्त हो जाता है।

तब सर्पादि भ्रान्ति मानसी कैसे होगी, जिसका दृष्टान्त जलादि भ्रान्ति है? अवभास उपघात से अनुगृहीत होता है। अतएव ऐन्द्रियक विप्लव के निवृत्त हो जाने पर भी निवृत्त नहीं होता और इन्द्रिय के विकृत होने पर भी निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्य आपत्तियों का निवारण कर लेना चाहिए। मानसत्व पक्ष में उभयथा अविकल्पकत्व ही रहता है। स्पष्टता में निर्विकल्पकत्व का प्रतिपादन किया जा चुका है।

विकल्प और भ्रान्तता के भेद से प्रत्यक्षाभासता दो प्रकार की होती है। वैसा

वार्तिकालङ्कारः

भ्राद् विकल्पवशात् पृथक् तैमिरोपलक्षितस्य विप्लवस्य निर्देशादन्यथा पृथग्निर्देशस्य प्रयोजनाभावेनाकौशलत्वोद्भावनहेतुता स्यात् ।

कथन्तर्हि तदुक्तम्—"स नो भ्रान्तिविषयत्वाद् व्यभिचारिणः ।" पराभिप्रायेण तस्योक्तत्वाद् । यस्य हि "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं प्रयक्षमिति" लक्षणन्तस्य मनोभ्रान्तिविषयता व्यभिचारिणो व्यवतिष्ठते । न हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नस्यैव व्यभिचारिता सम्भवति । पारिशेष्यात् मनसा यदधिकस्य विकल्पनन्तत्र व्यभिचारः ।

नन्वर्थमन्तरेणेन्द्रियमात्राद् यदुत्पद्यते तस्यापि व्यभिचारिता तत्किं मनोभ्रान्तिविषयत्वादिति वचनम्, न, तस्यार्थग्रहणेन निराकृतत्वाद् विद्यमानमपि तदविद्यमानकल्पमेव । तथा चोक्तम्—

"इन्द्रियार्थोद्भवे नास्ति व्यपदेश्यादिसम्भव" इति ।

व्यपदेश्यादयो मानसा एवेति प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु न व्यावर्त्तकं वचनमव्यपदेश्यादि किन्तर्हि स्वरूपकथनपरं तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नन्तदेवम्भूतम्भवति नान्यथा । न । व्यवसायात्मकमित्यनिर्देशप्राप्तेः ।

न हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमेव व्यवसायात्मकमनुमानस्यापि व्यवसायात्मकत्वात् । तस्माद् यद् व्यवसायात्मकन्तदध्यक्षमन्यत्तु न भवतीति व्यावर्त्तकतैव युक्ता ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ही आचार्य दिङ्नाग ने दिखाया है—इतिकरण से व्यवच्छिन्न, विकल्प से भिन्न, तैमिरिक, उपप्लव का निर्देश होने से अन्यथा पृथक् निर्देश का प्रयोजन न होने के कारण अकौशलत्व उद्भावन हो सकता है ।

तब आचार्य ने यह कैसे कह दिया—"स नो भ्रान्तिविषयत्वाद् व्यभिचारिणः ।" इसका उत्तर है पराभिप्राय से वैसा कहा गया है । अर्थात् जिसके मत में "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षमिति" (न्या. सू. १।१।४) । ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण अभिप्रेत है । उसके मतानुसार मनोभ्रान्ति की विषयता व्यभिचारी ज्ञान में व्यवस्थित होती है, क्योंकि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान में व्यभिचारिता सम्भव नहीं । फलतः मन के द्वारा जो अधिक विकल्प किया जाता है, उसी में व्यभिचारिता पर्यवसित होती है ।

शंका—अर्थ के विना ही इन्द्रिय मात्र से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें अर्थव्यभिचारिता होती है ।

समाधान—अर्थ ग्रहण के द्वारा उसका निराकरण किया जा चुका है, क्योंकि विद्यमान होने पर भी अर्थ अविद्यमान के समान होता है । जैसाकि कहा गया है—"इन्द्रियार्थोद्भवे नास्ति व्यपदेश्यादि सम्भवः" इति । व्यपेदश्यादि मानस ही होते हैं—यह समझ रखना चाहिए ।

शंका—अव्यपदेश्यादि वचन किसी के व्यावर्तक नहीं, अपितु स्वरूप-कथनपरक हैं—जो इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, वह ऐसा ही होता है, अन्यथा नहीं ।

समाधान—व्यवसायादि वचन अन्ययोग के व्यावर्तक हैं, अन्यथा अव्यवसायात्मक भी अव्यपदेश्य हो जायगा, क्योंकि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान ही व्यवसायात्मक होता है—ऐसा नहीं, अन्यथा अनुमान ज्ञान भी व्यवसायात्मक हो जायगा । अतः जो ज्ञान व्यवसायात्मक है, वह अव्यपदेश्य है, अन्य नहीं—इस प्रकार की व्याव-

वार्तिकालङ्कारः

अथ किञ्चिद् व्यावर्त्तकं किञ्चित् स्वरूपकथनमिति तेन यदीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं व्यवसायात्मकञ्चेत् तदव्यभिचारि भवत्यव्यपदेश्यञ्च।

तदयुक्तमव्यभिचारित्वं कथयितुं युक्तम्। एवं हि प्रमाणता। अव्यपदेश्यविषयत्वेन तु किम्। न हि तथा प्रमाण्यमन्यथापि प्रामाण्यात्। ततो यत्किञ्चिदेतत्। स्वरूपकथने चातिप्रसङ्गः। आत्मादिसत्सन्निकर्षस्यापि कथमप्रसङ्गात्। अथ यत् प्रत्यक्षत्वेऽसाधारणन्तदेव कथ्यते न त्वसाधारणमात्मादि। एवन्तर्हि व्यावर्त्तकं विशेषणं न स्वरूपकथनपरम्।

एतेन सत्सन्निकर्षादिकथनं प्रत्याख्यातम्। तथा हि। लक्षणमेवैतत् स्यात् स्वरूपकथनं वान्यार्थविधानार्थम्। तत्र यदि लक्षणं सत्सन्निकर्ष इत्येव वक्तव्यम्। सदर्थग्राहि प्रत्यक्षमिन्द्रियजं वा प्रत्यक्षमबाधितम्। अथ धर्मं प्रत्यनिमित्तताप्रतिपादनार्थं स्वरूपमनूद्यते। तथापीन्द्रियजमित्येव वक्तव्यं किमपरेण व्यर्थजल्पितेन।

किञ्च। अनुवादमात्रमयुक्तम्। तथा हि—

बाह्यार्थसाधने यत्नः कर्त्तव्यो वेदवादिभिः। मीमांसकैरतोऽन्येषां लक्षणेन निराक्रिया॥६००॥

बौद्धादीनां हि लक्षणं प्रत्यक्षस्यान्यथाभिमतं स्वप्रक्रियानुकूलम्। ततस्तद्व्यवच्छेदाय नियमेनान्यथा लक्षणं विधातव्यम्। सौगतानां विज्ञानवादशून्यतावादानुकल-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तंकता माननी ही उचित है।

यदि कहा जाय कि कुछ पद व्यावर्तक हैं और कुछ स्वरूपपरक, अतः यदि इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न व्यवसायात्मक है, तब अव्यभिचारी अव्यपदेश्य है।

तो वैसा कहना अयुक्त है, क्योंकि अव्यभिचारित्व ही कहना युक्त है—इस प्रकार प्रमाणता आती है। अव्यपदेश्यविषयत्व के द्वारा क्या होगा? वह प्रमाणता तो नहीं, अन्यथा भी प्रमाणता होती है। सर्वथा स्वरूप-कथन करने पर अतिप्रसङ्ग होता है, क्योंकि आत्मादि सन्निकृष्ट पदार्थों का भी कथन प्रसक्त होता है। जो प्रत्यक्ष का असाधारण कारण है, उसी का कथन किया जाता है, आत्मादि साधारण कारण है, असाधारण नहीं। यदि ऐसा है, तब विशेषण को व्यावर्तक ही मानना चाहिए, स्वरूपपरक नहीं।

इसी प्रकार सत्सन्निकर्षादि का कथन भी प्रत्याख्यात (निरस्त) हो जाता है। अर्थात् अन्यार्थता का विधान करने के लिए "सत्सन्निकर्षः"—यह लक्षण है? अथवा स्वरूप? यदि लक्षण है, तब "सत्सन्निकर्षः"—इतना ही कहना चाहिए। "सदर्थग्राही प्रत्यक्षम्, अथवा इन्द्रिय-जन्यमबाधितं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।" यदि धर्म के प्रति अनिमित्तता प्रतिपादन करने के लिए स्वरूप का अनुवाद किया जाता है, तब भी "इन्द्रियजम्"—इतना ही कहना चाहिए, अन्य पदों की क्या आवश्यकता?

दूसरी बात यह भी है कि अनुवाद मात्र करना अयुक्त है, क्योंकि—

वेदवादी मीमांसक विद्वानों को बाह्यार्थ के साधन में विशेष यत्न करना चाहिए और इससे अन्यार्थ का लक्षण के द्वारा निराकरण करना चाहिए॥६००॥

बौद्धादि के मत में प्रत्यक्ष का लक्षण अन्यथा ही अभिमत है। उन्होंने अपनी प्रक्रिया के अनुरूप जो लक्षण किया है, उसका व्यवच्छेद करने के लिए अन्यथा लक्षण करना चाहिए। सौगत विद्वानों के विज्ञानवाद और शून्यवाद के अनुकूल जो लक्षण

वार्तिकालङ्कारः

त्वाल्लक्षणस्यावश्यमेव तन्निरासाय लक्षणान्तरकरणमेव शोभते । नात्रपतितैरुद्धरण-शक्यम् । को वा लक्षणकरणे दोषः । प्रमाणेनाप्रसिद्धतेति चेत् । तथा हि—

प्रामाणिकं विधातव्यं लक्षणन्निश्चयस्ततः । इतरेतरहेतुत्वान्नैकमप्यत्र सिध्यति ॥६०१॥

इतरेतराश्रयत्वादेकस्याप्यप्रसिद्धिरिति न लक्षणकरणम् । यद्येवमनुवादोऽपि नाप्रमाप्रसिद्धस्य युक्तः । लोकप्रसिद्धितश्चेत् प्रसिद्धिः । यद्येवं धर्मोऽपि लोकप्रसिद्ध एव भविष्यत्यकारणं मीमांसा । धर्मविप्लवस्य दर्शनादसिद्धिरेव परमार्थत इति चेत् । यद्येवम्—

मीमांसयापि किं धर्मविप्लवो दण्डवारितः । अन्यथैतावतः कालान्नाम न स्यान्मतान्तरे ॥६०२॥

तस्मात् प्रमाणसिद्ध एवानुवादोऽपि कर्त्तव्यस्तथा लक्षणमप्यनवद्यं ।

न च सौगतैरपि लक्षणं क्रियते प्रसिद्धार्थानुवादात् । यथैव हि धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वप्रदर्शनार्थमनुवादस्तथा निमित्तत्वप्रदर्शनार्थमिति समानमुभयत्रापि । यथा चैतत्तथोपदर्शितमेव प्राक् । ततोऽर्थज्ञानं प्रत्यक्षमिति तु लक्षणमेव । तत इत्यनेनान्यस्य प्रकृतस्याभावाद् योऽर्थः प्रत्यक्षेण दृश्यते तत एवेति गम्यते । तेन द्विचन्द्रादिज्ञानपरिहारः । न हि तत्तत एवापि त्वन्यतः । कथन्तर्ह्याचार्येणोक्तम्—

"यदाभासा न सा तस्माच्चित्तालम्बं हि पञ्चकम् ।"

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

किया गया, उसका निरास करने के लिए लक्षणान्तर करना ही शोभा देता है । लक्षण-करण में क्या दोष ? प्रमाणाप्रसिद्ध ही दोष है—अर्थात् प्रामाणिक लक्षण ही करना चाहिए । यदि प्रमाण प्रसिद्ध नहीं, लक्षण से प्रसिद्ध करना है, तब अन्योऽन्याश्रयता होगी—लक्षण से प्रमाण और प्रमाण से लक्षण ॥६०१॥ अन्योऽन्याश्रय दोष आ जाने पर दोनों में से किसी की भी सिद्धि नहीं होती, अतः लक्षणकरण उचित नहीं । यदि लक्षण करना उचित नहीं, तब अप्रसिद्ध का अनुवाद भी उचित नहीं । लोक-प्रसिद्धि के आधार पर यदि प्रसिद्धि मानी जाती है, तब धर्म का भी धर्म भी लोकप्रसिद्ध है । तब धर्म का निरूपण करने के लिए मीमांसा शास्त्र व्यर्थ हो जाता है । यदि मीमांसा शास्त्र व्यर्थ होता है तो हो जाय, क्योंकि मीमांसा शास्त्र भी धर्म-विप्लव का निवारण नहीं कर सकता, अन्यथा धर्म के विषय में मतान्तर का प्रादुर्भाव ही नहीं होता ॥६०२॥ फलतः अनुवाद भी प्रमाण-प्रसिद्ध का ही करना चाहिए । वैसा ही लक्षण भी करना चाहिए ।

सौगत (बौद्धों) ने भी प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं किया, अपितु प्रसिद्धार्थ का अनुवादमात्र किया है । जैसे धर्म-ज्ञान के उत्पादन में प्रत्यक्ष को अनिमित्त बताया गया है—"अनिमित्तम् , विद्यमानोपलम्भनात्" (जै. सू. १।१।५) । इसी प्रकार प्रत्यक्ष की निमित्तता सूचित करने के लिए अनुवाद है—"अर्थज्ञानं प्रत्यक्षम्" । इसका स्पष्टीकरण पहले भी किया जा चुका है । अतः "ततोऽर्थज्ञानं प्रत्यक्षम्"—यह लक्षण है । "ततः" शब्द का अर्थ है—प्रकृत (विद्यमान) पदार्थ । अर्थात् प्रत्यक्षतः जो अर्थ दिखाई देता है, उससे जनित ज्ञान प्रत्यक्ष है । इससे द्विचन्द्रादि-ज्ञान का परिहार हो जाता है, क्योंकि वह "ततः" न होकर अन्यतः होता है ।

प्रश्न—तब आचार्य दिङ्नाग ने ऐसा क्यों कहा—"यदाभासा न सा तस्माच्चित्तालम्बं हि पञ्चकम्" । क्योंकि परमाणुओं से उत्पद्यमान चक्षुरादि पाँच इन्द्रियों से

वार्तिकालङ्कारः

न हि परमाणुभ्य उत्पद्यमानन्तदाकारञ्चक्षुरादिज्ञानम् । अन्याकारस्यापि विज्ञानस्य कारणत्वेनालम्बनत्वे चक्षुरादिपरमाणूनामप्यालम्बनत्वप्रसङ्गः । तेऽपि हि तथान्यथा वा भवन्तो द्विचन्द्रनीलाद्याभासविज्ञानहेतुरिति । परमार्थमधिकृत्योक्तमेतत् । लोकप्रसिद्धया तु वादविवेचनम् । लोके हि न परमाण्वादिकल्पना । एतावत् प्रत्यक्षं लोके प्रसिद्धं विचार्यमाणन्तु न युक्तम्—

ततोऽर्थादित्वसिद्धत्वमनैकान्तिकता स्फुटा । परमाणूनभिप्रेत्यानैकान्तिकमिदम्भवेत् ॥६०३॥

परमाणूनामेव जनकत्वन्तेषामालम्बनत्वे चक्षुरादिभिरनेकान्तः । अथ च त इति प्रतिभासमानमुच्यते तदाऽसिद्धता । न हि तस्य समानकालस्य जननं द्विचन्द्रादिना चानैकान्तिकता ।

अथ समानकालमपि जनकम् । तदप्ययुक्तम् । अवस्तुत्वात् समुदायस्य । अनैकान्तिकता च भ्रान्तविज्ञानैरिति । अथ प्राग्भावजनकं तदाप्यसिद्धता । यतो हि—

न हि ज्ञानात् पुरोभावस्तेन ज्ञानेन गृह्यते । परेण ग्रहणे तस्याप्येवमेवानुयोगिता ॥६०४॥
अनुमानेन विज्ञाने प्रत्यक्षादेव तत्पुनः । इतरेतरहेतुत्वे प्रथमङ्कस्य सम्भवः ॥६०५॥
समानकालता नास्ति प्रत्यक्षानुभयोः क्वचित् । तस्मादसिद्धमेवैतत् परमार्थेन लक्षणम् ॥६०६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

परमाण्वाकार ज्ञान नहीं होता । अन्याकार विज्ञान के भी कारणत्वेन परमाणु आलम्बनीभूत होते हैं, तब चक्षुरादि के परमाणु भी आलम्बन हो जायेंगे, क्योंकि वे भी द्विचन्द्रादि-विज्ञानाभास के हेतु होते हैं ।

उत्तर—परमार्थ को ध्यान में रखकर वैसा कहा है और लोक-प्रसिद्धि के आधार पर वाद का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । लोक में परमाण्वादि की कल्पना नहीं की जाती, अतः लोक में प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है, जो विचार करने पर उचित नहीं जंचता, क्योंकि "ततोऽर्थात्"—यह अंश असिद्ध होने से अनैकान्तिकता स्फुट है । परमाणुओं के अभिप्राय से भी अनैकान्तिकता होती है ॥ ६०३ ॥

"अयं घटः—इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञानों में भासमान घटावस्थित परमाणु ही ज्ञान के जनक होने से यदि प्रत्यक्ष ज्ञान के आलम्बन माने जाते हैं, तब चक्षुरादि में व्यभिचार हो जाता है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष ज्ञान के जनक होने पर भी विषय नहीं माने जाते । यदि "ततोऽर्थात्"—यहाँ "ततः" शब्द से भासमान अर्थ का ग्रहण किया जाता है, तब हेत्वसिद्धि दोष होता है, क्योंकि उसमें समान-कालीन ज्ञान की जनकता नहीं मानी जाती । द्विचन्द्रादि भ्रमों में अनैकान्तिकता भी होती है । यदि समानकालीन पदार्थ को भी जनक माना जाता है, वह भी अयुक्त है, क्योंकि परमाणु-समुदाय तो कोई वस्तु ही नहीं । भ्रमात्मक विज्ञानों में अनैकान्तिकता भी है । प्राग्भाव (पूर्वकाल-वृत्ति भाव) को जनक माना जाता है, तब भी असिद्धता दोष होता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा अपने पूर्वक्षण के पदार्थ का ग्रहण नहीं होता । पूर्वकालीन पदार्थ का उत्तरवर्ती ज्ञान से और उसका अपने उत्तरवर्ती ज्ञान से ग्रहण—इस प्रकार अनवस्था होती है ॥६०४॥ अनुमान से प्रत्यक्ष का और अनुमान का प्रत्यक्ष मानने पर अन्योऽन्याश्रयता होगी, अतः पहले कौन सम्भव होगा ॥६०५॥ प्रत्यक्ष और अनुमान की समानकालता कहीं भी नहीं होती । फलतः यह लक्षण परमार्थतः असिद्ध है ॥६०६॥ लोक-प्रतीति की अपेक्षा तो कोई विरोध नहीं ।

वार्तिकालङ्कारः

लोकप्रतीत्यपेक्षतया न विरुध्यते। यदप्युच्यते। श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षमिति। तदप्यसत्। यतः—

श्रोत्रादिवृत्तिर्भ्रान्तेऽपि न हि नाम न विद्यते। न च ज्ञानं विना वृत्तिः श्रोत्रादेरुपपद्यते ॥६०७॥

प्रवर्त्तनकामो हि प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमन्विच्छति। श्रोत्रादीनाञ्च वृत्तिरविज्ञाता कथं लक्षणम्। अनुपलक्षितात् कथमयम्प्रवर्त्तेत। अथ प्रत्यक्षतः श्रोत्रादिवृत्तिरुपलक्ष्यते। अस्य तर्हि प्रत्यक्षस्य लक्षणं वक्तव्यम्। ततः साक्षात्करणाकारं प्रत्यक्षम्। तत्तु स्वयमेवोपलक्ष्यत इति परिहारः। तथा सति तदेव साक्षात्करणमभ्रान्तं लक्षणम्। भ्रान्तेऽपि च विज्ञाने श्रोत्रादिवृत्तिः कथं लक्षणं भवेत्। अर्थेषु वृत्तिरित्यदोषः। अर्थेषु वृत्तिरर्थाभिमुख्यत्वम्। तदपि भ्रान्ते विद्यत एव। अथ तत्स्वरूपसंवेदनम्। तदेव तर्हि स्वरूपसंवेदनमिति लक्षणम्। तच्च साक्षात्करणमेवाविकल्पकापरनामकम्। तस्मादपरमलक्षणमेव।

(१९) प्रमाणफल-चिन्ता—

किं पुनरस्य प्रमाणस्य फलम्? प्रमेयाधिगतिः। उक्तञ्च—"प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः"।

ननु तज्ज्ञानमेव तत्र फलमिति किमिदानीं प्रमाणम्। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षालोचनविशेषणज्ञानानी"ति केचित्। तदयुक्तम्। अधिगमस्य साधनं तदेव युक्तं यतः स भवति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यह जो लक्षण किया जाता है—"श्रोत्रवृत्तिः प्रत्यक्षम्।" वह भी अयुक्त है, क्योंकि श्रोत्रादि की वृत्ति भ्रमात्मक ज्ञान में नहीं—ऐसा नहीं और न ज्ञान के बिना श्रोत्रादि की वृत्ति नहीं होती ॥ ६०७ ॥

किसी कार्य में प्रवृत्ति की कामना करनेवाले पुरुष प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा किया करते हैं। श्रोत्रादि की वृत्ति अविज्ञात होकर प्रत्यक्ष का लक्षण क्योंकर होगी? अनुपलक्षित प्रमाण से प्रवृत्ति क्योंकर होगी? यदि प्रत्यक्ष से श्रोत्रादि-वृत्ति ज्ञात होती है, तब प्रत्यक्ष का लक्षण करना चाहिए। प्रत्यक्ष साक्षात्करणाकार ज्ञान को कहते हैं और वह स्वसंवेद्य है। तब वही अभ्रान्त साक्षात्करणाकार लक्षण हो जाता है। भ्रान्त विज्ञान में भी श्रोत्रादि की वृत्ति लक्षण क्योंकर होगी? इसका उत्तर है—अर्थाकार वृत्ति। अर्थविषयिणी वृत्ति का अर्थ है—विषयाकारवृत्ति। वह भ्रमात्मक विज्ञान में भी होती है और वह स्वरूपसंवेदनात्मक होती है। तब वही (श्रोत्रादि-वृत्ति ही) स्वरूपसंवेदनात्मक लक्षण हो जाती है। अविकल्पसंज्ञक साक्षात्करण है। उससे भिन्न अलक्षण ही है।

(१९) प्रमाण-फल-चिन्ता—

इस विज्ञानरूप प्रमाण का फल (प्रमा) क्या है? उत्तर है—"प्रमेयाधिगतिः"। न्यायभाष्यकार ने कहा है—"प्रमाणाधीना हि प्रमेयाधिगतिः"।

शङ्का—प्रमेयाधिगति तो ज्ञानात्मक ही है। वह यदि फल है, तब प्रमाण किसे कहा जायगा? इसके उत्तर में किसी का कहना है—"इन्द्रियार्थसन्निकर्षालोचनविशेषणज्ञानानि"। वह अयुक्त है, क्योंकि अधिगम (ज्ञान) का साधन वही होना चाहिए, जिससे वह (अधिगम) उत्पन्न हो।

क्रियासाधनमित्येव सर्वं सर्वस्य कर्मणः ।
साधनं न हि तत् तस्याः साधनं या क्रिया यतः ॥ ३०१ ॥

सभी क्रिया के सभी साधन नहीं होते, अपितु वही वस्तु उस कर्म का साधन होती है, कि जो कर्म जिस पदार्थ से अव्यवधानेन उत्पन्न होता है ॥ ३०१ ॥

तत्रानुभवमात्रेण ज्ञानस्य सदृशात्मनः ।
भाव्यं तेनात्मना येन प्रतिकर्म विभज्यते ॥ ३०२ ॥

ज्ञान में "नीलस्येदम्", "पीतस्येदम्"—ऐसा व्यवहार क्यों होता है? इसका उत्तर है कि जो ज्ञान जिस विषय के सदृश होता है, वह उसका ज्ञान कहा जाता है, अतः ज्ञानगत विषय-सदृशता, प्रमाणता और विषय-प्रकाशता प्रमारूप है ॥ ३०२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ननु ज्ञानस्य तावदुत्पत्तिरिन्द्रियादेर्दृश्यते ततोऽधिगमस्यापि तदेवेति किम-कल्पनया ।

न हि दृष्टपरित्यागात् कल्पनान्यत्र युक्तिभाक् ।
अनवस्था प्रमेये स्यात् तथा सत्यनिवारिता ॥ ६०८ ॥

नैतदस्ति । यतो हि—क्रियासाधनमित्येवेति ।

यद्येकत्रदृष्टसामर्थ्यमित्येव तदेवैकमपरत्रापि साधनायोपकल्प्यते यस्य कस्यचित् साधनस्योपादानात् सकलसमीहितसाधनमिति सर्वञ्जगदल्पायासेन सुस्थं स्यात् । न चैवम् । अतो या क्रिया यतो दृष्टा तदेव तत्र साधनन्नापरम् । तथा हि—तत्रानुभव-मात्रेण ज्ञानस्येति ।

अनुभवो हि साङ्ख्यस्य नीलपीतादौ समानः सत्तामात्रेण । ततः सर्वं व्यवस्थाप-येत् । अभिमतव्यवस्थापितपदार्थवत् । नवाऽनवस्थापितवद् व्यवस्थापनार्हमपि तस्या-विशेषात् । तथा हि—

यथा तद्बोधकं वस्तु तथैव तदबोधकम् । यदा तद्बोधकं केन मतन्नेष्टमबोधकम् ॥६०९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—ज्ञान की उत्पत्ति जो इन्द्रियादि से देखी जाती है, अतः अधिगम की साधनता भी इन्द्रियादि में ही होनी चाहिए, अन्य में नहीं—इष्टार्थ का परित्याग करके अदृष्टार्थ की कल्पना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि प्रमा से प्रमाण को भिन्न मानने पर अन-वस्था प्रसक्त होती है, जिसका निवारण भेदवाद में सम्भव नहीं ॥ ६०८ ॥

समाधान—जो सामर्थ्य एकत्र देखा गया, वही सामर्थ्य अन्यत्र है—ऐसा मान लेने पर सब-कुछ अव्यवस्थित हो जायगा, एक साधन से ही सभी पुरुषों का समीहित सिद्ध हो जायगा, किन्तु होता नहीं, अतः जैसे कोई वस्तु किसी की बोधक होती है, वैसे ही कोई ही वस्तु किसी की अबोधक होती है।

सांख्य मतानुसार नील-पीतादि का अनुभव सर्वत्र समान है, क्योंकि सत्तामात्रेण सब पदार्थ सर्वात्मक हैं, अतः सदृशासदृशत के आधार पर ग्राह्य-ग्राहक (प्रमाण और प्रमा) की व्यवस्था करनी होगी ।

जब जो वस्तु जिस की बोधक है, उसी समय वह वस्तु उसकी अबोधक नहीं हो सकती ॥ ६०९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अव्यापृतावस्थाया हि विशेषमात्मसात्कुर्वाणमिदमत्र व्यापृतन्नेति गम्येत। तथापि किं स्वभावादसौ प्रच्यवते। यद्यात्माहं तदात्मभूतोऽपि न जाने तदा मया सोऽर्थो न ज्ञात एव भवति ततो न प्रमाणता।

पुरुषात्मैव लोकोऽयं भोग्यं वस्त्ववगच्छति।
स चात्मा न विजानाति साध्वी भोगव्यवस्थितिः ॥ ६१० ॥

बुद्धिः सुखनीलाद्यवसायरूपमात्मानन्तथा व्यवस्थापयतीति चेत्। सैव तर्हि भोक्त्री किमपरेण संवेदनेन। सुखाद्यवसायरूपा सुखाकारावेत्याकार एव प्रमाणम्। बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेत् यत इति चेत्। केयं बुद्धिः। कोऽयमध्यवसायः। कः पुरुष इति वाच्यम्। बुद्धिः करणम्। अध्यवसायः कर्म। कर्त्ता पुरुष इति चेत्। पुरुषोऽर्थमवगच्छति। ततः कर्त्ताध्यवसायस्येति किं बुद्ध्या अध्यवसायस्य बुद्धिः साधनमवगमस्य पुरुष इति चेत्। अवगमस्याध्यवसायस्य च न विशेषं पश्यामः। तदाकारसाक्षात्करणमवगमः। स एव चाध्यवसायः। तदाकारतैवाध्यवसायो न साक्षात्करणमिति चेत्। ततः—

यदि नाम तदाकारा बुद्धिवत्ताकथन्तरः। तद्रूपसाक्षात्करणादर्थ एव तथा न किम् ॥६११॥

तदाकारा यदा बुद्धिः साक्षात्क्रियते अर्थ एव तथेति व्यर्थाऽर्थाकारा बुद्धिः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पाचक अग्नि का स्वरूप है, अपाचक का स्वरूप नहीं, ऐसा नहीं। अपितु स्वभाव या स्वरूप दोनों का है। अन्तर केवल इतना है कि पाचक अग्नि पाकक्रिया में व्यापृत और अपाचक अव्यापृत है। वह अपने स्वभाव से प्रच्युत हो जाता है, ऐसी बात नहीं। उसी प्रकार ज्ञान अपने कारित्र में व्यापृत है अर्थात् "अहं जानामि" ऐसी अर्थक्रिया में संलग्न है, तब वह प्रमाण और जब अव्यापृत है तब प्रमाण नहीं कहलाता।

यह पुरुष लोकप्रसिद्धात्मा है। सुखादि भोग्य-वस्तु की प्राप्ति करता है और वह आत्मा भोग्य-पदार्थ को नहीं जानता है। यह कैसी व्यवस्था ? ॥ ६१० ॥

यदि कहा जाय कि यद्यपि आत्मा सुखादि का ज्ञान नहीं रखता तथापि बुद्धि सुख और नीलादि विषय को निश्चय करके व्यवस्थापित करती है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि बुद्धि ही भोक्तृ है, तब उससे भिन्न अन्य संवेदन की क्या आवश्यकता ? सुखादि व्यवसाय रूप सुखाकार ही प्रमाण है। यदि कहा जाय कि बुद्धि के द्वारा अध्यवसित अर्थ पुरुष प्राप्त करता है, तब प्रश्न होता है कि यह बुद्धि क्या है और उसका अध्यवसाय क्या है ? इनसे भिन्न पुरुष तत्त्व क्या है ? यदि कहा जाय कि बुद्धि करण है और अध्यवसाय कर्म और पुरुष कर्त्ता है, तब बुद्धि की सार्थकता नहीं रह जाती, क्योंकि जब पुरुष अर्थ का ज्ञान करता है तब वही अध्यवसाय है। बुद्धि की क्या आवश्यकता ? यदि कहा जाय कि अध्यवसाय का साधन बुद्धि है और अवगम का साधन पुरुष है, तब अवगम और अध्यवसाय का कोई अन्तर दिखायी नहीं देता, क्योंकि विषयाकार का साक्षात्करण ही अध्यवसाय है और वही अवगम। यदि कहा जाय कि तदाकारता ही अध्यवसाय है, साक्षात्करण नहीं, तब प्रश्न उठता है कि यदि बुद्धि तदाकारता है तब उसका साक्षात्करण क्यों न होगा ? ॥ ६११ ॥

बुद्धि जब जिसके आकार को धारण करती है, तब उसका साक्षात्कार किया

वार्तिकालङ्कारः

बुद्धयढौर्थाकारो ढौक्यते ततोऽदूरे देशस्य प्रतिपत्तिः व्यापित्वादात्मनोऽदूरदेशकमेव सकलम्। न च दूरदेश इति प्रतिपत्तिः स्यात्। न च तदाकारबुद्धिव्यतिरेकेणार्थ इति च। अर्थमन्तरेण तदाकारा बुद्धिः कुत इति चेत्।

ननु बुद्धित एव तदाकारतार्थानामिष्यते तत्किमयं विपर्ययः। स्वमुखमिव नासङ्क्रान्तं प्रतिपत्तुं शक्यम्। नायोग्यदेशत्वात् मुखस्य संक्रान्तिर्दर्पणादाविष्यते।

नैवमन्येषां दर्पणस्य चासंक्रान्तस्य कथं प्रतिपत्तिः। तस्यापि बुद्धिदर्पणे संक्रान्तत्वादिति चेत्। बुद्धिरपि तर्हि बुद्धिः दर्पणान्तरे चासंक्रान्तिरिष्यताम्। बुद्धिरविदितैवास्त्विति चेत्। आत्मापरोक्षेति व्यर्थं जगत् स्यात्। आत्मनोऽपक्षत्वे तेनार्थ एव वेद्यतां किमत्र धिया। करणमन्तरेण कथं पश्यतीति चेत्। चक्षुरादयः करणम्। अन्तःकरणेन प्रयोजनमिति चेत्। अन्तरन्तःकरणेनापि प्रयोजनमित्यनवस्था। न चानुपकारकं करणम्। तैरभिव्यज्यते। पुरुषश्चेन्नोदासीनस्यैवाभिव्यक्तिरग्राहकत्वम्। तस्मादर्थान्तरेणात्मना भवितव्यम्।

दर्पण इव तत्राविकारकारिणी तदाकारतेति चेत्, न, दर्पणं प्रतीत्य तदाकारा बुद्धिरुपजायते। तेन विकारोऽन्यथा कः संक्रमार्थो यदि न विकारः। दर्पणेऽभिमुखाकारा भ्रान्ता बुद्धिरुदयवती। अत्रापि विषयाकारा बुद्धिर्भ्रान्तिव न परमार्थतो विषयप्रपञ्चः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है, किन्तु जब अर्थ स्वयं अपने आकार में विद्यमान है और उसका साक्षात्कार किया जा सकता है तब अर्थाकारा बुद्धि व्यर्थ क्यों नहीं। जब बुद्धि अप्राप्त अर्थ को प्राप्त करती है तब उस अर्थ का साक्षात्कार किया जाता है और समीप देश में अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। आत्मा व्यापक है। अतः सकल देश आत्मा से अदूर या सन्निकृष्ट ही हैं, किन्तु दूर देश की प्रतिपत्ति नहीं होती। अतः तदाकार बुद्धि के बिना अर्थ नहीं। प्रश्न होता है कि अर्थ के बिना बुद्धि तदाकार कैसे होगी? जबकि बुद्धि के द्वारा ही अर्थों की तदाकारता मानी जाती है तब ऐसा विपर्यय क्यों? इसका कारण यह है कि अपना मुख तब तक दिखायी नहीं देता जब तक कि सम्मुखस्थ दर्पणादि में संक्रान्त नहीं होता, किन्तु यदि संक्रान्ति के बिना मुख का ज्ञान नहीं होता तब वह दूसरे व्यक्तियों के द्वारा अवगत क्योंकर होगा? यदि कहा जाय कि उन व्यक्तियों के लिए भी उनके बुद्धिरूप दर्पण में संक्रान्त होकर गृहीत हो जाता है, तब बुद्धि का भी ग्रहण तभी होगा जब वह दूसरे बुद्धिरूप दर्पण में संक्रान्त हो। इस प्रकार अनवस्था होती है। यदि कहा जाय कि बुद्धि अविदित होकर ही गृहीत हो जाती है। तब प्रश्न होता है कि बुद्धि के समान ही अज्ञात अर्थ का ग्रहण क्यों नहीं हो जाता? यदि कहा जाय कि करण के बिना उसका ग्रहण कैसे होगा? उसका उत्तर है चक्षुरादि करण हैं। यदि कहा जाय कि बाह्य करण हैं और आत्मा को अन्तःकरण की आवश्यकता है तब अन्तःकरण के लिए अन्य अन्तःकरण की आवश्यकता क्यों नहीं? अतः अनवस्था होती है। करण अनुपकारक नहीं, अपितु अभिव्यक्ति का साधन होता है। पुरुष या आत्मा के न होने पर विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः आत्मा का होना परम आवश्यक है, यदि कहा जाय कि दर्पण के समान विषयकारता अविकार की कारण होती है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दर्पण का आश्रय लेकर ही बुद्धि तदाकार होती है। अतः संक्रमार्थ के विकार हैं, इससे भिन्न विकार कुछ भी नहीं। दर्पण में अविमुखाकार

अनात्मभूतो भेदोऽस्य विद्यमानोऽपि हेतुषु ।
भिन्ने कर्मण्यभिन्नस्य न भेदेन नियामकः ॥ ३०३ ॥

अनात्मभूत जो ज्ञानस्वरूप नहीं है, ऐसा इन्द्रिय का सव्यापारतालक्षण विशेष धर्म प्रतिकर्म का व्यवस्थापक नहीं हो सकता, क्योंकि नीलादि विषय उससे भिन्न हैं, और वह सभी विषयों के लिए अभिन्न या एकरूप है ।। ३०३ ।।

तस्माद् यतोऽस्यात्मभेदादस्याधिगतिरित्ययम् ।

वार्तिकालङ्कारः

प्रधानपुरुषमात्रात्मकत्वाज्जगतः । प्रधानात्मकत्वमपि तर्हि भ्रान्तमेव जगतः घटाद्यात्मकवत् । तथा पुरुषात्मकत्वमपि । एतच्च पश्चात्प्रतिपादयिष्यामोऽन्यथा न सांख्यप्रस्थानेन ।

तस्मादस्य शुद्धस्यानुभवस्य भाव्यन्तेनात्मना, येन कर्मकर्मप्रतिविभागो नीलमिदं पीतमित्यादिकः ।

ननु श्रोत्रादिवृत्ति प्रत्यक्षं प्रमाणमित्युक्तम् । उक्तमिदमयुक्तं तु । तथा हि—अनात्मभूतो भेदोस्येति ।

अस्य पुरुषस्याभिन्नस्य सर्वत्र कर्मणि नीलादौ न भेदेन नियामक इन्द्रियादिभेदः । स हि तस्य कारकत्वेन ज्ञापकत्वेन वा नियामकः स्यात् । कारकत्वेन नियामके न युक्तस्तस्य नित्यत्वात् । साकारताप्रसंगाच्च । अनाकारत्वे स एव दोषः स्वात्मन एव वेदनप्रसंगात् । अथ ज्ञापकत्वान्नियामकः । अपरिज्ञातेऽर्थे कथं ज्ञापकः । ज्ञापकान्नियमज्ञानं नियमज्ञानात् ज्ञापकमितीतरेतराश्रयदोषः । आलोकवज्ज्ञापक इति चेत्, न तेषामपि ज्ञाप्यत्वेऽपरेण ज्ञापकेन प्रयोजनमित्यनवस्था । न च सर्वत्रालोको ज्ञापकः । आलोकेन वा ज्ञापिते किं चक्षुरादिभिः । तत्र वालोकभूता शब्दादीनामिति चेत् । तथाप्यसौ स्वबोधरूपः कथं वेत्ति । स्वरूपेऽवस्थानामिति वक्ष्यामः । तथा हि—तस्माद्यतोऽस्यात्मभेद इति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भ्रान्ति बुद्धि उत्पन्न होती है । प्रकृति में भी विषयाकारा बुद्धि भ्रम रूप ही होती है । परमार्थतः नहीं, क्योंकि प्रधान और पुरुष का ही प्रपञ्च जगत् माना जाता है । प्रधानाकत्व भी घटाद्याकार के समान भ्रान्त क्यों नहीं ? वैसे ही पुरुषात्मकत्व भी, इस प्रश्न स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा । अतः इस शुद्धानुभव के आधार पर नील-पीत आदि का अवभास होता है ।

यह जो श्रोत्रादि-वृत्ति को प्रमाण कहा गया, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि पुरुष-रूप ग्राहक पदार्थ सर्वत्र एक है, अभिन्न है । उससे भिन्न इन्द्रियादि का विषयाकारता-रूप विशेष धर्म भी प्रतिकर्म-व्यवस्था का हेतु नहीं हो सकता । क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप नहीं, उससे भिन्न है । पुरुष यदि व्यवस्थापक है, तब वह कारकत्वेन व्यवस्थापक होगा या ज्ञापकत्वेन । कारकत्वेन नियामक मानना उचित नहीं, क्योंकि वह नित्य है । उसको मानने पर बौद्धाभिहित साकारतावाद प्रसक्त होता है । अनाकारकता-पक्ष में वही दोष एवं स्वात्मा का वेदन अप्रसक्त होता है । ज्ञापक-पक्ष में अन्योऽन्याश्रय दोष है । आलोक के समान स्वज्ञापक मानने पर ज्ञापक आलोक में ज्ञाप्यता के लिए ज्ञापक-परम्परा का अनुसरण आवश्यक हो जाता है । आलोक सर्वत्र ज्ञापक है—ऐसा नहीं

क्रियायाः कर्मनियमः सिद्धा सा तत्प्रसाधना ॥ ३०४ ॥

अतः इस ज्ञान का स्वरूप भेदात्मक "अस्यार्थस्येयमधिगतिः" की विषय-व्यवस्था या प्रतिकर्म-व्यवस्थापन ही विषयी-विषयभाव का नियामक है। वही क्रिया उसका प्रसाधन मानी जाती है ॥ ३०४ ॥

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।

अन्यः स्वभेदाज्ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन ॥ ३०५ ॥

अर्थ (विषय) के साथ ज्ञान की घटना विषय-सदृशता को छोड़ करके सम्भव नहीं, विषयसादृश्य ही ज्ञान-ज्ञेय का भेदक, और कोई नहीं हो सकता ॥ ३०५ ॥

तस्मात् प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ।

साधनेऽन्यत्र तत्कार्यसम्बन्धो न प्रसिद्ध्यति ॥ ३०६ ॥

फलतः घटादिरूप प्रमेय की अधिगति का साधन ज्ञानगत प्रमेयरूपता है, उससे ज्ञान घटादि का सम्बन्ध और कोई प्रसिद्ध नहीं ॥ ३०६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यतः स्वरूपहेतौ तस्य संवेदनस्य इयमस्य नीलस्य पीतस्य चाधिगतिरिति नियमः। सापि गतिस्तत्साधनासिद्धा । तन्मात्रकादेव नियमस्यास्य भावात्। तथा चोक्तम्—

"भावादेवास्य तद्भावे"

न चेयमर्थस्य घटनासारूप्यादतः संवेदनस्य । यतः—अर्थेन घटयत्येनां न हीति ।

तदाकारं हि संवेदनमर्थं व्यस्थापयति । नीलमिति पीतञ्चेति । यथा चाकार-योगिता ज्ञानस्य तथोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः । अन्यत्र तु साधने तेन कर्मणा स्वार्थो न प्रसिध्यति संवृत्तेः । तदाकारता चेत्परित्यज्यते कथन्तस्य संवेदनमिति नियमः । साक्षात्करणादेव नियमो भविष्यतीति चेत् । किमिदं साक्षात्करणमर्थस्वरूपमथ संवेदनम् । अथान्यदेव किञ्चित् ।

अर्थस्य साक्षात्करणं यदि रूपं सदिष्यते । साक्षात्कारि हि ज्ञानं कथमर्थस्य सम्भवेद् ॥६१२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कह सकते, क्योंकि आलोक से ही सभी का ज्ञापन मानने पर चक्षुरादि भी व्यर्थ हो जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि आलोकादि स्वबोधक मात्र हैं, पर-ग्राहक क्यों होंगे, क्योंकि वे स्वरूपमात्र में अवस्थित हैं—यह कहा जायगा।

प्रत्येक संवेदन का अपने कर्म (विषय) के साथ ग्राह्य-ग्राहकभाव नियत होता है—"इयमस्य नीलस्याधिगतिः" । जैसा कि कहा गया है—"भावादेवास्य तद्भावः।"

यह व्यवस्था संवेदन में केवल अर्थ-सारूप्य की घटना से नहीं, क्योंकि तदाकार संवेदन ही अर्थ (विषय) की व्यवस्थापना करता है कि "इदं नीलम्", "इदं नीलम्।" ज्ञान की इस आकारयोगिता का प्रतिपादन आगे किया जायगा। अन्य साधन की क्रिया से संवृत्ति का स्वार्थ सिद्ध नहीं होता। तदाकारता का यदि परित्याग किया जाता है, तब "तस्येदं संवेदनम्"—ऐसा नियम कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि साक्षात्करण के द्वारा वैसा नियम हो जायगा। तब प्रश्न उठता है कि यह साक्षात्करण, क्या अर्थ विषय का स्वरूप है ? अथवा संवेदन ? अथवा कुछ अन्य ही है ? यदि साक्षात्करण अर्थ का स्वरूप अभीष्ट है, तब ज्ञान अर्थ का साक्षात्कारी क्योंकर होगा ?

सा च तस्यात्मभूतैव तेन नार्थान्तरं फलम् ।
दधानं तच्च तामात्मन्यर्थाधिगमनात्मना ॥ ३०७ ॥

वह विषय की सदृशता ज्ञान का अपना स्वरूप है, उससे भिन्न प्रमाण से फल भिन्न नहीं । अर्थात् ज्ञानगत विषय का सादृश्य ही प्रमाण, और विषय-प्रकाशता उसका फल या प्रमा है ॥ ३०७ ॥

सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि ।
तद्वशात् तद्व्यवस्थानादकारकमपि स्वयम् ॥ ३०८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथ संवेदनस्यैव रूपं साक्षात्क्रिया मता ।
साक्षात्कृतः कथं सोऽर्थो न ह्यन्यस्यान्यरूपता । अन्यत्वेऽप्येष दोषस्तु भवेदेव निवारितः ॥६१३॥

तथा हि यदि साक्षात्करणमर्थस्य स्वभावो नीलादिः साधारण इति सर्वस्य संविदितः सोऽर्थो भवेत् । साक्षात्क्रिया चार्थस्य न युक्ता ज्ञानधर्मत्वात् । अथ ज्ञानधर्मोऽसावर्थविषयः तेनार्थः संविदित उच्यते । अर्थविषय इति को विषयार्थः । अर्थसंवेदनरूपत्वादिति चेत् । अर्थस्य संवेदनमिति किम् । अर्थरूपत्वात्संवेदनस्येति चेत् । तस्यैवार्थाकारता संवेदनस्य । अथार्थज्ञातत्त्वादर्थसंवेदनम् । तथा सति चक्षुषोऽपि ज्ञातत्त्वाच्चक्षुः सवेदनमिति प्राप्तम् । अर्थं पश्यति न चक्षुरिति चेत् । अर्थं पश्यतीति कोऽर्थः । अर्थम्पश्यन्दृश्यते तेन पश्यतीत्युच्यते । केन पश्यति स्वरूपेण । यथैव तर्हि स्वरूपं संवेदनरूपेण पश्यति । तथार्थमर्थरूपेणेत्यर्थरूपतार्थस्य संवेदनरूपता संवेदनस्येति । तदाकारतैव सर्वस्य साधिका । नान्यः स्वभावो भेदको विज्ञानस्यार्थेन घटयति । तथा हि—सा च तस्मात्मभूतैवेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

॥६१२॥ यदि साक्षात्कारिता संवेदन का ही स्वरूप है, तब वह अर्थ साक्षात्कृत कैसे होगा, क्योंकि अन्यार्थ में अन्यरूपता नहीं मानी जा सकती । अन्यत्व-पक्ष में भी यह दोष अनिवारित है ॥ ६१३ ॥

अर्थात् यदि साक्षात्करण अर्थ (ग्राह्य) का स्वभाव (स्वरूप) है, तब नीलादि पदार्थ सबके लिए संविदित ही हो जाते हैं । साक्षात्करण अर्थ का धर्म इसलिए भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह ज्ञान का धर्म है । यदि कहा जाय कि साक्षात्करण ज्ञान का धर्म होने पर भी अर्थविषयक है, अतः अर्थ संविदित कहलाता है । अर्थविषयक है—यहाँ "विषय" शब्द का क्या अर्थ है ? इसका उत्तर है कि साक्षात्कारिता केवल संवेदन का स्वरूप नहीं, अपितु अर्थविषयक संवेदन का स्वरूप है । तब प्रश्न होता है कि "अर्थस्य संवेदनम्" इसका क्या अर्थ ? संवेदनरूप विशिष्टार्थ का ज्ञान होने पर विशेषणभूत अर्थ भी ज्ञात हो जाता है । इस दोष का परिहार करने के लिए यदि अज्ञात अर्थविषयक ज्ञान को "अर्थस्य संवेदनम्" कहा जाता है, तब चक्षु भी अज्ञात है, अतः वह संवेदन "चक्षुःसंवेदन" भी कहलाएगा ।

यदि कहा जाय—"अर्थं पश्यति"—ऐसे प्रयोगों में अर्थ को ही विषय माना जाता है, चक्षुरादि को नहीं, तब चक्षुरादि में विषयता क्यों होगी ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रश्न उठता है कि 'अर्थं पश्यति' इसका क्या अर्थ ? अर्थ का दर्शन करता हुआ

ज्ञान अपने ग्राह्य अर्थ में अधिगम रूप व्यापार के द्वारा सव्यापार-जैसा प्रतीत होता है। व्यापार भी वस्तुतः प्रमेय के सारूप्य को लेकर व्यवस्थापित किया जाता है ॥ ३०८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अर्थान्तरफलवादिनां हि सर्वं दुर्घटमिति । आत्मभूतैव संवेदनस्यार्थाकारता प्रमाणम् । संवेदनन्तदात्मभूतमेव फलं प्रमाणस्य । अर्थाकारतानुभवव्यतिरेकेण नान्यार्थाधिगतिः । न हि सुखाद्याकारतार्थस्य संवेदनम्, तद्विशेषादर्थविशेषानुभवप्रसङ्गात् । अथ हेतुतयार्थस्यानुभव इति चेत् । यद्यर्थाकारता न स्यात्सुखमेव केवलमनुभूयेत । अर्थे सुखसंवेदनमिति चेत् । नीले पीतसंवेदनं कस्मान्न भवति । परस्परस्य वैलक्षण्यादित्यपि स्वपक्षोपघातः । सुखनीलयोरपि तथेति अलम्पिष्टपेषणेन । स्वरूपमेव तत्तस्य न संवेदनव्यापार इति चेत् । अत्रोच्यते—दधानं तच्च तामात्मनीति ।

न हि परमार्थतः कस्यचित्कोऽपि व्यापारः । स्वरूपमेव पदार्थानान्तस्य तथा भवदतत्त्ववेदिभिर्व्यापारो यतो व्यापार उच्यते । न परमार्थतः । ज्ञानं च पुरुषस्य स्वार्थः । सुखज्ञानवत् । ततः सुखज्ञानमुत्पन्नं स्वार्थो न तु सुखज्ञानेन किंचित्क्रियत इति । एवं रूपादिज्ञानमपि स्वरूपेणैव स्वार्थः । न तु तेन ज्ञायते । अर्थात् तदुत्पत्तिरिति समाप्तो व्यवहारः । एतावता किमर्थं व्यापारेण । न तर्हि अर्थसंवेदनं फलम् । फलमपि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पुरुष देखा जाता है । अतः कहा जाता है कि "अर्थं पश्यति, केन पश्यति" उसके उत्तर में कहा जाता है 'विषयं स्वरूपेण पश्यति'। अतः निश्चित होता है—'स्वरूपेण अर्थं पश्यति'। अर्थात् 'स्वरूपं संवेदनरूपेण पश्यति, अर्थरूपेण पश्यति।' जैसे—अर्थ में अर्थरूपता है, वैसे ही संवेदन में संवेदनरूपता। तदाकारता सभी के स्वरूप की साधता होती है । अतः ज्ञान का अर्थ के साथ स्वरूपसंवेदन ही घटता है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान ही प्रमाण है और फल भी । जो लोग इन दोनों का अभेद न मानकर भेद मानते हैं, उनके मत में ज्ञान के साथ विषय का सम्बन्ध दुर्घट है। संवेदनगत अर्थाकारता प्रमाण है जो कि विज्ञान का अपना स्वरूप है और अर्थप्रकाशता या अर्थाकारता फल हैं, वह भी ज्ञान का स्वरूप है । अर्थाकारता अर्थाधिगति को छोड़कर और कुछ भी नहीं । अर्थ की सुखाद्याकारता संवेदनस्वरूपेण अन्यथा उसकी विशेषता से अर्थविशेष का अनुभव प्रसक्त होता है। यदि कहा जाय कि अर्थ का हेतुत्वेन अनुभव होता है, तब यह भी कहा जा सकता है कि यदि अर्थाकारता नहीं होगी तब केवल सुख का अनुभव होना चाहिए । यदि कहा जाय कि अर्थ में सुख का संवेदन होता है, तब प्रश्न होता है नील में पीत का संवेदन क्यों नहीं होता ? परस्पर वैलक्षण के कारण वैसा नहीं होता, वैसा कहना भी स्वकीय पक्ष का घात है। सुख और नीलादि का भी वही प्रसंग उपस्थित होता है। यदि कहा जाय कि वह तो उसका स्वरूप ही है, संवेदन-व्यापार नहीं । तब के लिए कहा जाता है—"दधानं इत्यादि" अर्थात् परमार्थतः कोई भी किसी का व्यापार नहीं होता। अपितु पदार्थों के स्वरूप को ही तत्त्ववेदी लोग व्यापार कहते हैं, जबकि वह परमार्थतः व्यापार नहीं। ज्ञान उसका स्वार्थ है । वैसे ही जैसे कि सुखद ज्ञान। अतः सुखद ज्ञान ही स्वार्थ है, सुखद ज्ञान से और कुछ नहीं किया जा सकता । उसी प्रकार रूपादि ज्ञान भी स्वरूपेण स्वार्थ है, उससे और कुछ नहीं जाना जा सकता । अर्थ से उसकी उत्पत्ति होती है और वहीं

यथा फलस्य हेतूनां सदृशात्मतयोद्भवात् ।
हेतुरूपग्रहो लोकेऽक्रियावत्त्वेऽपि कथ्यते ॥ ३०९ ॥

जैसे—फल (कार्य) और उसके हेतुओं की सदृश्यता देखी जाती है। ग्रहण व्यापार के बिना भी "फलं बीजसारूप्यं गृह्णाति, पुत्र-पितृ-रूपं गृह्णाति" इत्यादि व्यवहार ग्रहण व्यापार के बिना भी लोक में देखे जाते हैं। वैसे ही "ज्ञानं ग्राह्यसादृश्यं गृह्णाति" ऐसा व्यवहार लोकप्रसिद्ध है ॥ ३०९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अर्थाकारं संवेदनमर्थं संवेदनमिति को विरोधः । कथन्तर्हि अर्थसंवेत्तीति भेदव्यवहारः । तामेव दधानमर्थाकारतां वेत्तीति व्यपदिश्यते । तथा हि चक्षुर्विज्ञानं पीतमपहाय यदा नीलादौ वर्त्तते तदा परित्यागोपादानलक्षणोऽस्य व्यापार इव लक्ष्यते । यदि नीलसंवेदनं नीलरूपमेव पीतं न यायान्नान्यस्य स्वरूपमन्यस्य भवतीति । तेन तत्पृथग्भूतं युक्त्या व्यवस्थाप्यते स व्यापारश्च सा चार्थापत्तिरेव । परमार्थतश्च तदतदाकारमपरापरं विज्ञानमेव । न तत्र व्यापारव्यतिरेकौ । यतः—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भेदव्यापारकल्पना । अनादिवासनासङ्गान्न भावव्यक्तपूर्वकौ ॥६१४॥
स जातिपूर्वविज्ञानानुभवाहितवासना । व्यतिरेककल्पनाबीजं केवलान्धपरम्परा ॥६१५॥
(—) अन्तरश्लोकौ ।

ननु यदि तदाकारं ज्ञानं तेन जन्यते स एवार्थस्तत्र व्यावृतः स्यान्न तु ज्ञानमर्थे तत्कथं विज्ञानं गृह्णातीति निश्चयः । अत्र समाधिः—यथा फलस्य हेतूनामिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यापार समाप्त हो जाता है, तब अर्थ में व्यापार किसलिए ? अर्थसंवेदन भी फल नहीं, फल भी अर्थाकार संवेदन है। अर्थसंवेदन है, इसमें क्या विरोध ? यदि अर्थ और संवेदन दोनों अभिन्न हैं तब "अर्थं संवेत्ति" इस प्रकार का भेद व्यवहार कैसे ? इसका उत्तर है कि अर्थाकारता को धारणकरता हुआ ही ज्ञान उसको जानता है। अर्थात् चाक्षुर्विज्ञान जब पीत को छोड़कर नीलादि में प्रवृत्त होता है तब आनोपादान लक्षणव्यापार प्रतीत होता है। यदि नीलसंवेदन नीलरूप है तब पीत को प्राप्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि अन्य का स्वरूप अन्य का नहीं हो सकता। अतः युक्ति के द्वारा दोनों का भेद व्यवस्थापित होता है। वही व्यापार है और अर्थापत्ति भी। वस्तुतः तदाकार और अतदाकार विज्ञान ही होता है, व्यापार व्यतिरेक नहीं। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर भेद व्यापार की कल्पना होती है। केवल अनादि वासना के आधार पर भाव व्यक्ति पूर्ववत् नहीं ॥६१४॥ वह वासना या संस्कार पूर्वजाति विज्ञान अनुभव से आहित होती है। व्यतिरेक कल्पना, अर्थभेद कल्पना केवल अन्ध-परम्परा है ॥ ६१५ ॥इति अन्तरश्लोकौ ॥

शंका—यदि ग्राह्याकार ज्ञान ग्राह्यविषय के द्वारा उत्पादित होता है तब वह विषय ही ज्ञान में व्यापृत होता है, न तु ज्ञान अर्थ में, तब ऐसा क्यों कहा जाता है कि "विज्ञानं गृह्णाति"।

समाधान—उक्त शङ्का का ही समाधान किया गया है—"यथा फलस्येत्यादि" से। अर्थात् जैसे पिता के सदृश रूपवाले उत्पन्न पुत्र के लिए "पुत्रः पितृरूपं गृह्णाति"—ऐसा लोक में कहा जाता है, अर्थात् ग्रहण व्यापार के बिना ही गृह्णाति का व्यवहार

आलोचनाक्षसम्बन्धविशेषणधियामतः ।
नेष्टं प्रामाण्यमेतेषां व्यवधानात् क्रियां प्रति ॥ ३१० ॥

आलोचना ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान), इन्द्रिय-सम्बन्ध और विशेषण-ज्ञान, इन तीनों का कार्य-कारणभाव है । अतः आलोचना-ज्ञान प्रमाण और इन्द्रिय-सन्निकर्ष फल है । यदि इन्द्रिय-सन्निकर्ष को प्रमाण माना जाता है तब विशेषण-ज्ञान फल माना जाता है, किन्तु वेद्य विशेष बुद्धि रूप फल के प्रति इन्द्रिय आदि में प्रमाणता नहीं मानी जाती है, क्योंकि उनका व्यवधान हो जाता है ॥ ३१० ॥

सर्वेषामुपयोगेऽपि कारकाणां क्रियां प्रति ।
यदन्त्यं भेदकं तस्यास्तत् साधकतमं मतम् ॥ ३११ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तद्यथा पितृसदृशः पुत्र उत्पत्तिमान् पितृरूपं गृह्णातीति व्यपदिश्यते लोके विनापि ग्रहणव्यापारेण, तथा ज्ञानेऽपि व्यपदेश इति को विरोधः । तत्र तदाकारता दृष्टः इह तु कथम् । इहापि दृष्टैव कामशोकादिषु तदाकारा ज्ञानादेव सा तदाकारता नार्थादिति चोद्यम् । तदाकारा तावत्तदाकारतोपलभ्यते भवन्ती । यदि वासनासामर्थ्यमस्ति दर्शने कारणमनुभवात्तदाकारता । अथादृष्टश्रुतपूर्वे प्रवर्त्तते तदा वासनासामर्थ्याभावादन्यतस्तदाकारादिति वाक्यार्थः तदाकारः करणम् । तथा हि—

वासनातो यदुद्भूतं तदेकस्यैव विद्यते । तत्रार्थस्य स्थितत्वे तु सर्वसाधारणोदयः ॥६१६॥

तस्मादर्थाकारतैव साधनम् । उक्तञ्च—आलोचनाक्षसम्बन्धेति ।

केचिदाहुरालोचनाज्ञानं प्रमाणम् , ततः परं जात्यादिविशिष्टवस्तुनिश्चयात्मकं फलम् । ततोऽपि प्रवर्त्तनं ततः प्राप्तिस्ततः सुखमिति । पूर्वपूर्वप्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति क्रमः । आकारबलादेव हि प्रतिनियतार्थव्यवस्था नान्यतः । आलोचनविज्ञानं हि यदि प्रतिनियतमाकारं नोपाददीत कथमस्येदमालोचनमिति स्यात् । अथापरमपि निश्चयादिविज्ञानमेवमेव तत्त्वव्यपदेशलाभि पूर्वपूर्वं तु कारणमुत्तरोत्तरोत्पत्तावेव कारणं न प्रतिनियतार्थव्यवस्थायाः तदाकारतैव तु यतः तत्र साधनम् । ततः—सर्वेषामित्यादि ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

किया जाता है, वैसा ही यदि ज्ञान के लिए भी गौण प्रयोग किया जाता है, तब क्या विरोध ? पुत्र में तो तदाकारता देखी जाती है, यहाँ वह कैसे ? यहाँ भी देखी ही जाती है—काम, शोकादि के अवसर पर तदाकारता । ज्ञान से ही वह तदाकारता होती है, अर्थ से नहीं । निष्कर्ष यह है कि तदाकारता पुत्र के समान यहाँ भी उपलब्ध होती है । यदि तदाकारता के दर्शन में वासना कारण है, तब भी ज्ञान ही कारण होता है । अनुभव से तदाकारता आती है । यदि अदृष्ट और अश्रुतपूर्व विषय में प्रवृत्त होता है, तब वासना का सामर्थ्य न होने पर अन्य साधन से तदाकारता माननी होगी । सर्वथा तदाकार ज्ञान ही प्रमा का कारण है । अर्थात् वासना से जो उद्भूत होता है, तब एक ज्ञान का ही कार्य होता है । वहाँ अर्थ के भी स्थित होने पर तदाकारता ज्ञान और विषय दोनों का साधारण कार्य होता है ॥ ६१६ ॥

कतिपय दार्शनिक आलोचना ज्ञान को प्रमाण मानते हैं । उसके अनन्तर जाति आदि विशिष्ट सविकल्पक ज्ञान को फल मानते हैं । उससे भी प्रवृत्ति होती है । उसे

सभी कारकों का अपनी क्रिया के प्रति साक्षात् परम्परया उपयोग होने पर भी अन्तिम कारक क्रिया का भेदक और साधकतमं करण माना जाता है ॥ ३११ ॥

वार्तिकालङ्कारः

साधकतमं हि करणं (पाणिनिः १।४।४२) तस्य च सर्वकारकोपयोगेऽपि क्रियायां कथं प्रकर्षः । न हि क्रियानिर्वर्त्तनमेव । भावेऽपि तत्रानन्तर्यं यस्य क्रियां प्रति तदेव साधकतमम् । तथा हि । सत्स्वपीन्द्रियादिष्वदूरदेशतादिना यदि प्रतिनियताकारता न प्रतिपाद्येत न तदाकारार्थपरिच्छेदव्यवस्था । तदनन्तरभासिनी सा क्रियेति तदेव करणम् । नन्वदूरदेशतैव साधनं नेन्द्रियोपघातेऽदूरदेशतायामपि न नियतार्थव्यवस्था । अनुपघातस्तर्हि साधनं, नेदमप्यस्ति । यतः—

अक्षस्यानुपघातो हि तदाकारविशेषतः । संवेदनस्य विषयः ततः स व्यवधीयते ॥६१७॥

ननु स एवाकारो व्यवधीयत इति प्राप्तम् , तेन ह्याकारेण निश्चितोऽनुपघातः प्रतिनियतार्थव्यवस्थाहेतुः । नेदं साधीयः । यतः—

आकारनियमः सिद्धो यदि सार्थव्यवस्थितिः । अकारणं शरः सिद्धे प्राप्तः किमिति पोष्यते ॥६१८॥

नासिद्ध आकारनियमोऽक्षानुयातं साधयति । स चेत्प्रसिद्धः सैवार्थव्यवस्थितिः । व्यर्थ एवाक्षानुपघातः । न खलु सिद्धेऽर्थे प्राप्तः साधयति कश्चित्, सिद्धस्य साधनासम्भ-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थ की प्राप्ति और सुख का लाभ होता है। पूर्व-पूर्व प्रमाण और उत्तर-उत्तर फल माना जाता है। ज्ञानगत आकार के द्वारा ही ज्ञानज्ञेय की व्यवस्था होती है, अन्य रीति से नहीं। आलोचना विज्ञानयदि प्रतिनीयतआकार का ग्रहण न करता, तब 'अस्य इदं आलोचनं' इस प्रकार की विषय-व्यवस्था कैसे होती? यदि दूसरा निश्चयादि विज्ञान इसी प्रकार का है तब तो व्यवस्था का लाभ करने वाला है। पूर्व-पूर्व कारण उत्तर-उत्तर उत्पत्ति का जनक है। प्रतिनीयत अर्थ-व्यवस्था का नियामक तदाकारता नहीं है, क्योंकि "साधकतमं हि करणम्" (पा० सू० १।१।४२)। सर्वकारकों में इसका उपयोग होने पर भी क्रिया में प्रकर्ष कैसे होगा? क्योंकि क्रिया-निरवर्तन यहाँ नहीं होता। क्रिया-निरवर्तन मानने पर भी जो पदार्थ क्रिया के अव्यवहित पूर्व होगा, उसी में ही क्रिया के प्रति साधकत्व माना जाता है। अर्थात् इन्द्रियादि के रहने पर भी दूरदेशता आदि के कारण प्रतिनीयत आकार प्राप्त नहीं होता। वहाँ पर तदाकार अर्थ-व्यवच्छेद की व्यवस्था नहीं होती, जिसके अनन्तर वह क्रिया होती है, वही करण माना जाता है। अदूरदेशता को साधन क्यों न माना जाय? इसका उत्तर है कि इन्द्रिय का उपघात होने पर अदूर देशता के रहने पर भी अर्थ-व्यवस्था नहीं होती। तब अनुपघात इन्द्रिय को साधन क्यों न माना जाय? इसका उत्तर है कि यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय का अनुपघात तदाकार विशेष से ही होता है। संवेदन का विषय तब व्यवहित हो जाता है ॥ ६१७ ॥

शङ्का—वही आकार व्यवहित होता है। इसी आकार के द्वारा अनुपघात निश्चित होता है और वही प्रतिनीयत अर्थ-व्यवस्था का हेतु होता है।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि यदि सार्थ व्यवस्थिति है तब आकार नियम सिद्ध हो जाता है, क्योंकि प्राप्त लक्ष पर शर (बाण) का प्रक्षेप नहीं किया जाता ॥ ६१८ ॥

असिद्ध आकार नियम इन्द्रिय-सन्निकृष्ट अर्थ का साधक नहीं होता, यदि वह

सर्वसामान्यहेतुत्वादक्षाणामस्ति नेदृशम् ।
तद्भेदेऽपि ह्यतद्रूपस्यास्येदमिति तत् कुतः ! ॥ ३१२ ॥

इन्द्रियों में उस प्रकार का साधकतमत्व नहीं होता, क्योंकि वे सभी ज्ञानों के साधारण कारण हैं। अतः अवान्तर अधिगति अवान्तर रूप की भेदकता नहीं बनती। इन्द्रियों में प्रमाणादि के होने पर भी विषय-ग्राहकत्व वहाँ माना जाता है। वहाँ सारूप्य के बिना क्योंकर उपपन्न होगा ॥ ३१२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

वात्। ततः सिद्धोपस्थानहारी किमपेक्ष्यते। तदाकारतायामपि निश्चयोऽपरः प्रतिनियतव्यवस्थायामपेक्ष्यत इति चेत्, न, प्रत्यक्षप्रामाण्यप्रस्तावात्। अभ्याससम्भवे हि प्रत्यक्षं प्रमाणं तदाकारमात्रादेव च तदा प्रवर्त्तननिश्चयमन्तरेणापि। यदा तु निश्चयापेक्षा तदानुमानं प्रमाणम्। तस्याप्याकारमात्रादेव प्रवृत्तेः। नापरापेक्षा। तस्मादाकारान्नापरं करणं तथाऽसाधारणमिति। तत्र—सर्वं सामान्यहेतुत्वादिति।

सर्वस्य हि नीलपीतादिविषयस्य सामान्येन हेतुत्वादक्षं न भेदकम्। ननु नीलपीततदुभयादिविषयमन्यान्यदक्षं भविष्यति, तदभिमुखता हि तत्रान्यैव, ततो धर्मभेदेऽक्षाणामिति तद्भेदादेव, भेदप्रतिपत्तिरिति किमुच्यते सर्वसामान्यहेतुत्वादिति। तदसद्। आभिमुख्यस्य विशेषणाकारभेदमन्तरेण प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। तद्भेदेऽप्याकाररहितस्य अस्येदमाभिमुख्यं नीलपीतादिविषयमिति कुतः। न हि नीलादिविशेषप्रतिपत्तिमन्तरेणाभिमुख्यविशेषप्रतिपत्तिः, सा चेदस्ति किमिदानीमाभिमुख्यप्रख्यानेन। अथवा तद्भेदेऽप्यभिन्नस्येति तस्य नीलपीतादिवेदनस्य भेदेऽपि अभिन्नस्येन्द्रियस्य

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रसिद्ध है तब वही अर्थ-व्यवस्था है। अक्षाणु-उपघात व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि कोई भी सिद्धार्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्न नहीं करता, क्योंकि सिद्धार्थ की साधना असम्भव है। सिद्धोपस्थानकारी का क्या उद्देश्य होगा ? यदि कहा जाय कि तदाकारता में भी अपर निश्चय प्रतिनीयत व्यवस्था में अपेक्षित होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण का यह प्रसंग है। अभ्यास के सम्भव होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण तदाकारता मात्र के आधार पर माना जाता है। प्रवर्तन निश्चय के बिना ही जब निश्चय की अपेक्षा होती है तब अनुमान प्रमाण होता है। उसकी आकार मात्र से प्रवृत्ति होती है, अन्य कोई अपेक्षा नहीं होती। फलतः आकारात् से भिन्न अन्य को करण असाधारण कारण नहीं होता, क्योंकि सभी नील, पीतादि विषयों का साधारण हेतु होने के कारण इन्द्रियभेदक नहीं होता।

शंका—नील, पीतादि विषय अन्यान्य का ग्राहक हो जायगा, क्योंकि तद्-अभिमुखता उससे भिन्न है। तब धर्मभेद में इन्द्रियों को हेतु क्यों न माना जाय ? क्योंकि उनके भेद से ही भेदक प्रतिपत्ति होती है। तब क्यों ऐसा कहा जाता है कि सर्वसाधारण होने के कारण इन्द्रियभेदक नहीं।

समाधान - उक्त शंका असत् है, क्योंकि विशेषण और आकार-भेद के बिना आभिमुखता की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। उसका भेद होने पर भी आकार के अभाव में 'अस्य इदं आभिमुख्यं नील-पीतादिविषयं' ऐसा ज्ञान क्योंकर होगा ? क्योंकि नीलादि की विशेष प्रतिपत्ति के बिना आभिमुख्य विशेष की प्रतिपत्ति नहीं होती। यदि वह है तब पुनः आभिमुख्य प्रख्यान की क्या आवश्यकता ? अथवा इन्द्रियभेद

वार्तिकालङ्कारः

अस्येदं करणमिति कुतः। आभिमुख्यविशेषाद्विशेष इति चेत्। नाभिमुख्यत्वस्याकारण-विशेषप्रतिपत्तिमन्तरेण विशेषेण प्रतिपत्तुमशक्यत्वादित्युक्तम्। तत आकारविशेष एव प्रार्थनीयः। स चेदस्ति किमपरेण।

नन्वाकारोऽप्यर्थस्यैव न ज्ञानस्य, तस्यार्थतया प्रतिपत्तेः। जडरूपतया हि स आकारः प्रतीयते वर्णसंस्थानात्मना। ज्ञानन्तु तद्विपर्ययेण बोधरूपतया। नाकारव्यति-रेकेण बोधरूपतायाः प्रत्येतुमशक्यत्वात्। नीलादिसुखादिकमन्तरेणापरस्य ज्ञानाकार-स्यानुपलक्षणात्। परोक्षं तर्हि ज्ञानं न चास्तीति प्राप्तम्। तदसत्। तथा हि—

परोक्षं यदि तज्ज्ञानं ज्ञानमित्येव तत्कुतः। परोक्षस्य स्वरूपं कस्तस्य लक्षयितुं क्षमः ॥६१९॥
यतोऽपरोक्षतार्थस्य तज्ज्ञानमिति चेन्मतम्। अर्थापरोक्षताज्ञानमस्तु तत्र परेण किम् ॥६२०॥
स्थितेऽर्थे तु भवत्येषाऽस्थित एव न भाविनी। ततोऽर्थेन भवतीत्येतदनायासेन सिध्यति ॥६२१॥

एतेनाभावोऽपि प्रत्याख्यातः।

न चापरोक्षताव्यतिरेकेण नीलादितानुभवकालेऽनुभूयते। ततो नीलाद्याकारा सा। नीलन्तु तस्या उपधानमन्यदेव। दर्पणमुखप्रतिबिम्बादि च मुखमित्याकार एवासौ न स्वयमर्थः। ननु दर्पणप्रतिबिम्बमुखयोर्द्वयोरपि प्रतिपत्तिरिह त्वाकारमन्तरेण नार्थस्य। एतदुत्तरत्र प्रतिपादयिष्याम इत्यास्तां तावदेतत्। जडरूपता तु स्वयञ्चका-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होने पर भी अभिन्न नील, पीतादि भेदन होने पर अभिन्न इन्द्रिय में करणता क्योंकर होगी? यदि कहा जाय आभिमुख्य विशेष के द्वारा विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है, तो वैसा नही कह सकते, क्योंकि विशेष प्रतिपत्ति के बिना आभिमुखी विशेष नहीं होता, विशेष प्रतिपत्ति के बिना उसका ज्ञान भी नहीं किया जा सकता, ऐसा कहा जा चुका है। अतः आकार-विशेष की ही अपेक्षा करनी चाहिए। वह यदि है तो अन्य करण की क्या आवश्यकता?

शंका—आकार भी अर्थ का ही होता है ज्ञान का नहीं, क्योंकि आकार में अर्थ-सम्बन्धिता प्रतिपन्न होती है। वह आकार जड़रूपतया प्रतीत होता है। वर्ण-संस्था-नादि के रूप में और ज्ञान उसके विपरीत बोधरूपतया जाना जाता है।

समाधान—आकार के बिना बोधरूपता का ज्ञान नहीं किया जा सकता। नील सुखादि के विना ज्ञान के आकार का पृथक् भान नहीं होता, तब तो ज्ञान परोक्ष है, ऐसा प्राप्त हुआ, वह उचित नहीं, क्योंकि यदि ज्ञान परोक्ष है तब वह ज्ञान ही कैसे होगा? परोक्ष का स्वरूप कौन जान सकता है? ॥ ६१९ ॥

यदि कहा जाय अपरोक्षता अर्थ में होने के कारण उसके ज्ञान को भी अपरोक्ष कहा जाता है, तब अर्थापरोक्षता का ज्ञान होना चाहिए, अन्य की क्या आवश्य-कता? ॥ ६२० ॥

यह अपरोक्षता स्थित अर्थ में ही होती है, अस्थित में नहीं। अतः अर्थ की यह अपरोक्षता है, यह अनायास सिद्ध हो जाता है ॥६२१॥ इस प्रकार अभाव भी प्रत्या-ख्यात हो जाता है।

अपरोक्षता के बिना नीलादिता का अनुभव नहीं होता। अतः वह नीलाकारा होती है। नील पदार्थ उसका उपधान भिन्न ही होता है। दर्पणगत मुख-प्रतिबिम्बादि में केवल मुख का आकार मात्र होता है। मुख अर्थरूप वहाँ नहीं होता। दर्पणगत

वार्तिकालङ्कारः

शतः कथं शक्योपपादयितुम् । यदि चार्थपरोक्षातायाः कश्चिदपरोऽस्ति यत इदमिति साध्यते । तदा वासना भविष्यति । वासनाबलायातोऽयमाकारो विज्ञानस्य । न च वासनाबलादर्थः सम्भवति । तदभावप्रसङ्गात् ।

ननु वासनाबलायातोऽर्थशून्यो भवति स्वप्नाकारवत् ।

वासनाया विशेषस्य कस्यचित्तत्र सम्भवः । येनार्थशून्यो न भवत्याकारो जाग्रदीक्षितः ॥६२१॥

वासना हि तावदाकारस्य जनिकोपलभ्यते स्वप्नादिषु । तत एषोऽपि जाग्रदुपलब्धिविषयभावं गतस्तत एव तज्जातीयत्वात् ।

नन्वाकारत्वमेव तस्यासिद्धमर्थ एवासाविति प्रतिपत्तेः । न । व्यभिचारात् । स्वप्नज्ञानाकारो ह्यर्थ इति प्रतीयत एव । पर्यालोचनतोऽन्यथा प्रतिपत्तिरिति चेत् । अत्रापि पर्यालोचनम् काकैर्भक्ष्यते । वासनाविशेषस्तु जाग्रदवस्थाकारः सोऽर्थ इति वरं कल्पितम् । स्वप्नादिप्रत्ययोऽपि न साकारस्तत्राप्यर्थस्य सम्भवादिति चेत् तदुत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः । अथार्थाकारता नापरोक्षः, अर्थ एव नीलादिकोऽर्थाकारः । सा तु वस्तुप्रत्यासत्या तथा लक्ष्यते दर्पणप्रतिबिम्बवत् । मुखप्रत्यासत्या हि दर्पणमनाकारमप्याकारवदिव लक्ष्यते । प्रदीपादिप्रभावाद्वा । प्रदीपप्रभा ह्यनाकारापि घटादिसंक्रान्ता

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिबिम्ब और मुख दोनों की पृथक् स्थल पर प्रतीति होती है, किन्तु दर्पण में अर्थ के बिना आकार मात्र होता है । इसका विशद रूप से प्रतिपादन आगे किया जायगा । स्वयंप्रकाश-वस्तु में जड़-रूपता का उपपादन क्योंकर किया जा सकता है ? यदि अर्थपरोक्षता का कोई अन्य साधन हो, जिससे इसकी सिद्धि की जाय, तब वह साधनान्तर वासना रूपी विज्ञान का ही आकार वासना के बल पर ही प्रतीत होता है । वासना के आधार पर अर्थ की विद्यमानता सम्भव नहीं, उसका अभाव प्रसक्त होता है ।

शंका होती है कि वासना के बल पर प्राप्ताकार वैसे ही अर्थशून्य होता है जैसे कि स्वप्न का आकार । प्रकृति में भी वासना की कोई ऐसी विशेषता सम्भव नहीं, जिससे कि जागदर्शन के समान आकार अर्थशून्य न हो ॥ ६२१ ॥

वासना वैसे ही आकार मात्र की जनक होती है, जैसे कि स्वप्न में । अतः विज्ञानगत आकार भी जाग्रतकालीन ऐसी उपलब्धि है, जहाँ आकार मात्र प्रतीत होता है ।

शंका—ज्ञानगत आकार में आकारता ही सिद्ध नहीं, क्योंकि यह अर्थ है—ऐसी प्रतिपत्ति होती है, किन्तु प्रतीति मात्र के आधार पर अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकते, क्योंकि स्वप्न में भी व्यभिचार होता है । स्वप्न में भी अर्थ ज्ञान का आकार है—ऐसी प्रतीति होती है । यदि कहा जाय कि पर्यालोचना से वह प्रतिपत्ति अन्यथा सिद्ध हो जाती है तो यहाँ पर भी उक्त पर्यालोचना को कौए नहीं खा जाते, अपितु वह रहती है । वासनागत विशेषता जाग्रद अवस्था का आकार है, वही अर्थ है—ऐसी कल्पना ही उचित है । स्वप्नादि प्रत्यय भी साकार नहीं, क्योंकि वहाँ अर्थ सम्भव है—ऐसा यदि कहा जाय तो उसका उपपादन आगे किया जायेगा । यदि अर्थाकारता अपरोक्ष नहीं, नीलादि अर्थ ही अर्थाकार होता है । वह वस्तु की प्रत्यासत्ति पर निर्भर है । वैसा ही प्रतीत होता है, जैसाकि दर्पण का प्रतिबिम्ब । मुख-प्रत्यासक्ति के द्वारा आकार-रहित

एतेन शेषं व्याख्यातं विशेषणधियां पुनः ।
अताद्रूप्ये न भेदोऽपि तद्वदन्यधियोऽपि वा ॥ ३१३ ॥

इन इन्द्रियों के अनुसार ही आलोचनादि का हेतु-हेतुमद्भाव व्याख्यात हो जाता है अर्थात् उनका सारूप्य न होने पर भेदकत्व नहीं बनता। अतः विशेषण बुद्धि के समान विशेष सारूप्य मानना चाहिए ॥ ३१३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

घटाद्याकारेव लक्ष्यते । तदसत्यम्—

मुखादिव्यतिरेकेऽपि दर्पणादिर्निरीक्ष्यते । न त्वाकारातिरेकेणापरोक्षत्वमिनिरीक्ष्यते ॥६२३॥

अपरोक्षता हि नीलाकारात्मभूतैव सर्वदा निरीक्ष्यते नान्यथा । तत्किमर्थं प्रत्यासत्त्यैवं प्रतिभाति यथैवम्भूतैरेवेति किमत्र प्रमाणम् । भवतोऽपि किं प्रमाणमिति चेद-भेदोपलब्धिरेव । भ्रान्तिरेवेयमिति चेन्न बाधकाभावात् । अर्थप्राप्तिरिति चेत्, न, प्राप्तेरप्याकारलक्षणत्वात् । न हि तदाकारतामन्तरेण प्राप्तिरस्तीति प्रतिपादयिष्यामः । यदि स तथाभूत आकारो न स्यान्न कश्चित्प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयेद् । तथा हि—एतेन शेषं व्याख्यातमिति ।

आलोचनार्थसन्निकर्षादिः शेषः । अर्थसन्निकर्षोऽपि नाकारमभिप्रेत्य ज्ञायते । ततस्तेषामपि क्रियां प्रत्यसाधकतमत्वं, व्यवधानात् विशेषणधियाम् । पुनस्तदाकारताभावे विशेषणबुद्धिरेव न सिध्यति । तद्विशेष्यादिबुद्धित्वमिति । न तेषामपि करणत्वं यदि तावत्कालाविशेषणबुद्धिर्विशेषणमेतदिति कथं ज्ञातव्यम् । न हि विशेष्योपारूढरूपमन्तरेण विशेषणत्वं नाम, नापि तदुपारूढत्वग्रहणं विना विशेषणत्वग्रहणम् । तदा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दर्पण भी आकारवान के समान अभिलक्षित होता है अथवा प्रदीपादि प्रभा के समान। अर्थात् प्रदीप की प्रभा आकार-रहित होने पर भी घटादि के सम्बन्ध से घटाकार के समान प्रतीत होती है।

समाधान—उक्त शंका सत् नहीं, क्योंकि मुखादि से रहित दर्पण देखा जाता है, किन्तु आकार के बिना अपरोक्षत्व प्रतीत नहीं होता ॥ ६२३ ॥

अपरोक्षतः नीलाकार स्वरूप ही है अन्यथा नहीं। तब क्यों अर्थ की प्रत्यासत्ति से ऐसी प्रतीति होती है ? यह ऐसी ही है, इसमें क्या प्रमाण ? इस प्रश्न के उत्तर में आपसे भी पूछा जा सकता है। आपके मत में क्या प्रमाण ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है—अभेदोपलब्धि ही प्रमाण है। इसे भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका कोई बाधक नहीं। अर्थप्राप्ति बाधक क्यों नहीं ? क्योंकि वह प्राप्ति भी आकार मात्र है। तदाकारता के बिना प्राप्ति नहीं होती। इसका प्रतिपादन आगे किया जायगा। यदि वह आकार वैसा नहीं तब कोई भी प्रतिनीयत अर्थ की व्यवस्था नहीं कर सकेगा।

ऊपर कारिका में जो कहा गया—"अताद्रूपे न भेदोऽस्ति"। वहाँ पर आलोचनार्थ सन्निकर्षादि यह वाक्य शेष है। अर्थसन्निकर्ष भी आकार के बिना नहीं जाना जा सकता। अतः उनमें भी क्रिया के प्रति असाधकमत्व माना जाता है, क्योंकि विशेषण बुद्धि का व्यवधान होता है। पुनः तदाकारता के अभाव में विशेषण-बुद्धि सिद्ध नहीं होगी तद्विशेष्यादि बुद्धि कैसे ? उनमें भी करणत्व नहीं। यदि उतने काल तक

नेष्टो विषयभेदोऽपि क्रियासाधनयोर्द्वयोः ।
एकार्थत्वे द्वयं व्यर्थं न च स्यात् क्रमभाविता ॥ ३१४ ॥

क्रिया और उसके साधन का विषयभेद नहीं होता। छिदा क्रिया और उसका फल द्वैधिभाव रूप फल समानाश्रित होते हैं। विशेषण-ज्ञान प्रमाण और फल उभयात्मक होना चाहिए, क्योंकि विषय का सारूप्य और अधिगम का स्वभाव उसमें देखा जाता है। एकविषयक दो ज्ञानों की क्रमभावता नहीं होती, क्योंकि क्रमिक कार्यंजनन एक कारण का विरुद्ध माना जाता है ॥ ३१४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कारग्रहणे च विशेष्यमपि गृहीतमेवेति कथं ततो विशेष्यधीरपरा साध्या भवेत्। न हि तदैव गृह्यमाणं तद्ग्राहकबुद्धिजनितग्राहकग्राह्यं तत्कालेऽपि विशेषणस्य प्रतिभासनमिति चेत्। पूर्वन्तद्ग्रहणं व्यर्थं पूर्वमपि विशेष्यं प्रतिभासत इति न युक्तं साधनत्वाभावप्रसंगादेव। किञ्च विशेषणबुद्धिर्विशेषणे विशेष्ये तद्बुद्धिरिति विषयभेदः क्रियासाधनयोः प्राप्तः। भवतु को दोष इति चेत्—नेष्टो विषयच्छेदोऽपीति।

न खलु पलाशे परश्वादिकरणप्रवर्तनम्। न्यग्रोधे छिदा निर्वर्त्तते एकार्थतायां पूर्ववत्प्रसंगः। व्यर्थता च द्वयोः। क्रमभावश्च सर्वासां तदर्थहेतूनां धियां विरुद्धः। एकत्वे क्रमायोगात्। आवृत्तिभेदात्क्रम इति चेत्, न, आवृत्तिभेदस्य प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुमशक्यत्वात्। यदि तदेव ज्ञानमावर्तत इति सदैवावृत्तिसंप्रत्ययः स्यात्। न च तदभिन्नस्वरूपग्राहिणां परस्परं क्रियासाधनभावः क्रमभावेऽपि पूर्वेणोत्तरस्य जनिक्रियैव क्रियते नाधिगतिः पूर्वाविशेषात्। जनिक्रियापि नापरा तत्स्वरूपादिति प्रतिपादितमन्यत्र।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विशेषण-बुद्धि है तब उसका ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि विशेष्य-रूपापन्नता के बिना विशेषणता का ज्ञान नहीं होता और तदुपारूढत्व ग्रहण के बिना विशेषण का ग्रहण नहीं होता। तदाकार का ग्रहण होने पर विशेष्य भी गृहीत ही हो जाता है। उससे भिन्न विशेष्य भी और कुछ नहीं, क्योंकि वह भेद भी गृह्यमाण होकर तद्ग्राहक बुद्धि से जनित ग्राहक का ग्राह्य होता है। यदि कहा जाय कि उस काल में भी विशेषण का प्रतिभास होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि पहले उसका ग्रहण व्यर्थ है। पहले भी विशेष्यार्थ प्रतिभासित होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि साधनाभाव प्रसक्त होता है। दूसरी बात यह भी है कि विशेषण-बुद्धि विशेषण और विशेष्य की बुद्धि, इस प्रकार क्रिया और साधन का विषय-भेद प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि क्रिया और साधन का विषय-भेद मानने पर क्या दोष ? उसके उत्तर में कहा गया है—"नेष्टो विषयभेदोऽपि"। अर्थात् पलाश के ऊपर पशु का आघात और निग्रोध का छेदन हो, ऐसा सम्भव नहीं।"

एकार्थता में पूर्ववत् प्रसंग उपस्थित होता है। एकार्थक दो क्रियाओं का वैयर्थ्य भी होता है। तदर्थक सभी बुद्धियों का क्रमभाव विरुद्ध है। एकता पक्ष में क्रम नहीं बनता। यदि कहा जाय कि आवृत्ति के भेद से क्रम सम्भव होगा तो वैसा सम्भव नहीं, क्योंकि आवृत्ति-भेद का प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता। यदि वही ज्ञान पुनः आवर्तित होता है, तब सदैव आवृत्ति की प्रतीति होनी चाहिए। तद्-अभिन्न स्वरूप के ग्राहक ज्ञानों का परस्पर क्रिया-साधनभाव नहीं होता। उनका क्रमभाव मानने पर

साध्यसाधनताभावः सकृद्भावे धियोंऽशयोः ।
तद्व्यवस्थाश्रयत्वेन साध्यसाधनसंस्थितिः ॥ ३१५ ॥

आकार और अधिगम दोनों एकज्ञान-स्वरूप होने पर भी प्रमाण-फल भाव अनुपपन्न रहता है, क्योंकि आकार और अधिगम रूप अंशों की साध्य-साधन-संस्थिति सम्भव नहीं। व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव बन सकता है। वह तादात्म्य में भी अविरुद्ध है ॥ ३१५ ॥

सर्वात्मनापि सम्बद्धं कैश्चिदेवावगम्यते ।
धर्मैः स नियमो न स्यात् सम्बन्धस्याविशेषतः ॥ ३१६ ॥

अर्थ का सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं, क्योंकि बाह्य पदार्थ का इन्द्रियादि के साथ सम्बन्ध होने पर भी सभी धर्मों के माध्यम से अधिगति नहीं होती और गति और स्थिति का हेतुभूत सम्बन्ध भी समान है ॥ ३१६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

उक्तञ्च—साध्यसाधनताभाव इति । —इत्यन्तरश्लोकः

नापि सन्निकर्षः प्रमाणं यतः—सर्वात्मनापि सम्बद्धमिति ।

यदीन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रमाणं तस्य फलमर्थाधिगतिः स सन्निकर्षः संयोगः । संयुक्तसमवायः । संयुक्तसमवेतसमवायः । समवायः । समवेतसमवायः । संयुक्तविशेषण-विशेष्यभावश्चेति । इन्द्रियस्य घटादिना संयोगः । घटसमवेतेन गुणेन संयुक्तसमवायः । गुणत्वेन सितत्वादिना संयुक्तसमवेतसमवायः । श्रोत्रस्याकाशात्मनः शब्देन समवायः । शब्दत्वेन समवेतसमवायः । प्रदेशे घटाभावेनेन्द्रियस्य संयुक्तविशेषणविशेष्यभावः । तत्र यदि नाम संयुक्तेन सम्बन्धः । तस्य ग्रहणमिति कुतः । अन्यथा धूमसम्बद्धवह्न्या-देरपि प्रतिपत्तिः स्यात् । अथ समवायसम्बन्धात्प्रतिपत्तिः । एवन्तर्हि एकार्थसमवायिनः स्पर्शादेरपि चक्षुषा प्रतिपत्तिः स्यात् । समानदेशत्वमन्ये ? प्रत्युक्तम् । यथा सन्तानस्य एकार्थसमवायिनः प्रतिपत्तिस्तथा स्पर्शादेरपि । अचाक्षुषत्वादप्रतिपत्तिरिति चेत् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी पूर्व के द्वारा उत्तर का जन्म ही किया जाता है, अधिगति नहीं। जनी क्रिया भी अन्य नहीं, तत्स्वरूप ही है, इसका प्रतिपादन अन्यत्र किया जा चुका है।

सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष प्रमाण है, उसका फल अर्थाधिगति, वह सन्निकर्ष—(१) संयोगात्मक है, (२) संयुक्त समवाय है, (३) संयुक्तसंवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) संवेतसमवाय, (६) संयुक्त-विशेषण-विशेष्यभाव होगा। इनमें इन्द्रिय का घटादि के साथ संयोग, घटसंवेत रूपादि गुणों के साथ संयुक्त-समवाय है गुणत्व के साथ संयुक्तसंवेतसमवाय, आकाशा-त्मक स्रोत का शब्द के साथ समवाय शब्दत्व के साथ संवेतसमवाय प्रदेश में घटाभाव के साथ संयुक्त विशषण-विशेष्यभाव माना जाता है। इनमें यदि संयुक्त द्रव्य के साथ सम्बन्ध होता है, तब उसका ग्रहण कैसे होगा ? अन्यथा धूमसम्बद्ध वह्न्यादि की प्रतिपत्ति होनी चाहिए। यदि समवाय सम्बन्ध से प्रतिपत्ति मानी जाती है तब एकार्थ समवायी स्पर्शादि की भी चक्षु के द्वारा प्रतिपत्ति होनी चाहिए। समानदेशत्व का विलास किया जा चुका है। जैसे—एकार्थसमवायी सन्तान का ज्ञान होता है, वैसे

तदभेदेऽपि भेदोऽयं यस्मात् तस्य प्रमाणता ।
संस्काराच्चेदताद्रूप्ये न तस्याप्यव्यवस्थितेः ॥ ३१७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तदेवेदम्—

एकार्थसमवायित्वान्न कथमिति चिन्त्यते ।

तस्मान्न सर्वात्मनापि सम्बद्धं कैश्चिदेव धर्मैः प्रतीयत इति न युक्तम् । यदि हि चक्षुरादिपरमाणवो बहिर्निर्गत्यान्यदेशसंक्रान्त्यार्थग्रहनिमित्तं तत्संयोगे तथा सति सर्वात्मना सम्बन्धादशेषरूपप्रतिपत्तिरिति चक्षुषो घटादयोऽपि धर्माः परिस्फुटं प्रतिभासेरन् । वर्णशश्च न संस्थानमात्रस्य । तथा शेषजात्याद्यभिव्यक्तिः । दूरादौ करणस्यासामर्थ्यमिति चेत् । यद्यसामर्थ्यमग्रहणमेव सर्वदास्तु । एवम्भूता सामग्री येनैवम्भूता प्रतिपत्तिरिति चेत्, न, अभिन्नत्वात् । संस्थानस्य वर्णतः ।

न हि वर्णतः संस्थानं भेदेनावधार्यते । अवधार्यते वर्णव्यतिरेकेणापि समर्थाकार इति चेत् । तत्रापि श्यामवर्णस्योपलभ्योपलब्धेः । अन्धकारस्यावस्तुत्वान्न वर्णस्योपलब्धिः । तदप्ययुक्तम् । उपलभ्यमानस्यावस्तुत्वायोगात् । आलोकेऽपि निमीलितलोचनस्य प्रतिपत्तेरिति चेत्, न, तस्य भ्रान्तत्वात् । न चैकस्य भ्रान्तत्वे सर्वत्र भ्रान्तिरित्यतिप्रसङ्गात् । बाह्यार्थाभावप्रसङ्गात् । ततः पुनरिदमेव वक्तव्यम् । कश्चित्प्रत्ययो भ्रान्तः कश्चिन्नेति । तेनालोक एव संस्थानग्रहणं नान्धकारे । निकट एव न दूरे । यतः—तदभेदेऽपि भेदोऽयमिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्पर्शादि का भी । यदि कहा जाय कि अचाक्षुसत्व होने के कारण प्रतिपत्ति नहीं होती, तब एकार्थसमवायी होने के कारण क्यों नहीं ? ऐसा विचार किया जाता है ।

अतः सर्वात्मना सम्बद्ध धर्म की प्रतीति होती है, ऐसा युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि चक्षुरादि के परमाणु बाहर निकलकर अन्य देश में संक्रान्त होकर अर्थ ग्रहण के निमित्त होते हैं, तब सर्वात्मना सम्बद्ध होने के कारण अशेष स्वरूप की प्रतिपत्ति और घटादि धर्मों का परिस्फुट प्रतिभास होना चाहिए । वर्णशः संस्थान मात्र का नहीं । इसी प्रकार शेष जात्यादि की अभिव्यक्ति होनो चाहिए । यदि कहा जाय कि दूरदेशस्थ पदार्थ के ग्रहण में इन्द्रियों का सामर्थ्य नहीं होता, तब सर्वदा अग्रहण ही होना चाहिए । ऐसी सामग्री से ऐसी प्रतिपत्ति होती है, ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि उनका अभेद है और संस्थान का वर्ण से, क्योंकि वर्ण से संस्थान भिन्न नहीं प्रतीत होते । यदि कहा जाय कि वर्ण से भिन्न अर्थाकार होता है तो वह वसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ भी श्याम वर्ण की उपलभ्य उपलब्धि होती है । अन्धकार कोई वस्तु नहीं । अतः वर्ण की उपलब्धि नहीं होती । ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि उपलभ्यमान पदार्थ को अवस्तु नहीं कह सकते, क्योंकि आलोक में ही नेत्र-निमीलन करने पर उसकी प्रतिपत्ति होती है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह प्रतीति भ्रम मात्र है । एक में भ्रम होने पर सर्वत्र भ्रान्ति नहीं हो सकती । अन्यथा बाह्यार्थ का अभाव प्रशक्त होगा, तब ऐसा ही कहना चाहिए कि कोई प्रतीति भ्रम होती है और कोई नहीं । अतः आलोक में संस्थान का ग्रहण होता है, अन्धकार में नहीं । निकट में ग्रहण होता है, दूर में नहीं ।

इन्द्रिय-सन्निकर्षादि का प्रमाण अयुक्त होने के कारण सन्निकर्षादि का अभेद (अविशेष) होने पर भी जिस नियामक से ज्ञान का भेद होता है, वह नियामक आकार-विशेष होता है। उसे प्रमाण मानना उचित ही है। यद्यपि ज्ञान के हेतुभूत संस्कारों के द्वारा ज्ञान का कतिपय धर्मों से ग्रहण होता है तथापि संस्कारों में विषय-सारूप की व्यवस्था नहीं होती ॥ ३६७ ॥

क्रियाकरणयोरैक्यविरोध इति चेद्, असत् ।

धर्मभेदाभ्युपगमाद्, वस्त्वभिन्नमितीष्यते ॥ ३१८ ॥

ज्ञान का जो आकार होता है, उसी का अनुभव और उसी के संस्कार होते हैं। उसी से विषय-व्यवस्था होती है। अनुभव की स्थिति न होने पर सब अव्यवस्थित हो जाता है। यदि कहा जाय कि क्रिया और करण के अधिगम आकार का अभेद होने में विरोध है तो वैसा नहीं कह सकते। धर्म-भेद व्यावृत्ति से उपकल्पित होता है। अनाकार व्यावृत्ति ही प्रमाण है और अनधिगति व्यावृत्ति फल है। इनकी एकता नहीं ॥ ३१८ ॥

एवम्प्रकारा सर्वैव क्रियाकारकसंस्थितिः ।

भावस्य भिन्नाभिमतेष्वप्यारोपेण वृत्तितः ॥ ३१९ ॥

वार्तिकालङ्कार

तेन सर्वात्मना ग्रहणमग्रहणं वा युक्तम्। तस्य चार्थस्याभेदेऽपि भेदो यो ज्ञानस्य सम्यग् नीलाद्याकारादेव। न बाह्याकारादिति। तस्मादाकार एव प्रमाणम्। अथ संस्थानादनाकारणमपि विज्ञानं प्रतिनियतार्थव्यवस्थाकारि भवेत्। अत्राह—संस्कारा-च्चेदताद्रूप्य इति।

संस्कारो हि प्रतिनियतव्यवस्थापूर्वकः प्रतिनियतमर्थविषयं ज्ञानस्य कुर्यात् स्वयं प्रतिनियतः। तद्यथा योऽर्थोऽनुभूतस्तथाभूता स्मृतिर्भवति न चार्थप्रतिनियतोऽनुभवः। आकारं विना कुतः। तत्कथं ततः संस्कारप्रतिनियमो येन ततो नियतार्थव्यवस्था। इतरेतराश्रयणदोषप्रसङ्गात्। सति प्रतिनियमेऽनुभवस्य संस्कारनियमः। संस्कारनियमे चानुमाननियम इति नैकोऽपि स्यात्। यदि साकारं ज्ञानं प्रमाणं तदेव फलमिति क्रियाकरणयोरैक्यं प्रसक्तम्। आकारस्याधिगमाव्यतिरेकात्। तत्राप्युच्यते—क्रियाकरण-योरैक्यविरोध इति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतः सर्वात्मना ग्रहण या अग्रहण मानना ही युक्त है। उस अर्थ का अभेद होने पर भी जो ज्ञान का भेद प्रतीत होता है वह नीलाकारादि से ही होता है, बाह्याकार से नहीं। अतः आकार ही प्रमाण है। यदि संस्थान के आधार पर अनाकार विज्ञान भी प्रतिनियत अर्थ का व्यवस्थाकारी होता है तो वहाँ के लिए कहा गया है—"संस्का-रात्" इत्यादि से। अर्थात् संस्कार प्रतिनियत व्यवस्था पूर्वक होता है। प्रतिनियत अर्थ रूप विषय ज्ञान का स्वयं प्रतिनियम करता है। जैसे-जो अर्थ अनुभूत होता है, स्मृति तथानुभूत होती है, अर्थ प्रतिनियत अनुभव नहीं। आकार के बिना वह कैसे होगा? अतः वह संस्कार प्रतिनियत कैसे होगा। जिसके आधार पर प्रतिनियत अर्थव्यवस्था हो सके? ऐसा मानने पर इतरेतराश्रय दोष प्रशक्त होता है। प्रतिनियत मानने पर अनुभव के संस्कार नियामक होते हैं। संस्कार का नियम होने पर अनुमान का नियम

इसी प्रकार की समस्त क्रिया-कारक-व्यवस्था मानी जाती है। भिन्नाभिमत अवयवों के भावरूप अवयवी का आरोप होता है ॥ ३१९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदि परमार्थतः क्रियाकरणयोरैक्यन्न युक्तमित्युच्यते तदयुक्तम्। न हि कारकात्मिका क्रिया कारकात्मतां विरुणद्धि। न हि व्यापारः पदार्थतो भिद्यते। नोत्पतननिपतने पर्शुतो व्यतिरिच्येते। तस्यैवापरापरदेशसंगिन्युत्पत्तिस्तथा व्यपदेशवती। न च सा स्वरूपादपरा। न च सा स्वरूपेण तदैक्यं विरुध्यते। अथ व्यावहारिकी क्रिया विरोधिनी कारकैकत्वेन तदेतदिष्यत एव। धर्मभेदाभ्युपगमाद्विकल्पपरिनिष्ठितो हि धर्मभेदोऽभ्युपगम्यत एव। एवं प्रकारैव तु कल्पितभेदवती क्रियाकारकभेदव्यवस्था। तथा हि—

अन्वयतिरेकाभ्यामेकत्वानैक्यकल्पने। क्रियाकारकभेदेन व्यवहारो व्यवस्थितः ॥ ६२४ ॥

देवदत्तस्तावदेक एव प्रत्यभिज्ञाबलाद्व्यवस्थाप्यते। तस्य स्थानगमने प्रदेशवृत्तिनी। ततस्तत्र क्रिययोर्भेदः कल्प्यते। यो हि यस्मिन्नभिन्ने भिद्यते स तस्माद्व्यतिरिच्यते। परमार्थतस्तु देवदत्त एव। अवस्थाभेदाद्व्यतिरेकी भिद्यते। तेन भावेषु भिन्नाभिमतेष्वपि लोक एकत्वारोपेण प्रवर्त्तत इति। तदनुरोधात्क्रियाकारकव्यवस्था न परमार्थतः। एवमाकारोऽपि न फलाधिगतिव्यापकः। अधिगतिस्तु सकलाकारव्यापिका। ततो भेदव्यवस्था प्रमितिप्रमाणयोः। परमार्थतस्त्वाकार एव प्रकाशमानः प्रमितिः। तस्मादाकारः प्रमाणमर्थसंवेदनं फलमव्यतिरिक्तमेव फलं प्रमाणात्ततो वा प्रमाणमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होता है। वह सब-कुछ नहीं हो सकेगा। यदि साकार ज्ञान प्रमाण है और वही फल है तब क्रिया और करण दोनों की एकता अशक्त होती है, क्योंकि अधिगम रूप व्यापार एक होता है। ऐसी परिस्थिति में भी कहा गया है—"क्रियाकरणयोः" इत्यादि से।

यदि परमार्थतः क्रिया और करण की एकता नहीं होती तो वैसा कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि क्रिया कारकरूप नहीं होती, कारक आत्मता का विरोधी है, क्योंकि व्यापार पदार्थ से भिन्न नहीं होता। जैसे—उत्पतन और निपातन बरसों से अतिरिक्त नहीं होते। वही अपरापरदेश में उत्पन्न होकर क्रिया रूप में व्यपदिष्ट होता है। यदि व्यावहारकी क्रिया विरोधी होकर एक कारण में प्रतीत होती है, तब वह अभीष्ट ही है। धर्म-भेद मानकर विकल्प-परिनिष्ठित धर्म-भेद माना ही जाता है, इसी प्रकार की कल्पित भदोतिक्रिया-कारक भेद-व्यवस्था होती है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा एकत्वानैकत्व की कल्पना होती है। क्रिया-कारक के भेद से व्यवहार व्यवस्थित होता है ॥ ६२४ ॥

देवदत्त की एकता प्रतिभिज्ञा के बल पर व्यवस्थापित होती है। उसके स्थान और गमन-प्रदेश वृत्ति होते हैं। अतः उसकी क्रियाओं का भेद कल्पित होता है, जो पदार्थ जिसके अभिन्न होने पर भिन्न होता है, वह उससे व्यतिरिक्त होता है। परमार्थतः देवदत्त ही है, अवस्था-भेद से व्यतिरिक्त होता है। अतः भिन्नाभिमत भावों में भी लोक एकत्वारोप के द्वारा प्रवृत्त होता है। उसके अनुरोध पर ही क्रिया-कारक-भाव की व्यवस्था होती है, परमार्थतः नहीं। इसी प्रकार आकार भी फलाधिगति का व्यापक नहीं होता। अधिगति ही सकल आकारों की व्यवस्था होती है, तब प्रमिति और प्रमाण की भेद-व्यवस्था होती है। वस्तुतः प्रकाशमान आकार प्रमिति होता है और आकार प्रमाण अर्थ-संवेदन फल होता है, प्रमाण से फल व्यतिरिक्त नहीं होता और न

विज्ञप्तिमात्रताविचारः

(२१) अर्थसंवेदनचिन्ता—

कार्थसंविद् ? यदेवेदं प्रत्यक्षं प्रतिवेदनम् ।
तदर्थवेदनं केन ताद्रूप्याद् व्यभिचारि तत् ॥ ३२० ॥

योगाचार्य सौत्रान्तिक से प्रश्न करता है—"कार्थसंविद् ?" उत्तर दिया जाता है "यदेव" इत्यादि से । अर्थात् नीलादि के रूप में प्रतिसंतान-नियत जो वेदन है, वही अर्थसंविद् है । अर्थसारूप्य के कारण ज्ञान अर्थवेदन कहलाता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि द्विचन्द्रादि स्थल पर अर्थ के बिना भी सारूप्य की प्रतीति हो जाती है ॥ ३२० ॥

वार्तिकालङ्कारः

तथा चोक्तम्—

सव्यापारप्रतीतत्वात्प्रमाणं फलमेव सत् ।

(२०) स्वसंवेदनफलम्

अथवा स्वसंवित्तिः फलञ्चात्र । उभयाभासस्य विज्ञानस्य स्वसंवेदनमेव फलम् । नन्वर्थसंवेदनं फलमर्थार्थी लोक इति । अत्रोच्यते—

लोकस्यार्थार्थिताऽयुक्ता यदानार्थस्य वेदनम् । न जातु चिददृष्टेऽर्थे लोकस्यार्थित्वसम्भवः ॥६२५॥

श्रुतो हि परम्परया दृष्ट एव ।

६. विज्ञप्तिमात्रता—

(२१) अर्थसंवेदनचिन्ता—

ननु नीलादिरर्थः संवेद्यत एव । कथमसंविदर्थस्य । अत्र पर्यनुयोगः । तथा हि—कार्थसंविद्, यदेवेदमिति ।

यदि प्रतिनियतं वेदनं प्रतिविदितं वा तदा साकारज्ञानमेवार्थवेदनमिति व्यपदेशमात्रमेव केवलम् । नत्वर्थस्य वेदनं सिध्यति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

फल से प्रमाण, जैसाकि कहा गया है—"सव्यापारप्रतीतत्वात्प्रमाणं फलमेव सत् ।"

(२०) स्वसंवेदनफल—

अथवा स्वसंवित्ति फल है । उभयभासता ज्ञान का स्वसंवेदन ही फल होता है । यदि कहा जाय कि अर्थसंवेदन को फल क्यों नहीं माना जाता, जबकि अर्थ के उद्देश्य से लोकप्रवृत्ति होती है ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि लोगों की अर्थार्थिता युक्त नहीं, तब अर्थ का वेदन नहीं होता, क्योंकि कभी भी दृष्टार्थ में लोगों की अर्थिता सम्भव नहीं ॥ ६२५ ॥

श्रुत अर्थ भी परम्परया दृष्ट ही होता है ।

विज्ञप्तिमात्रता—

(२१) अर्थसंवेदनचिन्ता—

प्रश्न—नीलादि अर्थ का संवेदन होता है । अर्थ की असंवृत्ति कैसे होगी ?

उत्तर—उक्त प्रश्न के उत्तर में पूछा जाता है—"कोऽर्थसंवृत्तः ?"

यदि वेदन प्रतिनियत होता है अथवा प्रतिविदित होता है, तब साकार ज्ञान को ही अर्थसंवेदन ऐसा कहा जाता है, किन्तु अर्थ का वेदन सिद्ध नहीं होता । यदि

अथ सोऽनुभवः क्वास्य ? तदेवेदं विचार्यते ।
सरूपयन्ति तत् केन स्थूलाभासं च तेऽणवः ॥ ३२१ ॥

अनुभाव्य के अभाव में अनुभव उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि क्रिया के अभाव में कारक क्योंकर सम्पन्न होगा ? यही विचार किया जाता है। घटादि के रूप में विद्यमान परमाणुओं में—"एकोऽयं स्थूलो घटः" ऐसी प्रतीति सम्भव नहीं। जो अणु स्वरूप है, वह स्थूलता के रूप में ज्ञानारूढ़ नहीं और जो ज्ञानारूढ़ स्थूलता है, परमाणुओं में उसका अभाव है ॥ ३२१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अथ तादृूप्यादेवार्थस्य वेदनन्तथाभूतमर्थमन्तरेण तादृूप्यस्याभावात् । न । व्यभिचारात् केशमशकादिषु । यतः—अथ सोऽनुभवः क्वास्येति ।

यद्यर्थसम्बन्धो नास्ति तदा कोऽसावनुभवः अनुभूयमाननिष्ठत्वादनुभवस्य । कथं केशाद्यनुभवस्तैमिरिकस्य ।

ननु कश्चिदर्थनिष्ठ एव दृश्यते तदेवेदं विचार्यते । दृश्यतामर्थस्येति च न दृश्यते । अर्थस्यादर्शनात् । यदि चोदयमात्रादर्थसंवेदनं चक्षुषोऽपि वेदनं तदिति प्राप्तं तत उत्पत्तेः । तथैवानुमानात्कार्यदर्शनादनुमीयतेऽर्थस्तथा चक्षुरपि तद्वेदनं तदेव तदाकारं कल्प्यताम् । बहिर्देशाकारेण बहिरेव कल्प्यत इति चेत् । किन्दर्पणमुखाकारेण तद्देशस्य मुखस्य कल्पना । ततः सकलमेवात्मस्थं मुखवत्प्रतिबिम्बरूपेण प्रतिभातीति कल्पनीयम् । तथा हि—सरूपयन्ति तत् केनेति ।

अणव एव यदि विषयस्ततः स्थूलाभासविज्ञानमिति सारूप्याभावात्कथं विषयो विज्ञानस्य । वृक्षादिपिण्डग्रहणवद् भ्रान्तमेव भवेत् । वर्णाकारतया सरूपयन्तीति चेत्,

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कहा जाय तादृूप्य के कारण अर्थ का वेदन होता है, तथाभूत अर्थ के बिना तादृूप्य का अभाव होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि बाहर प्रतीयमान केश-मशकादि स्थल पर व्यभिचार होता है, क्योंकि वहाँ अर्थ के बिना ही वेदन मात्र होता है। यदि वहाँ अर्थ का सम्बन्ध नहीं, तब उसका अनुभव कैसा ? क्योंकि अनुभूयमान पदार्थ निष्ठानुभव होता है; केशादि का अनुभव कैसे हो जाता है।

शंका - कोई अर्थनिष्ठ वस्तु प्रतीत होती है। उसी का यहाँ विचार किया जाता है। दर्शन का विषय कोई दिखाई नहीं देता। अर्थ का दर्शन नहीं होता। यदि ज्ञान के उदय मात्र से अर्थ का संवेदन माना जाय, तब चक्षु का भी वह वेदन प्राप्त होता है, क्योंकि चक्षु से ही उसकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही कार्य (वेदन) को देखकर करणभूत अर्थ का अनुमान होता है। वैसे ही चक्षु का भी वह वेदन चक्षु से होने के कारण तदाकार मानना चाहिए। बाह्यदेशता के कारण बाह्य देश की कल्पना क्यों न की जाय ?

समाधान—क्या दर्पणगत मुखाकार के द्वारा दर्पणगत अर्थ की कल्पना की जाती है ? यदि की जाती है तब सकल पदार्थ मुख के समान आत्मस्थ प्रतिबिम्बरूपेण प्रतीत होता है। अतः वैसे ही उसकी कल्पना बननी चाहिए।

विषय के रूप में परमाणु-समूह भी प्रतीत होता है। उसी से स्थूलाभास विज्ञान होता है। सारूप्य न होने के कारण वह विज्ञान का विषय क्योंकर होता है ? इसके

तन्नार्थरूपता तस्य सत्यार्थाव्यभिचारिणी ।

तत्संवेदनभावस्य न समर्था प्रसाधने ॥ ३२२ ॥

अतः तुल्य ज्ञान में अर्थरूपता नहीं। अर्थरूपता के मानने में द्विचन्द्रादि में उसका व्यभिचार पाया जाता है। अतः अर्थ-संवेदन के प्रसाधन में वह अर्थरूपता समर्थ नहीं ॥ ३२२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न, वर्णव्यतिरेकेण संस्थानाभावात्। वर्णात्मकसंस्थानवत्त्वे स्थूलतैव प्राप्ता। अथ स्थूलता ग्रहणधर्मः। वर्णस्तु ग्राह्यधर्मः। बहुषु गृह्यमाणेषु स्थूलमिति भवति व्यपदेशः। न स प्रत्येकं परमाणुषु। नीलादिता तु प्रत्येकमतोऽसौ ग्राह्यधर्मः। यद्येवन्तथा सान्तराणामनन्तरत्वग्रहणाद्भ्रान्तिरेव। नाविषयतयान्तरस्यापि प्रतिभासनादिति चेत्। यद्येवं सर्वं सामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणं निरूपाख्यमिति भाव एवान्तरस्य। ततो निरन्तरमेव वस्तु परिकल्पनीयम्। निरन्तरस्यायोगादिति चेत्। न हि वस्तु सावयवं युक्तम्। विज्ञानवत् निरवयवमेव वस्त्विति परमाणुप्रसिद्धिः। न। प्रतिबन्धाभावात्। प्रत्यक्षबाधितत्वाच्च प्रतिज्ञाया एतदयुक्तम्। प्रत्यक्षमन्तरेण चानुमानाभावात्। स्थूलं सूक्ष्मोपचयरूपमेवेति चेत्। दत्तमत्रोत्तरं प्रागिति न पुनरुच्यते। अथ च— तन्नार्थरूपता तस्येति।

अर्थरूपता सत्यपि व्यभिचारिणी ततो न भावनार्थसंवेदनमिति सिध्यति। न हि व्यभिचरन्नेव साधयत्यव्यभिचारार्थत्वात्साधनार्थस्य। व्यभिचारिणोऽपि साधनत्वे सर्वः सर्वस्य साधनम्भवेत्। अस्तित्वेन व्यवस्थानं साधनम्। व्यभिचारस्तु कदाचिदसौ

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उत्तर में यही कहना होगा कि वृक्षादि द्रव्य ग्रहण के समान वह भ्रम मात्र है। यदि कहा जाय वर्णाकारतया समानरूपता हो जाती है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वर्ण से व्यतिरिक्त संस्थान का सद्भाव नहीं होता। वर्णात्मक संस्थान के होने पर स्थूलता ही प्राप्त होती है। यदि कहा जाय कि स्थूलता ग्राहक ज्ञान का धर्म है और वर्ण ग्राह्य रूप अर्थ का, क्योंकि अनेक केशों के समूह में उस स्थूलता का भ्रम हो जाता है। वह प्रत्येक परमाणु में नहीं होता, किन्तु नीलादि रूपता प्रत्येक परमाणु में होती है। अतः वह ग्राह्य पदार्थ का धर्म है। यदि ऐसा है तो सान्तर पदार्थों का अनन्तर रूपेण ग्रहण होने के कारण वह भ्रान्ति क्यों नहीं? क्योंकि आन्तरिक पदार्थों का अविषयतया प्रतिभास नहीं होता, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त सामर्थ्य का अभाव होने के कारण सभी भाव पदार्थों की निरुपाख्यता प्रसक्त होती है। परिशेषतः निरन्तर वस्तु की ही कल्पना करनी चाहिए, क्योंकि निरन्तर सम्भव नहीं। वस्तु को सावयव मानना युक्तियुक्त नहीं। विज्ञान के समान ही निरवयव वस्तु परमाणु प्रसिद्ध है तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण प्रतिज्ञायुक्त है। प्रत्यक्ष के बिना अनुमान नहीं हो सकता। स्थूल सूक्ष्म उपचय रूप ही क्यों न माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। अतः पुनः नहीं कहा जाता।

अर्थरूपता व्यभिचारिणी है। अतः उसके आधार पर अर्थसंवेदन की सिद्धि नहीं हो सकती। व्यभिचारी साधन अर्थ की सिद्धि नहीं किया करता। यदि व्यभि-

तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्यलक्षणम् ।
संवेद्यं स्यात् समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥ ३२३ ॥

तत्सारूप्य (ग्राह्य-विषय का सारूप्य) और तदुत्पत्ति यदि स्वसंवेद्य का लक्षण है तब भी समानान्तर ज्ञान समान गाह्य संवेद्य होगा, क्योंकि तत्सारूप्य और तदुत्पत्ति सम्भावित हैं ।। ३२३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नास्त्यपीति नास्तित्वं पाक्षिकमाक्षिपति । तदिदमस्तित्वमितरच्चैकदैकत्र विरुद्धम् । तस्मान्नीलादिरूपतामात्रादेव विज्ञानस्यार्थसाधनता नेत्येकान्तः । अपि च संवेदनाना-मर्थानाञ्च सारूप्यन्न च तेषां परस्परं संवेदनभावः । न हि सन्तानान्तरसंवेदनसरूपमपि वेदकं वेद्यं वा । यतः—तत्सारूप्यतदुत्पत्तीति ।

यदि यत उत्पद्यते सरूपं च तेन तस्य वेदनं तदा तर्हि अनन्तरविज्ञानं तुल्य-विषयं विषयः स्यात् । यदा पूर्वकमपि नीलाकारमुत्तरमपि ततः समनन्तरादुदयवत् । तदा पूर्वकस्य सरूपकत्वादुदयकारणत्वाच्च विषयवत्त्वं प्रसक्तम् । अथ यत उत्पत्तिमा-न्नीलादिक आकारः स तस्याकारवान् विषयः । समानविषयविज्ञाने तु य आकारः स न समनन्तरादन्यथा नीलाकारसमनन्तरात्पीतविज्ञानं न स्यात् । ततो लक्ष्यते, भवति नीलाद्याकारः समनन्तरप्रत्ययकृत इति न तस्य विषयत्वम् । अपरे व्याचक्षते । नील-समनन्तराद्यदा सविकल्पकं नीलाकारमुदयमासादयति तस्य स पूर्वको विषयः स्यादा-कारकारित्वात्तस्य । तदप्यसदिष्यत एव स्मरणस्य संवेदनविषयत्वमेव विज्ञायते च ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

चारी साधन भी अर्थ का साधक हो तो सभी साधन, सभी साध्य के साधक हो जायेंगे । साधन नियमतः सत् होकर ही व्यवस्थापक होता है । व्यभिचारी साधन कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं । अतः साध्य का साधक नहीं होता । एक काल में साधन का सत् और असत् होना, एक साथ सम्भव नहीं । अतः नीलादि रूपता मात्र से विज्ञान में अर्थ की साधकता सम्भव नहीं, ऐसा ऐकान्तिक नियम है । दूसरी बात यह भी है कि संवेदन और अर्थ दोनों का सारूप्य होता है । उनमें परस्पर संवेदनभाव नहीं होता । सन्तानान्तर संवेदनसरूप होने पर भी न भेदक होता है और न वेद्य ।

यदि जिससे उत्पन्न होता है और समान रूप का होता है, उससे उसका वेदन माना जाता है, तब अनन्तर विज्ञान तुल्यविषयक विषय हो जायेगा । यदि पूर्व पदार्थ नीलाकार है और उत्तर पदार्थ भी, तब समनन्तर प्रत्यय से उत्पन्न होगा । तब पूर्वतन का सरूप एवं उत्पादक होने के कारण विषयवत् होगा और यदि नीलादि आकार जिससे उत्पन्न होता है, वह उससे समानाकार होकर उसका विषय होता है । समान-विषयक विज्ञान में जो आकार होता है, वह समनन्तर प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होता अन्यथा नीलाकार समनन्तर प्रत्यय से पीत विज्ञान उत्पन्न नहीं होगा । इससे यह सिद्ध होता है कि नीलाकार समनन्तर प्रत्ययकृत है । अतः वह विषय नहीं । अन्य विद्वान् इस प्रकार की व्याख्या करते हैं कि नीलाकार समनन्तर प्रत्यय से जब सवि-कल्पक नीलाकार उत्पन्न होता है, वहाँ पूर्वभावी पदार्थ विषय होता है । उसकी विषयता आकारकारिता है । वह व्याख्यान भी असत् है, क्योंकि स्मरण में संवेदन-विषयत्व जाना जाता है । अर्थात् सभी लोग स्मरण के द्वारा अर्थसंवेदन को अभि-

'इदं दृष्टं श्रुतं वेदम्' इति यत्रावसायधीः ।

स तस्यानुभवः ? सैव प्रत्यासत्तिर्विचार्यते ॥ ३२४ ॥

यदि कहा जायकि सारूप्य और तदुत्पत्ति के होने पर भी जहाँ पर—"इदं दृष्टं श्रुतं वेदम्", ऐसा जहाँ अध्यवसाय होता है, उसे अनुभव कहते हैं, अन्य को नहीं। समानान्तर प्रत्यय में दृष्ट, श्रुतादि का अध्यवसाय नहीं होता। अतः वह ग्राह्य नहीं है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि दृश्य और दर्शन की ही प्रत्यासत्ति का विचार किया जा रहा है ॥ ३२४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तथा हि सकलो लोकः स्मरणादर्थवेदनं लक्ष्यते। अनुसरन्नस्मात्साक्षादर्थान्निरीक्षते। सकलमेव स्मरणमर्थानुभवे प्रवर्त्तमानमुपलक्ष्यते यदा न स्मृतिविप्रमोषः। ततश्चानुभवविषयत्वमस्येष्यत एव। न चाभ्युपगम एव दोषाय। किं च। निर्विषयमेतत्स्मरणमस्य किं विषयचिन्तया। अत्र क्रमः। यद्भावनाबलास्येष्टा तमुपजायते पूर्वकान्नीलानुभवात्तस्य स पूर्वको विषयः प्राप्तः। कथन्तस्य समनन्तरमिति चेत्। तादृशस्यापरस्य समानजातीयस्य संवेदनस्यान्तरालभाविनोऽभावात्। कथन्तज्जनकमिति चेत्। दत्तमत्रोत्तरम्। व्यवहितमपि जनकमिति प्रतिपादितमेतत्। अथवा विकल्पाकार एव भावनातः स्पष्टाकार एव भावनातः स्पष्टाकारजनको विषयः स्यात्। ततस्तत आकारान्नार्थस्य व्यवस्था। भावनाबलादेव समानजातीयादयमर्थाकारो यज्जातीय इति न्यायादवतिष्ठत इति नार्थपरिकल्पनायां न्यायः तस्मात्समनन्तरविज्ञानमेव विषयः। एवन्तर्हि—

(२२) दृश्यदर्शने प्रत्यासत्तिविचारः—

तथा हि—इदं दृष्टं श्रुतं वेदमिति।

यदि निश्चयादर्थव्यवस्था निश्चयः किल नार्थादन्यत्र। न हि समनन्तरप्रत्यया-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

लक्षित करते हैं। उसका अनुसरण करता हुआ अर्थ देखा जाता है। समस्त स्मरण अर्थ का अनुभव होने पर प्रवृत्तमान होकर जग उपलक्षित होता है। स्मृति प्रमोश नहीं होता, तब उसमें अनुभव की विषयता मानी ही जाती है। उसका अभ्युपगम दोषधायक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि निर्विषयक यदि स्मरण है, तब विषय चिन्ता से क्या लाभ ? यहाँ यह क्रम है कि जो भावनाबल से उत्पन्न होता है, वह पूर्वकालीन नीलानुभव से उत्पन्न होता है, वहाँ पूर्वतन पदार्थ-विषयक माना जाता है। वह समनन्तर कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उसके सदृश समान जाति संवेदन का अन्तरालभावी नहीं होता। वह उसका जनक कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। व्यवहित पदार्थ भी जनक होता है, इसका प्रतिपादन भी किया जा चुका है अथवा विकल्पाकार ही भावना के बल पर स्पष्टाकार होकर स्पष्टाकार का जनक एवं विषय होगा, तब उस आकार से अर्थ की व्यवस्था नहीं होती। भावना के बल पर ही समान जातीय अर्थ से यह अर्थाकार विज्ञान उत्पन्न होता है। वहाँ अर्थ परिकल्पना में कोई न्याय नहीं। अतः समनन्तर विज्ञान ही विषय होता है।

(२२) दृश्यदर्शन में प्रत्यासत्ति का विचार—

शङ्का—यदि निश्चय से अर्थव्यवस्था और निश्चय अर्थ से अन्यत्र नहीं होता,

दृश्यदर्शनयोगेन तस्य तद् दर्शनं मतम् ।
तयोः सम्बन्धमाश्रित्य द्रष्टुरेष विनिश्चयः ॥ ३२५ ॥

जिस प्रत्यासत्ति के सम्भव होने पर बाह्यार्थ का ज्ञान दर्शन कहलाता है, वहाँ दृश्य और दर्शन के सम्बन्ध को प्रत्यासत्ति मानकर द्रष्टा को उसका "इदं दृष्टं श्रुतं वेदम्" ऐसा अर्थ निश्चय होता तत्सारूप्य और तदुत्पत्ति को प्रत्यासति कहा जाता है। समानान्तर प्रत्यय में भी दृष्टत्वादि व्यवहार होगा ॥ ३२५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

दयमिति निश्चयः । अपि त्वविषयोऽयं ममानुभवो न समनन्तरप्रत्ययविषय इति । न ह्यर्थानुभवमन्तरेणार्थ इति निश्चयो युक्तः । अनुभवानुसारित्वान्निश्चयस्य ।

अत्रोच्यते । अनुभवान्नार्थव्यवस्था किन्तर्हि तदनुसारिणो निश्चयादिति । तदेतदायातमर्थ एकः पन्थानं न प्रतिपद्यते । तेनाकृष्यमाणो द्वितीय इति महदद्भुतम् । तथा हि—

साक्षादुत्पत्तिमानर्थात्प्रत्ययो यः स नेक्षते । तमर्थमपरस्तस्मान्न्यूनोऽपीत्यतिसाहसम् ॥ ६२६॥

अनुभावानुसारी निश्चयस्ततो निश्चयादेवावगम्यतामर्थानुभवोऽसौ न स्वरूपमात्रस्यैति । अन्यथा तथैव निश्चयो भवेदिति चेत् । तदेतदसत् । नन्वनुभव एव न ज्ञायते कस्येति कथमनुभवानुसारित्वं प्रसिध्यति । कुतस्तर्हि निश्चय इति चेत् । अभ्यासादेवेति प्रतिपादितम् । सोऽप्यभ्यासोऽनुभवादेवेति कुतो विपरीतनिश्चयः । अयमप्यपरिहारः । यत एवं सति न कस्यचिद्विपरीतनिश्चयः स्याद् दृश्यते च । तस्मादयुक्तमेतत् ।

नन्वालोचनमात्रमविवेककारि ततो निश्चयादेवार्थानर्थविवेकः । यद्येवं निश्चयोऽपि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्योंकि समनन्तर प्रत्यय से 'अयं' इस प्रकार का निश्चय होता है। दूसरी बात यह है कि यह मेरा अनुभव अविषय है, समनन्तर प्रत्यय का विषय नहीं, क्योंकि अर्थानुभव के बिना 'अयं अर्थः', इस प्रकार का निश्चय युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि निश्चय सदैव अनुभवानुसारी होता है।

समाधान अनुभव से अर्थव्यवस्था नहीं होती, अपितु तदानुसारी निश्चय से व्यवस्था होती है। आशय यह है कि एकार्थ ही उपाय नहीं। अर्थात् एकमात्र अर्थ मार्ग नहीं पा सका और उससे आकृष्यमाण द्वितीय क्या करेगा? जो अर्थ से साक्षात् उत्पन्न हो ऐसा प्रत्यय देखा नहीं जाता। अर्थात् अर्थ से साक्षात् उत्पन्न प्रत्यय कोई देखा नहीं जाता, उसी प्रत्यय से कोई दूसरा कार्य उत्पत्तिमान माना जाय ऐसा मानना महान् साहसिक है ॥ ६२६ ॥

शंका—अनुभव के अनुसार निश्चय होता है। अतः निश्चय से ही अर्थानुभव की अवगति कर लेनी चाहिए, स्वरूप मात्र की नहीं। अन्यथा निश्चय वैसा ही होगा।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं। यदि कहा जाय अनुभव के लिए यह नहीं जाना जाता कि वह किसका अनुभव है? तब अनुभवानुसारिता कैसे सिद्ध होगी? वह निश्चय कैसे होगा? इसका उत्तर दिया जा चुका है कि "अभ्यासादेव"। वह अभ्यास भी अनुभव से ही होता है। विपरीत निश्चय कैसे होगा? इसका यह परिहार नहीं, क्योंकि इस प्रकार तो किसी का विपरीत निश्चय नहीं होगा, किन्तु देखा जाता है। अतः उक्त कथन अयुक्त है।

आत्मा स तस्यानुभवः स च नान्यस्य कस्यचित् ।
प्रत्यक्षप्रतिवेद्यत्वमपि तस्य तदात्मता ॥ ३२६ ॥

अतः वेद्य से रहित ज्ञान का नीलादि रूप अपना अनुभव है, वह अनुभव अन्य किसी ग्राह्यार्थ का स्वरूप नहीं। उस ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रतिवेद्य भी कहा जाता है, वही अपरोक्षानुभवात्मता है ॥ ३२६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न विवेककारी स्यात् । न हि द्विचन्द्रप्रत्यय एकचन्द्रनिश्चयकारी । अथाभ्यासान्निश्चयो विवेकसाधनम् । न । अभ्यासस्याहेतुकत्वात् । प्रतिनियतानुभवे हि तन्नियतोऽभ्यासः सत्यतां यायात् (?) अर्थ इत्यपि निश्चयोऽर्थक्रियाकारित्वाभिप्राय एव । सा चार्थक्रिया प्रतिभासान्तरमेव । न च प्रतिभासात्प्रतिभासान्तरस्यानुदयः । तस्मान्न निश्चयादर्थव्यवस्था । यदप्युक्तम् । अथ सोऽनुभवः क्वास्येति । तत्राप्युच्यते—आत्मा स तस्यानुभव इति ।

स्वरूपस्य हि पदार्थानां कारणमन्तरेण नोत्पत्तिरिति कारणप्रश्नो युक्तिमान् । तत एतदिति । क्वायमिति तु कः प्रश्नार्थः । तथा हि—

क्वायमनुभव इत्युक्ते यदा प्रत्युच्यते पुनः । अर्थे तदापि प्रश्नःस्यात् सोऽर्थः क्वेत्यनवस्थितिः ॥६२७॥

क्रीडनकप्रश्न एवंविध इति चेत् । कस्मात्पर्यवसानस्य दर्शनात् । तथा हि सोऽर्थः क्व भूमौ । स क्व एवमेव दृश्यते इति न पुनः पर्यनुयोगः यद्येवमर्थस्यादर्शनादनुभवोऽपि स्वरूपेऽवस्थित एवमेव दृश्यतामिति किमाधारकल्पनया । अनेन षष्ठचर्थपर्यनुयोगोऽपि प्रत्युक्तः । तदाह—"स च नान्यस्य कस्यचित् ।"

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—आलोचन मात्र विवेक कार्य नहीं होता. अतः निश्चय के आधार पर ही अर्थानर्थ का विवेक करना होगा। यदि निश्चय, वैसे ही विवेक कार्य न हो, जैसे—द्विचन्द्रकज्ञान एकचन्द्र निश्चय का जनक नहीं होता। यदि अभ्यास के आधार पर निश्चय विवेक का साधन माना जाय, वह नहीं मान सकते, क्योंकि अभ्यास अहेतुक होता है। प्रतिनियत अनुभव ही उससे नियत अभ्यास सत्य होता है "अयं अर्थः" इस प्रकार का निश्चय भी अर्थक्रिया माना जाता है। वह अर्थक्रिया प्रतिभासान्तर प्रतिभास से प्रतिभासान्तर नहीं होता। अतः निश्चय से अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती। यह जो प्रश्न किया जाता है कि वह अनुभव किसका है और कहाँ है ?

समाधान—उसका उत्तर दिया गया है—"आत्मा स तस्या" इत्यादि से।

पदार्थों के स्वरूप की ही कारण के बिना उत्पत्ति नहीं होती। अतः कारण का प्रश्न युक्तिमान है, किन्तु "क्वायं ?" इस प्रश्न का क्या अर्थ, क्योंकि "क्वायं अनुभवः ?" ऐसा कहने पर जब उत्तर में कहा जाता है कि "अथ स"। वहाँ पर भी प्रश्न उठता है—"सोऽर्थः क्व ?" इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है ॥ ६२७ ॥

अर्थात् इस प्रकार के क्रीडनक प्रश्न हुआ करते हैं, जैसे कि—वह कल्पित अर्थ कहाँ है ? उत्तर होता है—"भूमौ"। प्रश्न होता है—वह भूमि कहाँ है ? उत्तर दिया जाता है—"एवमेव दृश्यते"। आगे प्रश्नोत्तरधारा अवरुद्ध हो जाती है। उसी प्रकार अर्थ का कहीं दर्शन सम्भव नहीं हो सकता। उसका अनुभव भी अपने स्वरूप में अवस्थित है, उसके आधार की कल्पना की क्या आवश्यकता ? इसी प्रकार षष्ठ्यर्थ रूप सम्बन्ध का प्रश्न भी प्रत्युक्त हो जाता है। जैसा कि कहा गया है—"स च नान्यस्य

वार्तिकालङ्कारः

कथं तर्हि प्रत्यक्षप्रतिवेद्योऽर्थो निराकर्तुं शक्यः। तथा हि। प्रत्यक्षेण नीलं पश्यन्ति तद्वन्तः। नार्थस्यादर्शनादित्युक्तम्। तदाकारतैव प्रत्यक्षवेद्या न व्यतिरिक्तोऽर्थः। तदाकार एवं नील इति व्यवह्रियते नान्यः। तस्मान्नीलात्मकोऽनुभवो नीलानुभवः शिलापुत्रकस्य शरीरमिति यथा। न हि षष्ठ्यर्थ इत्येव भेदः। यथाकथञ्चिदस्य भावात्। अथवा स कथं प्रत्यक्षोऽनुभवो यदि तस्यापरोऽनुभवो नास्ति। न स्वरूपगतेनैवानुभवेन सुतरां प्रत्यक्षता। पररूपे प्रत्यक्षताऽयोगात्। न हि तद्रूपमन्यस्य। तथा चेत्। अन्य एव भवेत्। अथवाऽपरोक्षं विज्ञानं यस्यानुभवः सोऽर्थो भविष्यति। यद्येवमात्मा स तस्यानुभवः। अन्यत्रावेद्यमानत्वात्। भवतु को दोष इति चेत्। 'स च नान्यस्य।" यद्यात्माऽर्थस्य स्यादन्यस्यापि तथैव भवेदिति सर्वस्तद्दर्शी भवेत्। न चान्यस्य तथा।

ननु प्रत्यक्षेण वेद्यते नात्मना। न। तदेव रूपं पृथग्व्यवस्थाप्य कल्पनया तथा व्यपदेशः। तस्मादनन्यसंवेद्यो नीलाद्यात्मैवानुभवः। अथवा यद्यर्थो नानुभूयते किमिदं बहिर्देशसम्बद्धतयाऽनुभवगोचरः। आत्मैवानुभूयते। चित्तमेवानुभूयते। कथं बहिर्देशता। स च नान्यस्य। ततोऽसौ कुतो बहिर्भूतः। अथवाऽऽत्मा स आत्मैवेदमर्थमिति भवतोऽप्यभ्युपगमात्। तस्य चानुभवः स च नान्यस्य अपि स्वात्मन एव तद्व्यतिरिक्तस्याभावात्। अथवा तत्स इति चेत्। न। प्रत्यक्षप्रतिवेद्यत्वात्। यतस्तदात्मनैव प्रत्यक्षप्रतिवेद्यत्वं नान्यथा।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कस्यचित्"।

प्रत्यक्ष के द्वारा अवगत घट-पटादि पदार्थों का निरास कैसे किया जा सकता है क्योंकि घटादि का प्रत्यक्षतः दर्शन किया जाता है? इसका उत्तर है "नार्थस्यादर्शनात्"। अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा केवल अर्थ का आकार ही प्रतीत होता है, उससे भिन्न अर्थ नहीं। इसी तरह से आकार में नीलादि का व्यवहार मात्र होता है। अतः शिलापुत्रकस्य शरीरं?" के अनुसार ही केवल कहा जाता है—"नीलादि अनुभव।" षष्ठी का अर्थ यहाँ कुछ भी नहीं। यथाकथञ्चित् उसका व्यवहार हो जाता है। अथवा प्रत्यक्ष अनुभव भी नहीं, यदि उसका अन्य अनुभव न हो। स्वरूपगत अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षता कभी नहीं बन सकती, क्योंकि अन्य रूप में अन्य अर्थ की प्रत्यक्षता सम्भव नहीं। यदि वह पदार्थ अन्यरूपेण प्रतीत होता है, तब वैसा ही होगा, क्योंकि वह अन्यत्र वैसा वेद्यमान नहीं। वैसा ही मानने में क्या दोष? यदि अर्थ का वैसा स्वरूप हो और अन्य का भी वैसा तब सभी पुरुष तद्दर्शी हो जायेंगे, किन्तु अन्य का अन्य स्वरूप नहीं होता।

शंका—अर्थ प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है, आत्मा के द्वारा नहीं।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि वस्तुतः आत्मा के द्वारा अर्थ का ग्रहण होता है और प्रत्यक्ष के द्वारा उसका व्यपदेश मात्र होता है। अतः नीलादि अनुभव आत्मसंवेद्य है अथवा यदि अर्थ का अनुभव नहीं होता तब बहिर्देश संबद्धत्वेन कौन अनुभव का विषय होता है? आत्मा ही अनुभूत होता है या चित्त अनुभूत होता है। पदार्थ में बहिर्देश-स्थिति कैसे? अथवा वह आत्मा अनुभविता है, जैसा कि आप भी (आत्मवादी) मानते हैं। उसका अनुभव अन्य किसी का नहीं, आत्मा का ही है। उससे व्यतिरिक्त और कुछ भी नहीं अथवा वह परोक्ष है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि

नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः ।
तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥ ३२७ ॥

जैसे-स्वरूप से अन्य बुद्धि के द्वारा अन्य को अनुभाव्य नहीं होता, वैसे ही उस ज्ञान का अनुभव उससे भिन्न नहीं होता । अतः ज्ञान अपरोक्षतया उत्पन्न होकर स्वयं प्रकाशित होता है, अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं होता ॥ ३२७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नन्वात्मवादः प्रसक्तः । न । चित्राकारसंवेदनात् । अविद्यावशेनोत्पत्तिः संवेदनमेव तत् । नात्मवाद उपयोगी । निरात्मकत्वन्तु वा रागादिप्रशमानुकूलमिति न दोषः । एतदेवोत्तरेण दर्शयति—नान्योनुऽभाव्यस्तेनास्तीति ।

बुद्धया योऽनुभूयते स नास्ति परः । यथान्योऽनुभाव्यो नास्ति तथा निवेदितम् । तस्यार्तर्हि परोऽनुभवो बुद्धेरस्तु । न । तत्रापि ग्राह्यग्राहकलक्षणाभावः । परं हि संवेदनस्वरूपेऽवस्थितं कथं परस्यानुभवः । साक्षात्करणादिकं प्रत्याख्यातम् । तत्संवेदनानुप्रवेशे च तयोरेकत्वमेव स्यात् । तथा च स्वयं सैव प्रकाशते न ततः पर इति स्थितम् ।

कथन्तर्हि योगिनां परचित्तप्रतिपत्तिः । एतदुत्तरत्र प्रतिविधास्यते । तस्मात्स्वयमेव स्वरूपप्रकाशकत्वात्तथा भवति । एवन्तर्हि स्वरूपानुभव इत्यस्तु कथं नीलानुभव इति ख्यातिः । अत्राह—

(२२) नीलाद्यनुभवप्रसिद्धिः—

तथाहि—नीलादिरूपस्तस्यासाविति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रत्यक्ष प्रतिवेद्य है । वह प्रत्यक्ष प्रतिवेद्यता स्वतः है अन्यथा नहीं ।

शंका- इस प्रकार तो आत्मवाद प्रसक्त हो जाता है ।

समाधान–आत्मवाद प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि चित्राकार संवेदन माना जाता है । अविद्या के वश से उसकी उत्पत्ति होती है, वह संवेदन ही है । आत्मवाद का कोई उपयोग नहीं । निरात्मवाद का रागादिप्रशमता में उपयोग होने के कारण कोई दोष नहीं । यही तथ्य प्रस्तुत किया जाता है—"नान्योऽनुभाव्य" से ।

अर्थात् बुद्धि के द्वारा जो अनुभूत होता है, वह अन्य नहीं । अन्य अनुभाव्य नहीं, ऐसा कहा जा चुका है । अतः अन्यानुभव बुद्धि का क्यों न मान लिया जाय ? इसके उत्तर में कहा जाता है—नहीं, क्योंकि वहाँ ग्राह्य-ग्राहकभाव की प्रतीति नहीं होती । परवस्तु संवेदन स्वरूप में अवस्थित है, उससे पर का अनुभव कैसे कर सकते हैं ? साक्षात्करणादि का निराकरण किया जा चुका है । फलतः संवेदन कोटि में प्रसक्त होने पर उन दोनों का एकत्व ही सिद्ध होता है । 'परिशेषतः स्वयं सैव प्रकाशते' ऐसा ही पर्यवसित होता है ।

प्रश्न—तब योगियों को परचित्त्य का संवेदन कैसे ? इसका प्रतिपादन आगे किया जायेगा । अतः स्वयं ही स्वरूप प्रकाशक होने के कारण वैसा अनुभूत होता है, तब स्वरूप का अनुभव मात्र होना चाहिए । नीलादि अनुभव की ख्याति कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—

(२२) नीलाद्यनुभवप्रसिद्धिः—

नील रूप होने के कारण नीलानुभव कहलाता है, नील का अपरोक्षानुभव नहीं ।

नीलादिरूपस्तस्यासौ स्वभावोऽनुभवश्च सः ।
नीलाद्यनुभवात् ख्यातः स्वरूपानुभवोऽपि सन् ॥ ३२८ ॥

नीलादि अनुभव की प्रसिद्धि का प्रकार दिखाया गया है "तस्य" इत्यादि से। अर्थात् उस ज्ञान का नीलादि रूप, स्वभाव, अनुभव अर्थात् प्रकाशात्मक है। अतः अनुभव भी नीलादि अनुभव से सम्प्रसिद्ध होता है ॥ ३२८ ॥

प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः ।
यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी ॥ ३२९ ॥

जैसे-प्रकाश तादात्म्य के द्वारा प्रकाशात्मक होकर परनिरपेक्ष होकर प्रकाशमान होता है अर्थात् अपने स्वरूप का प्रकाशक माना जाता है तथा बुद्धि परनिरपेक्ष होकर प्रकाशात्मना उत्पन्न होकर आत्मवेदनीय उपचार से कही जाती है ॥ ३२९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नीलरूपत्वान्नीलानुभव न तु नीलस्यापरोऽनुभवः । शुद्धस्यानुभवस्याभावात् । यो हि यदव्यतिरिक्तः स तद्रूपेणैव व्यवहारविषयः ।

तथा हि यदि शुद्धः स्यात्तथैवाध्यवसीयते । व्यतिरेकः स्वरूपेऽपि दृश्यते न ततस्तथा ॥६२८॥

नीलानुभव इति यथा ख्यातिस्तथैवासौ नीलस्वरूपतयाऽनुभवरूपतया भवतीति युक्तम् । न च व्यतिरेकव्यपदेशमात्रकादेव भेदः । व्यतिरेकव्यपदेशो हि यथा कथञ्चिद्वासनाबलादपि भवन्नुपलभ्यत इति प्राक्प्रतिपादितम् ।

ननु नीलं कथमात्मरूपं प्रकाशयति । न हि प्रकाश्या घटादयः प्रदीपादिना स्वप्रकाशकाः । आत्मनि क्रिया विरुध्यते । न हि सैवासिधारा तयैव छिद्यते । अत्र परिहारः—प्रकाशमानस्तादात्म्यादिति ।

स्वात्मनि क्रियाविरोध इति कुतः प्रमाणादवगतम् । न हि दृष्टान्तमात्रादर्थस्य प्रसिद्धिः । समीहितस्य विपर्ययेऽपि दृष्टान्तस्य प्रदीपस्य सम्भवात् । यदि घटः प्रदीपेन

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शुद्ध अनुभव का अभाव है। जो जिससे अव्यतिरिक्त होकर प्रतीत होता है, वह उस रूप से व्यवहार का विषय माना जाता है अर्थात् यदि शुद्ध होगा, तब वह वैसा ही अध्यवसित होता है। व्यतिरेक पदार्थ भी स्वरूपतः देखा जाता है ॥ ६२८ ॥

जैसे नीलानुभव इस प्रकार की ख्याति होती है, उसी प्रकार वह नीलस्वरूपतया अवस्थित होता है, ऐसा मानना युक्ति-युक्त है। व्यतिरेक के व्यपदेश मात्र से भेद नहीं होता। व्यतिरेक का व्यपदेश तो यथाकथञ्चित् वासना के बल पर हो जाता है, ऐसा पहले कहा जा चुका है।

शंका—नील अपने स्वरूप का प्रकाशक कैसे होगा? क्योंकि घटादि प्रकाश्य पदार्थ प्रदीपादि के द्वारा प्रकाशित होते हैं, स्वयं नहीं, क्योंकि स्वयं प्रकाश्य और प्रकाशक भी हो, ऐसा मानना विरुद्ध है। जैसे कि असी की धारा अपने द्वारा काटी जाय।

परिहार—उक्त शंका का परिहार किया जाता है—"प्रकाशमानः" इत्यादि से। अर्थात् "स्वात्मनि क्रियाविरोधः" इसका क्या अर्थ? क्या वैसा विरोध किसी प्रमाण के द्वारा अवगत होता है। दृष्टान्तमात्र के आधार पर पदार्थ की सिद्धि नहीं हुआ

वार्तिकालङ्कारः

बाह्यात्मना प्रकाश्यते। प्रदीपोऽपि तथाभूतेनापरेणेति न च पर्यनुयोगः। न च घटोऽपि प्रदीपेन प्रकाश्यते। अपि तु तथाभूतस्यैव तत उत्पत्तिः। अथ प्रदीपोऽप्यपरेण चक्षुरादिना प्रकाश्यते। न। चक्षुरादेः सकलघटादिसाधारणत्वेऽपि चक्षुषि च सत्यपि प्रदीपमपेक्षते प्रकाशकं घटस्तथा प्रदीपोऽपि स्यात्। अथ घट उत्पद्यत एव तथा प्रकाशनन्तु तस्य चक्षुरादिभिः। एवन्तर्हि—

अप्रकाशेऽपि बाह्येऽर्थे यथा दीपात्प्रकाशनम्। व्यपदेशस्य विषयश्चक्षुरादेरपीष्यताम् ॥६२९॥

यथा ततस्तथाभूतरूपोत्पत्तावपि प्रदीपात्प्रदीपाभिव्यक्तो घट इति व्यपदेशः। तथा चक्षुरादिकादपि तथोत्पत्त्यैव व्यपदेशः। अथ द्वयमपि प्रकाशकं घटादेः, प्रदीपादेस्त्वेकमेव। एवन्तर्हि—

एकं कस्यचिदन्यस्य द्वयमेव प्रकाशकम्। यथा सम्भवतोऽन्यस्य नैकमप्यस्तु का क्षतिः ॥६३०॥

अत्यन्तमशक्तस्य द्वयमपरस्यैकमन्यस्य नैकमपीति वस्तुस्वभाव एष इति का वात्र क्षतिः। अत्र स्वात्मनि क्रियाविरोध इत्युच्यते—

यदा स्वरूपन्तत्तस्य तदा कैव विरोधिता। स्वरूपेण विरोधे हि सर्वमेव प्रलीयते ॥६३१॥

न हि स्वेनैव रूपेण कस्यचिद्विरोधः, तथा चेत् न किञ्चित् भवेत् स्वेन रूपेणेति सकलमस्तंगतं भवेत्। छिदस्तु पुनर्विशिष्टोत्पादनं न च तेनैव तस्योत्पादनम्। अयमे-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

करती, क्योंकि अभीष्ट विपर्यय की सिद्धि भी किसी दृष्टान्तान्तर से हो सकती है। यदि घट प्रदीप के द्वारा प्रकाशित होता है तब प्रदीप भी अन्य प्रदीप के द्वारा प्रकाशित क्यों नहीं होता? ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि घट भी प्रदीप के द्वारा प्रकाशित नहीं होता। अपितु तथाभूत (प्रकाशात्मता) के रूप में घट की प्रदीप के द्वारा उत्पति होती है और प्रदीप भी अन्य प्रकाशक चक्षुरादि के द्वारा प्रकाशित होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि चक्षुरादि के सलक घटादि साधारण होने पर चक्षु को भी प्रदीप की आवश्यकता होती है, वैसा प्रदीप भी होगा। यदि घट वैसा उत्पन्न ही होता है, प्रकाश उसका चक्षुरादि के द्वारा होता है, तब बाह्यार्थ के अप्रकाश स्वरूप होने पर भी जैसे दीप के द्वारा प्रकाश होता है, वैसे ही व्यपदेश के विषय का चक्षुरादि के द्वारा प्रकाश होना चाहिए ॥ ६२९ ॥ अर्थात् जैसे घटादि के तथाभूत उत्पन्न होने पर भी प्रदीप से घट की अभिव्यक्ति मानी जाती है, वैसे ही चक्षुरादि का विषय भी मान लेना चाहिए। यदि दोनों ही घटादि के प्रकाशक माने जाते हैं तब प्रकृति में प्रदीपादि तो एक ही हैं। अतः किसी अन्य के प्रकाशक दो पदार्थ होते हैं, ऐसा न मानकर, एक भी प्रकाशक नहीं होता, ऐसा मानने में क्या क्षति? ॥ ६३० ॥ अर्थात् अत्यन्त अशक्त पदार्थ के दो प्रकाशक और किसी एक का एक भी प्रकाशक नहीं, ऐसा वस्तुस्वभाव है, इस प्रकार मानने पर क्या क्षति? यदि कहा जाय स्वप्रकाशवाद में स्वयं में अपनी क्रिया का होना विरुद्ध है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस वस्तु का स्वरूप ही वैसा है, तब उसमें विरोध क्या? स्वरूप विरोध मानने पर सब-कुछ प्रलीन हो जाता है ॥ ६३१ ॥ अर्थात् किसी वस्तु में स्वरूपेण विरुद्धता नहीं होती, क्योंकि वैसा मानने पर कोई एक वस्तु भी उत्पन्न न होगी, सकल पदार्थ अस्तङ्गत हो जायेंगे। छेदन का अर्थ है विशिष्टोत्पादन, क्योंकि उसी से उसकी उत्पत्ति नहीं होती, यही स्वात्मनि क्रियाविरोध का अर्थ है। स्वप्रकाशरूपता तो

तस्याश्चार्थान्तरे वेद्ये दुर्घटौ वेद्यवेदकौ।

ज्ञान का यदि अर्थान्तर वेद्य माना जाय तब वेद्य और वेदक दोनों दुर्घट हो जाते हैं।

वार्तिकालङ्कारः

वार्थः स्वात्मनि क्रियाविरोध इति। स्वप्रकाशरूपन्तु तस्य स्वरूपं न तेनैव विरुध्यते। कुतस्तदिति वक्तव्यं स्वहेतोस्तथाभूतादिति। यदि स हेतुर्नास्ति तदा युक्तम्भवेत् नान्यथेति न्यायः। तत इदम्परेण वक्तव्यं स्वप्रकाशकत्वमेव न दृश्यते। तत्र चोत्तरमुक्तमेव सर्वस्य स्वरूपेण प्रकाशनादिति। पुनरप्युच्यते—तस्याश्चार्थान्तरे वेद्य इति।

अर्थान्तरभूता बुद्धिः स्वप्रकाशान्यथा वा भवेत्। यदि स्वप्रकाशा स्वरूपेण प्रकाशते ततोऽन्योऽर्थस्तया प्रकाश्यत इति। नाप्रकाशे तस्मिन् व्यपदेशस्तथा भवेत्। प्रकाशते चेत्सोऽपि तथैव प्रकाशते तदैवेति कथं तस्य परेण प्रकाशनम्। न हि तदा विशेषः प्रकाश्यप्रकाशकयोः। क्रमेण तद्व्यापारात्प्रतिपत्तिविशेषस्तस्येति चेत्। तथा हि—

ढौक्यमाने प्रदीपादौ विशेषस्तस्य गम्यते। ततस्तयोर्द्वयोस्तत्त्वं तथोत्पादो न किम्मतः॥ ६३२॥

विशेषः प्रकाशत इति। स्वेनैव रूपेण तस्य प्रकाशनं ततः स्वरूपस्यैव तथा प्रकाशनम्। ततः स्वप्रकाशनमेवान्तेऽपि। अथ स्वयं प्रकाशत इति न प्रतीयते। व्यवहार एवम्भूतो न भवति तत एव उच्यते—

नन्वनुभवानुरूपो व्यवहारः प्रमाणयितव्यो न सर्वः। अथ सर्व एव व्यवहारः प्रमाणं तथा सति न किञ्चित्प्रतिवादिबोधनाय वक्तव्यम्। तस्माद्यथा प्रतीयते तथाभ्युपगमः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसका स्वरूप है, उससे किसी प्रकार का विरोध नहीं। प्रत्येक वस्तु अपने हेतु सामग्री से उत्पन्न होती है। यदि वह हेतु नहीं है तब वह वस्तु नहीं होगी, यह न्याय सिद्ध है। तब वहाँ यह कहना चाहिए कि स्वप्रकाशकत्व ही कहीं नहीं देखा जाता। इसका उत्तर दिया जा चुका है—"सर्वस्य स्वरूपेण प्रकाशनात्" और पुनः कहा जाता है—"तस्याश्च" इत्यादि से। अर्थात् अर्थान्तररूप बुद्धि स्वप्रकाश होगी अथवा अन्यथा। यदि स्वप्रकाश है, तब अन्यार्थ भी वैसे ही प्रकाशित होगा। उसका प्रकाश न होने पर वैसा व्यपदेश नहीं हो सकता। यदि उसी प्रकार उसका प्रकाश होता है, तब पर के द्वारा उसका प्रकाश कैसे? क्योंकि प्रकाश और प्रकाशक का कोई भेद नहीं। यदि कहा जाय क्रमेण उनके व्यापार से प्रतिपत्ति-विशेष हो जाती है अर्थात् प्रतिपादि के प्राप्त हो जाने पर उसकी विशेषता अवगत होती है, तब उन दोनों का तत्त्व तथा उत्पाद क्यों सम्मत नहीं॥ ६३२॥

"विशेषः प्रकाशते" यहाँ पर यदि स्वयं के द्वारा उसका प्रकाश होता है, तब स्वरूप का ही प्रकाश माना जायेगा, यदि स्वयंप्रकाशता की प्रतीति नहीं होती, केवल इस प्रकार का व्यवहार ही होता है। इसके लिए वैसा कह दिया जाता है।

शंका—अनुभव के अनुरूप व्यवहार 'प्रमाणैतव्य' होता है व्यवहार मात्र नहीं। यदि सद् व्यवहार ही प्रमाण होता है, तब प्रतिवादी को सचेत करने के लिए कहना कुछ नहीं होता। फलतः जो जैसा प्रतीत होता है वैसा ही अभ्युपगम होता है। यदि कहा जाय कि संवेदन को परोक्ष मानना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि संवेद्य वस्तु सदैव एक रूप में संविदित नहीं होती। संवेद्य तत्त्व की परोक्षता भी उचित है। यदि वह

वार्तिकालङ्कारः

ननु संवेदनं नाम न परोक्षं युक्तं तथा संवेद्य न सर्वदा तथैति न्यायः । संवेद्यस्य परोक्षतापि युक्ता । यदि तु सर्वदा संविदितमेव, ज्ञानार्थयोर्भेदो न गम्यते । तदयुक्तम्—

संवेद्यतातिरेकेण न नीलादि प्रतीयते । असंवेद्ये प्रतीतिश्चेत्तदभावे कथम्भवेत् ।। ६३३ ।।

असंवेद्यमेव प्रतिपन्नमिति व्याहतम् । तथा चायमर्थः स्यादप्रतीतं प्रतीतमिति । अथाप्रतीयमानं प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रतीयते । तदप्यसत् । प्रतीयमानताव्यतिरेकेण नार्थः पर इति पक्षो न तु प्रत्यक्षप्रतीततैवेति । अनुमानप्रतीतिरपि स्वरूपे प्रत्यक्षप्रतीतिरेव ग्राह्ये ।

ननु ततः परोऽपि तत्रार्थोऽस्ति परेण दृश्यमानोऽन्यथा वा । न । प्रतीत्यभावाद-प्रतीयमानमस्तीति कुत एतत् । अनुमानेनैव प्रतीयत इति चेत् । अनुमानतैव तर्हि न स्यादर्थस्य साक्षात्करणात् । असाक्षात्करणेनेति चेत् । किमिदं तच्च नास्ति तच्चा-स्तीति युक्तम् । असाक्षात्करणं प्रतीतिरिति कोऽर्थः । स्वरूपं चेत्प्रतिपन्नं तदेव साक्षात्करणं न चेदप्रतीतिमेवेति न्यायः ।

स्वरूपेण प्रतीतञ्चेत्साक्षात्करणमेव तत् । स्वरूपेणाप्रतीतञ्चेत्सर्वथास्याऽप्रतीतता ।। ६३४ ।।

स्वरूपेण प्रतीतेऽपि तदसाक्षात्कृतं यदि । नीलरूपस्य ज्ञानात् संवित्तेर्भेदस्तर्हि कथम्भवेत् ।।६३५।।

प्रतीतिभेदाद् भेदो हि नीलादेरेकरूपता । ऽभिन्नेऽन्यस्मिन्कथम्भेदस्तदन्यस्य प्रमान्वितः ।। ६३६ ।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सर्वदा संविदित है, तब ज्ञान और अर्थ का भेद नहीं बनता ।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, संवेद्यता के बिना नीलादि सदैव प्रतीत नहीं होते । असंवेद्य की प्रतीति मानने पर उसके अभाव में प्रतीति कैसे होगी ।। ६३३ ।। अर्थात् असंवेद्य वस्तु प्रतिपन्न है, ऐसा कहना अत्यन्त व्याहत है तब ऐसा अर्थ होगा—"अप्रतीतं प्रतीतं" । यदि कहा जाय अप्रतीयमान वस्तु प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा प्रतीत होती है, तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रतीयमानता के बिना बाह्यार्थ कुछ भी नहीं । यह वादी का पक्ष है, न कि प्रत्यक्षप्रतीतता मात्र । अनुमान प्रतीति भी ग्राह्य में प्रत्यक्ष प्रतीति ही है ।

यदि कहा जाय कि भिन्नार्थ भी दूसरे के द्वारा दृश्यमान है अथवा स्वयं के द्वारा भी देखा जाता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतीति न होने के कारण अप्रतीय-मान के लिए 'अस्ति' ऐसा कैसे कहा जायेगा ? यदि अनुमान से प्रतीत होता है, ऐसा कहा जाय तो नहीं कह सकते, क्योंकि तब अनुमानता ही नहीं कही जा सकती, जबकि अर्थ का साक्षात्कार किया जाता है । यदि साक्षात्कार नहीं होता, तब उसके लिए अस्ति और नास्ति कहना उचित नहीं । असाक्षात्करण प्रतीति है, इसका क्या अर्थ ? स्वरूप यदि प्रतिपन्न है, तब वही साक्षात्करण है अन्यथा अप्रतीत मानना न्यायो-चित है ।

स्वरूपतः यदि प्रतीत है तब वह साक्षात्करण ही है । स्वरूपतः यदि प्रतीत नहीं तब सर्वथा अप्रतीतता माननी होगी ।। ६३४ ।।

स्वरूपतः प्रतीत होने पर भी उसका असाक्षात्कार यदि है तब नील रूप की संवित्ति कैसे होगी ? ।। ६३५ ।।

प्रतीति भेद से होती है और भेद नीलादि से ही होता है । अन्य के भिन्न होने पर अन्य का भेद प्रमित कैसे होता है ।। ६३६ ।।

वार्तिकालङ्कारः

तत्संसर्गात्तथाभावश्चेदपरोक्षः कुतो भवेत् । तदेकताप्रपन्नस्य ततो भेदः कुतो मतः ॥ ६३७ ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भेदोपोद्धारिको न सन् । न हि प्रत्यक्षसंवित्तिरन्वयव्यतिरेकयोः ॥ ६३८ ॥
अनुमानात्प्रतीतिश्चेन्नानुमाध्यक्षपूर्विका । तदभावेऽनुमाभावे भवेदन्धपरम्परा ॥ ६३९ ॥
व्याप्यस्यापि हि तद्भावो व्यापकेन विना कथम् । अप्रतीतं कथन्नाम तदा व्यापकमुच्यते ॥६४०॥

यदि हि तदा प्रतीयते प्रतीत्यं तद्गतमेव कथमर्थता । अथ न प्रतीयते कथं व्यापकताप्रतीतिः । व्यापकत्वेन प्राक् प्रतीतमिति चेत् । किमिदानीमनुमानेन । एतत्कालता न प्रतिपन्ना ततोऽनुमानं न व्यर्थम् । कथन्तर्हि व्यापकताप्रतीतिः ।

प्रागिदानीं प्रतीतिर्न कथं व्यापकतागतिः । प्रतीतिमात्रकन्तच्चेत्कथं व्याप्तन्तदुच्यते ॥ ६४१ ॥
धूमाकारा प्रतीतिर्हि न विना पावकं यदि । पावकप्रत्ययोऽप्येष विना पावकमिष्यते ॥ ६४२ ॥

पावककार्यो धूमः कथं प्रतीतिमात्रम् । तदसत् । तथा हि—

सति पावककार्यत्वे धूमादेर्बाह्यरूपता । बाह्यत्वे च प्रसिद्धे स्यात्तस्य पावककार्यता ॥ ६४३ ॥

तदिदमितरेतराश्रयणव्यवस्थितवस्तुकमनुपन्यसनीयमेव । अनेन प्रत्यभिज्ञाज्ञानमेव ज्ञातम् । य आह प्रत्यभिज्ञाबलादेव विज्ञानमात्रता निराक्रियते । तथा हि—

यदि संवेदनाग्न्तस्थः प्रत्यभिज्ञा किमर्थिका । अथासंवेदनोऽर्थात्मा कथं विज्ञप्तिमात्रता ॥ ६४४ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसके सम्बन्ध से यदि वैसा होता है तब वह अपरोक्ष कैसे होगा ? एकतापन्न पदार्थों का उसी से उसका भेद कैसे होगा ॥ ६३७ ॥

अन्वयव्यतिरेक के द्वारा भेद अपोद्धारिक नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष संवित्ति अन्वयव्यतिरेक के आधार पर नहीं होती ॥ ६३८ ॥

अनुमान के आधार पर यदि प्रतीति मानी जाती है और अनुमान अध्यक्ष पूर्वक नहीं होता, उसका अभाव होने पर अनुमान का भाव मानना अन्धपरम्परा है ॥६३९॥

व्याप्य का भी भाव व्यापक के अभाव में क्योंकर होगा ? अप्रतीत पदार्थ व्यापक कैसे कहा जायेगा ? ॥ ६४० ॥

यदि उस समय प्रतीत होता है तब तद्गत प्रतीतता को अर्थतः क्योंकर कहेंगे ? और यदि प्रतीत नहीं होता तब व्यापकता की प्रतीति कैसे ? यदि कहा जाय–'व्यापकत्वेन' पहले प्रतीति हो जाती है । तब इस समय अनुमान की क्या आवश्यकता ? यदि कहा जाय कि एतत्कालताप्रतिपन्न नहीं । अतः अनुमान व्यर्थ क्यों होगा ? तब प्रश्न उठता है कि व्यापकता की प्रतीति कैसे ? यदि पहले और पश्चात् प्रतीति नहीं हुई, तब व्यापकता की अवगति कैसे ? यदि प्रतीति मात्र है, तब उसे व्याहत क्यों कहा जाता है ॥ ६४१ ॥

यदि धूमाकार प्रतीति अग्नि के विना नहीं होती तब अग्नि की प्रतीति भी अग्नि के विना कैसे होगी ? ॥ ६४२ ॥

अग्नि का कार्य धूमप्रतीति मात्र कैसे ? ऐसा प्रश्न उचित नहीं, क्योंकि अग्नि के कार्यभूत धूमादि के होने पर बाह्यरूपता सिद्ध होगी और बाह्यत्व के सिद्ध होवे पर धूम में अग्नि की कार्यता सिद्ध होगी ॥ ६४३ ॥

"तद् इदं" इस प्रकार का अन्योन्याश्रयेण व्यवस्थित वस्तु विषयक उपन्यसनीय नहीं होता, क्योंकि इसके द्वारा प्रत्यभिज्ञा अवज्ञात होती है । जो यह कहता है कि प्रत्यभिज्ञा के बल पर विज्ञानमात्रता का निराकरण किया जाता है अर्थात् यदि संवेदन

वार्तिकालङ्कारः

न हि मध्यसत्तार्थस्य प्रत्यभिज्ञया प्रतीयमाना संवेदनान्तर्गतापरोक्षतया अप्रतीतेरिति । तदसत् । तथा हि । परोक्षतयापि प्रतीतिः प्रतीत्यन्तर्गतत्वमेव वस्तुनः प्रतीत्यन्तर्गतस्याप्रतीतेरिति चेत् प्रतिपादितम् । अप्रतीत्य मध्यसत्तामन्तरेण कथं प्रत्यभिज्ञेति चेत् । पूर्वपरयोः समानजातीयत्वप्रतीतिमात्रकादेव दृष्टा, तथैव भविष्यति किमपरेण, लूनपुनर्जातकेशनखप्रत्यभिज्ञावत् । अथ तत्र जात्यादिविषयः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः । जातिरेवैकेति प्रतीयतां ततो व्यक्तेरेकता न सिध्यति । न च जातिरपि मध्ये विद्यते । प्रमाणाभावात् । प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति चेत् । न । स्वरूपमात्रमेव पूर्वापरं प्रत्यभिज्ञाया निबन्धनमिति तदेवालम्बनं प्रत्यभिज्ञायाः । न च तदेव प्रत्यभिज्ञाज्ञानं मध्यरूपालम्बनं, मध्यरूपस्यावेदनात् । न खलु परोक्षमदृष्टमालम्ब्यते । दृष्टत्वे च तदपरोक्षत्वाद्विज्ञानमेव । ननु परोक्षं चेत्कथं विज्ञानं यस्यामवस्थायामस्ति तस्यामपरोक्षमेव । इदानीमतीततया परोक्षत्वेऽपि न विज्ञानत्वहानिः । यदि स्यादर्थस्याप्यर्थत्वहानिः स्यात् । अर्थस्याप्यतीतत्वेऽर्थत्वहानिः समस्त्येवेति चेत् । न तर्हि मध्यसत्तायामर्थत्वं तस्या अप्यतीतत्वात् । अतीतत्वेऽपि परोक्षतायामप्यर्थत्वं नापैति विरोधाभावात् । संवेदनत्वं त्वसंविदितस्य कथमिति चेत् । अर्थत्वमपि तर्हि कथमनर्थक्रिया-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आन्तरिक है, तब ये बाह्यार्थ की प्रत्यभिज्ञा कैसे ? यदि अर्थ संवेदन से भिन्न है तब विज्ञप्तिमात्रता कैसे ? ॥ ६४४ ॥

प्रत्यभिज्ञा के द्वारा अर्थ की मध्यसत्ता प्रतीयमान होकर तद्गत अपरोक्षतया जो प्रतीति मानी जाती है, वह असत् है, क्योंकि परोक्षतया प्रतीति और वस्तु का प्रतीत्यन्तर्गतत्व एवं प्रतीत्यन्तर्गत की अप्रतीति प्रतिपादित है तब मध्यसत्ता के बिना प्रत्यभिज्ञा कैसे ? पूर्व और पर की समान जातीयत्व प्रतीति मात्र से प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है । उसी प्रकार वह हो जायेगी, अन्य की क्या आवश्यकता ? कटे हुए पुनर्जात केश और नखादि के समान अर्थ की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है । यदि वहाँ जात्यादि विषयक प्रत्यभिज्ञा की प्रतीति मानी जाती है तब जाति ही एक है, ऐसी प्रतीति हो सकती है, किन्तु उससे व्यक्ति की एकता सिद्ध नहीं होती । जाति भी मध्य में विद्यमान नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं । यदि कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्व और पर का स्वरूप मात्र प्रत्यभिज्ञा का निमित्त माना जाता है और वही प्रत्यभिज्ञा का आलम्बन है । उसे ही प्रत्यभिज्ञा ज्ञान नहीं कह सकते, क्योंकि मध्य रूप आलम्बन कैसे होगा ? क्योंकि मध्यरूप का वेदन ही नहीं होता । परोक्ष और अदृष्ट वस्तु कभी आलम्बन नहीं बनती ।
उसके दृष्ट होने पर उसकी अपरोक्षता होने के कारण वह विज्ञान ही है ।

शंका—परोक्ष वस्तु विज्ञान कैसे ? जिस अवस्था में वह है, उस अवस्था में अपरोक्ष ही है । इस समय अतीत होने के कारण परोक्षता में भी विज्ञानत्व की हानि नहीं । यदि विज्ञानत्व की हानि होगी तब अर्थ की हानि होगी । अर्थ के भी अतीत होने पर अर्थत्व की हानि क्यों नहीं ? ऐसा प्रश्न नहीं कर सकते, क्योंकि तब मध्यसत्ता में अर्थत्व नहीं, क्योंकि वह भी अतीत है । अतीत और परोक्ष होने पर भी अर्थत्व निवृत्त नहीं होता, क्योंकि उनका कोई विरोध नहीं । किन्तु संवेदनत्व असंविदित में कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अर्थत्व भी अनर्थक्रियाकारी कैसे ? असं-

वार्तिकालङ्कारः

कारिणः । न ह्यसंविदितमर्थक्रियाकरणसमर्थम् । अनुमानेन तस्य वेदनं प्रत्याख्यातम् । अन्येन मध्ये वेदने तदेव विज्ञानत्वं न चान्येन विदितत्वं प्रत्यभिज्ञायते । ततस्तेन सहैकता नास्ति । प्रत्यभिज्ञात एकत्वाप्रसिद्धेः । अनुमानाकारश्च वासनाबलादुत्पत्तेरेक एव विज्ञानात्मना ततो वासनात एव सकल आकारः परिस्फुटप्रतिभासोऽपि ।

ननु वासनाया एकरूपत्वादाकारभेदो विज्ञानानां कथम् । वासनाभेदाद् भेद इति चेत् । यदि वासना नीलपीताद्यनन्तभेदा विज्ञानस्य जनिका तदाकारताया बाह्यस्यास्याश्च को भेदः । वासनेति हि नाममात्रमेव । तदसत्—

वासना पूर्वविज्ञानकृतिका शक्तिरुच्यते । तस्या अमूर्तताभावात् कथमर्थसमानता ॥६४५॥

वासनेति हि पूर्वविज्ञानजनितां शक्तिमामनन्ति वासनास्वरूपविदः । अर्थस्तु पुनर्मूर्त्तरूपः सदोपद्रवदायी ।

नन्वर्थोऽपि संविदितावस्थायामेवोपद्रुतिहेतुर्न सदा । ततो वासनाबलादुदयभावी प्रतिभास उपद्रुतिहेतुरर्थो वेति कोऽनयोर्भेदः । तदसत्—

अविशेषेऽपि बाह्यस्य स्पष्टत्वादेर्विशेषतः । भावनाया विशेषेण नार्थस्य प्रतिभासनम् ॥६४६॥

भावनाबलायातत्वे हि विपरीतवासनाविनिवृत्तौ स्वाभीष्टवासनासमागमसमयेऽनभीष्टविनिवृत्तिरिष्टस्य च प्राप्तिरिति महानेष भेदः । ततो बुद्धिरूपवासनाकृत एव सकलो भेदावभासः ।

ननु वासनाया एकविज्ञानात्मभूतत्वात्प्रबोधके सति सकलवासनाप्रबोधादनन्त-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विदित अर्थ, अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होता । अनुमान के द्वारा उसका वेदन प्रत्याख्यात है अन्य के द्वारा मध्य में वेदन विज्ञानत्व ही है, अन्य के द्वारा विदित प्रत्यभिज्ञात नहीं होता, क्योंकि उसके साथ, उसकी एकता नहीं । प्रत्यभिज्ञात पदार्थ में एकत्व अप्रसिद्ध है । अनुमान का आकार वासना के बल पर उत्पन्न होता है । विज्ञानरूपेण सकल आकार परिस्फुट प्रतिभास होता है ।

शंका--वासना का आकार एक है, तब उसके द्वारा उत्पादित विज्ञानों का आकार-भेद कैसे ? यदि कहा जाय कि वासना के भेद से विज्ञान का भेद होता है अर्थात् नील-पीतादि भेद से भिन्न वासना विज्ञान की जनक है । तब प्रश्न होता है कि बाह्य अर्थ की तदाकारता और इस वासना का क्या भेद ? वासना, यह तो एक नाममात्र की वस्तु है, तो वैसा नहीं कह सकते; क्योंकि पूर्व विज्ञान से उत्पादित शक्ति को वासना कहा जाता है, वह अमूर्त है, उसकी भावपदार्थ से समानता नहीं की जा सकती ॥ ६४५ ॥ अर्थात् वासनास्वरूप के विशेषज्ञ विद्वान् पूर्वविज्ञान से जनित शक्ति को वासना कहा करते हैं । वह वासना अमूर्त है और भावपदार्थ मूर्त है, सदा उपद्रवदायी है । यदि कहा जाय कि पदार्थ भी संविदित अवस्था में उपद्रव के कारण होते हैं, सदा नहीं, तब वासनाबल से उत्पन्न विज्ञानप्रतिभास उपद्रव का हेतु है और पदार्थ भी । तब इनका क्या भेद ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों की अविशेषता होने पर भी बाह्य पदार्थ विशेषतः स्फुट और स्पष्ट होते हैं और वासना के बल पर भावपदार्थ का प्रतिभास नहीं माना जाता ॥ ६४६ ॥ अर्थात् भावनाबल से उत्पन्न होने पर भी विपरीत वासना की निवृत्ति हो जाने पर अभीष्टवासना के समागम के समय अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट की प्राप्ति होती है, ये दोनों का महान् अन्तर है । अतः बुद्धि

वार्तिकालङ्कारः

प्रतिभासविज्ञानोदयः स्यादिति महदसमञ्जसम् । बाह्याभ्युपगमे तु न दोषः । य एव सन्निहितोऽर्थः स एव दृश्यते । न । असन्निहितस्यापि दर्शनाभ्युपगमात् । तथा हि—

विप्रमोषः स्मृतेरिष्टः कैश्चित्तु विपरीतचित् । असत्ख्यातिः परैरन्यैः सर्वं सर्वत्र विद्यते ॥६४७॥

येषान्तावत्सर्वं सर्वत्र विद्यते तेषां समान एव दोषः । असत्ख्यातावपि सकलासप्रतिभासनप्रसङ्गः । यस्य तु स्मृतिविप्रमोषः तस्याप्यनेकदर्शनं पूर्वं कस्मान्नानेकदर्शनं समानमेतद्विज्ञानवादेऽपीति न दोषवान् । विज्ञानं वा पूर्ववृत्तं स्मर्यतार्थो वेति को भेदः । विपरीतख्यातिरपि पूर्वदृष्टे प्रवर्त्ततामन्यथा वा किन्न सर्वत्रेति समानः पर्यनुयोगः पुनरपि तत्र स एव वासनानियमो वक्तव्य इति समानम् । न च समनन्तरविज्ञानात्मभूता वासनेष्यते । पटुप्रकाशः पूर्वात्मप्रतिभासो हि वासना ।

तथाभूतात्मसंवित्तिजनकत्वाद्विना कुतः ।

प्रबोधक य सद्भावे धियां जन्म यथायथम् । नीलपीतादिनिर्भाससङ्गतानामितीक्ष्यते ॥६४८॥

इदमेवात्रेक्ष्यते पूर्वविज्ञानमभिमतेतरप्रतिभासं पाटवादिप्रकाराधिष्ठितं ततस्तदनन्तरं कालान्तरे वा तथाभूतं विज्ञानमुदयवत् । जाग्रद्दृष्टं स्वप्नप्रतिभासं जनयीत यथा । व्यवहितात्कथमुत्पत्तिरिति चेत् । दृष्टाः स्मृतिः स्वप्नविज्ञानादयो व्यवहितादपीति न दृष्टेऽनिष्टन्नाम ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रूप वासना की देन सकल भेदावभास है ।

शंका—वासना एक विज्ञान का स्वरूप है । प्रबोध अवस्था में सकल वासनाओं का प्रबोध हो जाने पर अनन्त प्रतिभास विज्ञानों का उदय हो जाता है । यही एक महान् असमञ्जसता की अवस्था है, किन्तु बाह्य पदार्थों के मानने में कोई दोष नहीं, जो सन्निहित अर्थ है, वही दिखाई देता है ।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि केवल सन्निहित का ही भान नहीं होता, अपितु असन्निहित का भी दर्शन माना जाता है । कुछ विद्वान् स्मृति का प्रमोश मानते हैं, कुछ लोग विपरीत ख्याति एवं अन्य लोग असख्याति मानते हैं, और कतिपय विद्वान् कहते हैं—"सर्वः सर्वत्र विद्यते" ॥ ६४७ ॥

जिन लोगों के मत में सर्व वस्तु सर्वत्र विद्यमान मानी जाती है, उनके मत में भी यह दोष समान है । असख्याति मत में भी सकल पदार्थों का प्रतिभास प्रसक्त होता है । जिसके मत में स्मृति प्रमोश है, उसके मत में भी अनेक दर्शन का प्रसङ्ग समान है । विज्ञानवाद में भी यही दोष है । पूर्वविद्यमान विज्ञान का स्मरण किया जाय या अर्थ का, क्या भेद ? विपरीत ख्याति भी पूर्वदृष्ट अर्थ में प्रवृत्त हो सकती है और अन्यथा भी, वह सर्वत्र क्यों नहीं, ऐसा पर्यनियोग प्रसक्त होता है । वह वासना निमित्तक है, यही मानना होगा । समनन्तर विज्ञान रूप वासना मानी जाती है । पूर्वोक्त पटुप्रकाशपूर्व आत्मप्रतिभास ही आत्मा है, वैसी आत्म-संविति के जनक के बिना कैसे होगा । बुद्धियों का जन्म प्रबोधक के सद्भाव में संगत कैसे होगा ? ॥६४८॥

जो कुछ यहाँ दिखाई देता है, वह पूर्वविज्ञान है । पाटवादिप्रकारक प्रतिभास के अनन्तर अथवा कालान्तर में तथाभूत विज्ञान ही उत्पन्न होता है । जागृतकाल में दृष्ट विज्ञान स्वप्नभासित विज्ञान को जन्म देता है । व्यवहित कारण से कार्य की

वार्तिकालङ्कारः

ननु नासौ जनयत्यथ प्रणिधानादेस्तदेव प्रतिभाति । न । अतीतस्य प्रतिभासाभावात् । अतीतमपि प्रतिभासमानं दृष्टमिति चेत् । असत्प्रतिभासत इति कोऽर्थः । तदाकारा प्रतीतिरित्ययमेव । तस्मादनुभवात्स्मृतिरुदयमासादयन्ती तस्यैव शक्तिविशेषमावेदयति । स शक्तिविशेषो वासनेति व्यपदेश्यः । अयञ्च कार्यकारणभाव एवम्भूत उपलब्ध एव । ततो न वासनास्तित्वे पूर्वविज्ञानभेदे च प्रमाणाभावोऽनादिवासनाभावस्य पदार्थानादितावदेव सिद्धेः ।

कार्यकारणसन्तानो नादिर्बाह्यो यथोदितः । तथाविज्ञानसन्तानो नादिः किमिति नेष्यते ॥ ६४९ ॥

वासनाभेदे किन्निमित्तमिति चेत् । तदसत्—

अस्त्येव वासनाभेदस्तन्निमित्तस्य सम्भवात् । ज्ञानभेदो निमित्तं हि तस्य भेदस्ततः पुनः ॥ ६५० ॥

पूर्वप्रवृत्तज्ञानभेद एव वासनाभेदनिबन्धनं ज्ञानभेदोऽपि तत एव वासनाभेदादिति को दोषः । नन्वेवमितरेतराश्रयणदोषस्तदसद्यतः—

न सैव वासना तेन जन्या यस्यैव कारणम् । ज्ञानस्य येन दोषोऽयमितरेतरसंश्रयः ॥ ६५१ ॥

अपि त्वन्या वासनान्यविज्ञानभेदहेतुरन्यः प्रत्ययोऽन्यवासनाहेतुः पूर्ववासनाभेदजनितः । ततो नेतरेतराश्रयदोषः । अन्यथार्थदर्शनेऽपि समानमेतत् । तथा हि—

अर्थभेदो निमित्तं चेत् तस्य भेदः कथं पुनः ज्ञानभेदेन भेदे हि प्रापदन्योऽन्यसंश्रयः ॥ ६५२ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उत्पत्ति कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर है—यह तथ्य दृष्ट है । स्वप्नविज्ञान आदि कार्य व्यवहित कारणों से उत्पन्न होते हैं, दृष्टार्थ में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती ।

यदि कहा जाय कि व्यवहित कारण, कार्य को जन्म नहीं देता तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अतीत का प्रतिभास नहीं होता । अतीत प्रतिभास भी देखा जाता है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि असत् प्रतिभास का प्रतिभास कैसा ? अर्थात् तदाकारा प्रतीति असत् की नहीं हो सकती । अतः अनुभव के आधार पर स्मृति उत्पन्न होती हुई, उसकी शक्ति को सूचित करती है । वह शक्ति-विशेष है अथवा नहीं, इस प्रकार का व्यवहार मात्र देखा जाता है । ऐसा कार्य-कारणभाव उपलब्ध होता है । अतः वासना के अस्तित्व में अनादि-वासनावासित पदार्थ विज्ञान ही प्रमाण है । कार्य-कारण की सन्तान-परम्परा तथा विज्ञान-सन्तान को अनादि क्यों नहीं माना जा सकता ॥ ६४९ ॥

वासना-भेद में निमित्त क्या ? यह प्रश्न उचित नहीं, क्योंकि वासना-भेद का निमित्त है । अतः वह भी सम्भव है । ज्ञान-भेद ही वासना-भेद का निमित्त है । अतः उसका भी सद्भाव सिद्ध है ॥ ६५० ॥

पूर्वप्रवृत्त विज्ञान-भेद ही वासना-भेद का निमित्त है, और ज्ञान-भेद भी उसी वासना-भेद से उत्पन्न होता है, ऐसा मानने में क्या दोष ? अन्योन्याश्रय दोष है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वही वासना, उससे जन्य नहीं होती । अतः इतरेतर आश्रय दोष क्यों होगा ? ॥ ६५१ ॥

अपितु अन्य वासना अन्य विज्ञान-भेद का हेतु है, अन्य वासना-हेतु पूर्व वासना-भेद से जनित होता है । ऐसा मानने में इतरेतर आश्रय दोष प्रसक्त नहीं होता, अन्यथा अर्थदर्शन में भी समान रूप से प्रसक्त होता है । यदि अर्थ-भेद निमित्त है तब उसका भेद कैसे ? ज्ञान-भेद से भेद मानने पर अन्य संशय प्रसक्त होता है ॥ ६५२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न खल्वर्थभेदोऽप्यनिमित्त एव ज्ञानभेदनिबन्धनन्तस्यायोगात् । ज्ञानभेदो निमित्तमितीतरेतराश्रयदोषः। अर्थभेद एवार्थभेदस्य निमित्तमिति सुतरामसङ्गतम्। अथान्योऽर्थभेदोऽन्यस्यार्थभेदस्य निबन्धनमिति सोऽप्यन्यस्येति वासनायामपि समानमेतत्।

नन्वर्थभेदः प्रतिभासमानो भिनत्ति विज्ञानमिति युक्तमेतत् । वासना तु कथमिति कः परिहारः। यदि वासनापि प्रतिभासतेऽर्थवदर्थ एव सेति नाममात्रकमेव भिद्यते। तत्र वासनामात्रग्राहके व्याप्रियमाणा ग्राहकभेदमेव जनयेत्। न तु ग्राह्यस्य। तथा ह्यनुभवादुत्पन्ना वासना स्मृतिमात्रमेव जनयन्ती दृश्यते। अत्र परिहारः—

पूर्वविज्ञानमेवात्र वासनेत्युदितं पुरा । तत्तदाकारविज्ञानं जनयद्भेदकं न किम् ॥६५३॥

यथा हि शृङ्खलाबन्धः स्त्यनिर्ता गतिमादवत् । अभावेऽप्यात्मनो दृष्टस्तद्रूपगतिकारणम् ॥६५४॥

वासनाभेदतो भेदो ग्राह्याकारेऽपि दृश्यते । अभावेऽपि पदार्थानां कामशोकभयादिषु ॥६५५॥

अथ तत्रापि देशकालान्यथात्मकं बाह्यमेवालम्बनं सर्वविज्ञानानां सालम्बनत्वात्। यद्यपि तदा तत्र न प्राप्यते तदेव तत्रैव माभूदन्यदान्यत्र तु नास्तीति किमत्र प्रमाणम्। तथा हि घटो यत्र यदा नोपलभ्यते तदा तत्र नास्ति न तु सर्वत्र। अत्रोच्यते-

इहोपलभ्यमानस्य कथं देशादिनान्यता । नीलादित्वेन दृश्यस्य किमन्याकारतास्ति वः ॥६५६॥

यद्यन्यदेशोऽप्यन्यदेशतयोपलभ्यते नीलाकारोऽपि तथेति समानमेतत्। अन्याकारे प्रमाणाभावादन्यथा नेति परिहारेऽन्यदेशोऽन्यथेति समानः परिहारः। आकारे नास्ति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थभेद भी अनिमित्तक नहीं होता। ज्ञानभेद निमित्तक होना उसका सम्भव नहीं। ज्ञान-भेद को निमित्त मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है। वही अर्थभेद उस अर्थभेद का निमित्त है, ऐसा कहना नितान्त असंगत है । यदि अन्य अर्थ-भेद, अन्य अर्थभेद का निमित्त माना जाता है और वह अन्य अर्थभेद निमित्तक है, ऐसा मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है।

शंका—अर्थभेद प्रतिभासमान होकर भिन्न नहीं, विज्ञान मात्र है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है, किन्तु वासना का उत्पाद कैसे ? इस प्रश्न का परिहार क्या ? यदि वासना पूर्वविज्ञान-स्वरूप है तब तदाकार विज्ञान जनन के द्वारा अभेदक क्यों नहीं ? ॥ ६५३ ॥

जैसे शृङ्खलाबन्ध गतिशील है, उसका अभाव होने पर भी उसकी गति का कारण हो जाता है ॥ ६५४ ॥

वासनाभेद से भेद ग्राह्याकार में भी काम, शोक, भयादि स्थलों पर पदार्थों के अभाव होने पर भी देखा जाता है ॥ ६५५ ॥

यदि देश, काल अन्यथा आत्मतः बाह्य वस्तु ही सभी विज्ञानों का आलम्बन है। यद्यपि वहाँ पर वही वस्तु प्राप्त नहीं होती, किन्तु उस काल में वह अन्यत्र है, इसमें क्या प्रमाण ? अर्थात् जो घट जहाँ जिस काल में उपलब्ध नहीं होता, उस काल में वह वहाँ ही नहीं होता, न कि सर्वत्र। तो उसका उत्तर यह है कि यहाँ पर ही उपलभ्यमान वस्तु देशादि के भेद से भिन्न कैसे ? दृश्यमान नीलादिता को छोड़कर और कोई उसका आकार नहीं ॥ ६५६ ॥

यदि अन्य देश में विद्यमान वस्तु अन्यदेशवृत्तितया उपलब्ध होती है, तब

वार्तिकालङ्कारः

बाधनं देशे तु बाधा तेन स एव देशयोगी नास्ति न त्वाकारः। तत्र तर्हि निरालम्बनं ततः सर्वं सालम्बनमित्यसिद्धम्।

ननु सालम्बनत्वं तत्रापि यतः—

देशाधेयातिरेकेण न योगः कश्चिदीक्ष्यते। तयोरालम्बनत्वे च ज्ञानानालम्बता कथम् ॥६५७॥

देशतदाधेयाकार एव तत्र प्रतिभाति तयोश्च सत्त्वे किमनालम्बनं रूपम्। न हि योगोऽपरस्तयोरिति सालम्बनमेव सकलं विज्ञानमिति।

यदि योगोऽपि सालम्बं कथं प्राप्तिस्तथैव न। अप्राप्तावपि सालम्बमिति स्यादसमञ्जसम् ॥५६८॥

यदि नास्ति प्राप्तिस्तथापि सालम्बनं विपरीतख्यातिरपि तर्हि नास्त्येवेति अभ्युपगमविरोधः। अपि च विपरीतख्यातिस्तथा सर्वमेव भवतु किमन्यथा कल्पनयेत्यादर्शितमेवैतदिति नोच्यते पुनः। बाधकप्रत्ययाभावान्नैवमिति चेत्। बाधकप्रत्ययाभावोऽपि विपरीतख्यातिरेवेति न सत्या बाधकता। यत्र च कालान्यता तत्र वासनाया एव व्यापारः प्रतीयते नार्थस्य, पूर्वानुभवादेव तदाकारता नाविद्यमानार्थाकारप्रतिभासनम्।

अथ क्षणिकं विज्ञानं कथं वास्यवासकभावस्तत्र।

अनुत्पन्नं न वास्येत अतीतोऽपि न बाधकः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नीलाकार वस्तु भी वैसी ही क्यों न होगी ? इसका यदि यह परिहार किया जाय कि अन्याकार में कोई प्रमाण न होने के कारण अन्यथा नहीं, तब अन्य देश भी अन्यथा होगा। आकार का बाध नहीं होता। किसी देश का बाध होने पर उस देश का सम्बन्ध नहीं रहता। यदि वहाँ निरालम्बन है तब सर्वसालम्बन है, यह सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि सालम्बनता वहाँ भी नहीं। देश की आधीयता से अतिरिक्त कोई पदार्थ कहीं नहीं देखा जाता। आधार और आधेय के आलम्बन होने पर ज्ञानालम्बनता कैसे ? ॥ ६५७ ॥

देश और उसकी आधीयता का आकार यदि प्रतिभास होता है तब अनालम्बनता क्या ? क्योंकि उससे भिन्न सम्बन्ध कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं। सकल विज्ञान सालम्बन ही है।

यदि सम्बन्ध के होने पर भी सालम्बनता कैसे ? अप्राप्त होने पर भी सालम्बनता होती है, ऐसा कहना समञ्जस नहीं ॥ ६५८ ॥

यदि नास्ति प्राप्ति तथापि सालम्बनता की सिद्धि होती है तब इतनी विपरीत ख्याति विकसित नहीं होती। अतः अभ्युपगम विरोध होता है। दूसरी बात यह भी है कि विपरीत ख्याति ही सर्वथा मान लेनी चाहिए अन्यथा ख्याति की कल्पना व्यर्थ है। यह दिखाया ही जा चुका है, पुनः कहने की आवश्यकता नहीं। बाधक प्रत्यय का सद्भाव होने के कारण विपरीत ख्याति नहीं मान सकते, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि बाधक प्रत्यय का अभाव होने पर भी विपरीत ख्याति ही सिद्ध होती है, बाधकता नहीं बनती। जहाँ पर कालभेद होता है, वहाँ वासना को ही व्यापार माना जाता है, अर्थ को नहीं। पूर्वानुभव हो जाने पर ही तदाकारता सिद्ध होती है, अविद्यमान अर्थाकार का प्रतिभास नहीं होता।

यदि कहा जाय कि विज्ञान क्षणिक है, उसका वास्यवासकभाव नहीं बनता,

वार्तिकालङ्कारः

सहितयोरपि परस्परमसम्बन्धान्न वास्यवासकभावः । तदसत् । कार्यकारणभाव-विशेष एव वास्यवासकभाव इति प्रतिपादनात् । क्षणिकानामेव च स विद्यते न नित्यानामिति क्षणिकत्वादिति विपरीतसाधनमेतत् । ततश्च—

स्मृतौ ग्राहकभेदोऽन्यो न ग्राह्याकारवर्जितः । अर्थस्तत्र न सत्त्वेन तत्र सन्निहितः पुरः ॥६५९॥
क्षणिकेषु च चित्तेषु विनाशे च निरन्वये । वास्यवासकयोरर्थो न चित्यत्वे तु कल्प्यते ॥६६०॥
पूर्वक्षणादुद्भवन्नेव विशिष्टो जायते क्षणः । ततः कालान्तरे तस्मादन्यत्कार्यं विजायते ॥६६१॥
वास्यवासकभावोऽयं नापरः कार्यकारणात् ।
विनश्यता हि वास्येत पूर्वेणोत्तरमुद्भवत् । अवस्थिता न वास्यन्ते भावा भावैरवस्थितैः ॥६६२॥
नित्यस्य ह्यविकारत्वात्कार्यकारणता कुतः । अवस्थितो न पूर्वस्याद्वासनासङ्गमर्हति ॥६६३॥
पूर्ववद्वासना तस्य न स्यादेवाविशेषतः । भङ्गुरे पूर्वमादृश्याद्भिन्नत्वाच्चास्ति वासना ॥६६४॥
तच्चानुरूप्यमस्त्येव क्षणिकत्वेऽपि चेतसाम् । पूर्वज्ञानात्तदोत्पन्नादुत्तरस्योदयो न किम् ॥६६५॥
नेष्यते क्षण एवासौ कार्यमुत्पादयेत्परम् । तेनोत्पद्य विनष्टत्वेऽप्यस्त्यारम्भः क्षणं स्थितेः ॥६६६॥
निरन्वयविनाशित्वे यानुरूप्यस्य का क्षतिः । न तदीयोऽस्ति कश्चिच्चेद्धर्म उत्तरबुद्धिषु ॥६६७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्योंकि अनुत्पन्न वस्तु वासित नहीं होती और अतीत पदार्थ वासक नहीं होता । एक काल में रहने वाले दो पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध न होने के कारण वास्य-वासकभाव नहीं बनता, तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि कार्य-कारणभाव-विशेष ही वास्य-वासकभाव माना जाता है, जैसा कि कहा जा चुका है। क्षणिक पदार्थों का ही वह कार्य-कारणभाव होता है, नित्य पदार्थों में नहीं। अतः क्षणिकत्वात् ऐसा कहना विपरीत-साधनता है । फलतः स्मर्यमाण ग्राहक-विशेष ग्राह्याकार-वर्जित अन्य अर्थ नहीं होता । वह पहले सन्निहित होता है ॥ ६५९ ॥

क्षणिक चित्तों में निरन्वय विनाश मानने पर वास्य-वासकभाव होता है, नित्यत्व पक्ष में नहीं ॥ ६६० ॥

पूर्वक्षण से उत्पन्न होता हुआ विज्ञान विशिष्ट क्षणान्तर में उत्पन्न होता है और कालान्तर में उससे अन्य कार्य उत्पन्न होता है ॥ ६६१ ॥

यह वास्य-वासकभाव, कार्य-कारणभाव से भिन्न नहीं । पूर्वक्षण से उत्पन्न होता हुआ उत्तरक्षण विनश्यदवस्था के पूर्वक्षण के द्वारा वासित होता है । अवस्थित पदार्थों में वास्य-वासकभाव नहीं होता अर्थात् अवस्थित भावान्तर के द्वारा भावान्तर वासित नहीं होता ॥ ६६२ ॥

नित्य पदार्थ अविकारी होता है, उसमें कार्य-कारणता क्योंकर होगी ? पूर्वा-वस्थित पदार्थ अवस्थित पदार्थान्तर से वासित नहीं हो सकता ॥६६३॥ भंगुर पदार्थों में पूर्वसादृश्य के आधार पर भिन्न होने के कारण वासना बन जाती है ॥ ६६४ ॥

वह तो अनुरूप ही है, चित्त के क्षणिक होने पर पूर्वविज्ञान से उत्तरविज्ञान की उत्पत्ति क्यों न होगी ? ॥ ६६५ ॥

ऐसा एक भी क्षण नहीं माना जाता जो अन्य कार्य को जन्म दे। अतः उससे उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाने पर भी उत्पत्ति बन जाती है ॥ ६६६ ॥

निरन्वय विनासिता पक्ष में आनुरूप्य को क्षति नहीं होती । यदि इसका कोई

वार्तिकालङ्कारः

न समानपरामर्शप्रत्ययादेकरूपता । यदि स्यादानुरूप्याच्च गोधियो वासना यदा ॥६६८॥
हस्तिबुद्धिर्भवेत्तन्न वैलक्षण्यान्न वासना । अन्यथा व्यवधानेऽपि वासना पूर्वदार्ढ्यतः ॥६६९॥
दृढमावर्जकं ज्ञानं व्यवधानेऽपि कार्यकृत् । गजज्ञानाद् गजज्ञानं पूर्वबीजात्प्रवर्त्तते ॥६७०॥
मध्ये विलक्षणं ज्ञानं जायते वासनान्तरात् । न चैकज्ञाननाशेन विनष्टाः सर्ववासनाः ॥६७१॥
कुसुमस्य विनाशे हि राग उत्पद्यतां कुतः । बीजाङ्कुरादि नालादेस्तद्विलक्षणतः कथम् ॥६७२॥
तेऽपि तज्जनिता एव क्रमात्कार्यस्य कारकाः । महिष्यादिधियामेतत्कस्मादेव न विद्यते ॥६७३॥
तन्न सर्वाभ्य एताभ्यः सर्वाकारं समुत्थितम् । ज्ञानमेकक्षणेनैव विनाशं गन्तुमर्हति ॥६७४॥
तदाश्रयविनाशेऽपि शक्तेः स्यादाश्रयोऽपरः । न च क्षणिकताहानिः शक्तेरव्यतिरेकतः ॥६७५॥
वासनानां प्रवाहस्तु नैव ज्ञानप्रवाहवत् । इष्यते वासनाविद्भिः शक्तिरूपा हि वासना ॥६७६॥
वासनातश्च तज्ज्ञानं भवेत्तेभ्यश्च वासना । कुर्यातां तुल्यमेवैतेऽन्योऽन्यस्तु हि कदाचन ॥६७७॥
विलक्षणोऽपि हेतुर्यदस्ति शक्त्यन्तरात्मकः । ततो विलक्षणाद्धेतोः फलमन्यद्विलक्षणम् ॥६७८॥
तस्मात्संवृतिसत्येषाऽव्यतिरेकेण कल्पिता । न वस्तुत्वे न तस्याः किं कार्यमन्यदसम्भवि ॥६७९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

धर्म उत्तरबुद्धि में नहीं होता ॥ ६६७ ॥

समान परामर्श प्रत्यय से एकरूपता नहीं होती यदि हो, आनुरूप्य के कारण गो-बुद्धि की वासना हो जायेगी ॥ ६६८ ॥

गो-बुद्धि के होने पर जब हस्ति-बुद्धि होती है, तब विलक्षणता के कारण वासना नहीं होती, अन्यथा व्यवधान होने पर भी वासना की उत्पत्ति प्रसक्त होती है ॥ ६६९ ॥

दृढ़ आवर्जक ज्ञान व्यवधान होने पर भी कार्यकारी होता है, जैसे कि गज-ज्ञान से गज-ज्ञान प्रवृत्त होता है ॥ ६७० ॥

मध्य में विलक्षण ज्ञान वासनान्तर से उत्पन्न होता है। एक ज्ञान के नष्ट हो जाने पर सभी वासनाएँ नष्ट नहीं होती ॥ ६७१ ॥

कुसुम का विनाश होने पर रक्तता किससे उत्पन्न होगी ? बीजाङ्कुरादि और नाल-काण्डादि विलक्षण कारण से कैसे उत्पन्न होंगे ? ॥ ६७२ ॥

वे भी उनसे जनित होकर क्रमशः कार्य के कारक होते हैं। महिषी आदि बुद्धियों की उनसे उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? ॥ ६७३ ॥

इसलिए सर्वाकार बुद्धियों से सर्वाकार ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ज्ञान क्षणनश्वर है ॥ ६७४ ॥

आश्रय का विनाश होने पर शक्ति का अन्याश्रय हो जाता है। शक्ति के अव्यतिरिक्त होने के कारण क्षणिकता की हानि नहीं होती ॥ ६७५ ॥

वासनाओं का प्रवाह ज्ञान प्रवाह के समान नहीं होता। वासना के जानकार व्यक्तियों के द्वारा, वासना-प्रवाह विलक्षण माना जाता है, क्योंकि वासनाएँ शक्ति रूप हैं ॥ ६७६ ॥

वासना से ज्ञान और ज्ञानों से वासना। इस प्रकार अन्योऽन्य का कदाचित् कार्य-कारणभाव होता है ॥ ६७७ ॥

यदि उसका सत्यन्तररूप हेतु अन्य है, तब विलक्षण हेतु से फल भी विलक्षण होता है ॥ ६७८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यस्य त्ववस्थितो ज्ञाता ज्ञानाभ्यासश्च सम्मतः। न तस्य वासनाधारो नाप्यसौ वासना मता ॥६८०॥

कुसुमे बीजपूरादेः यल्लाक्षाद्युपसिच्यति । तद्रूपस्यैव संक्रान्तिः फले तस्येति वासना ॥६८१॥

युक्त्योपपन्नां हि सतीं प्रकल्प्य यद्वासनामर्थनिराक्रियेयम् ।
तथापि बाह्याभिनिवेश एष जगद् ग्रहग्रस्तमिदं समस्तम् ॥ ६८२ ॥

तस्माद्विभक्त आकारः सकलो वासनाबलात् ।' बहिरर्थत्वरहितस्ततोऽनालम्बना मतिः ॥६८३॥

अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवदिति प्रमाणस्य परिशुद्धिः। तथा हीदमेवानालम्बनत्वं यदात्माकारवेदनत्वम्।

ननु सकलप्रत्ययपक्षीकरणे न दृष्टान्त इति कथमनुमानम्। न। अर्थापरिज्ञानात्।

प्रमाणफलमेतद्धि प्रमाणापेक्षसाधने। दृष्टान्तस्य ह्यतः सिद्धेः सर्वं इत्यादियुक्तिमत् ॥६८४॥

विवादास्पदीभूतजाग्रत्प्रत्यया एव पक्षीकृताः। स्वप्नप्रत्ययानान्तु भावनान्वयव्यतिरेकानुविधानात्सिद्धमेव निरालम्बनत्वं दृष्टान्तीक्रियते। कथं व्याप्तिसिद्धिः। यज्जातीयो यतः सिद्ध इति न्यायात्। अन्यथा सकलकार्यकारणभावाभाव एव भवेत्प्र-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतः इनकी संवृति सत्ता कल्पित होती है। उनका अन्य कार्य सम्भव नहीं होता ॥ ६७९ ॥

जिनके मत में ज्ञाता अवस्थित होता है, उनके मत में ज्ञान का अभ्यास सम्भव है। उनके मत में न तो वह वासना का आधार होता है और न वैसी वासना ॥ ६८० ॥

बीजपूरादि के कुसुमों में जो लाक्षा का रूप अवस्थित होता है, उसी रूप की संक्रान्ति बीजपूर (बीजौरानींबू) के फल में ॥ ६८१ ॥

श्लोकवार्त्तिक (२।२०१) में कहा गया है जो वासना युक्तियों के आधार पर मानकर अर्थक्रिया का निराकरण किया जाता है, वह भी एक बाल अभिनिवेश है। वैसे ही समस्त जगत् ग्रह से ग्रसित है ॥ ६८२ ॥

अतः वासना के बल पर सकल आकार विभक्त है। बाह्यार्थ का भाव नहीं, केवल निरालम्बन ज्ञान है ॥ ६८३ ॥

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि सभी ज्ञान निरालम्बन हैं। प्रत्यय होने के कारण, इस प्रकार निरालम्बनता में प्रमाण की परिशुद्धि पर्यवसित होती है और यही अनालम्बनता है, जो ज्ञान की स्वकीयाकार वेदना है ॥ ६८४ ॥

यदि कहा जाय सकल ज्ञानों को पक्ष बना लेने पर दृष्टान्त का अभाव हो जाता है, तब अनुमान कैसे प्रवृत्त होगा ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि शंकावादी हमारे आशय को समझ नहीं पाया। प्रमाण का यही फल है कि प्रमाण की अपेक्षा उसकी सिद्धि, अतः 'सर्वः' ऐसा प्रयोग निश्चिन्त दृष्टान्त को छोड़कर सन्दिग्ध मात्र का ग्राहक होता है। प्रमाण-फलात्मक प्रपञ्च की प्रमाणपेक्षा सिद्ध करने पर दृष्टान्त श्रोता सिद्ध पृथक् रह जाता है। अतः अनुमान प्रयोग युक्तियुक्त है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि विवादास्पदीभूत जाग्रत प्रत्यय को पक्ष बनाया जाता है और स्वप्न प्रत्ययों को दृष्टान्त, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उनमें निरालम्बनता सिद्ध होती है। व्याप्ति की सिद्धि कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर है—"यज्जातीयो

वार्तिकालङ्कारः

माणाभावात्। अन्वयव्यतिरेकानुविधानमेव हेतुफलयोस्तत्त्वमाचक्षते तद्विदः।

आदराभ्याससंसर्गि जाग्रद्दृष्टं हि दृश्यते। स्वप्ने ततो परं ज्ञानं तथैवेति प्रतीयताम् ॥६८५॥

ननु न प्रत्ययत्वादनालम्बनत्वं स्वप्नप्रत्ययानामपि तु बाधकसद्भावात्। तथा हि—

स्वप्नदृष्टं पुनर्जाग्रद्दर्शनेन न दृश्यते। तेनान्यदा तदैवान्यैस्तदनालम्बनं ततः ॥६८६॥

बाधकप्रत्ययस्तस्यालम्बनं विनिवारयन्। नानालम्बनताज्ञानं करोत्यत्र सुनिश्चितम् ॥६८७॥

न चैवं स्वप्नज्ञानवद्बाधको जाग्रत्प्रत्यये। तत्कथं तद्दृष्टान्तः। नैतदस्ति। बाधकप्रत्ययो हि कथन्तस्य विषयापहारक्षमः। न हि ज्ञानस्यार्थापनयनं व्यापारोऽङ्कुरादीनामिव। कस्तर्हि। ज्ञापनव्यापार एव। तथा च नास्य विषयोऽस्तीति परेण ज्ञापयितव्यम्। अभावञ्चानुपलब्धिरेव ज्ञापयति। एकः प्रतिषेधहेतुरिति वचनात्। विरोधस्याप्यनुपलब्ध्यैव साधनात्। ततस्तत्प्रमेयशून्यतावबोध एव बाधकेन करणीयः। तदभावश्चान्यभाव एवेति तदन्यालम्बनतैव बाधकत्वम्। तच्च जाग्रत्प्रत्ययेऽपि सकलं सम्भवि।

ननु जाग्रत्प्रत्यये नैवं भवति नैतदेवमिति, तत्कथं स बाधितः।

ननु नैतदेवमेतदेवमिति फलमसंवेदनेतरयोः ततः कथं फलतो व्यवस्था न संवेदनात्। फलेन हि व्यवस्था प्रमाणाभावात्संवृतिसदेव। संवेदनमन्तरेण कथं फलमिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यतः सिद्धः" इस न्याय के आधार पर। अन्यथा सकल कार्य-कारणभाव का प्रमाण के अभाव में अभाव ही हो जाता है। अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान हेतु फलभाव में नियामक है। आदर और अभ्यासपूर्वक जाग्रत प्रपञ्च दृष्टचर है। उसके संस्कारों से स्वप्नप्रपञ्च उत्पन्न होता है ॥ ६८५ ॥

शंका—ज्ञान की निरालम्बनता के साधन में प्रत्ययत्व हेतु नहीं, अपितु बाधक सद्भाव निरालम्बनता का साधक माना जाता है। स्वप्न-विज्ञान का जाग्रतकाल में बाध देखा जाता है, अतएव वह अनालम्बन है ॥ ६८६ ॥

बाधक-ज्ञान स्वप्न-ज्ञान की सालम्बनता का निरास करता हुआ अनालम्बनता सिद्ध करता है ॥ ६८७ ॥

स्वप्न-ज्ञान का बाधक जाग्रत प्रत्यय है, तब निरालम्बनता की सिद्धि में स्वप्न-ज्ञान को दृष्टान्त कैसे बनायेंगे ?

समाधान—बाधक-प्रत्यय स्वप्न-ज्ञान के विषय का अपहार नहीं कर सकता, क्योंकि ज्ञान का अर्थापनयन व्यापार नहीं होता, अपितु उसका ज्ञापन व्यापार ही होता है। स्वप्न-ज्ञान का विषय नहीं है, यही उसे ज्ञापित करना होगा, किन्तु अभाव की ज्ञापना अनुपलब्धि से ही हो जाती है, वही प्रतिषेध का हेतु है। विपरीत अर्थ की सिद्धि अनुपलब्धि से ही होती है, तब तो प्रमेय-शून्यता का अवबोध ही करना होगा, वह अभाव अन्य का भाव है। अतः तदन्य आलम्बनता ही बाधकता पर्यवसित होती है। वह सब-कुछ तो जाग्रत प्रत्यय में भी सम्भव है। यदि कहा जाय कि जाग्रत प्रत्यय के द्वारा ही स्वप्न-बाध होता है, अतः वह बाधित कैसे होगा ? अर्थात् "नैतद् एवं" इस प्रकार फल संवेदन होता है, तब फल से व्यवस्था क्योंकर होगी ? संवेदन से क्यों नहीं ? फल के द्वारा व्यवस्था में कोई प्रमाण नहीं, वह केवल संवृत्ति-सद् है।

वार्त्तिकालङ्कारः

चेत् । असंवेदने संवेदनात् । ततः फलमिवार्थसंवेदनमपि स्वसंवेदनमात्रमेव । ततस्तत्रैः वार्थसंवेदनमिति व्यवस्था । तथा हि—

अर्थसंवेदने जाते तदनन्तरतो भवत् । फलन्तस्य भवेदेवं गमकन्नान्यथा तु तत् ॥६८८॥

तस्मादिदमेव तस्य बाधकं यदन्यरूपग्राहकत्वं तच्च सर्वप्रत्ययापेक्षया प्रत्ययान्तराणाम् ।

ननु जाग्रत्प्रत्ययार्थः संवादी तत्कथन्तस्यान्येनाग्रहणम् । स्वप्नप्रत्ययानामपि तत्स्वप्नदर्शिना तदन्यस्वप्नप्रत्ययग्रहणादविसंवादनमेव । तत्कथं बाध्यत्वम् । जाग्रत्प्रत्ययेन बाध्यत्वादिति चेत् । जाग्रत्प्रत्ययोऽपि तेनेति समानमेतत् । निद्रोपहते मनसि तस्य भाव इति न बाधकत्वम् । यथोपहते चक्षुषि न केशादिदर्शनं तद्विपर्ययस्य बाधकमिति । तदसत्—

सिद्धेनोपहतं चेतः केनेदं संप्रतीयताम् । न तावत्तदवस्थायामिदमेवं प्रतीयते ॥६८९॥

स्वपन् प्रत्येति व्युत्थितो वा । ननु स्वप्नेऽपि विद्यते सर्वमेतत् । तथा हि—

स्वपन्तमात्मानं प्रत्येति प्रबुद्धं पुनरेति च । स्वप्नेऽपि तत्केन कृतो विभागो भवतोदितः ॥६९०॥

स्वप्नेऽपि प्रबोधादिव्यवहारो दृश्यते । ततोऽयमपि प्रबोधादिव्यवहारोऽलक्षणत्वेनैक्षणात् कथं संप्रत्ययकृत् । अथ संप्रत्ययसंवेदनादेवं स्वप्नेऽप्येवमिति समानमेतत् । अथ स्वप्नेऽपि स्वप्न एष इति कदाचित्संप्रत्ययस्ततो नैवम् । सत्यमेतदिति किं न संप्रत्ययोऽस्ति । ततः सत्यता भवतु । अत एवानवस्थितः स्वप्न इति चेत् । अयमप्यनवस्थित

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

संवेदन के बिना फल क्योंकर होगा ? इसका उत्तर है, असंवेदन में संवेदन के द्वारा । अतः फल के समान अर्थसंवेदन भी स्वसंवेदनमात्र है । अतः वहीं पर अर्थसंवेदन की व्यवस्था होती है अर्थात् अर्थसंवेदन के हो जाने पर उसके अनन्तर फल होता है । इस प्रकार गमक के द्वारा अन्यथा नहीं हो सकता ॥ ६८८ ॥

अतः यही उसका बाधक है, जो अन्य रूप की ग्राहकता है । वह सभी प्रत्ययों की अपेक्षा अन्य प्रत्यय में होती है ।

शंका—जाग्रत-प्रत्यय का अर्थ संवादी होता है, तब उसका अन्य के द्वारा अग्रहण कैसे होगा ? स्वप्न-प्रत्ययों की भी स्वप्नदर्शी के द्वारा उससे अन्य स्वप्न-प्रत्यय का ग्रहण होने से अविसंवादन ही है, वह बाधित कैसे होगा ? जाग्रत प्रत्यय से बाधित है, यदि ऐसा कहा जाय तब जाग्रत प्रत्यय भी उसके ही समान है । निद्राक्रान्त मन के द्वारा उसका उदय होता है, अतः उसमें बाधकता वैसे ही नहीं, जैसे—दोषयुक्त नेत्र के होने पर केशादि का दर्शन । वह विपरीत का बाधक होता है ।

समाधान—उस समय चित्त उपहत है, यह कैसे जाना जाय ? क्योंकि उस अवस्था में उसकी प्रतीति नहीं होती ॥ ६८९ ॥

सोता हुआ वैसा अनुभव करता है अथवा जागने पर, स्वप्न में भी तो सब-कुछ विद्यमान है अर्थात् अपने को सोता हुआ जानकर सब-कुछ अनुभव करता है और पुनः जागने पर ही देखता है । स्वप्न में भी विषय-विभाग किसने किया ? ॥ ६९० ॥

अर्थात् स्वप्न में भी प्रबोध आदि का व्यवहार देखा जाता है । अतएव यह प्रबोध आदि व्यवहार देखा जाता है, वह विश्वास का विषय कैसे होगा ? यदि प्रत्यय संवेदन के द्वारा, वह तो स्वप्न में भी समान है । यदि कहा जाय स्वप्न में भी स्वप्नरूपता का प्रत्यय होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी सत्यता का विश्वास

वार्तिकालङ्कारः

एवैश्वर्यादीनामनवस्थानादेव। सहेतुकमिहानवस्थानं अहेतुकं स्वप्न इति चेत्। तथा हि। झटित्येव स्वप्नदृष्टं नश्यति। वासनादार्ढ्यमेतन्नत्वर्थं एवं साधयितुं शक्यः। तथा हि—

प्रियादिदृष्टिरत्रापि झटित्येव विनश्यति। तत्स्वप्नेऽपि भवत्येव दिनं संततदर्शनम् ॥६६१॥

ननु स्वप्नास्वप्नप्रत्यययोर्विवेकसाधनं ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं वेति द्वयी कल्पना। यदि प्रमाणं तदा सालम्बनं तदिति तेनानैकान्तः। अथ न प्रमाणन्तदा न पक्षदृष्टान्त-प्रसिद्धिरिति कथमनुमानावतारः। कथं निरालम्बनत्वप्रसिद्धिः।

तदसत्। प्रमाणमेव तदिति न दोषः। न च सालम्बनं सकलं प्रमाणमनुमानस्य सालम्बनत्वाभावात्। अनालम्बनत्वेऽपीह व्यवहाराविसंवादापेक्षया प्रमाणत्वात्। भेदश्च यद्यपि तयोः सिद्धः स्वप्नेतरविज्ञानयोस्तथापि न तत्साधकं प्रमाणं सालम्बन-मिति न सर्वसालम्बनत्वप्रसङ्गः।

लौकिकप्रतिपत्त्यैव ततो भेदे प्रसाधिते। साध्यदृष्टान्तचिन्तेयं प्रतिभाससमाश्रयात् ॥६६२॥

लोके तावदिदं स्वप्नविज्ञानमिदं जाग्रत इति विभागः प्रतीयते। ततस्तदाश्रयेण साध्यसाधनव्यवहारः। ततः पश्चाद्यदि परामृशतो न किञ्चिदत्र विभागकरणमुपलक्ष्यत इति साधयत्यभेदं तथा सति कः परस्य दोषः। यदि च दोष एवं स्यात् वेदप्रामाण्य-साधनेऽपि दोषो भवेत्। तथा हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्यों नहीं होता ? सत्यता की प्रतीति होनी चाहिए, नहीं होती। अतः यह अनवस्थित स्वप्न ही है। ऐसा स्वप्नज्ञान भी अनवस्थित ही होता है, क्योंकि उसमें ऐश्वर्य आदि अनवस्थित होते हैं। अनवस्थान यहाँ सहेतुक और स्वप्न में अहेतुक होता है अर्थात् स्वप्नदृष्ट पदार्थ तुरन्त नष्ट हो जाता है। वासना की दृढ़ता मात्र है, अर्थ वैसा नहीं। इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि प्रिय आदि दृष्ट पदार्थ तुरन्त ही स्वप्न में नष्ट हो जाते हैं। अतः स्वप्न में भी सन्तत दर्शन और दिन होता है ॥ ३६१ ॥

शंका—स्वप्न और अस्वप्न प्रत्यय के विवेक का साधनभूत ज्ञान प्रमाण होता है या अप्रमाण, इस प्रकार द्विविध कल्पना होती है। यदि प्रमाण है तब सालम्बन होगा। उसमें प्रत्ययत्व हेतु अनैकान्तिक है और यदि वह प्रमाण नहीं तब पक्ष दृष्टा-न्तादि की सिद्धि नहीं होती, तब अनुमानावतार कैसे ? और निरालम्बनत्व की सिद्धि कैसे होगी ?

समाधान—वह ज्ञान प्रमाण ही है, अतः कोई दोष नहीं प्राप्त होता। सभी प्रमाण सालम्बन होते हैं, ऐसा आवश्यक नहीं। अनुमान अनालम्बन होता है, अना-लम्बन होने पर भी व्यवहार असंवादिता के कारण प्रमाण माना जाता है। यद्यपि स्वप्न और उससे भिन्न इन दोनों ज्ञानों का भेद सिद्ध है, तथापि तत् साधक प्रमाण सालम्बन नहीं। अतः सर्वसालम्बनता का प्रसङ्ग नहीं होता। अतः लौकिक प्रतिपत्ति के आधार पर ही भेद के प्रसिद्ध हो जाने पर यह साध्य दृष्टान्तादि की चिन्ता प्रवृत्त हो जाती है ॥६६२॥ लोक में स्वप्न-विज्ञान और जाग्रत-विज्ञान का विभाग प्रतीत होता है। अतः उसके आधार पर साध्य-साधन व्यवहार हो जाता है। उसके पश्चात् यदि किसी प्रकार का विभागीकरण उपलक्षित नहीं होता और अभेद सिद्ध होता है, तब दूसरे का क्या दोष ? यदि इस प्रकार दोष होता है, तब वेदप्रामाण्य की सिद्धि में

वार्तिकालङ्कारः

वेदो धर्मो कथन्तस्य लौकिकाद्वचनाद्विवेक इति पर्यनुयुक्तेन किं वक्तव्यम् । यद्य-प्रमाणं लौकिकवचनसदृशमिति कथन्तस्य विवेकेन धर्मित्वम् । अथ प्रमाणत्वं प्रसाध्य विवेकं कथयेत् तथा सति किं साधनोपन्यासस्य फलम् । तत एव तच्चोद्यं कथं परि-हर्त्तव्यम् । नत्वन्यत एव स्वरवर्णानुपूर्वीविशेषाद्वेदस्य प्रबन्धभेदसिद्धिः । नान्येषामपि परस्परस्य तथा भेदसिद्धेः । अथास्ति तावदेष प्रबन्धः किमयं वेद उत नेति विचार्य-माणो यदि प्रमाणं भविष्यति वेद एवान्यथा नानेन प्रयोजनमिति परित्यक्ष्यामः । एवं तर्हि समानमिदमिति परित्यक्ष्यामः । एवन्तर्हि समानमिदमत्रापि प्रत्ययस्तावदीक्ष्यते ।

स्वप्नप्रसिद्धिरस्मात्किं भिन्ना नो वेति कल्पने । या वा भविष्यति परं तथा द्रक्ष्याम इत्यपि ॥६९३॥

यदि पश्चाद्विचार्यमाणं स्वप्नज्ञानमन्यद्वा परस्परं परमार्थतो भिन्नमभिन्नं वेति भवेत्तथा ग्रहीष्यामः । तत्र यदि परामृष्यमाणेन भेदे प्रमाणं किमप्यस्तीत्यभेदं प्रतिप-त्स्यामहे । ततः क इवात्र विरोधः । पूर्वं भेदग्राहकमप्रमाणमिति चेत् । भवतु को दोषः । पक्षादिप्रविभागो न भवेदिति चेत् । मा भूदिदानीं किं नो विघटितम् । इदमेव यदप्रमाणत्वमभेदसाधनस्य । एवं तर्हि—

यत्साधारणधर्मित्वप्रतिपत्तिस्तथा सति । प्रमाणन्न भवेदन्यदप्येवं द्वारकं परम् ॥६९४॥

वेदलक्षणप्रमाणाप्रमाणसाधारणधर्मिप्रतिपत्तिरप्रमाणमेव स्यात्पश्चात्प्रमाणत्व-साधनेन निवर्त्तनात् । ततो धर्मिसाधनस्याप्रमाणत्वात्तद्द्वारेण प्रामाण्यसाधनमप्य-प्रमाणं भवेदिति न वेदप्रामाण्यप्रसिद्धिः । ततः सकल एव साध्यसाधनव्यवहारो विशी-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

भी दोष होगा । अर्थात् वेद यदि धर्म है, तब लौकिक वचन से उसका विवेक कैसे ? इस प्रकार का प्रश्न होने पर क्या उत्तर होगा ? यदि लौकिक वचन के समान ही वहाँ अप्रमाण है, तब उसमें धर्मित्व कैसे होगा ? यदि प्रमाणता सिद्ध करने के पश्चात् विवेक होता है; तब साधनोपन्यास का फल क्या ? इस प्रश्न का परिहार कैसे होगा ? स्वर वर्ण आनुपूर्वी विशेष से वेद-प्रबन्ध का भेद सिद्ध नहीं होता । अन्य शब्दों का भी परस्पर भेद सिद्ध नहीं होता, यदि वैसा ही यह प्रबन्ध है तब यह वेद है अथवा नहीं । ऐसा विचार करने पर यदि यह प्रमाण है तब वेद होगा अन्यथा इससे कोई प्रयोजन नहीं । फलतः इसका परित्याग कर देंगे । इस प्रकार वैसा ही ज्ञान यहाँ भी होगा । स्वप्न-प्रसिद्धि इससे भिन्न है अथवा नहीं, ऐसी कल्पना होने पर जो निश्चय होगा, वह देखा जायेगा ॥६९३॥ यदि पश्चात् विचार्यमाण होकर स्वप्न-ज्ञान या अन्य पर-स्पर परमार्थतः भिन्न या अभिन्न होगा, वैसा ग्रहण किया जायेगा । यदि भेद का परामर्श होने पर भी—"किमप्यस्ति" इस प्रकार अभेद प्रतीत होगा तब क्या विरोध ? यदि पहले भेद ग्राहक अप्रमाण है तब क्या दोष ? यदि कहा जाय कि पक्षादि का प्रविभाग नहीं होगा, तब कहा जा सकता है कि न हो, उससे हमारा क्या बिगड़ता है ? उस के उत्तर में यदि कहा जाय कि यदि अभेद साधन में कोई प्रमाण नहीं, तब वह कैसे सिद्ध होगा ? यदि साधारण धर्मत्व की प्रतिपत्ति है, तब वह प्रमाण नहीं होगा ॥ ६९४ ॥

वेद प्रमाण या अप्रमाण है, सामान्यतः धर्मित्व की प्रतिपत्ति अप्रमाण ही है क्योंकि पश्चात् प्रमाणत्व की सिद्धि होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है, अतः धर्मी साधन की अप्रमाणता होने के कारण उसके द्वारा प्रामाण्य साधन भी

वार्तिकालङ्कारः

यत। अथ धर्मिणः साधारणस्य ग्रहणेऽपि न तद्ग्राहकमप्रमाणं प्रामाण्यस्याधिकस्य तत्रैव साधनात्। यदि तत्प्रमेयोन्माननं परेण स्यात् स्यादप्रामाण्यम्। तदप्यसत्। यतः—

प्रमाणत्वं हि तस्यैव स्वरूपं धर्मिणो यदा। तस्य तत्परिहारेण ग्रहणेऽपि कथं प्रमा ॥६६५॥

प्रमाणस्वरूपं हि वेदवचनं तस्य तद्विपर्ययग्रहणे तद्विपर्ययप्रमेयोन्मूलने परेण कृते कथमप्रमाणता न भवेत्। न हि स्वरूपेणैव कस्यचिदाधिक्यम्। अगृहीते तदाधिक्य-व्यवहार इति चेत्। अग्रहणे कथं प्रमाणता। कस्यचिद्रूपस्य ग्रहणादिति चेत्, न, भेदा-भावात्। व्यतिरिक्तधर्माभ्युपगमान्नैवञ्चेत्, न, अनवस्थाप्रसङ्गात्। तथा हि—

व्यतिरिक्तो यदा धर्मस्तेन योगः परो भवेत्। तेन योगः पुनस्तेनेत्यनन्तो धर्मविप्लवः ॥६६६॥
तद्युक्तत्वं तयोरेव स्वरूपं यदि सम्मतम्। प्रमाणत्वं तथा प्राप्तमस्माकं का विरोधिता ॥६६७॥
भेदेनापि गृहीतस्य समारोपस्य भावतः। परामर्शादभेदस्य प्रतिपत्तिः किमप्रमा ॥६६८॥

अथापि स्याद् भवतोऽभेदं प्रतीयतः कथं विवेकेन पक्षीकरणादिविभागेन साधनप्रवर्त्तनम्। तदसत्। परप्रत्ययापेक्षयैदमनुवादमात्रकं स्वयमपि पूर्वाभ्यासेन साधन-प्रयोग इति न किञ्चिदवद्यम्। ममाप्येवमासीदिति परः प्रतिपाद्यते।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अप्रमाणता ही होगा। फलतः वेद-प्रामाण्य-सिद्धि नहीं होती। अतः सकल साध्य-साधन व्यवहार बिखर जायेगा। यदि साधारणरूपेण धर्मी का ग्रहण होने पर भी उसका ग्राहक अप्रमाण नहीं होता, क्योंकि प्रामाण्य रूप अधिक अर्थ का वहाँ साधन किया जाता है। यदि उसके प्रमेय की सिद्धि अपरप्रमाण के द्वारा होगी तब वह अप्रमाण होगा। ऐसा कहना भी असत् है, क्योंकि प्रमाणता उसी में मानी जाती है कि जब धर्मी का उससे भिन्नरूपेण ग्रहण होता है, तब प्रमा कैसे ? ॥ ६६५ ॥

वेदवचन प्रमाण स्वरूप हैं। तद् विपर्यय का ग्रहण होने पर वेद के विपरीत प्रमेय का उन्मूलन हो जाने पर उसमें अप्रमाणता क्यों न होगी ? स्वरूपतः किसी प्रकार का आधिक्य या विशेषता उपलब्ध नहीं। यदि कहा जाय कि आधिक्य व्यवहार का अग्रहण होने पर वह कैसा होगा ? ग्रहण न होने पर प्रमाणता कैसी ? यदि कहा जाय कि किसी एकरूपता का ग्रहण होने पर प्रमाणता बन जाती है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ भेद का अभाव है। यदि कहा जाय कि व्यतिरिक्त धर्म का अभ्यु-पगम हो जाने पर क्या होगा ? इसका उत्तर है, अनवस्था प्रसक्त होगी ॥ ६६६ ॥ जब अतिरिक्त धर्म माना जाता है, उसके साथ धर्मान्तर का योग होता है, तब उसके साथ योग एवं उसका अन्य के साथ योग, इस प्रकार धर्म-अनवस्था प्रसक्त होती है। उसके साथ युक्त होना ही यदि दोनों का स्वरूप है, तब उसमें प्रमाणता प्राप्त होती है, विरोध क्या ? ॥ ६६७ ॥

भेदेन गृहीत होने पर भी समारोप का सद्भाव होने के कारण परामर्श से अभेद की प्रतिपत्ति हो जाने से अप्रमा क्यों होगी ? ॥ ६६८ ॥

यदि कहा जाय अभेद का प्रतिपादन करने वाले आपके पक्ष में विवेकपूर्वक पक्षीकरणादि का विभाग साधन का प्रवर्तक होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि परप्रत्यय की अपेक्षा यह अनुवाद मात्र है। पूर्वाभ्यास के आधार पर साधन प्रयोग होता है अतः किसी प्रकार का दोष नहीं। हमारे मत में भी ऐसा ही था, इस प्रकार

वार्त्तिकालङ्कारः

स्वप्नादिबाधधीवच्चेत् सकलः प्रत्ययो न किम् । सालम्बनः प्रसाध्येत प्रत्ययत्वात्परैरपि ॥६९९॥

यथा निरालम्बनाः सर्वप्रत्ययाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवदिति तथा सालम्बनाः सर्वप्रत्ययाः स्वप्नबाधकप्रत्ययवदेव । अत्रोच्यते—

प्रत्ययत्वाविशेषेण स्वप्नप्रत्ययतः परः । प्रत्ययोऽन्यो निरालम्ब इति किं प्रतिसाधनम् ॥७००॥

यथा स्वप्नप्रत्ययत्वाविशेषाद्बाधकप्रमाणपरिनिश्चितनिरालम्बनत्वप्रतिबन्धाद-नालम्बनत्वसाधनं तथा यदि सालम्बनत्वमपि ततो विरुद्धाव्यभिचारीति नैकस्यापि प्रसिद्धिरिति तदेव निरालम्बनत्वम्, न च सालम्बनत्वे साध्ये प्रतिबन्धः । अनुपलब्ध्या तु द्वयोरपि निरालम्बनत्वम् । तथा हि—

यथास्वरूपविम्मात्रादपरस्याप्रवेदनम् । स्वप्नादिप्रत्यये जाग्रत्प्रत्ययेऽपि तथेष्यते ॥७०१॥

न हि जाग्रत्प्रतिभाससंविदितमपि परेण वेद्यते । प्रत्ययान्तरस्यैव तथा वेदनादि-त्युक्तमेव तत् । तत्राप्यालम्बनमस्त्येवेति चेत् । तस्मादर्थक्रिया न भवति । यदि नामार्थ-क्रियाकारि न भवति प्रतीयमानं त्वस्त्येव । न ह्येकस्याभावेऽपरं न भवति । न हि धूमा-भावादग्निर्न भवति । सर्वदाऽभावात्किंशुकराशिवन्न भवत्येवेति चेत् । एवन्तर्हि तदर्थ-क्रियाकारि न भवति किंशुकराशिवत् । स्वेन रूपेणास्तु । किंशुकराशिः स्वेन रूपेणार्थ-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिवादी को प्रतिपादित किया जाता है अर्थात् यदि स्वप्न आदि की बाधबुद्धि के समान सकल प्रत्यय सालम्बन क्यों न माना जाय ? क्योंकि प्रतिवादी भी प्रत्ययत्व हेतु के द्वारा वही सिद्ध करना चाहता है ॥ ६९९ ॥

यदि कहा जाय कि जैसे सर्व प्रत्ययों में निरालम्बनता सिद्ध की जाती है, वैसे ही "सर्वप्रत्ययाः सालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नबाधकप्रत्ययवत्", तब हमारा कहना यह है कि प्रत्ययत्व की समानता होने के कारण स्वप्न प्रत्यय से भिन्न प्रत्यय को निरालम्बन सिद्ध क्यों न किया जाय ? ।। ७०० ।। जैसे-स्वप्नप्रत्ययत्व की अविशेषता होने के कारण प्रमाण से परिनिश्चित निरालम्बनत्व साधन किया जाय तब सालम्बनत्व भी विरुद्धाव्यभिचारी होने के कारण दोनों में से किसी एक की भी प्रसिद्धि में निराल-म्बनत्व क्यों न होगा ? साबम्बनत्व की सिद्धि में व्याप्ति है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उन दोनों की अनुपलब्धि होने से निरालम्बनत्व सिद्ध होता है। जैसे-स्वरूप मात्र के आधार पर अन्य का प्रवेदन नहीं होता, स्वप्नादि प्रत्यय और जाग्रत-प्रत्यय में भी वैसा क्यों न सिद्ध किया जाय ।। ७०१ ।।

जाग्रतकालीन ज्ञान जो देवदत्त के द्वारा बिदित है, वह यज्ञदत्त के द्वारा गृहीत नहीं होता, अपितु क्षणिक विज्ञानवाद में ज्ञानान्तर का ही वेदन व्यक्ति अन्तर के द्वारा किया जाता है। उसका भी आलम्बन होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उससे अर्थक्रिया नहीं होती। अतः उसे असत् ही कहा जाता है। प्रतीति असत् की भी हो सकती है। एक का अभाव होने पर दूसरे का भी अभाव होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि धूम के न होने से अग्नि का अभाव नहीं होता है। यदि कहा जाय 'किंशुक' राशि में अग्नि का अभाव कभी नहीं होता अर्थात् पलाश के लाल फूलों के ढेर में अग्नि का भ्रम हो जाता है, क्योंकि दोनों का लाल वर्ण एक-जैसा होता है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह धूम के अभाव में अग्नि का भी अभाव होता है। केवल अग्नि का आभास होता है। उससे अग्नि का कार्य नहीं लिया जा

वार्तिकालङ्कारः

क्रियाकारी भवतु न स्वप्नोपलब्धः। न हि स्वप्नभुक्तं पुष्टिकृत्। अथ रूपमेव तत्तथाविधं तेन नेति चेत्। न स्वरूपसंवेदनाद्विज्ञानमेव तदिति सूक्तम्। अथ स्वरूपत्वे को विरोधः। वासनाबलभावित्वं स्वप्रतीतत्वञ्च। अर्थ एव तादृशो भविष्यतीति चेत्। नामकरणमात्रकमेतत्। भवतोऽपि किन्नेति चेत्, न, अनन्तरकारणाधीनस्य प्रतिपादनात्। तेन ज्ञानमेव तत्। तथा च—

तस्याश्चार्थान्तरे वेद्ये दुर्घटौ वेद्यवेदकौ ॥

न हि तदर्थान्तरं तस्या एव भवति रूपम्। ततोऽप्रवेशे न वेदनम्। प्रवेशे नार्थान्तरम्। ननु यदि बुद्धिस्वरूपमेव तत्तस्य स्वसंविदितेन नीलादिना भवितव्यम्। कथं परेणापि वेदनम्। न। भ्रान्तिरेषा तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवत्। तत्राप्यर्थ एवेति चेत्। तथा हि—

अभ्रान्तः प्रत्ययो यद्वदर्थानां वेदको मतः। साधारणानां भ्रान्तोऽपि तथार्थस्यैव वेदकः ॥७०२॥

यथा साधारणत्वेन प्रतीयमानो भ्रान्ताभिमतप्रत्ययार्थस्तथेतरोऽपि तदयुक्तम्—

साधारणत्वमर्थस्य न प्रत्यक्षतयेक्ष्यते। प्रत्यक्षासम्भवादत्र नानुमानं न वेदनम् ॥७०३॥

न तावत्प्रत्यक्षेण परवेदनसाधारणता प्रतीयते। अन्यथा लिङ्गमन्तरेणैव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकता। इसी प्रकार स्वप्न की अग्नि के द्वारा दाह आदि की सिद्धि नहीं होती। स्वप्न में खाया हुआ भोजन पुष्टिकारी नहीं होता। वह वैसा क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि वहाँ विषय की सत्ता नहीं होती, केवल उसका विज्ञान मात्र होता है। वह विज्ञान वासना मात्र के बल पर समुद्भूत हो जाता है। यदि कहा जाय कि वहाँ विषय ही वैसा होता है जिससे अर्थक्रिया सम्पन्न नहीं होती तो वैसा नहीं कह सकते। उसका नामकरण मात्र ही होता है, विषय की सत्ता नहीं होती। आपके मत में क्या नहीं होता? इसका उत्तर है कि नहीं होता। वासनारूप कारण के द्वारा उसकी प्रतीति मात्र होती है। अतः वह ज्ञान मात्र है, फलतः वैसी प्रतीति अर्थान्तर में होती है। अतः वेद्य-वेदक का विभाग दुर्घट है, क्योंकि अर्थान्तर भिन्न पदार्थ का स्वरूप नहीं होता, उसका ज्ञान में प्रवेश न होने के कारण वेदन नहीं होता। यदि वहाँ विषयकोटि में प्रवेश माना जाता है तब उसे अर्थान्तर नहीं कह सकते। यदि कहा जाय कि वह बुद्धि का स्वरूप मात्र है, तब उसे स्वसंविदित नीलादि के रूप में होना चाहिए। यदि वह वैसा नहीं, तब अन्य पुरुष के द्वारा उसका वेदन कैसे होगा? ऐसा नहीं कह सकते कि वहाँ पर विषय का वैसे ही भ्रम मात्र होता है, जैसे तैमिरिक को केश दर्शन और द्विचन्द्रादि का दर्शन होता है। वहाँ पर भी विषय होता है, ऐसा मानने पर उसकी प्रतीति अभ्रान्त होनी चाहिए, जैसे सत्य अर्थ का वेदन होता है। साधारण पदार्थों का ग्रहण भ्रान्त पुरुष भी अर्थ का वेदन माना जाता है ॥ ७०२ ॥

जैसे साधारणत्वेन प्रतीयमान भ्रान्ताभिमत प्रत्ययार्थ होता है, वैसे दूसरा भी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पदार्थ की साधारणता प्रत्यक्षतः प्रतीत नहीं होती। प्रत्यक्ष का अभाव होने के कारण न अनुमान होता है और न वेदन ॥ ७०३ ॥

प्रत्यक्ष के द्वारा परवेदन साधारणता की प्रतीति नहीं होती, अन्यथा लिङ्ग के बिना ही सकल प्रतीति वेदन प्रसक्त होता है। यदि दूसरे के द्वारा भी प्रतीयमान साहश्य

वार्तिकालङ्कारः

सकलपरप्रतीतिवेदनप्रसङ्गः। अथ परेणापि प्रतीयमानं तादृशमेव तत्। ततः सैव तस्य साधारणतेति चेत्। यथा मयैतत्प्रतीयते तथा परेणापि योग्यदेशस्थितेन प्रतीयत इति हि लोकप्रतीतिः। न। तैमिरिककेशादिषु स्वप्नदृष्टेषु चैवं प्रतीतेरभावात्। तत्रापि भवत्येवेति चेत्। इदमेव रूपं स्वप्नावस्थायामपि ततस्तत्समानत्वादसावपि बाह्य एव। न। भावनादावात्मप्रतिभास एव तादृशो न तु परः तत्रास्तीति लोकस्य प्रतीतिः एवं एतदवस्थापीति समानम्। परमार्थतस्तु स्वरूपप्रतिभासमात्रकमुभयत्रापीति न सालम्बनता।

ननु स्वप्ने व्याकुलत्वमयत्ननिर्वर्त्यं सकलं तत् कथं समानता प्रत्ययानाम्। तदसत्। उक्तञ्च —

नीलादिप्रतिभासेभ्यः कान्या व्याकुलतेक्ष्यते। साप्यभ्यासबलायाता ततः कथमियं स्थितिः ॥७०४॥

नीलपीतादिप्रतिभास एव केवलः कुतोऽपरा तत्र व्याकुलताऽयत्नोपनतिश्च। स्वप्ने प्रयत्नमन्तरेण भावो वृक्षादिस्थाने झटित्येव तडागादेरिति चेत्। ननु प्रयत्नमन्तरेण भाव इति केन परिगृहीतं, कार्यभाविना प्रत्ययेन कार्यमेव कारणभाविना तु कारणम्। इदमतो भवतीति क्रमः। इदमन्तरेणेदमित्यपि क्रम इत्यध्यवसायः। न प्रत्यक्षमत्र नानुमानम्। आकुलमेतदित्यपि न केनचिद्वेद्यते। भावनाविशेषाच्च निराकुलतादिभावः स्वप्नेऽपि। तथा जाग्रदवस्थायामपि। अरिष्टादावाकुलतादर्शनम्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ही है तब वही उसकी साधारणता है, क्योंकि जैसे—"मया एतत् प्रतीयते तथा परेणापि योग्यदेशस्थितेन प्रतीयते" इस प्रकार की लोक में प्रतीति होती है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि तैमिरिक, कल्पित केशादि में भी एवं स्वप्न दर्शन में भी ऐसी प्रतीति नहीं होती। यदि कहा जाय कि वहाँ भी होती है, तब यही रूप स्वप्न अवस्था में भी है, उसी के समान होने के कारण यह बाह्य है, किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि भावना आदि में केवल प्रतिभास ही वैसा होता है, कोई पदार्थ नहीं, ऐसी लोक-प्रतीति है। परमार्थतः उभयत्र स्वरूप प्रतिभास मात्र है, सालम्बनता नहीं।

शंका—स्वप्नावस्था में व्याकुलत्व एवं बिना यत्न के सकल रचना देखी जाती है, तब उसकी समानता कैसे।

समाधान—नीलादि प्रतिभास को छोड़कर व्याकुलता अन्य और क्या? वह भी अभ्यास के आधार पर प्राप्त होती है, तब यह स्थिति कैसे? ॥ ७०४ ॥

केवल नीलादि का प्रतिभास नहीं होता है, उसको छोड़कर अन्य और व्याकुलता क्या? स्वप्न-प्रतीति तो अयत्न-साध्य ही होती है। स्वप्न में प्रयत्न के बिना भी वृक्ष आदि के स्थान पर पदार्थान्तर प्रतीत हो जाते हैं। ऐसा कहने पर प्रश्न उठता है कि प्रयत्न के बिना ही वृक्षादि का भान होता है, ऐसा ज्ञान किससे होता है? कार्यभावी प्रत्यय के द्वारा कार्य और कारणभावी प्रत्यय के द्वारा कारण का ही भान होता है। अतः कार्य-कारणभाव की ऐसी प्रतीति हो जाती है—"इदमतो भवतीति"। उसके पश्चात् "इदम् अन्तरेण इदं" इस प्रकार का भी अध्यवसाय होता है, न तो वहाँ प्रत्यक्ष होता है और न अनुमान आकुलत्व का ज्ञान भी वहाँ किसी के द्वारा नहीं होता। भावना-विशेष के आधार पर निराकुलतादि का भाव स्वप्न में भी होता है, वैसे ही जाग्रत अवस्था में भी। यदि कहा जाय अरिष्ट

वार्तिकालङ्कारः

अरिष्टदोषादेव चेत्, न, अरिष्टानरिष्टयोर्विशेषाभावात् । तत्राप्यपरेण विवेककारिणा भवितव्यम् । तत्राप्यपरेणेति नैवं भूतोऽस्ति यतो विवेकः । स्वयमेव विवेक इति चेत्, न, स्वरूपनिष्ठितामात्रत्वादस्य । न हि स्वरूपनिष्ठस्य परसंवेदनम् । स्वरूपमात्रवेदनं त्वाकुलानाकुलसमानम् । दीर्घकालानुबन्धिव्यभिचाररहितमनाकुलमिति चेत्, न, प्रत्यक्षेण दीर्घकालानुबन्धाग्रहणात् । ततः परो विकल्प एवावशिष्यते । तेन च नार्थ-प्रतिपत्तिः । ततोऽपि न व्यवस्था तस्यापि स्वरूपे प्रत्यक्षत्वात् । वस्त्वनुभवेन जनितो विकल्पः संवादीति चेत्, न, प्रतिबन्धाग्रहणात् । यदा वस्त्वनुभवो न तदा विकल्पः, स यदा न तदानुभव इति कुतोऽत्र सत्यार्थग्रहणम् । विकल्पेनेति चेत् । अयमपि न प्रमाणम् । तस्यापि प्रतिबन्धसापेक्षत्वादपरो विकल्प इत्यनवस्था । एवन्तर्हि वासनयापि कथं सम्बन्धग्रहणम् । न । परमार्थतस्तयापीति पक्ष एवायमिति प्रतिपादितम् ।

कार्यकारणभावाख्या वासनाभ्युपगम्यते । बाह्यार्थवादिभिर्बाह्य न तु विज्ञानवादिभिः ॥७०५॥

वासनाजन्यतामन्तरेणापि विज्ञानमात्रकमेतदिति प्रतिपादितमेवेति न दोषः । ननु वासनाभाविता न जाग्रद्विज्ञाने प्रतीयते । स्वप्नावस्थायां न स्वप्नप्रतिभासनमिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आदि के दर्शन से वहाँ आकुलता होती है, अरिष्ट दोष के कारण तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अरिष्ट और अनरिष्ट में कोई विशेष अन्तर नहीं, वहाँ भी अन्य विवेककारी को होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं होता । यदि कहा जाय कि स्वयं ही विवेक होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह केवल स्वरूपनिष्ठ मात्र होता है । स्वरूपनिष्ठ को परसंवेदन नहीं होता, स्वरूप मात्र का वेदन तो आकुल और अनाकुल में समान रूप से पाया जाता है । यदि कहा जाय दीर्घ काल तक होने वाली व्यभिचार-रहित अवस्था में अनाकुलता होती है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा दीर्घ काल अनुबन्ध का ग्रहण नहीं होता । अतः अन्य विकल्प ही अवशिष्ट रहता है । उससे अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती, उससे भी किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वह भी स्वरूप मात्र में प्रतिष्ठित होता है । यदि कहा जाय कि वस्तु के अनुभव से जनित विकल्प सम्बाधि होता है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिबन्ध और व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता, जब वस्तु का अनुभव नहीं होता तब विकल्प होता है । उस समय अनुभव नहीं, तब वहाँ सत्यार्थ का ग्रहण कैसे होगा ? विकल्प के द्वारा होगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें भी कोई प्रमाण नहीं । वह भी प्रतिबन्ध या व्याप्ति की अपेक्षा रखता है । अतः विकल्प में विकल्पा-न्तर की अपेक्षा होने पर अनवस्था हो जाती है । यदि ऐसा है, तब वासना के द्वारा भी सम्बन्ध ग्रहण कैसे होगा ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि परमार्थतः उसके बिना भी कैसे होगा ? इस पक्ष का प्रतिपादन किया जा चुका है । कार्य-कारणभाव संज्ञक वासना मानी जाती है, किन्तु वह बाह्यार्थ वादियों के द्वारा, न कि विज्ञान वादियों के द्वारा ॥ ७०५ ॥

वह विज्ञान मात्र है, वासना से जन्य नहीं । अतः किसी प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं होता । यदि कहा जाय कि वासनाजन्यता स्वाप्न विज्ञान में होती है, जाग्रत विज्ञान में नहीं । स्वप्नावस्था में स्वप्नरूपता का प्रतिभास नहीं होता, अपितु उठने

वार्तिकालङ्कारः

समानमेतत् । उत्थितस्य भवति जाग्रदवस्थायां तु न तथेति चेत् । तदपि यत् किञ्चित् । तथा हि—

उक्तमेतत्प्रबोधो हि स्वप्नेऽपि प्रतिवेदितः । ततः प्रबोधावस्था या न स्वप्नाद्भिन्नलक्षणा ॥७०६॥

प्रबुद्धोऽहमिति स्वप्नेऽपि भवत्येव । ततः कथं प्रबोधप्रतिभासतो व्यवस्था । अन्येन प्रबोधेन सापि स्वप्नत्वमापादितेति चेत् । इयं तु न केनचिदपीति । अत एव पदार्थ-व्यवस्था यद्यपि न तथा तथापि तत्समानत्वान्न प्रत्यवस्थानम् । अनुमानकालभाविनो हि धूमस्य नाग्निपूर्वकत्वसिद्धेरनुमानकत्वमपि तु तल्लक्षणत्वेन । एवमस्या अपि जाग्रदवस्थायास्तल्लक्षणत्वादेव तद्रूपता ।

ननु न तत्र भावनाव्यापार उपलभ्यते जाग्रदवस्थायां कथं स्वप्नतुल्यता । तदाह—

भावनाव्यवधानेऽपि भवत्येवावभासनम् । बालदृष्टं यथा वृद्धावस्थायामुपलभ्यते ॥७०७॥

जन्मान्तरादिदृष्टस्य मरणस्वापसम्भवे । जन्मान्तरोदयः स्वप्न इति किं न प्रतीयते ॥७०८॥

यथा रजनीस्वापे तथा मरणरजन्यामपि ।

दिने दिने दर्शनमत्र चित्रं स्वापप्रबोधात् न तथा किमेतत् ।
पूर्वस्य यद्दर्शनमेष हेतुः पदार्थदृष्टेरिति साम्यमेव ॥७०९॥

पूर्वदिनदृष्टं यथा रजनीस्वप्नदर्शनस्य हेतुस्तथा पूर्वपूर्वदिनदृष्टमपररजनीव्यव-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर जाग्रतावस्था में 'न तथा' इस प्रकार बाध देखा जाता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह पक्ष भी वैसा ही है । यह कहा जा चुका है कि स्वप्नावस्था में भी प्रबोधा-वस्था का भान होता है । अतः जो प्रबोधावस्था है वह स्वप्न से भिन्न नहीं ॥ ७०६ ॥

अर्थात् 'प्रबुद्धोऽहं' इस प्रकार का भान स्वप्न में भी होता है । अतः प्रबोध प्रतिभास के आधार पर व्यवस्था कैसे बन सकेगी ? अन्य प्रबोध के द्वारा उसकी भी स्वप्नरूपता सिद्ध की जाती है, किन्तु यह किसी के द्वारा वैसी आपादित नहीं की गयी । अतएव पदार्थ व्यवस्था यद्यपि वैसी नहीं तथापि उसके समान होने के कारण दोषावह नहीं, क्योंकि अनुमान काल में होने वाली धूम की सिद्धि अग्निपूर्वक सिद्धि नहीं होती अपितु तद्लक्षणत्वेन, इसी प्रकार इस जाग्रत अवस्था की भी तद्लक्षणत्वेन तद्रूपता ।

शंका—वहाँ भावना-व्यापार उपलब्ध नहीं होता । अतः जाग्रतावस्था में स्वप्न अवस्था की तुल्यता कैसे सिद्ध होगी ?

इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि भावना का व्यवधान होने पर भी स्वप्नतुल्यता का आभास होता है । भावना का व्यवधान होने पर भी अवभासन वैसे ही होता है, जैसे कि बाल्यावस्था में देखे हुए पदार्थ का वृद्धावस्था में भान होता है ॥ ७०७ ॥

जन्मान्तर आदि में देखे हुए मरण और स्वापादि का जन्मान्तर में प्रतिभास क्या नहीं होता ? ॥ ७०८ ॥

जैसे रात्रि में स्वप्न होता है, वैसे ही मरणरूप रजनी में भी होता है । प्रत्येक दिन का दर्शन स्वप्न और प्रबोध में होता है । उसमें सर्वत्र पूर्वदर्शन हेतु होता है । उसी की समानता ज्ञान मात्र में समझ लेनी चाहिए ॥ ७०९ ॥ जैसे पूर्व दिन के देखे

वार्तिकालङ्कारः

हितदिनस्वप्नदर्शनमेवेति महतीयं स्वप्नपरंपरा। अपूर्वस्यापि दर्शनमिति चेत्, स्वप्नाभिमतेऽप्येवमेवेति सर्वं समानम्।

गमनागमनं स्वप्ने यथान्यान्योपलम्भकृत्। गमनागमनं जाग्रत्स्वप्नेऽपि न किमिष्यते ॥७१०॥

व्यवहाराभावादिति चेत्, अनेनैवानुमानेन विदुषां व्यवहार इति किन्न पर्याप्तम्। यथा कार्यकारणव्यवहार आनुमानिकः तथायमपीति समानम्। क्षणिकत्वे च न व्यवहार इति किं तेन न भवितव्यम्। तदपि नेति चेत्। एतत्प्रतिपादयिष्यामः।

ननु निद्रोपघातात्स्वप्नदर्शनमसत्यार्थमिति युक्तम्। ननु परिस्फुरन्नेवासौ कथं स्वप्नः। प्रारम्भे तु स्वप्नत्वं नोपयुज्यते। तदेव तस्य प्रतिभासस्य कारणञ्चेत्, न, भावनाविशेषात्प्रतिभासविशेषदृष्टेः। समानेऽपि स्वापप्रारम्भे कश्चित्कथञ्चित् स्वप्नदर्शी भवति। तदभावेऽभावादिति चेत्। भवतु निमित्तमात्रत्वं तथापि न तस्य प्रतिभासविशेषकारणत्वम्। अयमपि स्वापानन्तरमेव प्रतिभासः ततः समानता स्वप्नेन प्रबोधे सतीति चेत्, न, प्रतिभासव्यतिरेकेण प्रबोधाभावात्। प्रबुद्ध इति प्रत्ययात् प्रबोध इति चेत्, न, स्वप्नेऽपि स प्रत्यय इत्युक्तम्। तस्मान्न स्वप्नेतरयोर्विशेषः। ततो यो विशेषदर्शनात् सालम्बननिरालम्बनत्वभेदमाह तस्य तद्विशिष्टत्वमसिद्धमिति दूषणम्। नत्विदानीं सालम्बनत्वसिद्धिः प्राप्ता जाग्रत्प्रत्ययाविशेषादिति विपर्ययसिद्धिः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पदार्थ स्वप्नदर्शन के हेतु होते हैं, वैसे पूर्व-पूर्व दिन में देखे पदार्थों का उत्तर-उत्तर स्वप्न-परम्परा देखी जाती है। यदि कहा जाय कुछ अदृष्ट पदार्थ भी स्वप्न में देखे जाते हैं तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न में अपूर्वता का भान सर्वत्र समान रूप से होता है। अर्थात् स्वप्न में गमनागमनादि का व्यवहार अन्यादि में अन्य-अन्य प्रतीत होता है, वैसा ही गमनागमन जाग्रत में क्यों नहीं माना जा सकता ॥ ७१० ॥

व्यवहार का अभाव है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इसी अनुमान के द्वारा क्यों नहीं हो सकता ? जैसे कार्यकारण भाव का व्यवहार आनुमानिक होता है, वैसे ही यह भी व्यवहार है। क्षणैकत्व का व्यवहार नहीं होता, तब क्या वैसा व्यवहार नहीं कहना चाहिए ? ऐसा नहीं कह सकते। इसका प्रतिपादन आगे किया जायेगा।

निद्रादोष के कारण स्वप्न-दर्शन असत्यार्थक है। यदि कहा जाय कि यह प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत होता है, स्वप्न कैसे ? प्रारम्भ में स्वप्नावस्था का उपयोग नहीं होता, वही उसके प्रतिभास का कारण होता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि भावना-विशेष के आधार पर विशेष प्रतिभास देखा जाता है। स्वप्न का प्रारम्भ समान होने पर भी कोई व्यक्ति भी कथञ्चित् स्वप्नदर्शी होता है। यदि कहा जाय कि किसी प्रकार की विशेषता न होने पर भी स्वप्न-दर्शन होता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि निमित्त मात्र के होने पर भी उसमें प्रतिभास-विशेष की कारणता नहीं होती। यह भी स्वप्न के अनन्तर ही प्रतिभास होता है। अतः स्वप्न और प्रबोध की समानता क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—प्रतिभास के अतिरिक्त प्रबोध और कुछ भी नहीं। यदि कहा जाय कि 'प्रबुद्धः' इस प्रकार की प्रतीति जहाँ हो, वह प्रबोध है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न में भी वैसी प्रतीति होती है, कहा जा चुका है। अतः स्वप्न और जाग्रत सालम्बन और निरालम्बन का भेद करता है, उसके मत में तद्विशिष्टत्व असिद्ध है, यह दोष प्रसक्त होता है। सालम्बनत्व की सिद्धि नहीं होती,

वार्तिकालङ्कारः

न। विपरीतादिख्यातेरभावप्रसङ्गात् जाग्रत्प्रत्ययवदेव तथा चाभ्युपगमबाधः। किञ्च—

बाधकप्रत्ययो व्यक्तः प्रत्ययत्वादिहेतुना। विधातुं नान्यथा शक्यो नानुमा व्यक्तबाधिका ॥७११॥

बाधकप्रत्ययो ह्यनुपलब्धिलक्षणो विपर्ययोपलब्धिरूपः प्रत्यक्षरूपो नानुमानेन प्रत्ययत्वादिना बाधितुं शक्यः। यदि धूमादग्न्यनुमाने पश्चाद्विपर्यये प्रत्यक्षवृत्तिः किमनुमानं प्रमाणम्।

ननु प्रत्यक्षवृत्तावपि यदि द्विचन्द्रविषयेऽनुमानं बाधकं किन्तत्प्रत्यक्षमिति समानो न्यायः। न। तत्रापि प्रत्यक्षस्यैव बाधकत्वम्। पूर्वमेकस्य दर्शनात्। अन्यथानुमानमेव न स्यात्।

न तु प्रत्यक्षमनुमानपूर्वकम्। यदि तु स्यात्। अनुमानमेव तत्रापि बाधकमिति भवेदनुमानबाधायां प्रत्यक्षमप्रमाणम्। तथा च परस्परव्याघातान्न किञ्चिद् भवेत्। ततः प्रत्यक्षमूलमनुमानम्। न त्वनुमानमूलं प्रत्यक्षम्।

नन्वनुमानमूलमेव प्रत्यक्षमपि व्यवस्थितम्। तथा—

नानुमानं विनाऽध्यक्षं प्रथमं संप्रवर्तकम्। अनुमानेन सम्बन्धग्रहणेऽस्मात्प्रवर्तनात् ॥७१२॥

अनुमानेन हि सम्बन्धग्रहणेऽर्थक्रियया प्रत्यक्षस्य प्रवर्त्तकत्वं ततोऽनुमानात्प्रत्यक्षं प्रमाणं प्रत्यक्षादनुमानमिति समानं परस्परबाधनम्। यद्येवमितरेतराश्रयणदोष एव

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्योंकि जाग्रत प्रत्यय की अविशेषता के कारण विपर्यय सिद्ध हो जाता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर विपरीत ख्याति का अभाव प्रसक्त होता है। जाग्रत प्रत्यय के समान ही उसे भी माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि बाधक प्रत्यय, प्रत्ययत्व हेतु के द्वारा व्यक्त सिद्ध किया जाता है, अन्यथा विधान के लिए नहीं, इसके द्वारा व्यक्त का बाध नहीं कर सकते ॥ ७११ ॥

बाधक प्रत्यय चाहे अनुपलब्धि रूप हो या विपरीतोपलब्धि रूप हो, वह प्रत्यक्षात्मक है। अनुमान के द्वारा उसका बाध नहीं किया जा सकता। यदि धूम अग्नि का अनुमान हो जाने पर पश्चात् विपर्यय का प्रत्यक्ष हो जाता है, तब अनुमान प्रमाण क्यों होगा?

शंका—प्रत्यक्ष वृत्ति के होने पर भी यदि द्विचन्द्र विषय का अनुमान बाधक है, तब प्रत्यक्ष क्या करेगा? उभयत्र समान दोष होता है।

समाधान—वहाँ पर भी प्रत्यक्ष में ही बाधकता होती है, क्योंकि भ्रम के पूर्व एक चन्द्र का दर्शन होता है, अन्यथा अनुमान ही न हो सकेगा। प्रत्यक्ष अनुमानपूर्वक नहीं होता, यदि होगा तब अनुमान ही उसमें बाधक होगा। अनुमान के बाधक रहने पर प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकेगा, तब तो परस्पर व्याघात होने के कारण कुछ सिद्ध नहीं होगा। अतः प्रत्यक्ष में अनुमानमूलकत्व सिद्ध होता है, अनुमानमूलक प्रत्यक्ष नहीं।

शंका—प्रत्यक्ष में अनुमानमूलकत्व ही व्यवस्थित होता है। जैसा कि कहा गया है—अनुमान के बिना प्रत्यक्ष पहले प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि अनुमान के द्वारा विषय और इन्द्रिय का सन्निकर्ष ज्ञात हो जाने पर ही प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है ॥ ७१२ ॥

अर्थात् अनुमान के द्वारा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का ग्रहण हो जाने पर अर्थक्रियावत्ता निश्चित हो जाती है, तब अग्नि में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है। अतः अनुमान

वार्तिकालङ्कारः

स्यान्न तु प्रामाण्यमेकस्यापि । उक्तमेतत् "स्वरूपस्य स्वतो गतिः । प्रामाण्यं व्यवहारेण" व्यतिरिक्ते प्रवृत्तिविषये यथात्मनि । तच्चानादिव्यवहारान्धपरम्परया । तच्च संवादात्प्रमाणं संवादश्च भाविनि । भाविनि च संवेदनमेव । ततः कथमर्थविषयं प्रामाण्यम् । अनुमानमपि स्वरूपविषये प्रत्यक्षमन्तरेणैव चेत् । न । तत्र तस्य प्रत्यक्षतैवेति । ततोऽनुमानेन प्रत्यक्षं व्यतिरिक्ते बाध्यते । तस्याऽनुमानविषयत्वात् । परोक्षत्वात्तस्य । कथं परोक्षे प्रत्यक्षं प्रमाणमिति चेत् । प्रवर्त्तकत्वेन । न ग्रहणेन । ग्रहणं चेदप्रवर्त्तकमेव भवेत् । तथा हि—

यद्यसावेव पूर्वस्मिन् प्रत्यक्षे प्रतिभासिनः । प्रवर्तेत किमर्थं स प्राप्त एव स्वरूपतः ।।७१३।।
अर्थक्रियार्थिनो वृत्तिर्न सा तर्हि प्रकाशिता । प्रकाशमानतायां हि पुनः स्यादप्रवर्तनम् ।।७१४।।
प्रकाशितार्थक्रियोऽपि प्राप्त्यर्थं संप्रवर्त्तते । प्राप्तेरप्रतिभासत्वाद्वृत्तिरप्रतिभासिते ।।७१५।।

तत्र चानुमानेन बाध्यते यदि, सुतरामस्मत्समीहितसिद्धिः । तथा हि । व्यतिरिक्तेऽर्थेऽनुमानेन प्रवर्त्यते प्रत्यक्षम् । स च परोक्षत्वादनुमानस्य विषय इति तत्रैवानुमानेन बाधा प्रत्यक्षस्य । तत्र चानुमानबाधायामनुमानमेवानुमानेन बाधितं भवेत् । तच्चान्धपरम्परायातमनुमानम् । तस्यानुमानेन बाधने प्रत्यक्षेण वा न कदाचित्क्षतिः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

के आधार पर प्रत्यक्ष का प्रमाण सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति हो जाने के पश्चात् अनुमान की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार परस्पर बाधन समान रूप से सिद्ध होता है । यदि ऐसा है तब अन्योन्याश्रय दोष आ जाने पर प्रत्यक्ष अनुमान में से किसी एक का भी प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा । ये कहा जा चुका है—"स्वरूपस्य स्वतो गतिः" । प्रामाण्य व्यवहार के द्वारा सिद्ध होता है । व्यतिरिक्त अर्थ में या स्वरूप में प्रामाण्य व्यवहार से ही सिद्ध होता है । वह अनादि व्यवहार एक अन्धपरम्परा है । वह संवाद के आधार पर प्रमाण माना जाता है । संवाद भावी अर्थ में होता है । अतः अर्थविषयक प्रामाण्य कैसे होगा ? अनुमान भी स्वरूप के विषय में प्रत्यक्ष के बिना ही प्रमाण माना जाता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप के विषय में प्रत्यक्षता ही निश्चित है । अतः अनुमान प्रमाण के द्वारा प्रत्यक्ष भिन्न विषय में बाधित होता है, क्योंकि वह अनुमान का विषय होता है । अतएव वह परोक्ष है । परोक्षार्थ में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति कैसे ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि परोक्षार्थ में भी प्रत्यक्ष प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रवर्तकत्वेन, ग्राहकत्वेन नहीं । यदि ग्राहक है तब प्रवर्तक नहीं होगा, क्योंकि यदि यह पूर्वप्रत्यक्ष में प्रवृत्त होता है, तब वह अर्थ में स्वरूपतः प्राप्त है ।। ७१३ ।।

अर्थक्रिया अर्थी पुरुष की प्रवृत्ति प्रकाशित नहीं होती । प्रकाशमानता हो जाने पर पुनः प्रवर्तन नहीं होता ।। ७१४ ।।

अर्थक्रिया का प्रकाश हो जाने पर भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्ति होती है । प्राप्ति के द्वारा अर्थ का प्रतिभास होता है । अतः अप्रतिभासित अर्थ में प्रवृत्ति होती है ।। ७१५ ।।

अनुमान यदि बाधित नहीं होता, तब उसके आधार पर हमारी समीहित सिद्धि सम्पन्न हो जाती है । व्यतिरिक्त अर्थ में अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष प्रवर्तित होता है । वह परोक्ष होने के कारण अनुमान का विषय होता है । उसी जगह अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध होता है । अनुमान के द्वारा बाध होने पर अनुमान ही अनुमान के द्वारा

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यक्षतत्समुत्थापितानुमानयोस्तु नानुमानेन बाधा न प्रत्यक्षेणेति न्याय एषः।

ननु प्रत्यक्षमपि द्विचन्द्रविषयमेकचन्द्रावभासिना तदुत्तरकालभाविनान्येन वा बाध्यत एव। तस्याप्रत्यक्षत्वादिति चेत्। कस्माद्बाध्यमानत्वात्। परस्परपरिहारेणावस्थितयोः कथं बाध्यबाधकभावः। एवमेतदिति चेत्। द्वयोरपि बाध्यबाधकभाव इति। न प्रापकत्वादेकस्य बाधकत्वमेव। तथा ह्येकत्राभिप्रेतप्रापकत्वं नापरस्य। एवन्तर्हि तदेव पारम्पर्येणानुमानस्य बाध्यत्वमायातम्। ततो निरालम्बनाः सर्व एव प्रत्ययाः स्वप्नप्रत्ययवदिति कोऽर्थः। स्वरूपालम्बनाः। तत्र च प्रत्यक्षन्तत्समुत्थापितं चानुमानमनुपलब्धिरूपम्। तच्च चानुमानेनान्येन वा बाधितुं शक्यम्। व्यतिरिक्तालम्बनसाधनं तु न प्रत्यक्षं नापि तदुत्थापितमनुमानमन्धपरम्परायातत्वात्। तत्र चानुमानं प्रत्यक्षं वा भवति बाधकमित्यैकान्त एषः। ततः सर्वे सालम्बना जाग्रत्प्रत्ययवदिति न प्रतिप्रमाणममूलत्वात्। स्वप्नादीनां सालम्बनत्वबाधिका बुद्धिरनालम्बना। तथा सति तद्दृष्टान्तेन कथं सालम्बनत्वसिद्धिः।

ननु च निरालम्बनत्वं प्रत्ययान्तरगतं तदनया बुद्धया साध्यते। तच्च व्यतिरिक्तम्। ततोऽन्योऽपि प्रत्ययो व्यतिरिक्तसाध्यविषय एव प्रत्ययत्वादिति कथमप्रतिप्रमाणम्। यदि नाम प्रत्यक्षपूर्वकत्वादस्या व्यतिरिक्तालम्बनत्वम्। तद्विपर्ययबुद्धेस्तु

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बाधित होता है। इस प्रकार का अनुमान अन्धपरम्परा प्राप्त माना जाता है। ऐसे अनुमान का प्रत्यक्ष के द्वारा बाध होने पर किसी प्रकार की क्षति नहीं होती। प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष-समुत्थापित अनुमान का बाध न अनुमान से होता है और न प्रत्यक्ष से। यदि कहा जाय कि द्वि-चन्द्रादि विषयकप्रत्यक्ष भी एक चन्द्रावभासी, तदुत्तरकालभावी अन्य प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष नहीं। क्यों प्रत्यक्ष नहीं? इसका उत्तर है–'बाध्यमानत्वात्'। परस्पर विरोधी दो पदार्थों में बाध्य-बाधकभाव कैसे होगा? उसी प्रकार प्रस्तुत ज्ञानों में भी प्रश्न कियाजा सकता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों का बाध्य-बाधकभाव माना जाता है, किन्तु वहाँ प्रापक होने के कारण एक ही का बाध होना उचित है, क्योंकि एक में ही अभिप्रेतार्थ की प्रापकता होती है, अपर में नहीं। यदि ऐसा है तब वही परम्परा से अनुमान में बाध्यत्व पर्यवसित होता है। अतः सभी ज्ञानों में निरालम्बनता सिद्ध करने का अर्थ क्या रह जाता है। यदि कहा जाय निरालम्बनता के द्वारा स्वरूपालम्बनता की सिद्धि की जाती है, तो वहाँ प्रत्यक्ष और उससे समुत्थापित अनुमान अनुपलब्धि रूप होगा। उसका अनुमान या अन्य किसी ज्ञान से बाध नहीं हो सकता। व्यतिरिक्त आलम्बनता की सिद्धि न प्रत्यक्ष से होती है और न अनुमान से, क्योंकि वह अन्धपरम्परा से प्राप्त होता है। फलतः अनुमान या प्रत्यक्ष बाधक होता है तब "सर्वे सालम्बनाः प्रत्ययाः, जाग्रत् प्रत्ययवत्" इस प्रकार सत् प्रतिपक्ष नहीं हो सकता। स्वप्नादि की सालम्बनत्व-बाधिका बुद्धि अनालम्बन होती है। अतः स्वप्न के दृष्टान्त से जाग्रत प्रत्यय में सालम्बनत्व कैसे सिद्ध होगा? यदि कहा जाय कि निरालम्बनत्व इस बुद्धि के द्वारा सिद्ध किया जाता है, वह व्यतिरिक्त है। अतः अन्य प्रत्यय भी व्यतिरिक्त साध्य-विषयक होगा, क्योंकि प्रत्यय है। इस प्रकार का प्रतिप्रमाण क्यों न होगा? यदि प्रत्यक्ष पूर्वकत्व होने के कारण इसमें व्यतिरिक्त आलम्बनता है, तब उससे व्यतिरिक्त बुद्धि में

अवेद्यवेदकाकारा; यथा भ्रान्तैर्निरीक्ष्यते ॥ ३३० ॥
विभक्तलक्षणग्राह्यग्राहकाकारविप्लवा ।
तथा कृतव्यवस्थेयं केशादिज्ञानभेदवत् ॥ ३३१ ॥
यदा तदा न सञ्चोद्यग्राह्यग्राहकलक्षणा ।

ग्राह्य-ग्राहक का प्रतिभास कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है— "भ्रान्तैः" इत्यादि से । अर्थात् जैसे भ्रान्त पुरुषों के द्वारा नेत्र में दोष के कारण पूर्व संस्कारों के आधार पर केशोण्डुकादि का निरीक्षण किया जाता है, वैसे ही नीलादि ग्राह्य-पदार्थ की बाह्य-देश-वृत्तिता और संवेदनरूप ग्राहक-पदार्थ की आन्तरिकता का भान होता है । आशय यह है कि केशोण्डुकादि स्थल पर न ग्राहक है और न ग्राह्य, केवल केशाभास प्रतीत होता है ॥ ३३०–३३१ ॥

जब विप्लव या दोष के कारण ग्राह्य और ग्राहक भेद की बुद्धि व्यवस्थापित होती है, तब इस पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तुतः ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्भव नहीं । विप्लव के आधार पर वस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती । अन्यथा केश और द्वि-चन्द्रादि की तात्त्विकता माननी पड़ेगी, किन्तु विज्ञप्ति-मात्रतावाद में ग्राह्य और ग्राहक का भेद नहीं होता । वही ज्ञान साधन है और वही फल ॥ ३३२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

विपर्ययग्रस्तायाः किमायातं येन सापि तथेष्यते । न चासौ व्यतिरेकं साधयति, व्यवहारमात्रप्रसाधनात् । अपरं व्यतिरिक्तेतरालम्बनं संवादयति । स च संवादस्तदनुभवाभिनिवेशी तत्काल एव । ततो नेदानीन्तदत्र प्रतिभाति मयि । अहन्तु ,स्वाकारपर्यवसितैवेति तदात्मानमनालम्बनमेव प्रतिपादयति ततो नानया सालम्बनया परापि सालम्बना साध्यते ।

(२३) ग्राह्यग्राहकाकारप्रतिभासव्यवसायः—

ननु यदि तद्रूपं न विषयीकरोति कथमनया तत्साधितम् । तत्र संवादादित्युक्तम् । संवादाद्विषयीकृतमिति ज्ञायते । अत एवाह—अवेद्यवेदकाकारेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विपर्ययग्रस्तता यदि है, तब वह भी वैसी क्यों न होगी । यह व्यतिरिक्त विषय का साधक नहीं, केवल व्यवहार ही वैसा होता है । इससे अन्य व्यतिरिक्त भिन्न आलम्बनक सिद्ध होता है । वह संवाद अनुभवाभिनिवेशी तत्काल में ही होता है । अतः इस समय वह प्रतीत नहीं होता । अहंता स्वाकारपर्यवसित ही होती है । उसमें अनालम्बनता का प्रतिपादन ही किया जाता है । अतः इस सालम्बना बुद्धि के द्वारा अन्य भी सालम्बन सिद्ध किया जाता है ।

(२३) ग्राह्यग्राहकाकार प्रतिभास व्यवसाय—

प्रश्न—यदि तद्रूप को विषय नहीं करती तब उसके द्वारा उसकी सिद्धि कैसे होगी ? इसके उत्तर में कहा गया—'संवादात्' । संवाद के द्वारा उसकी विशेषता जानी जाती है । अतएव कहा गया है—'अवेद्यवेदकाकारा' । अर्थात् अवेद्य केशादि वस्तु में

वार्तिकालङ्कारः

अवेद्य एव वस्तुनि वेदकाकारा केशादौ प्राप्ये, न हि तत्र केशादौ प्राप्ये बुद्धिः वेदिका तस्यासत्त्वात् । भ्रान्तैस्तु प्राप्य वेदिकेति प्रतीयते । अतश्च प्रतीयते यत्प्रवर्त्तन्ते । तत्रेदानीं प्रवृत्तानां प्राप्तिर्नास्ति तत्रानालम्बनत्वं स्फुटमेव । तेनापरमनालम्बनं साध्यते । समानरूपोपलक्षणाद्विलक्षणस्यानुपलक्षणात् । सालम्बनत्वन्तु न क्वचिदुपलक्षितं ततः कथं तत्समानत्वात्सर्वसालम्बनत्वप्रसिद्धिः । न हि प्राप्य रूपप्रतिभासि तदुपलक्षितं प्रवृत्तेरेवान्यथा तस्य प्रतिभासनादप्रवर्त्तनं स्यादित्युक्तम् । प्रतिभासितेऽपि पुनः प्रतिभासनार्थं प्रवर्त्तेत इति चेत् । पुनः प्रतिभाससमानत्वन्तर्हि न प्रतिभासितम् । तस्यापि प्रतिभाससमानत्वेन प्रवर्त्ततेत्यनवस्था । पुनः प्रतिभासनञ्च किमर्थम् । सुखार्थं ग्रहणार्थं वेति चेत् । तदर्थं तर्हि प्रवर्त्तते । तच्चाप्रतिभासितमेव । तस्मादप्रतिभासमान एव सर्वत्र विषयत्वमित्यनालम्बनं सकलं संवेदनमिति कथन्ततो विपर्ययसाधनम् । कथन्तर्ह्यविषयीकृते प्रवर्त्तते । तदसत् ।

विषयीकृतेऽपि हि कथं प्रवर्त्तनमितीरितम् । कार्यकारणभावोऽयमेवमेव व्यवस्थितः ॥७१६॥

स्वसंवेदनप्रतिपत्तेः प्रतिपत्त्यनन्तरम्भवति स्वहेतुसामर्थ्यादहेतुतो वा । यथा दृष्टं तथाभ्युपगम्यतामत एवोक्तम्—“निर्व्यापाराः सर्वधर्मा” इति । अथवा व्यतिरिक्तस्य पूर्वमप्रतिपत्तेः प्राप्यस्य पश्चाच्च भेदप्रमाणाभावात्कथं व्यतिरिक्तप्रतीतिः । एतेनार्थ-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वेदकाकार प्रतीति होती है, वस्तुतः वहाँ केशादि में वैसी बुद्धि नहीं होती, क्योंकि वह असत् है। केवल भ्रान्त पुरुषों के द्वारा वैसी प्रतीति होती है। प्रतीति के आधार पर प्रवृत्त पुरुषों को उसकी प्राप्ति नहीं होती। ऐसे स्थल पर ज्ञान में निरालम्बनता अत्यन्त स्फुट है। उसके द्वारा अन्य ज्ञानों में निरालम्बनता सिद्ध की जाती है, क्योंकि उस प्रतीति से दूसरे ज्ञानों की प्रतीति में कोई बिलक्षणता प्रतीत नहीं होती। सालम्बनता कहीं पर भी सिद्ध नहीं होती। अतः किस प्रतीति के आधार पर सभी ज्ञानों में सालम्बनता सिद्ध हो? सालम्बनता जब कहीं निश्चित नहीं तब किसकी समानता के आधार पर सालम्बनत्व की प्रसिद्धि होगी? केवल प्रतिभास ही वैसा होता है, विपरीत प्रतिभास होने पर वहाँ किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। ऐसा कहा जा चुका है। यदि कहा जाय एकबार प्रतिभास होने पर भी पुनः प्रतिभास के लिए प्रवृत्ति होती है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि पुनः प्रतिभाससमानत्व वहाँ प्रतिभासित ही नहीं होता। उसका प्रतिभास होने के लिए प्रवृत्ति मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है। यहाँ यह भी एक प्रश्न उठता है कि प्रतिभासन किस लिए? सुखार्थ अथवा ग्रहणार्थ यदि कहा जाता है तब उसके लिए ही प्रवृत्ति माननी होगी, किन्तु वह प्रतिभासित ही नहीं। अतः प्रतिभासमान अर्थ में ही सर्वत्र विषयत्व माना जाता है। विषय के न होने पर सकल संवेदन अनालम्बन ही रह जाता है। अतः उसके द्वारा विपर्यय साधन कैसे होगा? और अविषयीकृत अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी?

उक्त प्रश्न संगत नहीं, क्योंकि विषयीकृत अर्थ में भी प्रवृत्ति कैसे होगी? इसका उत्तर दिया गया है कि—कार्य-कारणभाव वैसा ही व्यवस्थित है ॥ ७१६ ॥

स्वसंवेदन प्रतिपत्ति से अन्य प्रतिपत्ति अपने हेतु-सामर्थ्य से उत्पन्न होती है अथवा बिना हेतु के? जैसा देखा जाता है, वैसा स्वीकार करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—“निर्व्यापाराः सर्वधर्माः।” अथवा पूर्व अप्रतिपत्ति से प्राप्त पश्चात्

वार्तिकालङ्कारः

क्रिययापि सहकार्यंकारणभावः प्रत्युक्तः । पूर्वापरयोर्भेदाप्रतीतेः समानकालस्य चाजन्यत्वात् स्वरूपमेवार्थक्रिया सा च स्वप्नेऽप्यस्तीति समानम् । ततो बुद्धिरवेद्यवेदकाकारैव । विभक्तलक्षणौ ग्राह्यग्राहकाकारौ विप्लव एव ततः । ततः स्वरूपमात्रसंवेदनादपरो विकल्प एव केवलमुदेति पूर्वानुबोधात् । ततस्तथा व्यवस्था न परमार्थतस्तत्र तथात्वम् । तथा हि केशज्ञाने सति पूर्वानुस्मरणादेवंभूतप्रतिभासानन्तरं प्राप्तिरासीत्। ततो विकल्पो ग्राह्यग्राहकोल्लेखेनोत्पत्तिमान् । सोऽपि स्वरूपे ग्राह्यग्राहकरूपरहित एवापरेण तथा व्यवस्थाप्यते । न तस्यापि स्वतो व्यवस्था ।

संवेदनेन बाह्यत्वमतोऽर्थस्य न सिध्यति । संवेदनाद्बहिर्भावे स एवन्तु न सिध्यति ॥७१७॥
यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते । न चेत्संवेद्यते नीलं कथम्बाह्यं तदुच्यते ॥७१८॥
अन्येन वेदने तेन कथम्बाह्यन्तदुच्यते । अन्येन वेदने तेन तेनेत्येषानवस्थितिः ॥७१९॥
अन्येन वेदनञ्चैतत्कुतोऽवसितमात्मना । तत्कार्यदर्शनान्नैतत्कार्यत्वस्याप्रसिद्धितः ॥७७०॥

न हि कार्यकारणभावः प्रसिध्यतीति निवेदितमेतत् । अनुमानस्य सामान्यविषयत्वस्य वर्णनात् ।

स एव दृश्यतेऽन्येनेत्येतदेव न सिध्यति । यथा च रोमहर्षादिकार्यदृष्टेस्तदेकता ॥७२१॥
तथा सुखादेरेकत्वं तत एव प्रसिध्यति । अन्यदेव सुखन्तस्य ग्राह्यमप्यन्यदस्तु तत् ॥७२२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

व्यतिरिक्त प्रतिपत्ति होती है। उसमें प्रश्न उठता है कि भेद में प्रमाण न होने के कारण व्यतिरिक्त प्रतिपत्ति कैसे होगी ? इससे अर्थक्रिया का सहकारी--कारणभाव प्रत्युक्त हो जाता है। पूर्व और पर का भेद प्रतीत न होने के कारण समान कालीन पदार्थों का जन्य-जनकभाव नहीं होता। स्वरूप मात्र ही अर्थक्रिया है, वह तो स्वप्न में भी समान रूप से विद्यमान है। अतः यह सिद्ध होता है कि बुद्धि अवेद्य-वेदकाकार ही होती है। विभक्त स्वरूप ग्राह्य-ग्राहकाकार भी विप्लव मात्र है। उसके अनन्तर स्वरूप मात्र के संवेदन से अन्य विकल्प उदय होता है, पूर्वानुबोध के आधार पर। अतः वैसी व्यवस्था परमार्थतः नहीं होती, जैसा कि केशादि का ज्ञान होने पर पूर्वानुश्रवण के द्वारा उस प्रकार की प्रतीति होती है। अतः विकल्प ग्राह्य-ग्राहकाकार के उल्लेख से उत्पन्न होता है। वह भी अपने स्वरूप में ग्राह्य-ग्राहकभाव से रहित व्यवस्थापित होता है। उसकी भी स्वतः व्यवस्था नहीं होती। अतः संवेदन के द्वारा अर्थ की बाह्यता सिद्ध नहीं होती। संवेदन के द्वारा बहिर्भाव मानने पर वह भी सिद्ध नहीं होता ॥ ७१७ ॥

यदि नील का संवेदन होता है तब उसको बाह्य-बाह्य कैसे कहेंगे और यदि नील का संवेदन नहीं होता, तब उसे बाह्य कैसे कहा जायेगा ॥ ७१८ ॥

यदि अन्य के द्वारा उसका वेदन होता है, तब वह बाह्य कैसे ? इसी प्रकार अन्य-अन्य के द्वारा संवेदन मानने पर अनवस्था उपस्थित होती है ॥ ७१९ ॥

यदि अन्य के द्वारा संवेदन होता है, तब आत्मसंवेदन का निश्चय कैसे ? वह उसका कार्य है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा कार्यत्व प्रसिद्ध नहीं ॥ ७२० ॥

वैसा कार्य-कारणभाव प्रसिद्ध नहीं, ऐसा कहा जा चुका है। अनुमान की सामान्य विषयता का भी वर्णन किया जा चुका है। वह पदार्थ ही अन्य के द्वारा देखा जाता है, ऐसा प्रसिद्ध नहीं। जैसाकि रोम-हर्षादि कार्य को देखकर उसकी एकता निश्चित होती है ॥ ७२१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

देशभेदात्सुखादीनामन्यत्वमिति चेन्मतिः। एकत्वे देशभेदोऽपि कथं सिध्यति तत्त्वतः ॥८२३॥
तत एव सुखादन्यरोमहर्षादयो न किम्। अन्यत्वाद्रोमहर्षादेः सुखस्य यदि भिन्नता ॥७२४॥
अन्यत्वे ग्राह्यमप्यन्यदिति कस्मान्न गृह्यते। रोमहर्षादयोऽप्यस्मत्संविदन्तर्गता यदि ॥७२५॥
कथन्तेऽन्योऽन्यसातादिप्रविभासगतिः स्फुटा। अस्मत्सुखं विनाप्यस्य रोमहर्षादयो यदि ॥७२६॥
अस्मद्ग्राह्यं विनाप्यस्य रोमहर्षादयो न किम्। कालभेदेन तत्रापि यदि भेदः समिष्यते ॥७२७॥
अभिन्नस्य स्वरूपेण कालभित्किङ्करिष्यति। अभेदोऽप्यस्तु तत्रापि परोक्षो न भवेदसौ ॥७२८॥

संवित्तिपरिहारेण स्थितमेकं कथञ्च तत्।

यदि तदेकमेवाद्याप्यनुवर्त्तते कथमस्य परोक्षता। परस्परसंवेदनपरिहारेण च व्यवस्थितं कथमेकमिति चिन्त्यमेवैतत्। यदि च साधारणत्वं प्रतिभाति त्वया दृष्टं न वेति किमिति प्रश्नः। प्रमाणान्तरसंवादार्थम्। यदि प्रत्यक्षान्न प्रत्येति वचनादपि नैव प्रत्येष्यति। तदपि स्वप्रतिभासमेव सूचयति त्वत्प्रतिभासितं मम प्रतिभातीति तेनापि वृथैवं ज्ञातव्यम्। तत इतरेतराश्रयदोषः। यच्च प्रत्यक्षेण न प्रतिपन्नं तत् कथं वचनात्प्रत्येतव्यम्। न हि प्रत्यक्षेऽर्थे परोपदेशो गरीयान्। किञ्च—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसके आधार पर सुखादि की एकता प्रसिद्ध होती है। उसका सुख अन्य और ग्राह्य वस्तु अन्य होती है ॥ ७२२ ॥

देशभेद से सुखादि की अन्यता यदि प्रतीत होती है तो उसकी एकता से देश-भेद भी कैसे सिद्ध होगा ? ॥ ७२३ ॥

उसके आधार पर रोम-हर्षादि अन्य क्यों नहीं। रोम-हर्षादि की अन्यता से सुख भी भिन्न होता है ॥ ७२४ ॥

ग्राहक के अन्य होने पर ग्राह्य भी अन्य क्यों नहीं होता ? रोम-हर्षादि भी यदि हमारी संविद के अन्तर्गत हैं ॥ ७२५ ॥

वह अन्य कैसे, जिसके द्वारा सुखादि की प्रतिपत्ति स्फुट होती है। हमारे सुख के बिना यदि अन्य के रोम-हर्षादि होते हैं, तब उनमें भिन्नता का होना स्वाभाविक है ॥ ७२६ ॥

यदि कालभेद से भेद माना जाता है, तब हमारे ग्राह्यार्थ के बिना भी अन्य के रोम-हर्षादि क्यों नहीं होते ? ॥ ७२७ ॥

जो स्वरूपतः अभिन्न है, काल-भेद उसका क्या करेगा ? वहाँ अभेद भी रह सकता है, क्योंकि वह परोक्ष नहीं ॥ ७२८ ॥

संवित्ति को छोड़कर उसकी एकता कैसे होगी ? यदि उसकी एकता अभी भी अनुवर्तमान है, तब उसकी परोक्षता कैसे ? परस्पर संवेदन का परिहार हो जाने पर, उसकी एकता व्यवस्थित कैसे रहेगी ? यह चिन्ता का विषय है। यदि साधारणता प्रतिभासित है, तब यह प्रश्न कैसे उठेगा कि—"त्वया दृष्टं न वा।" प्रमाणान्तर के द्वारा भी उसका ग्रहण कैसे होगा। यदि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं, तब शब्द के द्वारा भी उसका ग्रहण कैसे होगा ? इससे स्वप्रतिभासिता ही सूचित होती है—"त्वत्प्रतिभासितं मम प्रतिभातीति।" ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि इतरेतराश्रय दोष प्रसक्त होता है। जो प्रत्यक्षतः प्रतिपन्न नहीं, वह वह वचन से कैसे प्रतीत होगा ? क्योंकि प्रत्यक्षार्थ में परोपदेश गरीयान् नहीं माना

वार्तिकालङ्कारः

प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वे वचनस्य प्रमाणता। वचनस्य प्रमाणत्वे प्रत्यक्षस्येत्यसाऽवदः ॥७२९॥
परस्परसहायत्वं न तैमिरिकयोर्द्वयोः। न प्रत्येकमसामर्थ्ये समुदायस्य तद्वतः ॥७३०॥

तस्माच्चक्षुरादिकरणाधीनस्वसंवेदनत्वाद्विज्ञानमेव नीलादिकमित्यवेद्यवेदकाकारा बुद्धिरूपा बुद्धिः। तथैव कृतव्यवस्थेयं बुद्धिः। तथैव वेदनादिति परमार्थः। ततः स्वसंवेदनमेव फलमर्थ इति च निश्चयस्तत्रैव। नार्थसंवेदनन्नामास्तीति। ततो यदुक्तं न ग्राह्यस्य स्वरूपग्राहकत्वे दृष्टान्तः कश्चिदस्तीति। तत्र विपर्ययाभावेऽनुपलब्धिसाधिते कथमदृष्टान्तता शशविषाणादिरनुपलभ्यमानो दृष्टान्तः प्रत्यक्षप्रसिद्धे वा किं दृष्टान्तेन।

ततो यदि शक्ष्यामो विस्पष्टं स्वांशग्राह्यनिवारणम्। तदा शुद्ध एव ते पक्षो विशेषणरहित एव ग्राह्यनिवारणो भवेत्। तस्य च पक्षस्य प्रत्यक्षेण बाधनम्। यतः प्रत्यक्षादेः प्रत्ययवर्गस्य बाह्यमेवालम्बनमवशिष्यते। 'स्वांशग्राह्यनिवारणात् इति यदुक्तं परेण, तदसङ्गतम्। प्रत्यक्षस्य बाह्यविषयत्वाभावस्य प्रतिपादनात्।

स्वनिश्चयेनैव तेषां जाग्रत्प्रत्ययानां बाधकरहितत्त्वेन सावलम्बनत्वमिति चेत्। न। यतः—

सुनिश्चितत्त्वमेतेषां स्वाङ्ग एव समीक्ष्यते। निश्चयो बहिरर्थे तु नासावनवभासिते ॥७३१॥

प्रतिभासस्मरणातिरेकेण न निश्चयो नाम। न तावत्प्रतिभासनमर्थस्य प्रतिभासाभावे च न स्मरणम्। ततोऽपरस्य निश्चयस्याभावात् निश्चयो बहिरर्थ इति वचन-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता। प्रत्यक्ष की प्रमाणता होने पर ही वचन की प्रमाणता मानी जाती है। इसके विपरीत वचन की प्रमाणता पर प्रत्यक्ष की प्रमाणता निर्भर है, ऐसा कहना उचित नहीं ॥ ७२९ ॥

दो तैमिरिक एक दूसरे के सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि जब प्रत्येक यथार्थ दर्शन में असमर्थ है, तब उनका समूह भी समर्थ क्योंकर होगा ? ॥ ७३० ॥

अतः चक्षुरादि करणों के अधीन विज्ञान स्वसंविद होने के कारण नीलादि की बुद्धि अवेद्य-वेदकाकार ही होती है। वैसे ही व्यवस्था चली आती है, क्योंकि वैसो ही परमार्थ गति है। प्रमाण और फल स्वसंवेदन मात्र हैं। अर्थसंवेदन कुछ भी नहीं, जैसा कि न्यायवार्त्तिककार ने पृष्ठ १९५ पर कहा है कि जो-कुछ ग्राह्य के स्वरूप में दृष्टान्त दिया गया है, उसमें विपर्यय न होने पर अनुपलब्ध पदार्थ की अदृष्टान्तता कैसे सिद्ध होगी ? जब कि अनुपलभ्यमान शशविषाणादि दृष्टान्त कैसे ? और प्रत्यक्षतः प्रसिद्ध होने पर दृष्टान्त की क्या आवश्यकता ? अतः यदि विस्पष्ट रूप से हम स्वांश-ग्राह्यता का निराकरण कर सकें तब विशेषण-रहित ग्राह्यार्थ का निवारण हो सकेगा। उस पक्ष का प्रत्यक्ष के द्वारा बाध भी होगा, क्योंकि प्रत्यक्षादि में बाह्य आलम्बन अवशिष्ट रहता है। स्वांशग्राह्य का निवारण हो जाने से जो-कुछ कहा गया वह असंगत मात्र है। प्रत्यक्ष की बाह्यविषयता का भाव प्रतिभासित हो जाने से स्वनिश्चय के द्वारा जाग्रत प्रत्ययों का बाधक-रहित सालम्बनता यदि कही जाय तो नहीं कह सकते, क्योंकि इन ज्ञानों में स्वनिश्चितत्व अनुभूत होता है। बाह्यार्थ का निश्चय सम्भव नहीं, क्योंकि वह अवभासित नहीं होता ॥ ७३१ ॥

प्रतिभास और स्मरण को छोड़कर और कोई निश्चय नहीं होता। अर्थ का

वार्तिकालङ्कारः

मात्रकमेवैतदिति व्यर्थम् ।

दुष्टज्ञानगृहीतेऽर्थे प्रतिषेधो हि युज्यते । अगृहीतग्रहग्राह्यनिषेधः किन्न युक्तिमान् ॥७३२॥

गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षस्यास्त्वसिद्धता । अगृहीतस्य सत्त्वन्तु भवता कथमुच्यते ॥७३३॥

अग्राह्यत्वाच्च भेदेन विशेषणविशेष्ययोः । अप्रसिद्धोभयत्वं वा वाच्यमन्यतरस्य वा ॥७३४॥

भेदेन पूर्वग्रहणात्पश्चात्तत्त्वनिरूपणे । न भेदः परमार्थेन ततः किंवा विरुध्यते ॥७३५॥

विशेषणविशेष्यत्वं व्यावृत्तिपरिकल्पितम् । कार्यकृद्बौद्धराद्धान्ते न मतं श्रुतिगोचरम् ॥७३६॥

चक्षुश्श्रोत्रोश्च यज्ज्ञानं विशेषणविशेष्ययोः ।
तन्निरालम्बनत्वेन स्ववाग्बाधो न कस्यचित् ॥ ७३७ ॥

सम्भवोऽस्ति प्रभेदस्य विशेषणविशेष्ययोः । ततो निरूपणा किन्न प्रतिज्ञार्थस्य शोभना ॥७३८॥

अपि च—

निरालम्बनता नाम न किञ्चिद्वस्तु गम्यते । तेनैतद्व्यतिरेकादौ प्रश्नो नैवोपपत्तिमान् ॥७३९॥

यद्यवस्तु कथन्त्वस्मांस्त्वं बोधयितुमिच्छसि । बुध्यसे वा स्वबुध्या त्वं कल्पयित्वाथ साध्यते ॥७४०॥

असतः कल्पना कीदृक् तत् क्लृप्तौ वस्तु सज्यते । कथमिष्टमभावे चेद्वस्तु सोऽपीति वक्ष्यते ॥७४१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिभासन प्रतिभास के अभाव में स्मरण नहीं होता ? अपितु होता है। अतः निश्चय पदार्थ कोई तीसरा नहीं। निश्चय बाह्यार्थ को विषय करता है, ऐसा कहने में कोई सार्थकता नहीं।

निरालम्बनता के विषय में कुमारिलोक्त प्रतिवाद—दुष्ट ज्ञान के द्वारा गृहीत अर्थ का प्रतिषेध हो सकता है, किन्तु अगृहीत ग्रह के द्वारा गृहीत अर्थ का निषेध युक्तिसंगत नहीं (श्लोकवार्तिक, पृष्ठ २२५) ॥ ७३२ ॥

गृहीत मात्र का बाध हो जाने पर स्वकीय पक्ष भी सिद्ध नहीं हो सकता। अगृहीत अर्थ की सत्ता आप कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? (श्लोकवा. पृ. २२५) ॥ ७३३ ॥

विशेषण और विशेष्य का पृथक् ग्रहण नहीं होता। अतः अप्रसिद्ध उभयत्व अथवा स्वपक्ष की असिद्धि प्रसक्त होती है ॥ ७३४ ॥

पहले दोनों का पृथक् ग्रहण होने पर, पश्चात् तत्त्व का निरूपण करने पर कोई परमार्थ भेद सिद्ध नहीं होता। अतः किसी प्रकार का विरोध सम्भव नहीं ॥ ७३५ ॥

विशेषण और विशेष्य व्यावृत्ति के द्वारा कल्पित मात्र हैं। अतः बौद्ध सिद्धान्त में अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकते ॥ ७३६ ॥

विशेषण और विशेष्य के विषय में जो चक्षु और स्रोत्र के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है, यदि वह निरालम्बन है, तब स्ववचन विरोध उपस्थित होता है ॥ ७३७ ॥

विशेषण और विशेष्य का भेद सम्भव है। अतः प्रतिज्ञार्थ का निरूपण शोभन क्यों नहीं (श्लोकवा० पृ० २२६) ॥ ७३८ ॥

दूसरी बात यह भी है कि निरालम्बनता नाम की कोई वस्तु प्रतीत नहीं होती। अतः व्यतिरिक्त विषय के अर्थ में उक्त प्रश्न उठता ही नहीं ॥ ७३९ ॥

यदि कोई वस्तु नहीं, तब आप उसका बोध हमको कराने की इच्छा क्यों करते हैं ? और स्वयं उसका बोध कैसे करते हैं ? ॥ ७४० ॥

असत् वस्तु की कल्पना कैसी ? कल्पना होने पर वस्तुत्व प्राप्त होता है। (श्लोकवा० पृ० २२६) ॥ ७४१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

उक्तमेतद्व्यावृत्तिभेदकल्पितेन रूपेण विशेषणविशेष्यभावो निरालम्बनत्वं कल्पितबाह्यालम्बनभेदेन पृथगिव व्यवस्थाप्यते। तथाभूतस्वरूपबोधनाय न परमार्थतो भेद प्रतिपाद्यतेऽभेदप्रतिपादितस्य वस्तुत्वात्। अवस्तुनि कल्पना कथमिति चेत्। अत एव। अन्यथा—

वस्तुनः कल्पना कीदृक् तथाऽवस्तु प्रसज्यते। अभावे कल्पनावृत्तिर्न च वस्तु स विद्यते ॥७४२॥
अथ प्रत्यय इत्येष कर्मभावादि वा भवेत्। भावादिषु विरोधः स्यात्कर्म चेत्सिद्धसाधनम् ॥७४३॥

कर्म न उच्यते प्रत्यय इत्येष धर्मिरूपोऽन्यः कर्मव्युत्पत्त्या वा स्यात् प्रत्याय्यत इति प्रत्ययः। अथवा प्रतीतिः प्रत्ययः। प्रत्याययति प्रत्याय्यतेऽनेनेति वा प्रत्यय इति। भावकर्तृकरणरूपता वा स्यात् सर्वमेतदनुपपन्नम्। यदि प्रतीतिः प्रत्ययः सा प्रत्याय्येन विना न भवति। एवं कर्त्रादिकमपि। ततश्च प्रत्यय इति बाह्यार्थापेक्षः। निरालम्बन इति तदभाव इति परस्परविरोधिता।

तदसत्। यदि प्रतीतिः प्रत्ययः सा स्वात्मनिष्ठाऽन्येन विना न भवतीति कुत एतत्। अन्यस्य तस्यामदर्शनात्। स्वरूपमेव च तत्र प्रत्याय्यं भविष्यति किमन्येन। तथा च प्रतिपादितम्। प्रत्याययति प्रत्याय्यतेऽनेनात्मैवेति किं विरोधगतमत्र। कर्म चेत् कर्मत्वं नाम नावगम्यते। स्वरूपेण हि नीलादिकं प्रतिभासते न तु तस्यापरा कर्मता नाम। यद्यसा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यहाँ कहा गया है कि व्यावृत्ति-भेद के द्वारा कल्पित स्वरूप के माध्यम से विशेषण-विशेष्यभाव निरालम्बन इसलिए है कि उसका बाहरी आलम्बन कल्पित मात्र है, पृथक् जैसा प्रतीत होता है। उस प्रकार के स्वरूप का बोध करने के लिए परमार्थतः भेद का प्रतिपादन नहीं किया जाता, क्योंकि भेदप्रतिपादित पदार्थ वस्तु हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अवस्तु में कोई कल्पना सम्भव क्योंकर होगी? अतएव कहा गया है कि वस्तु की कल्पना कैसी? जब कि बाह्यार्थ कुछ है ही नहीं। अभाव में कोई कल्पना नहीं हो सकती। बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं ॥ ७४२ ॥

प्रत्यय शब्द का अर्थ—"प्रतीयते असौ", इस प्रकार कर्म में व्युत्पन्न है अथवा "प्रतीतिः प्रत्ययः", इस प्रकार भाव में। भावादि में विरोध उपस्थित होता है। कर्म में यदि व्युत्पन्न है तब सिद्धसाधनता है (श्लोकवा० पृ० २२७) ॥ ७४३ ॥

प्रत्यय शब्द की व्युत्पत्ति सम्भव क्यों नहीं? इसका उत्तर है कि प्रत्यय शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्ति हो सकती है—"प्रत्याय्यते इति प्रत्ययः" अथवा "प्रतीतिः प्रत्ययः" अथवा "प्रत्याय्यते अनेन इति प्रत्ययः"। इस प्रकार भाव, कर्तृ, करण में प्रत्यय नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि 'प्रतीतिः प्रत्ययः' ऐसा कहा जाता है तो वह 'प्रत्याय्य' विषय के विना सम्भव नहीं। अतः सालम्बनता सिद्ध होती है। अतः प्रत्यय शब्द बाह्यार्थापेक्षी या सालम्बन हो जाता है, निरालम्बन नहीं रहता, फलतः परस्पर विरोध उपस्थित होता है।

उक्त प्रतिवाद का निरास—यदि 'प्रतीतिः प्रत्ययः' कहा जाता है तो अन्य विषय के बिना क्यों उपपन्न नहीं होता? क्योंकि अन्य कोई अर्थ वहाँ सम्भव नहीं। उस प्रतीति का स्वरूप ही 'प्रत्याय्य' है, अन्य की क्या आवश्यकता? स्वरूप मात्र की प्रतीति का प्रतिपादन किया जा चुका है। अन्य पक्ष में जो विरोध उद्भावन किया गया है, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि "प्रत्याय्यते अनेन आत्मैव" ऐसा

वार्तिकालङ्कारः

वन्येन कर्त्रा स्वव्यापारेणार्थ्यमान उपलभ्येत तदेवालम्बनमन्यस्य तच्च निराक्रियते यदि कथं सिद्धसाधनम्। किंत्वसावर्थ्यमान एव न सिध्यति। ततः कथं कर्मतया तस्यालम्बनभावः। स्वरूपेण तदा लभ्यते चेदिदमिदानीं सिद्धसाधनम्।

नन्वालम्ब्यमान आत्मना अहं नीलं प्रत्येमीति प्रतीयते। तदसत्। तथा हि—

अहमित्यपि यत् ज्ञानं तच्छरीरेन्द्रियात्मवित्। अहं काणः सुखी गौरः समानाधारवेदनात् ॥७४४॥

न हीन्द्रियादिभ्योऽपरमात्मानमहं प्रत्ययालम्बनत्वेनोपलभामहे।

येन प्रेरणमेतेषां स आत्मा चेदनन्यवित्। स्वस्वभावोदयादेषां प्रमाणं नापरं क्वचित् ॥७४५॥
उदयस्य यतो दृष्टः स एव प्रेरको यदि। अन्योऽन्यप्रत्ययत्वेन प्रेरकास्ते परस्परम् ॥७४६॥
समुदायात्तदन्यस्य समुदायस्य सम्भवे। कार्यकारणभावेन व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥७४७॥
बुद्धिरूपविवेकेन प्रेरकं नान्यदीक्ष्यते। पूर्वपूर्वस्तथाभूताभ्यासो वा प्रेरकः क्वचित् ॥७४८॥
सुखेन्द्रियाकारबुद्धेर्यदि बुद्ध्यन्तरोदयः। नीलाद्याकारतां प्राप्तः तत्कुतः कर्मकर्तृता ॥७४९॥
समानकालवृत्तौ वा व्यापारो न परस्परम्। ततः कर्मादिभावानां न भाव उपपत्तिमान् ॥७५०॥

यत्तूक्तम्—

प्रत्याय्यस्य हि रूपादेर्निरालम्बनतेष्यते। अविज्ञानात्मकत्वेन किञ्चिन्नालम्बते ह्यसौ ॥७५१॥

तदत्यन्तमसत्। यतः—

प्रत्ययस्य न रूपादेर्निरालम्बनतेष्यते। अबोधरूपव्यावृत्त्या स्याज्ज्ञमालम्बते ह्यसौ ॥७५२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

मानने में क्या विरोध? कर्मता यही है, जो स्वरूप की प्रतीति, उससे भिन्न और कोई कर्मता नहीं। यदि यह अन्य कर्त्ता के द्वारा अर्थ्यमान उपलब्ध होता, वही उसका आलम्बन माना जाता, किन्तु उसका निरास किया जाता है। अतः सिद्धसाधनता कैसे? जब कि अर्थ्यमान् पदार्थ सिद्ध नहीं होता, तब सालम्बनता कैसे? स्वरूपतः प्रतीति मानने पर सिद्धसाधनता होती है।

यदि कहा जाय कि आलम्ब्यमान पदार्थ आत्मा के द्वारा प्रतिभासित होता है—"अहं नीलं प्रत्येमि" तो वैसा कहना सम्भव नहीं, क्योंकि 'अहं' इस प्रकार जो ज्ञान होता है, वह शरीर, इन्द्रिय और आत्मा को विषय करता है। जैसे कि—"अहं काणः, सुखी, गौरः" इस प्रकार समानाधारता के द्वारा उपपन्न हो जाता है॥ ७४४॥ क्योंकि इन्द्रियादि से भिन्न आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। यदि कहा जाय कि जो इन्द्रियादि का प्रेरक है, वह आत्मा है, तो वैसी पृथक् सिद्धि में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता॥ ७४५॥

यदि जिससे इसका उदय देखा गया है, वही प्रेरक है, तब भी भिन्नार्थ की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि शरीर इन्द्रियादि में ही परस्पर प्रेरकत्व बन जाता है॥७४६॥

शरीरादि समुदाय से भिन्न समुदायान्तर यदि सम्भव है, तब कार्य-कारणभाव का व्यवहार होना चाहिए॥ ७४७॥

बुद्धि से भिन्न और कोई प्रेरक नहीं देखा जाता अथवा पूर्व-पूर्व अभ्यास प्रेरक माना जा सकता है॥ ७४८॥

यदि सुख, इन्द्रियाकार बुद्धि से भिन्न अन्य बुद्धि का उदय माना जाता है, तब नीलाद्याकारता को प्राप्त अर्थ में कर्मकर्तृता कैसे?॥ ७४९॥

सभी का व्यापार समानकाल में होने पर करण-कर्तृभाव सम्भव नहीं॥७५०॥

यह जो कहा गया कि प्रत्याय्य पदार्थ की निरालम्बनता मानी जाती है, तब भी

वार्तिकालङ्कारः

व्यतिरिक्तालम्बनत्वेन तु निरालम्बनता विज्ञानात्मकत्वेनैव सुतरामिति प्रतिपादितम्। यत्पुनरभ्यधायि।

कर्तृत्वे करणत्वे वा पक्षत्वं शब्दयोरपि।
तन्निरालम्बनत्वेन पक्षाभावः प्रसज्यत इति ॥ ७५३ ॥

तदतिसुभाषितम्। यतः। ताभ्यामपि किल प्रत्याय्यते निरालम्बनप्रत्ययशब्दाभ्यां ततः तयोरपि प्रत्याय्यत्वम्। तदनालम्बनत्वेन कश्चित्प्रत्यक्षः शब्दगतमात्रकमेव केवलम्।

अर्थो नालम्बनं तत्र व्यावृत्तिः शब्दगोचरः। तस्य संवादितामात्रात् पक्षत्वं न विरुध्यते ॥७५४॥

न हि शब्दगोचर एव पक्षः। साधनविषयत्वात्तस्य। साधनञ्च प्रत्यक्षलक्षणोऽनुपलम्भः। तेन स्वाकारालम्बनता साध्या सा पक्षः। कथं पक्षाभावः। प्रत्यय इति चात्र ज्ञानं प्रकरणादवगतं तत्कथं शब्दद्वारकदूषणावसरः। न हि यावद्व्युत्पत्त्या विषयीक्रियते स शब्दप्रतिपाद्योऽपि तु प्रकरणायात एवान्यथा न शब्दादर्थगतिः। सामान्यशब्दानामपि प्रकरणाद्विशेषवृत्तितोपलभ्यते, सैन्धवमानयेति यथा। भोजनवेलायां लवणस्यैव प्रतीतिः। इदमप्येकफूत्कारेणैव गतम्। यदाह—

प्रत्याय्येन च वाक्येन विना कर्त्राद्यसम्भवः।
प्रत्यये तन्निमित्ते वा बाधः स्ववचनेन ते ॥ ७५५ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सालम्बनता सिद्ध नहीं होती ॥ ७५१ ॥ क्योंकि रूपादि प्रत्यय को निरालम्बन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अबोध से भिन्न वह स्वस्वरूप बोध का आलम्बन करता है ॥ ७५२ ॥

व्यतिरिक्त आलम्बनत्वेन निरालम्बनता सुतरां सिद्ध है, क्योंकि विज्ञान से व्यतिरिक्त और उसका कोई आलम्बन नहीं है। यह जो कहा गया कि कर्तृत्व और करणत्व पक्ष में शब्दों का भी ग्रहण हो जाता है, उनको निरालम्बन मानने पर पक्षाभासता की प्रसक्ति होती है (श्लोकवा० पृ० २२७) ॥ ७५३ ॥

वह कथन नितान्त निःसार है, क्योंकि निरालम्बन शब्द और प्रत्यय के द्वारा प्रतीतिजनकता सिद्ध होने के कारण पक्षाभासता प्रसक्त नहीं होती। शब्दों का अर्थ आलम्बन नहीं माना जाता। इतरव्यावृत्त अर्थ का प्रतिपादन शब्द के द्वारा होता है। अतः किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता ॥ ७५४ ॥

शब्द का गोचरीभूत अर्थ पक्ष माना जाता है। शब्द या प्रत्यय साधन-विषयक होता है। साधन, प्रत्यक्ष या अनुपलम्भात्मक होता है। इसके द्वारा जो स्वाकार आलम्बनता होती है, वही पक्ष है; तब पक्षाभास कैसे? प्रत्यय शब्द से यहाँ ज्ञान अभिप्रेत है। अतः शब्द के द्वारा दूषण देने का कोई अवसर ही प्राप्त नहीं होता। शब्दव्युत्पत्ति के द्वारा जो विषयीकृत होता है। वह शब्द प्रतिपाद्य होने पर भी प्रकरणतः प्राप्त होता है, अन्यथा शब्द से अर्थज्ञान नहीं हो सकता। सामान्य शब्द भी प्रकरण के आधार पर विशेषार्थक माने जाते हैं। जैसे—"सैन्धवमानय"। यहाँ 'सैन्धव' शब्द भोजन के प्रकरण में लवणार्थक और यात्रा के प्रकरण में अश्वार्थक होता है। अतः यह आक्षेप भी एक ही फूतकार में उड़ जाता है। यह जो कहा गया है—"प्रत्याय्य" वाक्य के बिना कर्त्तादि की प्रतीति असम्भव है। प्रत्यय या उसके

वार्तिकालङ्कारः

यदि न प्रत्याययति किञ्चित्प्रत्याय्यते वा न तेन, कथमसौ तथा, प्रत्ययविषयाऽभावे वा किंविषया प्रतीतिरिति । यतः—

प्रत्याय्येन हि भिन्नेन विना कर्त्रादिसम्भवः । प्रत्यये तन्निमित्ते च बाधः स्ववचनात्कथम् ॥७५६॥

कल्पितः कर्मकर्त्रादिः परमार्थो न विद्यते । आत्मानमात्मनैवात्मा निहन्तीति निरुच्यते ॥७५७॥

अबाह्यनिमित्तौ च प्रत्ययशब्दार्थो न स्ववचनबाधः ।

अथापि रूढिरूपेण प्रत्ययः स्यात्तथापि तु । ग्राहकं वस्तु नः सिद्धं प्रत्ययोऽन्यस्य वस्तुनः ॥७५८॥

रूढिरूपेणापि प्रतीतिनिरपेक्षः प्रत्ययशब्दो व्यतिरिक्तस्यैव वस्तुनः सिद्धः प्रत्यय इति । ततः सिद्धमेव लोकप्रसिद्ध्या बाह्यवस्तुविषयत्वम् । न हि लोकप्रसिद्धमन्यथा शक्यविधानम् । तदसत् । यतः—

लोकप्रसिद्धिमात्रेण न वस्तूनां व्यवस्थितिः । विचारकस्य लोकस्य वस्तुसिद्धौ निमित्तता ॥७५९॥

संवेदनातिरेकेण लोकः को वार्थसिद्धये । संवेदनस्य लोकत्वे तदनालम्बनीकृतम् ॥७६०॥

संवेदनं विना लोको यदि तत्त्वं विवेचयेत् । विवेचयेयुः सर्वेऽमी जडात्मानः शिलादयः ॥७६१॥

यदप्युच्यते—

तमभ्युपेत्य पक्षश्चेद् अभ्युपेतं विरुध्यते ।
विशेष्यस्याऽप्रसिद्धिश्च तवास्माकमतादृशे ॥ ७६२ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निमित्त भूतार्थ के रहने पर स्ववचन के द्वारा बाध उपस्थित हो जाता है। (श्लोकवा० पृ० २२७) ॥ ७५५ ॥

यदि प्रत्यय शब्द किसी का प्रत्यायक नहीं, अथवा उसके द्वारा कुछ प्रतीत नहीं होता, तब वह प्रतीति किसको विषय करेगी ? क्योंकि भिन्न प्रत्याय्य के द्वारा कर्त्तादि की प्रतीति सम्भव है। प्रत्यय या उसके निमित्त के रहने पर स्ववचन बाध क्योंकर होगा ? ॥ ७५६ ॥

कर्म, कर्त्तादि कल्पित हैं, परमार्थ नहीं। कोई भी वस्तु अपने स्वरूप का हनन नहीं किया करती ॥ ७५७ ॥

प्रत्यय और शब्द का अर्थ बाह्य निमित्तक नहीं। अतः स्ववचन-बाध उपस्थित नहीं होता। यदि रूढ़िरूपेण प्रत्यय 'शब्द' माना जाता है, तथापि ग्राहक वस्तु सिद्ध हो जाती है (श्लोकवा० पृ० २२८) ॥ ७५८ ॥

'प्रत्यय' शब्द रूढिरूपेण भी प्रतीतिनिरपेक्ष है। व्यतिरिक्त वस्तु भी प्रत्याय्य सिद्ध होती है। अतः यह लोकप्रसिद्धि के आधार पर बाह्यवस्तुविषयत्व माना जाता है। लोकप्रसिद्ध पदार्थ का अन्यथा विधान नहीं किया जा सकता। यह कहना उचित नहीं, क्योंकि लोकप्रसिद्धि मात्र के आधार पर वस्तुओं की व्यवस्था नहीं की जा सकती। विचारक लोगों की दृष्टि में वस्तु के सिद्ध होने पर उसमें निमित्तता मानी जाती है ॥ ७५९ ॥

संवेदन से अतिरिक्त लोकप्रसिद्धि अर्थसिद्धि के लिए और क्या हो सकती है ? संवेदन ही लोकपदार्थ है, उसकी अनालम्बनता सिद्ध की जा चुकी है ॥ ७६० ॥

यदि संवेदन के बिना लोक की विवेचना मानी जाती है, तब सभी शीलादि पदार्थ विवेचक हो जायेंगे ॥ ७६१ ॥ और भी यह जो कहा गया है कि उसको स्वीकार करने पर यदि पक्ष-विरोध होता है, तब विशेष्य की अप्रसिद्धि होती है, हमारे

वार्तिकालङ्कारः

तादृशे वस्त्वन्तरप्रत्यायके तवासिद्धिविशेष्ये प्रत्ययेऽस्माकमन्यथाभूते । तथा—

आत्मधर्मस्वतन्त्रत्वकल्पनेऽपि तथा भवेत् ।
न च प्रत्ययमात्रत्वं किञ्चिदस्त्यनिरूपणादिति ॥ ७६३ ॥

तथा हि । यदि व्यतिरिक्तसाधनत्वमभ्युपगम्य प्रत्ययः पक्षीक्रियेत स तथाभूतो धर्मी न भवतः सिद्धः । न हि बौद्धस्यैवमभ्युपगमः । अथ विपर्ययाभ्युपगमोऽव्यतिरिक्त-साधनत्वं तथासति प्रतिवादिनामस्माकमसिद्धः । न ह्यव्यतिरिक्तसाधनः प्रत्ययोरस्मा-भिरभ्युपगतः, एवमात्मधर्मत्वं बौद्धानामसिद्धम् । स्वतन्त्रत्वं च मीमांसकानाम् । न च प्रत्ययमात्रमस्ति । यस्य धर्मित्वमुभयपक्षव्यतिरेकेण निरूपयितुमशक्यत्वादिति । तद्यथाकथञ्चिन्मुखमस्तीत्युक्तम् । यतः उक्तमेतत्—

विवादपदभूतस्यावश्यमेवाप्रसिद्धता । प्रसिद्धिस्तस्य चेज्ज्ञाता साधनं कस्य साधनम् ॥७६४॥

य एव हि व्यतिरिक्तसाधनधर्मः प्रत्ययस्य धर्मिणो विशेषणत्वेनासिद्ध इति तदसिद्धिद्वारेण विशेष्यासिद्ध्युद्भावनार्थः, भवतां स एव विवादास्पदीभूतः भवता साध्यः, तेन च विशेषणेनासिद्धत्वमिष्यत एव धर्मिणः । साधनाकाले यदि तु स एव सिद्धः किमिदानीं सिद्धोपस्थायिना साधनेन ।

नन्वसिद्धविशेषणः पक्षो दुष्ट एव यथा सांख्यं प्रति विनाशी शब्द इति । तदसत् । यतः—

साङ्ख्यं प्रत्यपि पक्षस्य दुष्टत्वं विनिवारितम् । न हि दृष्टान्तसिद्धेऽर्थे पक्षेऽसिद्धविशेषणः ॥७६५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतादृश्य निरालम्ब पक्ष में (श्लोकवा० पृ० २२८) ॥ ७६२ ॥ तथा तादृश वस्त्वन्तर-प्रत्यायक पक्ष में आपके असिद्धि विशेष प्रत्यय में आत्मा और उससे भिन्न समस्त धर्मों की कल्पना में भी वैसा ही होगा। ज्ञानमात्रता की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि उसका निरूपण ही नहीं हो सकता ॥ ७६३ ॥ वही दिखाया जाता है—यदि उससे अतिरिक्त साधनों को मान कर प्रत्यय पक्ष बनाया जाता है, वह सम्भव नही क्योंकि वह आपके मत में सिद्ध ही नहीं। बौद्ध का ऐसा अभ्युपगम नहीं। यदि विपर्यय अव्यतिरिक्त साधनता का साधक है, तब वह हम प्रतिवादी के लिए असिद्ध है। क्योंकि अव्यतिरिक्त साधनक प्रत्यय हमारे मत में नहीं माना जाता। उसी प्रकार आत्मधर्मत्व बौद्ध-मत में सिद्ध नहीं। स्वतन्त्रता मीमांसक-मत में सिद्ध नहीं, क्योंकि उनके मत में प्रत्ययमात्रता नहीं मानी जाती, क्योंकि उनके मत में उभय-भिन्न धर्मित्व को मान कर निरूपित नहीं किया जा सकता। जैसा कि कहा जा चुका है—"मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी।" ऐसा कहा है, अतएव कहा गया है कि विवादास्पद पदार्थ की अप्रसिद्धता होने से उसका निरूपण नहीं हो सकता। यदि उसकी प्रसिद्धि है, तब वह साधन किसका साधन होगा ॥ ७६४ ॥

यदि प्रत्यय रूपी धर्मी का स्वभिन्न आलम्बन रूप धर्म सिद्ध किया जाता है, तब उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, जिस पक्ष का साध्य रूप विशेषण सिद्ध नहीं होता, उसे असिद्ध-विशेषणक नाम का हेत्वाभास माना जाता है। यदि वह सिद्ध है, तब सिद्ध के साधन से क्या लाभ? असिद्ध-विशेषणक पक्ष तो वैसे ही दुष्ट होता है, जैसे कि सांख्य के प्रति विनाशी शब्द, तो वैसा कहना संगत नहीं, क्योंकि सांख्य के प्रति भी पक्ष के दोष का निवारण किया जा चुका है, जो साध्य दृष्टान्त में सिद्ध होता है,

वार्तिकालङ्कारः

अप्रसिद्धोऽथ दृष्टान्ते विनाशो हेतुदुष्टता । अनैकान्तिकता वा स्याद्धेतोर्वा स्याद्विरुद्धता ॥७६६॥

यत् पक्षे न सिद्धो विनाशः इति दोषः । तदसत् । तत एव साध्यते । ततोऽप्रसिद्धविशेषणत्वमेव पक्षस्यादोषः कथमसौ दोषः । न हि स्वरूपमेव दोषः । अथ दृष्टान्तेऽसिद्धिस्तदा दृष्टान्तदोषो हेतुदोषो वेति न पक्षदोषता ।

न चात्मधर्मताऽसिद्धौ धर्मी न प्रत्ययो भवेत् ।

न ह्याकाशगुणासिद्धौ शब्दो धर्मी न सिद्ध्यति ॥ ७६७ ॥

श्रोत्रग्रहणमात्रेणैव तस्य धर्मित्वम् । अन्यथा न कश्चिद्धर्मी भवेत्प्रतिवाद्युपक्षिप्तस्य धर्मस्य सर्वत्रासिद्धत्वात् । तस्मादयमदोष एवेति यत्किञ्चिदेतत् । अत एवापरमपि परोदितमयुक्तम् ।

शब्दार्थमात्ररूपेण यथान्येषां निरूपणम् ।

तथापि भवतो न स्याद्वाच्यभेदमनिच्छत ॥ ७६८ ॥ इति ।

वाचकाद्वाच्यन्तरेभ्यश्च भेदानभ्युपगमाद्यस्य च वादिनः शब्दार्थमात्ररूपेणापि निरूपणमशक्यं सामान्यानभ्युपगमेन धर्मादिविकल्पने सति परवादिना तेन प्रत्यवस्थातुमशक्यमिति ।

तदसत् । प्रत्यय इत्यविशेषणं शब्दार्थमात्रं विज्ञानमिति योऽर्थः, प्रतिभासनमिति यस्य पर्यायः, तस्य सिद्धत्वात् । द्विचन्द्रादिप्रत्ययेऽन्यत्र च यत्प्रत्ययत्वम् । तदेकाकार-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

उसे विशेषण सिद्ध नहीं कहते ॥ ७६५ ॥ यदि दृष्टान्त में भी साध्यगत विनाशता सिद्ध नहीं, तब या तो हेतु में अनैकान्तिकता दोष होगा या विरुद्धता ॥ ७६६ ॥ यदि पक्ष में विनाश सिद्ध नहीं है तो वह कोई दोष नहीं, क्योंकि असिद्ध अर्थ की ही सिद्धि की जाती है । अतः अप्रसिद्ध विशेषणत्व यह कोई पक्ष का दोष नहीं होता, क्योंकि असिद्ध साध्य की ही सिद्धि पक्ष में की जाती है । अतः अप्रसिद्ध विशेषणत्व पक्ष का दोष कैसे होगा ? कोई भी दोष किसी न्यूनता के कारण दोष माना जाता है, स्वरूपतः नहीं । यदि दृष्टान्त में भी जिस साध्य की सिद्धि नहीं, तब वहाँ दृष्टान्त-दोष या पक्ष-दोष माना जाता है, हेतु-दोष नहीं । आत्मधर्मता की सिद्धि होने पर, प्रत्यय सिद्ध वैसे ही नहीं माना जाता, जैसेकि आकाश के गुण की सिद्धि होने पर शब्द रूप धर्मी सिद्ध नहीं होता, ऐसी बात नहीं ॥ ७६७ ॥ शब्द में धर्मित्व-श्रोत्रग्रहणमात्रता मानी जाती है, अन्यथा कोई धर्मी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि प्रतिवादी के द्वारा निर्दिष्ट कोई भी धर्म वादी की दृष्टि में सिद्ध नहीं होता । अतः अप्रसिद्ध-विशेषणता कोई दोष नहीं । अतएव प्रतिवादी के द्वारा कथित दोष अयुक्त है । जैसे—शब्दार्थमात्ररूपेण सामान्यादि का निरूपण किया जाता है, वैसे ही आपका वक्तव्य वैसा ही होगा, भले आपकी इच्छा वैसी न हो ॥ ७६८ ॥

यदि कहा जाय कि जिस वादी के मत में वाचक शब्द की अपेक्षा वाच्य रूप बाह्यार्थ नहीं माना जाता, शब्दार्थ मात्र रूप से भी उसका निरूपण नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्य रूप शक्यार्थ बौद्ध मत में माना नहीं जाता । धर्मादि का विकल्प उठाकर परवादी के द्वारा दोष नहीं किया जा सकता, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यय शब्द के द्वारा शब्दार्थ मात्र विज्ञान रूप अर्थ प्रतिभासित होता है । वह सिद्ध है, ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि द्विचन्द्रादि प्रत्यय और उससे अन्यत्र जो

वार्तिकालङ्कारः

परामर्षविषयः सिद्धमेव। तस्य तु पुनः किन्तत्त्वमित्यपरं सकलं विचार्यत्वात्साध्यमध्यमध्यासीनमसिद्धमिति किमयुक्तम्। अत्रासिद्धता पश्चादाक्षिप्य निराकरिष्यते। अन्यदुच्यते तावत्—

निरालम्बनता चेह सर्वथा यदि साध्यते। विशेषणाप्रसिद्धिः स्याद् दृष्टान्तश्च न विद्यते ॥७६९॥

सर्व एव प्रत्ययो निरालम्बनः साध्यः। को दृष्टान्तस्तत्र। अथ जाग्रत्प्रत्ययस्तथाप्यसिद्ध एव दृष्टान्तः। स्वप्नप्रत्ययस्यापि सालम्बनत्वात्कथञ्चित्तत्कालान्यकालवस्त्वालम्बनत्वात्। अथ तत्कालालम्बनाभावः। तदा—

केनचिच्चेत्प्रकारेण निरालम्बनतोच्यते। रसज्ञानस्य रूपादिशून्यत्वात्सिद्धसाधनम् ॥७७०॥

यथा यस्य यदालम्बनन्तत्कालमन्यकालादि वा तथा तत्सालम्बनमभ्युपगन्तव्यम्। तथाप्यनालम्बनत्वे रसज्ञानमपि रूपेणानालम्बनमिति प्राप्तं तच्चेष्यत एवेति सिद्धसाधनम्।

अथ बुद्धिर्यदाकारा तदालम्बनवारणम्। स्वाकारस्याभ्युपेतत्वात्तदभावो विरुध्यते ॥७७१॥

ग्राहकांशो हि ज्ञानस्य नार्थाकारता। किन्तर्हि ज्ञानाकारतैवेति भवतामभ्युपगमः। तत्रेदानीं ज्ञानस्य ग्राह्याभावः प्रसक्तोऽनिष्टश्च। तत्र ग्राह्यात्मनालम्ब्येन भाव्यम्।

अथ बाह्यन्नालम्बनम्। तदसत्—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रत्ययत्व प्रसिद्ध है, वह एकाकार रूप से सिद्ध माना जाता है, जिस वादी के मत में "कि तत्वम् ?" इस प्रश्न के उत्तर में सकल विचार्यमाण पदार्थ साध्य के अन्तर्गत आ जाता है, पृथक् सिद्ध नहीं। इसकी असिद्धता पर आक्षेप करके उसका निराकरण आगे किया जायेगा।

श्लोकवार्तिककार ने निरालम्बन की आलोचना करते हुए जो कहा है कि "यदि निरालम्बनता सर्वथा सिद्ध की जाती है, तब विशेषणाऽप्रसिद्धि होती है एवं इसके लिए कोई उपयुक्त दृष्टान्त भी सुलभ नहीं" (श्लोकवा० पृ० २२९)॥ ७६९॥ अर्थात् यदि समस्त प्रत्यय को निरालम्बन सिद्ध करना है, तब दृष्टान्त का अभाव हो जाता है। यदि जाग्रत प्रत्यय को पक्ष माना जाता है, तब भी दृष्टान्तासिद्धि है, क्योंकि स्वाप्न प्रत्यय भी सालम्बन है, कालादि आलम्बन प्रसिद्ध हैं, यदि काल रूप आलम्बन का अभाव कहा जाता है। आशय यह है कि यदि किसी प्रकारान्तर से निरालम्बनता कही जाती है तो सिद्धसाधनता दोष है, क्योंकि रसज्ञान का आलम्बन रूप नहीं होता (श्लोकवा० पृ० २२९)॥ ७७०॥ जो जिस समय जिस अर्थ को आलम्बन बनाता है, वह सालम्बन माना जाना चाहिए। तथापि यदि अनालम्बनता सिद्ध की जाती है, तब भी सिद्धसाधनता दोष है, क्योंकि रसज्ञान का रूप आलम्बन नहीं होता। यदि बुद्धि जिस आकार की होती है, उस आलम्बन का निरास किया जाता है, तब परस्पर विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि आकार आलम्बन है और उसी का निरास किया जाता है (श्लोकवा० पृ० २२९)॥ ७७१॥ ग्राहकांश ज्ञान का है, उसमें अर्थाकारता नहीं। अपितु ज्ञानाकारता ही है, ऐसा आप बौद्ध मानते हैं। अतः ज्ञान का ग्राह्याभाव प्रसक्त होने के कारण अनिष्टता आती है, क्योंकि ग्राहक का कोई न कोई ग्राह्य होना चाहिए, बाह्य आलम्बन आप मानते नहीं। श्लोकवार्तिककार की

वार्तिकालङ्कारः

बाह्यानालम्बनत्वेऽपि बाह्य इत्यग्रहो यदि । स्तम्भादौ नैव तद्बुद्धिरित्येवं सिद्धसाधनम् ॥७७२॥

अत्रापि बहिर्घट इति बुद्धिस्तत्रापि न घट एवालम्बनम्। अपि तु बहिर्विषय एव। तत्सामानाधिकरण्यात्तु घटे तथा प्रत्ययः।

अथ स्तम्भादिरूपेण निरालम्बनतोच्यते। संवेदनस्य दृष्टत्वात्तद्विरोधः प्रसज्यते ॥७७३॥

द्विचन्द्रादिषु तुल्यञ्चेदिन्द्रियाप्राप्तितो हि नः।
तत्रानालम्बनोक्तिः स्यान्नार्थसंवित्त्यभावतः ॥ ७७४ ॥

इन्द्रियेण चक्षुरादिनाऽप्राप्तं गृह्णाति बुद्धिरिति निरालम्बनतोच्यते द्विचन्द्रादिबुद्धेः। न तु तदालम्बनमेव। एकचन्द्रप्रतिपत्तिरासीदस्य प्रागिति तेन सम्प्रयोगेण इन्द्रियेण द्वयस्येत्यनालम्बना। न तु सर्वदाऽर्थ एव नास्ति। एकचन्द्रदर्शने सति तद्विपर्यये नालम्बनत्वमिति कारणमनालम्बनत्वप्रतिपत्तेः। एतदेव दर्शयति।

सर्वत्रार्थेन्द्रियाणां नः संयोगसदसत्तया। संवित्तौ विद्यमानायां सदसद्ग्राह्यतास्थितिः ॥७७५॥

भवतस्त्विन्द्रियादीनामभावाद् ग्रहणादृते। नालम्बनत्वहेतुः स्यान्निषेधः तेन युज्यते ॥७७६॥

निरालम्बनाः प्रत्यया इति। तदेतदलीककल्पनामलमलीमसञ्चेताः परेणाहङ्कारमाविष्कृतमिति महती मोहस्य महीयस्ता। तथा हि—

निरालम्बनशब्दस्य स्वांशालम्बाभिधेयता। प्रसिद्धा चेत्प्रमाणेन दूषणं दूषणं कथम् ॥७७७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वह आलोचना, उचित नहीं।

बाह्यार्थ की अनालम्बनता में यदि बाह्यत्व का ग्रहण नहीं होता, तब सिद्धसाधनता है, क्योंकि स्तम्भादि में वैसी बुद्धि नहीं होती (श्लोकवा० पृ० २२९) ॥ ७७२ ॥ यहाँ भी 'बहिर्घटः' ऐसी बुद्धि होती है। वहाँ घर ही आलम्बन है, ऐसा नहीं। अपितु बाह्य विषय की समानाधिकरणता प्रतीत होती है। यदि स्तम्भादि रूपेण निरालम्बनता सिद्ध की जाती है, तब विनोद प्रसक्त होता है (श्लोकवा० पृ० २३०) ॥ ७७३ ॥ द्विचन्द्रादि ज्ञानों में इन्द्रिय की अप्राप्ति होने के कारण अनालम्बनता कही जाती है। अर्थसंवित्ति का अभाव होने के कारण नहीं (श्लोकवा० पृ० २३०) ॥ ७७४ ॥ अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा अप्राप्त अर्थ का ग्रहण बुद्धि करती है, यही द्विचन्द्रादि बुद्धि में निरालम्बनता है, वस्तुतः वह आलम्बन नहीं। एक चन्द्र का ज्ञान पहले था, उसके साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग था, दो चन्द्रों के साथ नहीं। यही उसकी अनालम्बनता है। सर्वदा चन्द्र रूप अर्थ है ही नहीं, ऐसा नहीं। एक चन्द्र का दर्शन होने पर उससे भिन्न की अनालम्बनता होने से प्रतिपत्ति को निरालम्बन कहा जाता है, यही दिखाया गया है। सर्वत्र अर्थ और इन्द्रियों का संयोग सद्-असद् होने के कारण संवित्ति में विद्यमान सद्-असद् ग्राह्यता की स्थिति होती है (श्लोकवा० पृ० २३०)॥७७५॥ आपके मत में इन्द्रियादि का अभाव होने के कारण आलम्बनत्व का हेतु नहीं। अतः निषेध किया जाता है (श्लोकवा० पृ० २३०) ॥ ७७६ ॥ "निरालम्बनाः प्रत्ययाः" ऐसा कहना महामोह की पराकाष्ठा है; क्योंकि निरालम्बनता की कल्पना नितान्त अलीक है। दूसरों के लिए एक मिथ्या अहङ्कार का अवद्योतक है। मोह की महान् महिमा है, जैसा कि कहा गया है कि निरालम्बन शब्द की "स्वांशालम्बनाभिधेयता" है। यदि निरालम्बनता प्रसिद्ध है, तब उसके दूषण को दूषण क्योंकर कहा जा सकता है? ॥ ७७७ ॥ पर-

वार्तिकालङ्कारः

परपरिकल्पिताक्षग्राह्यालम्बननिषेधेन स्वांशालम्बन एवायं शब्दः प्रयुक्त इति प्रकरणादितः प्रतीतिः। अन्यथा शब्दादर्थप्रतीत्यभावात्। तत्र शब्दादयमर्थः प्रतीयते लोके कथमस्य निरूपणमशक्यम्।

ननु न तस्यापि वाचकाद्वाच्यान्तराच्च भेद इति कथं शब्दार्थमात्रस्य धर्मित्वमित्युक्तम्।

सत्यमुक्तमयुक्तन्तूक्तमिति किन्तेन। नेदमिदानीमेवाद्वैतमायातं यतो भेदो न स्यादपि तु भिन्न एव प्रत्ययान्तरेभ्यः परस्परञ्च। तत्र घटशब्दादन्यः प्रत्ययोऽन्यश्च घटः शब्दादित्यादि। शब्दाच्च गृहीतमेवार्थं प्राक् स्मरणविषयतामुपनयन्ति। तत्र ये ते प्रत्यया नीलाद्यालम्बनत्वेन भवतः प्रतीतिगोचरास्ते निरालम्बना इति परमवबोधयतः किमयुक्तम्। यदि कश्चिदनग्निकमेव धूमं प्रत्येति स किमेवं न वक्तव्यः, त्वयाऽनग्नित्वेन यः प्रतीयते धूमः स तथा न भवतीति। कुतो वा दोषसम्भावना वक्तुः। अथ साग्नित्वेन पूर्वदृष्टेन स बोधयितुं शक्य इह तु कथम्। इहापि निरालम्बनं तैमिरिकज्ञानं सिद्धमेव बाह्यस्यासम्भवात्। तत्रापि गगनमालम्बनमिति चेत्। यथा तर्हि केशालम्बने गगनमालम्बनं तथा गगनालम्बनेऽपि अन्यदेव। प्रतिभासमानस्यालम्बनत्वाभावात्। प्रतिभासमानमेव गगनप्रत्यये आलम्बनमिति चेत्। इहाप्यस्तु केशप्रत्यये सर्वत्र विपरीतख्यातिस्मृतिसंप्रमोषः। लौकिकेष्वादिकल्पना न वा क्वचिदिति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

परिकल्पित अक्षग्राह्य आलम्बन का निषेध करके स्वांशालम्बनता की प्रतीति कैसे? क्योंकि शब्द से अर्थ की अन्यथा प्रतीति नहीं होती, जब कि शब्द के द्वारा अर्थ या आलम्बन की प्रतीति होती है, तब निरालम्बनता कैसे?

शंका—कोई अर्थ अपने वाचक शब्द से एवं वाच्यान्तर से भेद प्रतीत होता है, तब शब्दार्थ मात्र में पक्षत्व क्योंकर होगा?

समाधान—आपका कथन युक्ति-युक्त नहीं। यह अद्वैतवाद आधुनिक नहीं कि शब्दार्थ का भेद प्रतीत न हो। वस्तुतः एक प्रत्यय प्रत्ययान्तरों से भिन्न है और प्रत्ययार्थ अन्य प्रत्ययार्थों से भिन्न। घट शब्द से अन्य प्रत्यय होता है और घट अपने शब्द से भिन्न। शब्दों का स्वभाव है कि पहले शक्ति-ग्रहकाल में गृहीत अर्थ का कालान्तर में स्मरण कराते हैं। वहाँ जो ज्ञान नीलादि आलम्बनत्वेन आपको प्रतीत होते हैं, उन प्रत्ययों को आलम्बनों का अबोधन क्योंकर कहा जा सकता है? यदि कोई अग्नि से रहित धूम को देखता है, उसको ऐसा कहा जाता है—"त्वया अनग्नित्वेन यः प्रतीयते धूमः सः तथा न भवति" वक्ता में दोष की सम्भावना कैसे? यदि साग्नित्वेन दृष्ट धूम का ही बोध कराने के लिए वैसा कहता है तो वह कैसे? यहाँ भी तैमिरिक व्यक्ति का केशादि-विषयक ज्ञान निरालम्बन है, क्योंकि बाह्य आकाश में केशादि सम्भव नहीं। वहाँ भी गगन आलम्बन है, यदि ऐसा कहा जाय, तब केश के आलम्बन होने पर जैसे गगन आलम्बनता कही जाती है, वैसे घटादि आलम्बन में अन्य आलम्बनता कही जाती है, वैसे घटादि आलम्बन में अन्य आलम्बनता क्यों नहीं, क्योंकि प्रतिभासमान आलम्बन का अभाव उभयत्र समान है। यदि कहा जाय गगन प्रत्यय में आलम्बन प्रतिभासमान है तब केशादि प्रत्यय में भी केश आलम्बनता क्यों नहीं? सर्वत्र विपरीत ख्याति या स्मृति प्रमोश मानना पड़ता है। लौकिक प्रत्ययों में किसी प्रकार की

वार्तिकालङ्कारः

एकान्त एव ।

अथ सालम्बनमेकचन्द्रज्ञानमुपलब्धवतो द्विचन्द्रविज्ञानं निरालम्बनमिति युक्तम् । एकचन्द्रविज्ञानन्तु कथम् । तदपि तज्जातीयत्वादिति प्रतिपादितम् । बाधितत्वादिति चेत् । तत्रापि बाधितत्वमिति प्रतिपादितम् । न चाप्रतिभासमानमालम्बनमिति प्रतिपादयिष्यामः । ज्ञानत्वञ्च नीलादेः प्रतिपादयिष्यते । यथा च केशादिज्ञानं काशादिनासालम्बनं तथा नीलरूपं ज्ञानं पीतमधुरादिना सालम्बनमिति प्राप्तम् । कथं रसाद्यनालम्बनत्वेन सिद्धसाधनं रूपज्ञानस्य । अथ रश्मितप्तोषरमन्तरेण न भवति जलज्ञानं रसादिकमन्तरेणापि किम्भवति रूपविज्ञानम् । भवति च सत्यजले तप्तोषरमन्तरेणापि जलज्ञानम् । विशेषस्तत्रेति चेत् । परस्परस्य विशेषाद् द्वयमप्यनालम्बनमन्यथा वेति प्राप्तम् । भवतु द्वयमपि सालम्बनमिति चेत् । यदि प्रतिभासमानेन रश्मितप्तोषरमित्यादि न वक्तव्यम् । अप्रतिभासमानमालम्बनं कारणत्वेनेति चेत् । वासना भविष्यतीति सिद्धमस्मत्समीहितम् प्रतिभासमानमेव तर्हि भवतु किमन्येनेति चेत् । प्रत्यक्षानुमानयोर्भेदाभावप्रसङ्गात् प्रतिभासमाने सकलं प्रत्यक्षमेव ।

भ्रान्ताभ्रान्तविभागश्च न स्याल्लोकप्रसिद्धिभाक् । स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपे विपर्ययः ॥७७८॥

प्राप्तेः सालम्बनत्वञ्चेत् प्राप्तिर्नास्तीति साधितम् ।
मरीचिकाजलभ्रान्तेः प्राप्तिः स्यादपि तद् भवेत् ॥ ७७९ ॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कल्पना नहीं होती, ऐसा ऐकान्तिक नियम है ।

यदि एकचन्द्र-ज्ञान सालम्बन है, उसकी उपलब्धि जिसे हो गयी है, उसके लिए द्विचन्द्र विज्ञान निरालम्बन है; किन्तु एकचन्द्र-ज्ञान कैसे ? उसी के लिए भी प्रत्ययत्व जाति होने के कारण निरालम्बन कहा जा चुका है । यदि कहा जाय कि वह बाधित है, क्योंकि उसके बाधतत्व का प्रतिपादन किया जा चुका है । अप्रतिभासमान आलम्बन नहीं होता, यह कहा जा चुका है, आगे भी कहा जायेगा । नीलादि ज्ञान में ज्ञानत्व का प्रतिपादन किया जायेगा । जैसे-केशविज्ञान आकाशादि के द्वारा सालम्बन है, वैसे ही नील रूप विज्ञान पीत और मधुरादि के द्वारा सालम्बन है, यह प्राप्त होता है । रूपज्ञान में रसादि की अनालम्बनता होने के कारण सिद्ध-साधनता कैसे ? रश्मियों के द्वारा तप्त ऊषर भूमि के बिना जलज्ञान नहीं होता । अतः रसादि के बिना रूप-विज्ञान कैसे होगा ? सत्य जल के होने पर तप्त ऊषर के बिना ही जलविज्ञान होता है । यदि कहा जाय कि उसमें विशेषता होती है, तब परस्पर दोनों की विशेषता होने के कारण दोनों ही अनालम्बन या सालम्बन हो जायेंगे । यदि कहा जाय दोनों ही सालम्बन हो जायँ, इसमें कोई क्षति नहीं, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिभासमान आलम्बन के द्वारा वैसा होता है, तब रश्मितत्व ऊषर है, ऐसा नहीं कहना चाहिए । यदि कहा जाय अप्रतिभासमान आलम्बन कारणत्वेन होता है, तब वासना के आधार पर होगा, ऐसा हमारा समीहित सिद्ध हो जाता है, तब प्रतिभासमान ही आलम्बन होना चाहिए, अन्य की क्या आवश्यकता ? ऐसा नहीं कह सकते । अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमान का भेद नहीं रहेगा । सकल प्रत्यक्ष ही हो जायेगा । भ्रान्त-अभ्रान्त विभाग लोक में प्रसिद्ध नहीं रहेगा, क्योंकि स्वरूप में सभी ज्ञान अभ्रान्त होता है, पर रूप में ही विपर्यय माना जाता है ॥ ७७८ ॥ प्राप्ति

वार्तिकालङ्कारः

सर्वदा नास्ति सर्वत्र सर्वदा नेति दृश्यते । अविनष्ट भवेदेव विनाशी स कथम्भवेत् ॥७८०॥

प्रत्यभिज्ञानिरस्तैव ततः सर्वं समंजसम् ।

तस्मात्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतीतेः सकलमनालम्बनम् । उक्तः शेषः ।

एवं परपरिकल्पितं विशेषणमनूद्य यदि तन्निराक्रियते कि इवात्र दोषः ।

अनेनेदमपि निराकृतम् । यदाह । तथा हि—

बहिर्भावाप्रसिद्धत्वात्तेनानालम्बना मतिः । कथञ्च साध्यते नैष पक्षो हि ज्ञायते यदा ॥७८१॥

यथान्यबोधनाशक्तेनाप्रसिद्धे विशेषणे । पक्षसिद्धिस्तथैव स्याद्विशेषणविशेषणे ॥७८२॥

नाप्रसिद्धे पदार्थे हि वाक्यार्थः संप्रतीयते । तत्पूर्वकत्वात्पक्षश्च वाक्यार्थः स्थापयिष्यते ॥७८३॥

मत्वर्थस्य साध्यत्वमिति स्थापयिष्यत इति ।

तदेतदसदेव । येनैव बाह्यमालम्बनमसिद्धं परमार्थतः । परेण केवलमभ्युपगतम् । तत एव निषिध्यते । भ्रान्तिनिरासाय साधनप्रवृत्तेरित्येतत्पश्चात्प्रतिपादयिष्यते । प्रमाणप्रसिद्धस्य तु कथमभावः साध्यः स्यात् । प्रमाणस्य बाधनद्वारेणेति चेत् । न ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सालम्बन होती है, ऐसा सिद्ध किया जा चुका है। मरीचिका, जलभ्रान्ति में भी आलम्बन की प्राप्ति प्रसक्त होगी ॥ ७७९ ॥ सर्वदा, सर्वत्र, नास्ति ऐसा ही देखा जाता है, क्योंकि क्षणिक है, तब अविनष्ट होगा, वह विनाशी कसे ? ॥ ७८० ॥ प्रत्यभिज्ञा का निरास हो जाने से सब समञ्जस हो जाता है। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा प्राप्त सकल प्रतीति, अनालम्बन सिद्ध होती है। इस प्रकार अन्य के द्वारा परिकल्पित विशेषण का अनुवाद करके, यदि उसका निरास किया जाता है, तब क्या दोष ?

इसके द्वारा यह भी निराकृत हो जाता है, जो कि कहा गया है—"बहिर्भाव की अप्रसिद्धि होने के कारण अनालम्बनता मानी जाती है, किन्तु यहाँ पर पक्ष की प्रतीति न होने के कारण साधन प्रयोग कैसे ? ॥ ७८१ ॥ (श्लोकवा० पृ० २३०-३१) जैसे अन्य अर्थ का बोध न हो सकने के कारण विशेषण अप्रसिद्ध होता है। अतः पक्षसिद्धि उसी प्रकार विशेषण की भी प्रसिद्ध हो जायेगी (श्लोकवा० पृ० २३१) ॥ ७८२ ॥ पदार्थ के अप्रसिद्ध होने पर वाक्यार्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वाक्यार्थ स्वरूप पक्ष पदार्थ ज्ञानपूर्वक ही होता है। इसी प्रकार मत्वर्थ की साध्यता स्थापित की जायेगी (श्लोकवा० पृ० २३१) ॥ ७८३ ॥ मत्वर्थ की साध्यता भी स्थापित की जायेगी।"

उक्तार्थ के निराकरण का पदार्थ दिखाया जाता है—"तद् एतत् एव असत् इति" अर्थात् बाह्यालम्बन परमार्थतः असिद्ध है। प्रतिवादी ने केवल स्वीकार कर रखा है, अतएव उसका निषेध किया जाता है। भ्रान्ति का निरास करने के लिए जो कहा गया—"साधनप्रवृत्ति" उसका प्रतिपादन आगे किया जायेगा। प्रमाण के द्वारा प्रसिद्ध पदार्थ का अभाव कैसे सिद्ध होगा ? यदि कहा जाय प्रमाण का बाध करके उसका अभाव सिद्ध किया जा सकता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि किसी प्रमाण का प्रमाणान्तर से बाध मानने पर प्रमाणता का उच्छेद हो जाता है। विरुद्धाव्यभिचारी दोष सम्भव नहीं, इसका प्रतिपादन आगे चलकर किया जायेगा। देश-कालादि में दृष्टार्थ का अन्यतर निषेध किया जा सकता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्राक्-अभाव है।

वार्तिकालङ्कारः

प्रमाणस्य प्रमाणेन बाधनायामनाश्वासेन प्रमाणतोच्छेदप्रसङ्गात् । न विरुद्धाव्यभिचारी नाम सम्भवतीति प्रतिपादयिष्यामः । देशकालादौ दृष्टस्यान्यत्र निषेध इति चेत् । न प्रागभावात् ।

न हि देशान्तरादौ यद्दृष्टमन्यत्र कल्प्यते । भ्रान्त्यभावेन तत्रास्य वृथाभावस्य साधनम् ॥७८४॥

अथ कुतश्चिच्छास्त्रादन्यतो वा प्रमाणाभावादन्यत्र कल्पना । न हि भ्रान्तयो न दृश्यन्ते । एवन्तर्हि—

प्रमाणदृष्टे या भ्रान्तिर्देशादौ क्वचिदेव सा । निवर्त्यते प्रमाणेन भ्रान्तावेव तु काऽक्षमा ॥७८५॥

या हि कदाचिद् भ्रान्तिः सा निवर्त्यते । या तु पुनरत्यन्तं सा किन्न निवर्त्तयितव्या । तन्निवर्त्तने महान् पुरुषकारः ।

ननु साऽन्यत्र बाधकप्रमाणोपदर्शनेन निवर्त्यते । या तु सदा भ्रान्तिरेव सा कथन्निवर्त्तयितव्या । बाधकाभावाच्च कथं सा भ्रान्तिरित्युच्यते । तदप्यसत् । यतो बाधको नाम नास्त्येव । तथा हि—

बाधकः किन्तदुच्छेदी किंवा ग्राह्यस्य हानिकृत् ।
ग्राह्याभावे ज्ञापको वा त्रयः पक्षाः परः कुतः ॥७८६॥

यदि बाधको बाध्यप्रत्ययाभावं करोति तदालम्बस्य वा । तदा तज्जातमजातं वा ।

अजातस्य कथन्तेन तस्याभावो विधीयताम् । न जातु खरशृङ्गस्य ध्वंसः केनचिदाहितः ॥७८७॥
जातस्यापि न भावस्य तथाभावो विधीयते । तदस्तिहेतोः तन्नास्ति बाधकादिति साहसम् ॥७८८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थात् देशान्तरादि में जो दृष्ट है, उसकी कल्पना अन्यत्र नहीं हो सकती । भ्रान्ति का अभाव होने के कारण अभाव की सिद्धि व्यर्थ है ॥ ७८४ ॥ यदि किसी कारण से प्रमाण का अभाव होने से अन्यत्र कल्पना की जाती है, क्योंकि भ्रान्तियों का अभाव नहीं कहा जा सकता तो वैसा सम्भव नहीं, क्योंकि प्रमाण-दृष्ट अर्थ में जो भ्रान्ति होती है, वह किसी ही देशादि में होती है और प्रमाण के द्वारा निवृत्त हो जाती है। भ्रान्ति के निवृत्त होने में कोई आपत्ति नहीं ॥ ७८५ ॥ जो भ्रान्ति कदाचित् होती है, वह निवृत्त हो सकती है, किन्तु जो अत्यन्त होती है, वह क्यों नहीं निवृत्त की जा सकती ? इसका उत्तर है—उसकी निवृत्ति के लिए महान् पुरुषकार्य की अपेक्षा होती है ।

शंका—वह भ्रान्ति अन्यत्र बाधक प्रमाण का उपदर्शन होने से निवारित होती है, किन्तु जो सदा भ्रान्ति हो है, उसकी निवृत्ति क्योंकर होगी ? यह भी वहाँ प्रश्न उठता है—बाधक न होने के कारण उसे भ्रान्ति क्योंकर माना जाता है ?

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि बाधक नाम की कोई वस्तु ही नहीं। यह भी जिज्ञासा होती है कि बाधक क्या उस (ग्रह) का उच्छेदक होता है या ग्राह्य की हानि करने वाला अथवा ग्राह्याभाव का व्यापक ? इस प्रकार तीन पक्ष उठते हैं ॥ ७८६ ॥ यदि बाधक बाध्य के अभाव का साधक है, तब आलम्बन का साधक है या नहीं । वह आलम्बन जात है या अजात । अजात का अभावज्ञापन कैसे होगा ?, क्योंकि खर-शृंगादि का वंश किसी से नहीं होता ॥ ७८७ ॥ जात-भाव का भी अभाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि सिद्धार्थ का बाधक मानना अतिसाहस का काम है

वार्तिकालङ्कारः

यदि जातोऽसौ भावः, केन तस्याभावः क्रियते। दैवरक्ताः किंशुकाः क एनानधुना रञ्जयति।

अथ जातः कारणात्तथा सति यथा जातः तथास्ति कथं विनाशावेशः। तथा सति तदेव नष्टं तदेव सदिति महदसमञ्जसम्। अथ यथा न जातस्तथा विनाश्यते। तथा सति—

अन्यरूपेण जातस्य यद्यन्येन विनाश्यता। नीलादेरन्यपीतादिरूपेणास्तु विनाश्यता ॥७८९॥

न च तस्य तद्रूपमिति त एव दैवरक्ताः। तेन च—

स्वरूपेणासौ पश्चाद् विनाश्यतेऽथ सर्वदा। यदि पश्चाद्विनाश्येत पूर्वं तद्रूपता भवेद् ॥७९०॥

तेन रूपेण जातस्य कथं पश्चाद्विनाशनम्। तदैव तेन रूपेण जातं पश्चाद्विनाश्यते ॥७९१॥

पश्चात्तद्रूपनास्तित्वे दैवरक्तः स किंशुकः। पूर्वमेवास्य नाशश्चेद् कारणादेव तत्तथा ॥७९२॥

नाशकेन परं कार्यं किमस्येति निरूप्यताम्।

एतदालम्बनविनाशेऽपि समानम्। तथा हि—

यथा स जातस्तेनास्य रूपेण न विनाशनम्। यथा न जातस्तेनापि न रूपेण विनाशनम् ॥७९३॥

व्यर्थकत्वादशक्यत्वात्प्रमाणेनाप्रतीतितः। अस्यार्थस्य कथन्न स्यात्कल्पनापि सचेतसाम् ॥७९४॥

अथालम्बनाभावं ज्ञापयति बाधकः। तदप्यसत्। यतः—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

॥७८८॥ अर्थात् यदि भाव जात है, तब उसका अभाव किसके द्वारा किया जायेगा? किंशुक स्वभावतः रक्त होते हैं, उनका रञ्जन किसी से नहीं किया जा सकता। यदि कारण से कार्य पैदा हुआ, तब जैसा उत्पन्न हुआ, वैसा ही मानना होगा, उसका विनाश कैसे? अन्यथा अन्य रूप से जात पदार्थ का अन्य के द्वारा विनाश किया जाता है, तब नीलादि का अपने से भिन्न पीतादि का विनाश हो जायेगा ॥ ७८९ ॥

उसका वह रूप अपना नहीं, अपितु "दैवरक्ताः किंशुकाः" के अनुसार आगन्तुक रूप है। अतः वह पदार्थ स्वरूपेण विनाशी है अथवा सर्वदा। यदि पश्चात् विनाश्यता आती है तब पहले तद्रूपता होनी चाहिए ॥ ७९० ॥ उस रूप से यदि उत्पत्ति मानी जाती है; तब पश्चात् विनाश्यता कैसे? क्योंकि उसी समय उस रूप से उत्पन्न होता है, इस काल में विनाश्यता सम्भव नहीं ॥ ७९१ ॥ पश्चात् तद्रूपता का नाश होने पर वही "दैवरक्ताः किंशुकाः" मानना पड़ता है। यदि पहले ही उसका विनाश माना जाता है, तब उसका कारण होना चाहिए ॥ ७९२ ॥ नाशक का और क्या कार्य होगा? इसका निरूपण किया जाय। द्वितीय पक्ष में भी यह समान है अर्थात् ग्राह्य या आलम्बन का विनाश होने पर यह आपत्ति बनी है, क्योंकि जो जैसा उत्पन्न हुआ, उसका उस रूप में विनाश नहीं हो सकता और जो जिस रूप में उत्पन्न नहीं हुआ, उसका भी विनाश नहीं हो सकता ॥ ७९३ ॥ वैसा इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि व्यर्थता आती है, असम्भव ही है, किसी प्रमाण के द्वारा प्रतीति भी नहीं हो सकती, इस अर्थ की कल्पना भी किसी बुद्धिमान् को नहीं हो सकती ॥ ७९४ ॥

तृतीय पक्ष में जो कहा गया ग्राह्य या आलम्बन का अभाव, वह भी उचित नहीं, क्योंकि जब वह भाव दिखाई देता है तब अभाव नहीं हो सकता और जब वह भाव दिखाई नहीं देता, उसका अदर्शन ही बाधक होता है ॥ ७९५ ॥ उस समय भाव की अप्रसिद्धि होने के कारण अभाव सविशेषण नहीं रहता। विशेषण की अप्रसिद्धि होने

वार्तिकालङ्कारः

यदासौ दृश्यते भावस्तदाभावो न विद्यते । यदा न दृश्यते भावोऽदर्शनन्तस्य बाधकम् ॥७९५॥
तदा भावाप्रसिद्धौ च नाभावः सविशेषणः । विशेषणाप्रसिद्धौ च बोधशक्तिः कथन्तव ॥७९६॥
विशेषणमथान्यत्र सिद्धमत्रानुवादवत् । भावरूपं हि तत्तत्र नाभावस्य विशेषणम् ॥७९७॥
तथैवान्यत्र नास्तीति यद्येवं प्रतिपाद्यते । तथैव प्रतिपन्नस्य निषेधोऽस्य किमर्थकः ॥७९८॥
अन्यथा प्रतिपन्नस्य तथापि न निषेधनम् । प्रागुक्तमेतदेवेति न पुनः पुनरुच्यते ॥७९९॥
न दृश्यते यदा भावः तदा न स्यान्निषेधनम् । स्मृत्याव्याकृष्य तत्रास्य क्रियते चेन्निषेधनम् ॥८००॥
स्मृत्यानुरूपग्रहणे न कथञ्चिन्निषेधनम् । स्मृत्या स्वरूपग्रहणे नाभावस्य विशेषणम् ॥८०१॥
अथ स्मृतौ विकल्पे वा यदेव प्रतिभासते । तत्तावन्मात्रमेवास्ति बाह्यरूपं न विद्यते ॥८०२॥

एवं तर्हि—

लोकप्रतीतावन्यत्र यद्बाह्यमिति भासते । तत्तावन्मात्रमेवास्ति न तु तत्त्वमीक्ष्यते ॥८०३॥
प्रतीतिमात्रमालम्बो न तु तद्बाह्यमीक्ष्यते । स्वप्नादिप्रत्ययेभ्योऽस्य विशेषग्रहणन्न हि ॥८०४॥
प्रतीतिमात्रकादस्य वासनाबलनिर्मितात् । न विशेषपरिच्छेद इत्यनालम्बना मतिः ॥८०५॥

कथन्तर्हि बाध्यबाधकभावप्रतीतिः । यतो हि—

प्रतीयमानस्यैकत्वं भाविनारोप्य तत्र च । बाधकप्रत्ययापाते तन्मध्ये बाधकस्थितिः ॥८०६॥
बाधको यदि नायं स्यादेवमेव भवेदयम् । अविच्छिन्नस्ततश्चेदकारणम्बाधको मतः ॥८०७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर बोधशक्ति नहीं रहती ॥ ७९६ ॥ यदि विशेषण अन्यत्र प्रसिद्ध है, यहाँ उसका अनुवाद किया जाता है, तब वह भाव रूप होने के कारण अभाव का विशेषण नहीं रहता ॥ ७९७ ॥ यदि उसके समान नहीं रहता, ऐसा कहा जाता है, तब उनका निषेध कैसे ? ॥ ७९८ ॥ यदि वह अन्यथा प्रतिपन्न है, तब अन्य रूप से उसका निषेध कैसे होगा ? यह पहले ही कहा जा चुका है, पुनः कहने की आवश्यकता नहीं ॥ ७९९ ॥ जबकि भाव दिखाई नहीं देता, तब किसका निषेध होगा ? यदि स्मृति के द्वारा उसका निरूपण करके निषेध किया जाता है ॥ ८०० ॥ वह सम्भव नहीं, क्योंकि स्मृति के अनुरूप ग्रहण होने पर निषेध कैसे ? स्मृति के द्वारा स्वरूप का ग्रहण होने पर वह अभाव का विशेषण नहीं रहता ॥ ८०१ ॥ यदि स्मृति या विकल्प में जो अवभासित होता है, वह उस समय तावन्मात्र ही होता है, उसका बाह्य रूप नहीं होता ॥८०२॥ यदि ऐसा है, तब लौकिक प्रतीति में जो 'अहं' इस रूप में प्रतीत होता है, वह उतना ही होता है, उसकी तात्त्विकता नहीं देखी जाती ॥ ८०३ ॥ प्रतीत मात्र रूप आलम्बन बाह्य नहीं होता, क्योंकि स्वप्न ज्ञान की अपेक्षा, इस ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता ॥ ८०४ ॥ संस्कारों के आधार पर प्रतीयमान आलम्बन प्रतीत मात्र होता है, वस्तु रूप न होने के कारण ज्ञान का परिच्छेदक नहीं होता । अतः ज्ञान को अनालम्बन माना जाता है ॥ ८०५ ॥

तब प्रश्न उठता है कि बाध्य-बाधक भाव कैसे ?

इसका उत्तर है —प्रतीयमान पदार्थ की एकता का अरोप करके बाधकता की स्थिति मानी जाती है ॥ ८०६ ॥ यदि बाधक नहीं होगा, तब वह पदार्थ वैसे ही रहेगा । अतः वह पदार्थ अबाधित ही रहेगा ॥ ८०७ ॥ अर्थात् सभी भाव पदार्थ बाध-काल से भिन्न काल में स्थायी होते हैं । उस काल के मध्य में अपर स्वरूप का निरूपक प्रत्यय उत्पन्न होता है, तब उससे विच्छिन्नपूर्व आलम्बन अध्यवसाय का विषय होता

वार्तिकालङ्कारः

तथा हि कालान्तरस्थायिता सकलस्य भावस्य। तत्कालमध्य एव यदाऽपरस्वरूपनिरूपणापरः प्रत्ययो भवति। तदा तेन विच्छिन्नं पूर्वकमालम्बनं प्रत्ययो वाऽध्यवसायविषयः। तेन स बाधको व्यवस्थाप्यते। तथा हि यद्ययं न स्यात्तदाऽविच्छिन्नमेव पूर्वकविज्ञानालम्बनं भवेदन्यकालवत्। ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां बाधकेन विच्छिन्नमिति गम्यते। एवं विनाश्यविनाशकभाव आलम्ब्य आलम्बनभावश्च। तथा हि—

परोक्षे भावितामर्थे विनिश्चित्य घटादिके। तदाकारोदयज्ञानन्तदालम्बनतास्थितिः ॥८०८॥

तथा

स्वच्छं स्फटिकवज्ज्ञानं यो यत्रोपचीयते। तं तमाकारमासाद्य तच्चकास्ति यथा तथा ॥८०९॥

अपरोक्षस्तावदस्तीति कुतश्चिदागमादनुमानतो वावसितः स्वच्छञ्च विज्ञानम्। यदि न स्यादयमर्थः परिप्लवेतैव केवलं किमस्ति किमत्र नास्तीति। परिदृष्टे चार्थात्मनि प्लवमान इव तीरमासाद्य स्थिरीभवति तेन तदालम्बनमिति व्यवस्थाप्यते। तथा हि—

चिन्ताव्यापृतचेतस्कः प्लवमानेन चेतसा। इदं तदा दृष्टमिति पूर्वदृष्टे स्थिरीभवेत् ॥८१०॥

दृष्टश्रुतविस्मृतं हि विकलपयन् किं किं दृष्टं तत्र प्रपञ्चकथायां श्रुतं वेति पर्यन्वेषणपरो यदा यथाश्रुतादिकमभिमुखीकरोति तदाभिमुखीभूते स्थिरत्वेन तत्र प्लवमानतापरित्यागनिमित्तमालम्बनतया व्यवस्थापयतीति लोकव्यवहारः।

तत्त्वमेव किमेवं चेत् न भवत्यस्य वस्तुनः। न प्रत्यक्षानुमानाभ्यामप्रतीतेरवस्तुता ॥८११॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है। अतः वह बाधक माना जाता है। उसका आकार इस प्रकार होता है—"यदि अयं न स्यात् तदा अविच्छिन्नमेव पूर्वविज्ञानालम्बनं भवेत् अन्यकालवत्।" अतः अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर बाधक के द्वारा पूर्व आलम्बन विच्छिन्न होता है। अतः विनाश्य-विनाशक भाव और आलम्ब्य-आलम्बन भाव व्यवस्थित होता है। परोक्ष-भावी घटादि पदार्थों के निश्चित होने पर ज्ञान तदालम्बनक उत्पन्न होता है ॥८०८॥ स्फटिक के समान स्वच्छ जो ज्ञान जहाँ उत्पन्न होता है, विशेषाकारों से सुसज्जित प्रतीत होता है। इसी प्रकार जो भी स्वच्छ स्फटिक के समान ज्ञान उत्पन्न होता है, उस-उस आकार को प्राप्त करके प्रतिभासित होता है ॥ ८०९ ॥ किसी आगम या अनुमान के आधार पर उसका परोक्ष निश्चय होता है। यदि वह अर्थ वैसा ही होता, तब सन्देह हो जाता कि यह वस्तु ऐसी ही है अथवा नहीं। जैसे—नदी के बीच में तैरते हुए व्यक्ति को स्थिरता का लाभ नहीं होता, वैसे ही उक्त व्यक्ति सन्देह में पड़ा रहता है और तट की प्राप्ति हो जाने पर वह स्थिर होता है। अतः तट को आलम्बन कहा जाता है। वैसे ही चिन्ता से व्यग्र तैरते हुए चित्त को स्थिरता का लाभ तब होता है, जबकि वह पूर्वदृष्ट आलम्बन का लाभ करता है ॥ ८१० ॥

वह पदार्थ दृष्ट है या श्रुत है अथवा विस्मृत। इस प्रकार का विकल्प उठाकर क्या-क्या देखा? इस प्रकार की प्रपञ्चकथा में श्रुतपक्ष की अन्वेषणा में जब यथाश्रुतादि का अभिमुखीकरण करता है, तब उसमें स्थिरता की ऊहा में इतस्ततः तैरने का त्याग एवं उसके निमित्त आलम्बन की व्यवस्थापना होती है, ऐसा लोकव्यवहार है। इसका तात्त्विक स्वरूप क्या है? ऐसी विचारणा में प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर किसी वस्तु की प्रतीति न होने पर अवस्तुता ही स्थिर होती है ॥ ८११ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न तावत्परोक्षस्य सत्ता प्रत्यक्षेण प्रतीयते। तदभावादनुमानमपि नेति। कुतः? सति परोक्षप्रतीतौ सद्भावे तदालम्बनता प्रत्यक्षस्य सिध्येत्। सालम्बनतायाञ्च प्रत्यक्षस्य वस्तुसम्बद्धं सिध्यति। ततोऽनुमानं तत्प्रतिबद्धवस्तुलिङ्गोदयाद्वस्तु गमयति ततोऽनुमानप्रसिद्धवस्तुविषयत्वात्सालम्बनं प्रत्यक्षं ततो वस्तुसम्बन्धोऽनुमानस्य ततो वस्तुगतिरिति चक्रकमव्यवस्थापि भवेदिति न वस्तुप्रतिपत्तिसम्भवः।

एवमप्रतिपन्ने हि वस्तुन्युपगमः परम्। प्रमाणरूपाविज्ञानात्पूर्वसंवित्तिसम्भवात् ॥८१२॥
तत्प्रतीत्यनुसारेण विशेषणविशेष्यता। मया प्राक् प्रत्यपादीदं तद्रूपामर्षवर्जनात् ॥८१३॥
त्वया वा पुनरामर्शे कथमस्त्वस्य वेदनम्। एवं निरूपणायाञ्चेत् स तथा नास्ति तत्त्वतः ॥८१४॥
नास्त्येव तत्र को दोषो यतः पर्यनुयुज्यते। बाध्यबाधकभावश्चेत् प्रतीत्योः परपूर्वयोः ॥८१५॥
स्वप्रतीतौ कस्य दोषो येन पर्यनुयुज्यते। आत्मानमेव किं कश्चिदनुयुञ्जन् प्रवेद्यते ॥८१६॥
भ्रान्तिरेव कुतस्तस्य नात्मा पर्यनुयोगभाक्। भ्रान्तित्वेऽवसिते त्वत्र कारणान्वेषणेन किम् ॥८१७॥
परोऽपि प्रतिपाद्येत यदैवं सुपरिस्फुटम्। तदा सोऽपि न वक्त्येव कुतो मे भ्रान्तिरीदृशी ॥८१८॥

यदा हि भ्रान्तिसम्भवे स्वयं परामर्शवतः पुनरसौ निवर्त्तते नेदं रजतमिति, तदा किमात्मनः पर्यनुयोगं कश्चित्करोति—कथमहमप्रतिपन्ने रजते तद्विशेषणमभावं प्रतिपाद्ये विशेषणे चाप्रसिद्धे कथन्तद्विशेषणे चाप्रसिद्धे कथन्तद्विशेषणं परोक्षं जानीयाम्। येन मम पक्षदोषो न भवेत्। परप्रतिपादनेऽप्येवमेव।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

परोक्षार्थ की सत्ता प्रत्यक्ष से प्रतीत नहीं होती। अतएव अनुमान भी नहीं होता, क्योंकि परोक्ष प्रतीति के होने पर ही प्रत्यक्ष के द्वारा तदालम्बनता सिद्ध होती है। सालम्बनता के होने पर प्रत्यक्ष में वस्तु का सम्बन्ध सिद्ध होता है, उससे सम्बन्धित लिङ्ग का उदय होने से वस्तु की अवगति होती है। तब अनुमान से सम्बन्धित वस्तु-विषयता से अनुमान में सालम्बना और उसके पश्चात् वस्तुगति होती है, इस प्रकार का चक्रक और अव्यवस्था होने के कारण वस्तु प्रतिपत्ति सम्भव नहीं। इस प्रकार वस्तु का निश्चय न होने पर उसका अभ्युपगम होता है। प्रमाणरूपता का ज्ञान न होने से पूर्वसंवित्ति सम्भव नहीं हो पाती ॥ ८१२ ॥ उसकी प्रतीति के अनुसार विशेषणता-विशेष्यता का प्रतिपादन उस रूप का परामर्श न होने पर भी होता है ॥ ८१३ ॥ यदि यह प्रश्न उठाया जाता है कि आपको इसका वेदन कैसे हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में वैसा कोई तात्त्विक निश्चय नहीं किया जा सकता ॥ ८१४ ॥ वहीं कहा जा सकता है कि कोई वस्तु नहीं, तब क्या दोष? यदि कहा जाय बाध्य-बाधकभाव की प्रतीति होती है ॥ ८१५ ॥ तब यह विचारना होगा कि अपनी प्रतीति में किसका दोष? क्या कोई व्यक्ति अपनी प्रतीति के विषय में ऐसा पर्यनियोग करता है कि यह प्रतीति कैसे हुई? ॥ ८१६ ॥ यह उसको भ्रान्ति है, ऐसा पर्यनियोग अपने ऊपर नहीं कर सकता। भ्रान्ति का निश्चय होने पर उसके कारण का अन्वेषण किस लिए? ॥ ८१७ ॥ दूसरा व्यक्ति स्फुट रूप से प्रतिपादित करता है कि वह भी नहीं कह सकता कि वह भ्रान्ति कैसे हुई? ॥ ८१८ ॥ जबकि भ्रान्ति की सम्भावना में बाध-दर्शन से निवृत्ति होती है-'नेदम्-रजतम' उसके अभाव का बोध करके वस्तु का निश्चय नहीं करता। अप्रसिद्ध विशेषण का परोक्ष निश्चय नहीं होता, जिससे कि पक्षदोष प्रसक्त न हो, दूसरे व्यक्ति के कहने पर भी वही दोष बना रहता है।

वार्तिकालङ्कारः

ननु तत्र सत्यरजतदर्शने सम्भवति भ्रान्तिरिह पुनर्न किञ्चिद् दृष्टमिति कुतो भ्रान्तिः एतदुत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः। अपि च। भ्रान्तिश्चेत्परमार्थेन कथञ्चिदवगता किमिदानीं भ्रान्तिकारणान्वेषणप्रयासेन।

यदि कारणं नास्ति भ्रान्तिरेव न भवेत्, नैतदस्ति। यतो हि—

कारणे सति न भ्रान्तिः परमार्थेऽपि कारणम्। सकारणत्वाद् भ्रान्तिश्चेत्तदापीष्टं विहन्यते॥८१९॥

न कारणमस्तीत्येव भ्रान्तिः। अन्यथा सर्वा भवेद भवतो भ्रान्तिः। अभ्रान्तावपि पर्यनुयोगेन भवितव्यमेव कुत इयं भ्रान्तिः। तथाप्रतीतेरिति चेत्। भ्रान्तावपि समानमेतत्। अभ्रान्तिपूर्विका भ्रान्तिश्चेत्। यदि कथञ्चिदभ्रान्तिर्नाम नास्त्येव कारणाभावात्किन्नु भ्रान्त्या भवितव्यम्। भवतु कथं प्रत्येतव्या। अभ्रान्तिविपर्ययेण हि भ्रान्तिरिति व्यवस्थाप्यते। समानमितरत्रापि भ्रान्तिविपर्ययेणाप्यभ्रान्तिरिति।

अथ विधिरूपेणाभ्रान्तिर्न तु भ्रान्तिविपर्ययेण। भ्रान्तिस्तु बाधके सति। ततो विपर्ययादेवाभ्रान्तेर्भ्रान्तिरिति तदप्यसत्।

विधिरूपेण यद् दृष्टं तत्तदेव तथेर्यते। न बाह्ये विधिरस्तीति भ्रान्तिस्तत्रेति निश्चयः॥८२०॥

अथ यत्र कारणं सा भ्रान्तिरिति नोच्यते। या भ्रान्तिः सा कारणं विना न भवतीति। एवन्तर्हि सविशेषणो हेतुः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—वहाँ सत्य रजक का दर्शन होने पर—"न किञ्चित् अत्र" इस प्रकार की भ्रान्ति कैसे होगी? इसका प्रतिपादन आगे चलकर किया जायेगा। यदि यह भ्रान्ति है तब परमार्थतः अवगति कैसे होगी? भ्रान्ति कारण की अन्वेषणा का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि यदि कारण नहीं तब भ्रान्ति ही नहीं होनी चाहिए।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि कारण के होने पर भ्रान्ति नहीं हो सकती। परमार्थतः रजत भी हो सकती है। कारण के होने पर भी यदि भ्रान्ति है, तब इष्टविघात होता है॥८१९॥ कारण के न होने पर कार्य का होना ही भ्रान्ति है, अन्यथा सभी प्रतीतियाँ भ्रमात्मक हो जायेंगी। अभ्रान्ति में ही यह प्रश्न उठेगा कि यह भ्रान्ति कैसे? यदि कहा जाय कि वैसी ही प्रतीति है, तब भ्रान्ति में भी समानरूपेण प्रश्न उठना चाहिए। यदि कहा जाय कि अभ्रान्ति ज्ञानपूर्वक भ्रान्ति होती है, तब कथञ्चित् अभ्रान्ति नहीं है, क्योंकि उसका कारण नहीं, बिना कारण के भ्रान्ति क्योंकर होगी? फिर भी भ्रान्ति होती है, ऐसा विश्वास कैसे होगा? क्योंकि अभ्रान्ति के विपरीत होने पर ही भ्रान्ति व्यवस्थित होती है। उसी प्रकार भ्रान्ति के अभाव में अभ्रान्ति कही जाती है।

शंका—यदि कहा जाय कि यहाँ भ्रान्ति विधिरूपेण अभ्रान्ति है न कि भ्रान्ति के विपर्यय में। किसी प्रतीति को भ्रान्ति तब माना जाता है, जब उसका बाधक उपलब्ध हो। अतः अभ्रान्ति का विपर्यय होने से ही भ्रान्ति होती है।

समाधान—उक्त शंका असत् है, क्योंकि विधिरूप से जो वस्तु जैसी देखी जाती है, वह वैसी ही मानी जाती है। बाह्यार्थ में विधि सम्भव नहीं। अतः वहाँ निश्चित रूप से भ्रान्ति होती है॥८२०॥ यदि कहा जाय कि जहाँ कारण होता है, वहाँ भ्रान्ति होती है, ऐसा नहीं कहा जाता। अपितु जो भ्रान्ति है, वह कारण के बिना नहीं होती, तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार हेतु सविशेषण हो जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

भ्रान्तिकारणसद्भावाद् भ्रान्तिर्भवति नान्यथा ।
ज्ञाते च भ्रान्तरूपत्वे तत्कारणविनिश्चयः ॥८२१॥

सविशेषणे हि हेतौ भ्रान्तिः प्रथमं ज्ञातव्या, पुनः सापि भ्रान्तिः कारणादिति अनवस्था। तस्माद्येन रूपेण सा भ्रान्तिस्तद्रूपविज्ञानादेव व्यवस्थाकारणं भवतु मा वाभूत्। स्वरूपेण हि भावो भवति न कारणरूपेण। तत्स्वरूपं कुत इति चेत्। किमनेन। इयमपि भ्रान्तिस्वरूपप्रतिपत्तिर्भ्रान्तिर्न भवतीति कुतः। यथेयं प्रतिपन्ना तथा यदीयमपि भवतु को दोषः। पूर्विका न भ्रान्तिरिति चेत्। तदप्यसत्।

रजतप्रतिपत्तौ स्यात् शुक्तिकाप्रत्ययक्षये। शुक्तिकाप्रत्ययस्यापि यद्यन्यः क्षयकारकः ॥८२२॥
ततः किं सत्यता तस्य प्रत्ययस्य भवेत्पुनः। रजतग्राहिणः किं वा द्वयं नास्तीति नेक्ष्यते ॥८२३॥
अथापि सत्यता क्वापि प्रतीता यदि तद्भवेत्। तत्रावष्टम्भसद्भावादितरत्र विपर्ययः ॥८२४॥
बाधकप्रत्यये हि स्यादितरत्र विपर्ययः। बाधको यदि नास्त्येव तद्विपर्ययसत्यकृत् ॥८२५॥
विपर्ययस्यासद्भावं कस्तदा प्रतिपादयेत्।

अत्रोच्यते—

यदि विपर्ययवित्तिरथान्यथा कथमिवाभवनस्य विनिश्चयः।
अनुपलब्धिकृतोऽथ विनिश्चयः किमपरेण विनिश्चयकारिणा ॥ ८२६ ॥
विपर्ययोपलब्धिश्चेत्तस्यासिद्धिर्निरुच्यते। स्वसंविन्मात्रमेवास्तु बाह्यस्यासंविदा ततः ॥८२७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थात् भ्रान्ति का कारण होने पर ही भ्रान्ति होती है, अन्यथा नहीं। भ्रान्तिरूपता का निश्चय हो जाने पर उसके कारण का निश्चय हो जाता है ॥८२१॥ हेतु के सविशेषण होने पर भ्रान्ति का ज्ञान होता है। भ्रान्ति के कारण की प्रतीति ही भ्रान्ति रूप है। अतः अनवस्था प्राप्त होती है। इस अनवस्था का परिहार करने के लिए यह मानना आवश्यक है कि जिस रूप से भ्रान्ति होती है, उस रूप के विज्ञान से ही व्यवस्था का कारण हो अथवा नहीं। भाव स्वरूपेण ही होता है, कारणरूपेण नहीं, किन्तु उसका स्वरूप कैसे प्राप्त होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भी प्रश्न उठ जाता है कि यह भ्रान्ति की प्रतीति भ्रान्ति क्यों नहीं? यदि ऐसा है, तब इसे भी भ्रान्ति मानने में क्या दोष? यदि कहा जाय कि पूर्वप्रतीति भ्रान्ति नहीं तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि रजत की प्रतीति तभी होती है, जब कि सूक्तिका की प्रतीति क्षीण हो जाती है। सूक्तिका प्रतीति का क्षय तभी होता है, जबकि कोई क्षय कारक हो ॥ ८२२ ॥

सूक्तिका प्रत्यय का क्षय होने पर रजतग्राह्य प्रत्यय क्या सत्य है अथवा सूक्ति और रजत दोनों का अभाव है ॥८२३॥ यदि किसी भी प्रतीति में सत्यता होगी, वहाँ अवष्टम्भ (आलम्बन) का सद्भाव मानकर अन्यत्र विपर्यय मानना होगा ॥८२४॥ बाधक प्रत्यय के आधार पर बाह्यार्थ का विपर्यय होगा। यह तभी होगा, जब उसका विपर्यय का सत्य कारक न हो ॥८२५॥ तब विपर्यय का असत्-भाव कैसे प्रतिपादित होगा? इसका उत्तर यह है कि यदि विपर्यय ज्ञान है, अन्यथा उसके अभाव का निश्चय कैसे होगा? यदि अनुपलब्धि के आधार पर अभाव का निश्चय होता है तब अन्य की क्या आवश्यकता? ॥८२६॥ यदि विपर्यय की उपलब्धि है तब उसकी असिद्धि कही जाती है— बाह्य विषय के न होने से स्वसंवेदन मात्र निश्चित होता है ॥८२७॥ अतः

वार्तिकालङ्कारः

तस्मादनुपलब्धिरेव बाधकं प्रमाणं नापरमिति न्यायः। सा चात्राप्यस्तीति कथं सालम्बनं विज्ञानमिति। ततोऽवेद्यवेदकात्मबुद्धिः।

यत्पुनरुक्तं मत्वर्थनिरासः साध्यत इति तदप्यत्यन्तमयुक्तम्।

मत्वर्थाभाव एवात्र साध्यते परमार्थतः। निरालम्बनत्वसाध्यत्वमन्यथा न भवेत्तदा ॥८२८॥

निरालम्बनं विज्ञानमिति। आलम्बनत्वस्याभावः साधयितुं प्रस्तुतो येन कथन्तस्य स एव साध्य इत्युपरि निक्षिप्यते। इच्छया हि विषयीकृतः पक्षः स कथमन्यथा क्रियेत। यो यः साधयितुमिष्टः, स एव पक्षः। अथ स तथाभूतः साधयितुमशक्यः। तथा सति हेतुदोषः एवासौ न पक्षदोषः, अभाववत्त्वेन साधने मत्वर्थ एव।

न तु पारमार्थिकमत्वर्थसाध्यतायां प्रमाणमस्ति। कल्पितस्य धर्मिधर्मभावस्याश्रयणात्। अन्यव्यावृत्तिद्वारेण स्वभावभूत एव धर्मो व्यतिरेकेण व्यवस्थाप्योऽर्थवत्तया कल्प्यते। तत्र यद्यपि नामायं संवृत्या व्यवहारः, तथापि न तावता क्षतिः। गजनिमीलनेन तावदयं व्यवहारः प्रवर्त्यताम्। पुनरयमपि निरूप्यमाणो विशीर्येत एव।

ननु केयं संवृतिः। यदि वस्तु तदेव वक्तव्यम्। किन्तत्र नामान्तरेण। अथ नास्ति किञ्चित्तदा संवृत्तिरिति किन्नामान्तरेण।

सत्याभासः परन्तत्र न तत्त्वं परमार्थतः। विचार्यमाणशून्यत्वे संवृतिः सेति गीयते ॥८२९॥

तत्त्वसंवरणात्संवृतिः प्रतिभासमानं हि रूपमसदिति न तावता युक्तम्। विचार्य-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुपलब्धि ही बाधक प्रमाण है, अन्य और कुछ भी नहीं। वह (अनुपलब्धि) यहाँ भी है। अतः विज्ञान सालम्बन कैसे होगा? फलतः वार्तिककार ने जो विगत ३३० वीं कारिका में कहा है—"अवेद्यवेदकाकारा" अर्थात् विज्ञान वेद्य और वेदक दोनों प्रकार के बाह्याकारों से रहित है। वह कहना अत्यन्त यथार्थ है।

यह जो कहा है कि मत्वर्थ का निरास किया गया, वह भी अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि यहाँ पर परमार्थतः मत्वर्थाभाव सिद्ध किया जाता है, अन्यथा निरालम्बनत्व की सिद्धि न की जाती ॥ ८२८ ॥ विज्ञान निरालम्बन है, आलम्बन का अभाव सिद्ध करने के लिए उसका उपक्रम किया जाता है। अपनी इच्छा से जो पक्ष स्वीकार किया गया है, उसका अन्यथाकरण नहीं किया जा सकता, जो सिद्ध करने के लिए अभीष्ट होता है, उसे ही पक्ष कहते हैं। यदि वह वैसा सिद्ध न किया जा सके तब हेतुदोष ही प्राप्त होता है, पक्षदोष नहीं। अभाववत्व रूप से सिद्ध करने पर मत्वर्थ शेष रहता है। पारमार्थिक मत्वर्थ की साध्यता में कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि कल्पित धर्मी और धर्म-भाव का आश्रयण किया जाता है। अन्य व्यावृत्ति के द्वारा स्वभावभूत धर्म व्यतिरेकता व्यवस्थापित होता है। उसकी अर्थवत्ता भी कल्पित होती है वहाँ यद्यपि यह सांवृत्तिक है, तथापि किसी प्रकार की क्षति नहीं। गजनिमीलन न्याय से यह व्यवहार प्रवृत्त होता है। इसका विशेष निरूपण करने पर यह विशीर्ण हो जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह संवृत्ति क्या है? यदि वह वस्तु है, तो उसका कथन करना चाहिए। उसका नामान्तर-उच्चारण व्यर्थ है। यदि संवृत्ति कोई पदार्थ नहीं, तब यह संवृत्ति नाम किसका? सत्याभास की ही प्रवृत्ति होती है। परमार्थतः कुछ भी नहीं। विचार करने पर जो शून्य हो उसे संवृत्ति कहते हैं ॥ ८२९ ॥ तत्त्व का संवर्ण होने से संवृत्ति

वार्तिकालङ्कारः

माणतायां पुनरसत्त्वादभावनिश्चयः। ततः परमार्थापेक्षया संवृतिरुच्यते। संवृत्यास्तीति भ्रान्तजनापेक्षयास्तीति। न च भ्रान्तस्य बाधकोदय इति सत्यतयाऽभिमानात्संवृतिसत्यन्तदुच्यते। तत इदमपि वक्तुमेव।

अभावे भ्रान्तता केयं भावश्चेद् भ्रान्तता कथम्।
अतत्त्वाभासो भ्रान्तिश्चेदतत्त्वे संवृत्तिर्न किम् ॥८३०॥

अतत्त्वे सत्यता नो चेत्सत्याभासो भवेन्न किम्। ततः संवृतिसत्यत्वं सत्याभासत्वमित्यपि ॥८३१॥
वञ्चनोक्तिः कथन्तस्यां लालावक्त्रासवादिवत्। यस्य सत्यावभासित्वमसत्येऽप्यसमञ्जसम् ॥८३२॥
तस्यासत्यावभासित्वकथने कैव वञ्चना। तस्मात्पराशयाज्ञाने आत्मोत्कर्षाभिधित्सया ॥८३३॥
प्रलापः केवलस्तस्मादन्या नास्त्येव वञ्चना।

तदास्तान्तावदेतत्। अन्यदुच्यते। यदत्रैव परेणोक्तम्—

पर्युदासे निषेधे वा व्यतिरिक्तस्य वस्तुनः। प्रमेयत्वाद्यभेदेन जगतः सिद्धसाधनम् ॥८३४॥

प्रमेयत्वेन व्यतिरिक्ततैव नास्ति संवेदनात्सर्वस्य जगतः। व्यतिरिक्तस्यालम्बनस्याभावात्। सिद्धमेव साधनम्।

यदि चात्यन्तभिन्नेन निरालम्बनतोच्यते। कथञ्चिच्चेत् विरुध्येत प्राक्पक्षः कल्पितेन ते ॥८३५॥
वस्त्वाद्याकारभेदेन धीर्निरालम्बनेष्यते। ग्राहकाच्चेदभिन्नत्वं शक्तिभेदो विरुध्यते ॥८३६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कही जाती है। प्रतिभासमान रूप विचार करने पर सत्य जो न ठहर सके वह संवृत्ति है। 'संवृत्यास्ति' ऐसा व्यवहार भ्रान्त जनों की अपेक्षा किया जाता है। भ्रान्त पुरुष को बाधक ज्ञान का उदय नहीं होता। अतः उसकी दृष्टि में सत्य होने के कारण वह संवृत्ति सत्य कहा जाता है। अतः यह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि अभाव होने पर यह भ्रान्तता कैसी? यदि भाव है, तब भ्रान्तता कैसी? यदि अतत्त्वाभास रूप भ्रान्ति है तब संवृत्ति क्यों नहीं ॥८३०॥ अतत्त्वाभास यदि सत्यता नहीं, तब सत्याभास क्यों नहीं? अतः संवृत्ति सत्यत्व, सत्याभासत्व को कहा जाता है ॥८३१॥ कुमारिल भट्ट ने जो कहा है—'तुल्यार्थत्वेऽपि तेनैषां मिथ्यासंवृत्तिशब्दयोः। वञ्चनार्थं उपन्यासो लालावक्त्राऽऽसवादिवत्"। (श्लो०वा० पृ० २१९) अर्थात् मिथ्या और संवृत्ति दोनों पर्याय हैं। तथापि मिथ्यार्थ में संवृत्ति शब्द का प्रयोग वैसी ही एक वञ्चना है जैसे कि—नायिका के मुख की लार को वक्त्रासव कहना। वह वञ्चना भी उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि संवृत्ति में सत्याभासत्व का सामञ्जस्य नहीं होता ॥८३२॥ यदि असत्यावभास है, तब उसे वैसा कहना वञ्चना कैसी? अतः परकीय आशय को न जानकर आत्मोत्कर्षता प्रदर्शन मात्र है ॥८३३॥ वह केवल प्रलाप है, अन्य किसी प्रकार की वञ्चना नहीं। उसी स्थान पर जो श्लोकवार्तिककार ने कहा है—"पर्युदासे निषेधे वा व्यतिरिक्तस्य वस्तुनः। प्रमेयत्वाद्यभेदेन जगतः सिद्धसाधनम् ॥८३४॥ (श्लोकवा० पृ० २३१)। अर्थात् निरालम्बन शब्द, यदि पर्युदास है, तब भी सिद्धसाधनता और प्रसज्यप्रतिषेध है, क्योंकि ज्ञान से अतिरिक्त घटादि पदार्थ सिद्ध नहीं होता। प्रमेयत्वेन अभिन्न है।

श्लोकवार्त्तिककार ने और भी जो कहा है—'यदि च' इत्यादि से। अर्थात् यदि अत्यन्त भिन्न विषय को लेकर निरालम्बनता कही जाती है अथवा कथञ्चित्, तब पूर्व कल्पित से विरोध उपस्थित होता है ॥८३५॥ (श्लोकवा० पृ० २३१)। यदि 'अत्यन्तभिन्नम् आलम्बनं नास्ति" इस प्रकार की निरालम्बनता मानी जाती है, तब स्वाभ्युप-

वार्तिकालङ्कारः

निरालम्बनबुद्धेश्च यद्युत्पत्तिः प्रसाध्यते । दृष्टत्वात्सेष्यतेऽस्माभिर्बाह्यग्राह्यविवर्जिता ।।८३७।।

सम्यक्त्वं पुनरेतस्यास्त्वं नेच्छसि कथञ्चन ।
आत्मांशेऽवसिता ह्येषा मृगतृष्णाम्बुबुद्धिवत् ।।८३८।।

चैत्यादिप्रत्ययानाञ्च निरालम्बनता यदि । धर्मभूता न गृह्येत साधनोत्थितया धिया ।।८३९।।

ततो विषयनानात्वात्प्रतियोग्यनिराकृतेः । रूपात्सालम्बनप्राप्तिः सती केन निवार्यते ।।८४०।।

यदि प्रत्ययशब्दोऽपि प्रत्ययत्वेन गृह्यते । संवित्त्यालम्बनत्वञ्च वार्यते सिद्धसाधनम् ।।८४१।।

बुद्ध्युत्पादनशक्तिश्चेद्वार्या साध्यन्न सिध्यति ।
साधनस्य प्रयोगो हि बोधकत्वाद्विना न ते ।। ८४२ ।।
न चाभिधास्त्यसम्बन्धादृते भेदाच्च नास्त्यसौ ।
न चासौ तद्गतम्भेदं बोधयन्त्या धिया विना ।।८४३।।

प्राश्निकैर्नागृहीते च वाक्ये सावयवे पृथक् । पक्षे हेतौ सदृष्टान्ते वादिनि प्रतिवादिनि ।।८४४।।

साधनस्य प्रयोगः स्यात्तदुत्पत्त्येष्यते यदि । पूर्वाभ्युपगमेनैव प्रतिज्ञा बाध्यते तदा ।।८४५।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

गम विरोध उपस्थित होता है । अर्थात् आलम्बन कथञ्चित् विषयाकार, कथञ्चित् ज्ञानाकार माना जाता है । अतः अभ्युपगम विरोध उपस्थित होता है ।।८३६।। (श्लोकवा० पृ० २३२) । बुद्धि असाधारण संवित् रूपेण अर्थ का आलम्बन करती है, किन्तु व्योमादि साधारण जड़ रूप से अनालम्बन ही होते हैं । यदि ग्राह्य को पक्ष बनाकर ग्राहक से अभेद सिद्ध किया जाता है, तब काल्पनिक शक्ति-भेद को लेकर विरोध उपस्थित होता है । यदि अर्थान्तर की आलम्बनता बुद्ध्यन्तर के समान मानी जाती है, तब वह अभ्युपगत ही है । अतः सिद्धसाधनता दोष प्रसक्त होता है ।।८३७।। (श्लोकवा० पृ० २३२) । जिस तरह से ज्ञान स्वांशपर्यवसायी होते हैं, उसी प्रकार यह ज्ञान भी स्वांशपर्यवसायी है, अन्यथा वहाँ हेतु अनैकान्तिक हो जाता । यह बुद्धि भी मृगतृष्णा बुद्धि के समान आत्मांशपर्यवसायी है ।।८३८।। (श्लोकवा० पृ० २३२) । चैत्यादि प्रतीतियों को यदि निरालम्बन माना जाता है, तब उन प्रतीतियों में धर्मालम्बनता स्वीकृत होने के कारण अभ्युपगत विरोध उपस्थित होता है ।।८३९।। (श्लोकवा० पृ० २३३), अतः यदि प्रत्यय शब्द को पक्ष बनाकर स्तम्भादि में तदालम्बनता का निराकरण किया जाता है, तब सिद्ध-साधनता दोष है, क्योंकि अचेतन होने के कारण वह शब्द किसी प्रकार का ज्ञान नहीं रखता । उसके लिए कहा जाता है—"न किञ्चित् जानाति, न किञ्चित् आलम्बते" ।।८४०।। (श्लोकवा० पृ० २३३) । यदि प्रत्यय शब्द को पक्ष बनाकर बुद्धि अनुत्पादकत्व रूप निरालम्बनता की सिद्धि की जाती है, तब सिद्ध-साधनता दोष है ।। ८४१ ।। (श्लोकवा० पृ० २३३) । यदि प्रत्यय शब्द में बुद्धि उत्पादन शक्ति का निवारण किया जाता है, तब साध्य की सिद्धि नहीं की जाती है । अतः अज्ञानात् साध्यरूप धर्मी की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि साधन का प्रयोग बोधकत्व के बिना सम्भव नहीं ।।८४२।। (श्लोकवा० पृ० २३३) । पूर्व अभ्युपगम का विरोध भी "न चैत्यादि" तीन श्लोकों से किया जाता है । अर्थात् साधन वाक्यगत शब्द और उनके वाच्यार्थों का भेद और उनका विषय भाव सम्बन्ध मानकर प्रयोग किया जाता है । अतः प्राश्निकों के सम्बन्ध एवं वाच्यार्थ रूप पक्षादि का अपेक्षित ज्ञान मानकर ही साधन का प्रयोग करना होगा । फलतः सालम्बनता का

वार्तिकालङ्कारः

इति सकलं यत्किञ्चिदेतत् । यतः—

विज्ञानाद्व्यतिरिक्तेन निरालम्बनमुच्यते । न च नीलादिको बोधात्तद्धर्मोऽपि ततः पृथक् ॥८४६॥

यद्यपि ज्ञेयत्वादिनाऽस्य धर्मेण तद्धर्मत्वमभेदस्तथापि ज्ञानत्वस्याभावाद्व्यतिरिक्त एवासौ । न हि मनुष्यत्वयोगेऽपि ब्राह्मणादव्यतिरिक्तो भवति चण्डालः । ततो विज्ञानमात्मव्यतिरेकिणालम्बनेन न सालम्बनमिति ज्ञानत्वरहितेनेति प्रकरणाद् गतिः । प्रमेयत्वञ्च यथाव्यतिरिक्तं प्रमेयात्ततो विज्ञानादस्य भेद इति कुतः सिद्धसाधनम् ।

प्रमेयत्वादभेदश्चेत् संवेदनतदन्ययोः । संवेदनात्तदन्यत्वं नास्त्येव ज्ञानमेव तत् ॥८४७॥
अत्यन्तभिन्नापेक्षायामनालम्बनसाधने । सिद्धसाधनता कस्मादबोधत्वेऽतिभिन्नता ॥८४८॥

यदि केनचिदप्याकारेण भेदः सर्वदा भेद एव भिन्नाभिन्नस्य द्रष्टुमशक्यत्वात्ततो भिन्नस्यात्यन्तं भेद एव तदालम्बनत्वे स्वांगालम्बनत्वमेव केवलन्ततः कथं सिद्धसाधनता । ज्ञानाकारतया चाभेदे ग्राह्यस्य भवत्ववान्तरभेदः, तथापि तदव्यतिरिक्तालम्बनमेव ।

बोधरूपस्य सद्भावे द्वयोः सालम्बनं कथम् । द्वयोरपि न बोधत्वे तदस्ति सुखदुःखयोः ॥८४९॥
ग्राह्यग्राहकभेदश्चेत् कथम्बोधादभिन्नयोः । सितनीलादिभेदश्च न कस्याभेदनास्तिता ॥८५०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अङ्गीकार अवश्यम्भावी हो जाता है। फलतः प्रतिज्ञा का बाध हो जाता है ॥८४३–४५॥ (श्लोकवा० पृ० २३४)। यदि विज्ञान से व्यतिरिक्त आलम्बनता का निरास किया जाता है, तब सिद्धसाधनता ऐसे हो जाती है कि बाह्य घटादि पदार्थ विज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं माने जाते हैं, अपितु विज्ञान से अपृथक् (अभिन्नार्थ) ही सिद्ध होते हैं ॥८४६॥ यद्यपि ज्ञेयत्व-प्रमेयत्वादि धर्म से विषय और ज्ञान का भेद नहीं होता तथापि विषय में ज्ञानत्व न होने के कारण व्यतिरेक या भेद माना जाता है। जैसे कि चाण्डाल मनुष्यत्वादि रूप से ब्राह्मणाभिन्न होता हुआ भी ब्राह्मणत्वेन अभिन्न नहीं होता। फलतः विज्ञान आत्मव्यतिरिक्त आलम्बन के द्वारा सालम्बन नहीं होता, यह प्रकरणतः प्रतीत होता है। जैसे—प्रमेय की अपेक्षा प्रमेयत्व ज्ञान से अभिन्न होता है, वैसे प्रमेयभूत विज्ञान से भेद होता है। अतः सिद्ध-साधनता क्यों होगी ? प्रमेयत्वेन संवेदन और उससे भिन्न का अभेद है, किन्तु ज्ञानत्व न होने के कारण भेद भी माना जाता है ॥८४७॥ अतः अत्यन्त भेद की अपेक्षा अनालम्बनता सिद्ध करने पर सिद्धसाधनता होती है, क्योंकि अबोधत्व रूप से अत्यन्त भिन्नता है ॥८४८॥

यदि किसी भी आकार से भेद माना जाता है, तब सर्वदा भेद ही रहेगा। भिन्नाभिन्नत्व का दर्शन सम्भव नहीं। अतः भिन्न पदार्थों का अत्यन्त भेद ही मानना होगा। स्वाङ्ग की आलम्बनता में सिद्ध-साधनता कैसे ? ज्ञान का आकार होने के कारण यदि अभेद माना जाता है, तब ग्राह्य अर्थ का अवान्तर भेद रहेगा, तथापि अव्यतिरिक्त आलम्बनता ही प्रसक्त होती है। ग्राह्य और ग्राहक दोनों के बोध रूप होने से सालम्बनता क्योंकर होगी ? जैसे—सुख और दुःख दोनों में बोधरूपता होने से सालम्बनता नहीं होती ॥ ८४९ ॥ यदि ग्राह्य और ग्राहक का भेद है, तब दोनों में बोध से अभेद कैसे रहेगा ? क्योंकि श्वेत और नीलादि का भेद निश्चित है। इस रूप में अभेद नहीं हो सकता ॥ ८५० ॥ जैसे—सुख और दुःख दोनों के बोध रूप होने पर ग्राह्य और

वार्तिकालङ्कारः

सुखदुःखादिभेदोऽयं यथा बोधात्मनोरपि । सितसातादिभेदोऽपि न तु ग्राह्येतरात्मवित् ॥८५१॥

यथा सुखदुःखयोः तत्त्वभेदो बोधत्वादभेदेऽपि तथा सितसातात्मतयापि भेदे को विरोधः । ग्राह्यग्राहकाकारात्मता तु न प्रतिभात्येव । न हि सितसातादिव्यतिरेकेण ग्राहकादिता प्रतिभासमानोपलभ्यते ।

तस्माद् ग्राहकादिव्यपदेशो दुरात्मभिः स्वमनीषिकाविप्रणष्टैरुपाक्षिप्तः ।

निरालम्बनबुद्धेश्च यद्युत्पत्तिः प्रसाध्यते । स एव पक्षः प्राक्पक्षात्कथमभेदेन दर्शितः ॥८५२॥

सर्वा बुद्धिर्निरालम्बा सर्वोत्पत्तिमती तथा ।
नानयोः साधने भेदः कथन्धर्मो न साध्यते ॥८५३॥

धर्मभूतैव साध्येयं साधनोत्थितया धिया । बुद्धौ सालम्बनत्वं स्यान्निरालम्बतया क्षतम् ॥८५४॥

यदा हि निरालम्बना सर्वा बुद्धिरुदयवती साध्यते । तदार्थतो निरालम्बनतैव धर्मसता साध्यते । तथा सति सालम्बनता भ्रान्तिवशादभ्युपगम्यमाना निराक्रियत एव । कथं साधनोपन्यासो व्यर्थः । प्रत्ययशब्दे तु प्रत्ययशब्दो न वर्त्तत एव प्रकरणादिति प्रतिपादितम् । ततः सिद्धसाधनता कथमसंवेदनात्मत्वाच्छब्दस्येति । बुद्धयुत्पादनशक्तिनिषेधस्तु नाभिप्रेत एव । येन साधनव्यर्थता भवेत् । न हि बुद्धिरेव नोत्पत्तिमतीति निरालम्बनवादस्यार्थः ।

ननु यदि बुद्धिरुदयवत्यपि निरालम्बना किन्तयोत्पन्नयापि । अथ सालम्बना तदा तयैवानैकान्तिकत्वं । तदप्यसत् । यतो हि—

अन्यापोहस्य साध्यत्वात् व्यावृत्तिः परवञ्चिते ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ग्राहक का नीलानील के समान ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता ॥ ८५१ ॥ जैसे—सुख और दुःख दोनों का तात्त्विक भेद होने पर भी बोधत्वेन अभेद होता है, वैसे सित और सातादि का भेद मानने पर क्या विरोध ? ग्राह्य-ग्राहक आकार का प्रतिभान नहीं होता, क्योंकि सित और सातादि से भिन्न ग्राह्य और ग्राहकता प्रतिभासित नहीं होती । फलतः ग्राहकादि का व्यवहार कतिपय दूरात्म प्राणियों के द्वारा उपक्षिप्त होता है ।

निरालम्बन बुद्धि की यदि उत्पत्ति सिद्ध की जाती है, तब वही पक्ष भिन्न रूप से कैसे प्रदर्शित किया जाता है ? ॥ ८५२ ॥ (श्लोकवा० पृ० २३२) । समस्त बुद्धि निरालम्बन और उत्पत्तिमति होती है । तब इन दोनों का भेद क्यों नहीं ? ॥ ८५३ ॥ अपने साधन से उत्पन्न बुद्धि धर्मभूत ही होती है । अतः बुद्धि में सालम्बनत्व निरालम्बना के द्वारा बाधित होता है ॥ ८५४ ॥ जबकि सभी बुद्धियों को निरालम्बन सिद्ध किया जाता है, तब अर्थ का धर्मभूत निरालम्बनत्व ही सिद्ध किया जाता है । इस प्रकार भ्रान्ति के आधार पर अभ्युपगम्यमान सालम्बनता निराकृत की जाती है । अतः साधनोपन्यास व्यर्थ कैसे ? प्रत्यय शब्द में प्रत्यय शब्द नहीं रहता, यह कहा जा चुका है । अतः सिद्ध-साधनता क्योंकर होगी ? जबकि शब्द संवेदनात्मक नहीं होता । बुद्धि-उत्पादन-शक्ति का निषेध तो अभिप्रेत नहीं कि जिससे साधन की व्यर्थता होती । निरालम्बनवाद का यह अर्थ नहीं कि बुद्धि ही उत्पत्तिमति नहीं होती ।

शंका—यदि बुद्धि उत्पत्तिमति होकर भी निरालम्बन है, तब उसकी उत्पत्ति से क्या लाभ ? और यदि बुद्धि सालम्बन है, तब उसी में अनैकान्तिकत्व प्रसक्त होता है ।

वार्तिकालङ्कारः

क्रियते साधनेनेति व्यर्थकं साधनं कथम् ॥८५५॥

निरालम्बना सकला बुद्धिरिति प्रमाणेन केनचित्प्रतिपत्तव्य एषोऽर्थः। कथमन्यथा साधनोपन्यासः। ततश्च साधननिरालम्बनबुद्धेरपि निरालम्बनतैव साध्यते। तस्या निरालम्बनत्वे कथं निरालम्बनत्वसिद्धिः? नानुमानस्य संवादेन प्रामाण्यात्, न सालम्बनत्वेन। सालम्बनता नास्तीति कथं संवादः? आलम्बनस्यानुपलब्धेः। नास्तीति बुद्धेः कथं संवादः? यदि दृश्यानुपलब्ध्या पश्चात्तदासौ पदार्थो नोपलभ्यते। एवञ्चेदनालम्बनापि बुद्धिस्तत्त्वनिश्चयनिबन्धनम्। ततोऽन्यापोहबोधक एव साधनप्रयोगो नाबोधकः। ततोऽन्यापोहेऽपि शब्दार्थे सम्बन्धोऽस्त्येव पदार्थानाम्। भेदोऽपि काल्पनिकः। पक्षश्च सावयवः संवृत्या भवत्येव भेदग्रहणविषयः। वादिप्रतिवादिनोर्भेदग्रहणं किं प्रथममेव विशीर्यते। तदपि च पश्चात्स्वप्नवदेव निरालम्बनम्तदा च निवृत्ते कार्ये किमिदानीमसिद्धतादिचोदना करिष्यति। अपि च। प्रतिपादितमेव तत्पुरस्तादिति किमनेन चोदितेन।

स्त्रीशूद्रविस्मापनमेव दुष्टैस्तत्त्वानभिज्ञैर्गदितं वराकैः।

न तत्त्वबोधस्य पुनः पुरस्तादयुक्तियोगि प्रलयं प्रयाति ॥८५६॥

तस्मादभ्युपगम्यापि भेदप्रपञ्चपक्षादिकं गजनिमीलनेन पुनः परामर्शप्रक्रमेण तदभावसाधने न दोषः।

नन्वहं स्वप्रतिभासमेव केवलं प्रतिपद्ये इति प्रतिपादयन्परप्रतिपत्ता बाध्यते परेण तदपि प्रतीयत एव। ततः कथं स्वांशालम्बना सिध्यति बुद्धिः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि अन्यापोह साध्य होने के कारण व्यावृत्ति साधन के द्वारा की जाती है। अतः साधन की व्यर्थता कैसे होगी? ॥ ८५५ ॥ सकल बुद्धियाँ निरालम्बन होती हैं यह किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना होगा, अन्यथा साधनोपन्यास किसलिए? अतः साधना-निरालम्बन बुद्धि में निरालम्बनता ही सिद्ध करनी होगी। उसके निरालम्बन होने पर निरालम्बनता की असिद्धि कैसे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनुमान के सालम्बन होने के कारण प्रमाणता मानी जाती है, सालम्बनत्वेन नहीं। सालम्बनता होती नहीं। अतः संवाद कैसे होगा? क्योंकि कोई आलम्बन उपलब्ध नहीं होता। 'नास्ति' इस प्रकार की बुद्धि में संवाद कैसे होगा? यदि दृश्यानुपलब्धि के द्वारा पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। यदि ऐसा है, तब अनालम्बन बुद्धि ही तत्त्वनिश्चय का निबन्धन होगी। भेद भी काल्पनिक है, पक्ष सावयव है, संवृत्ति के माध्यम से भेद ग्रहण का विषय होता है। वादी और प्रतिवादी के द्वारा भेद ग्रहण पहले ही विशीर्ण हो चुका है। वह भी पश्चात् स्वप्न के समान ही निरालम्बन है, तब कार्य के सम्पन्न हो जाने पर असिद्धतादि का उद्भावन किसलिए? 'अपि च' इसका प्रतिपादन पहले ही किया जा चुका है। अतः पुनः उसकी जिज्ञासा किसलिए? तत्त्वानभिज्ञ दुष्ट पुरुषों के द्वारा स्त्री शूद्रादि का विस्मापन ही किया जाता है। तत्त्वबोध का पुनः पुरस्तात् की अयुक्तियाँ भी प्रलीन हो जाती हैं ॥ ८५६ ॥ अतः भेदप्रपञ्च पक्षादि को मानकर भी गजनिमीलन के न्याय से पुनः तदभावसाधन का दोष दिया जाता है।

शंका—'अहं स्वप्रतिभासमेव केवलं प्रतिपद्ये'' इस प्रकार प्रतिपादन करते हुए

वार्तिकालङ्कारः

तदसत् । परेण प्रतीयते इति नात्र प्रमाणमिति प्रतिपादितम् । प्राश्निकानामपि स्वांशमात्रकादपरत्र नास्ति प्रतीतिः । इति निरालम्बनवचनादस्त्येव प्रतीतिस्ततः कुतः प्रमाणादेषा तत्र प्रतीतिर्भेदग्रहणमन्तरेण प्राश्निकानां न साधनवृत्तिरिति ।

अथ ये भेदप्रतीतिमन्तो न भवन्ति ते न प्राश्निका इति । तदसत् ।

ये तत्त्वं प्रतियन्त्यत्र तेषां प्राश्निकता न चेत् । अतत्त्ववेदिनां नैव प्राश्निकत्वेऽधिकारिता ॥८५७॥

अथैकपक्षपातेन प्राश्निकत्वं न विद्यते । पक्षपातविनिर्मुक्तः कुत एव भविष्यति ॥८५८॥

परस्परविरुद्धं हि द्वयस्बोद्धुमसांप्रतम् । एकैकबोधादेकत्र पक्षपातस्य सम्भवः ॥८५९॥

ततः प्राश्निकयोरेव परस्परविरुद्धयोः । विवादे प्राश्निकैरन्यैर्भाव्यमित्यनवस्थितिः ॥८६०॥

वादिनो प्राश्निकत्वञ्चेदितरेतरसंश्रयः । तयोरपि यतो नूनं पक्षपातः स्वपक्षिणि ॥८६१॥

तस्मात्प्रमाणपातत्वे नियताभ्युपगम्यता । यत्तु प्रागभ्युपगतं तद्विरोधि तदस्य ते ॥७६२॥

प्राश्निकानां यदा पक्षवादिप्रतिवादिषु भेदबुद्धिः । तथापि यद्यसौ वादिवचनाद्विपर्येति प्रमाणबलायातन्न तत्र तैर्विरोद्धव्यम् । स्वबुद्धया निरूपयतां तेषां यदि तत्परिशुद्धं भवति कस्तत्रानभ्युपगमे हेतुः । ततः पूर्वाभ्युपगमेन यथाकथञ्चिदस्य बाधा ।

नन्वनेन प्रमाणबलिनापि पूर्वस्यैति किमिदमनलसमभ्युच्चैरुच्यते ।

यत्र सत्याभिमानोऽस्ति सा निरालम्बना मतिः ।
इति पक्षे विरोधः किन्तत्पत्यत्वमनिच्छतः ॥८६३॥

तथापि स्यात् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

'परप्रतिपत्तः' पर के द्वारा बाधित होता है, वह भी प्रतीत होता है। अतः बुद्धि स्वाङ्गालम्बना कैसे सिद्ध होगी ?

समाधान—प्रतिवादी के द्वारा प्रतीत होता है कि इस अर्थ में किसी प्रमाण का प्रतिपादन नहीं किया गया। प्राश्निक व्यक्तियों को भी स्वांशमात्रक से भिन्न प्रतीति नहीं। इस प्रकार निरालम्बन वचन के द्वारा उसकी प्रतीति होती है। अतः किस प्रमाण के द्वारा यह आपकी प्रतीति ? भेदक ग्रहण के बिना प्राश्निकों को साधन में प्रवृत्ति क्यों नहीं ? यदि कहा जाय कि जो लोग भेदप्रतिपत्ति वाले नहीं, वे प्राश्निक नहीं होते, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि जो लोग तत्त्व का ज्ञान रखते हैं वे यदि प्राश्निक नहीं। अतः तत्त्ववेदी पुरुषों को प्राश्निकता में अधिकार नहीं होता ॥ ८५७ ॥ यदि एक पक्षपात के द्वारा प्राश्निकत्व नहीं बनता, तब पक्षपात विनिर्मुक्त कैसे होगा ? ॥ ८५८ ॥ परस्पर विरुद्ध व्यक्तियों को बोध कराना सम्भव नहीं। एक-एक के बोध के द्वारा पक्षपात सम्भव हो जाता है ॥ ८५९ ॥ अतः परस्पर विरुद्ध प्राश्निकों का विवाद होने पर अन्य प्राश्निकों को होना चाहिए। इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है ॥ ८६० ॥ वादियों के प्राश्निक होने पर इतरेतराश्रयता दोष होता है, क्योंकि उन दोनों का भी अपने पक्ष में पक्षपात होता है ॥ ८६१ ॥ अतः प्रमाणपातता की नित्य अभ्युपगम्यता माननी होगी जो कुछ पहले अभ्युपगत हुआ है, वह विरोधी है ॥ ८६२ ॥ प्राश्निकों की जब वादी-प्रतिवादी में भेदबुद्धि होती है, तथापि यदि यह वादी-वचन से विपरीत है, इस प्रकार प्रमाण के बल पर प्रतीत होता है, तब वहाँ विरोध नहीं करना चाहिए ॥ ८६३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

"धर्माधर्मादिबोधे च नासिद्धे परमार्थतः । शिष्यात्मनोश्च धर्मादेरुपदेशोऽवकल्पते ।।८६४।।
तदनुष्ठानतो बुद्धैरिष्टो भेदः स्फुटञ्च तैः । सूत्रान्तरेऽभ्युपेतत्वाद् भवेदागमबाधनम् ।।८६५।।
सर्वलोकप्रसिद्ध्या च भवेत्पक्षस्य बाधनम् । कृत्स्नसाधनबुद्धिश्च यदि मिथ्येष्यते ततः ।।८६६।।
सर्वाभावो यथेष्टं वा न्यूनताद्यभिधीयते । तेषां सालम्बनत्वे वा तैरनैकान्तिको भवेत् ।।८६७।।
तदन्यस्य प्रतिज्ञा चेत् तदन्यप्रत्ययो मृषा । पक्षाद्यनन्तर्गमनात्तस्य पक्षादिता न हि ।।८६८।।
तन्मिथ्यात्वप्रसङ्गेन सर्वं पूर्वं न सिध्यति । साध्यसाधनविज्ञानभेदो न हि तदा भवेत् ।।८६९।।
यावद्यावत्प्रतिज्ञैवन्तदन्येस्येति भाष्यते । तावत्तावत्परेषां स्यान्मिथ्यात्वादाद्यबाधनम् ।।८७०।।
विरुद्धाव्यभिचारित्वं बाधो नाप्यनुमानतः । इत्थं सर्वेषु पक्षेषु वक्तव्यं प्रतिसाधनम् ।।८७१।।
बाह्यार्थालम्बना बुद्धिरिति सम्यक्त्वधीरियम् । बाधकापेतबुद्धित्वाद्यथा स्वप्नादिबाधधीः ।।८७२।।
सापि मिथ्येति चेद्ब्रूयात्स्वप्नादीनामबाधने । न स्यात्साधर्म्यदृष्टान्तो भवतः साधनेऽधुना ।।८७३।।
विज्ञानास्तित्वभिन्नत्वक्षणिकत्वादिधीस्तथा । सत्या चेदभ्युपेयेत तदानैकान्तिको भवेत् ।।८७४।।
तन्मिथ्याप्रतिपत्तौ वा पक्षबाधः प्रसज्यते । तथा च बद्धमुक्तादिव्यवस्था न प्रकल्पते ।।८७५।।
ततश्च मोक्षयत्नस्य वैफल्यं वः प्रसज्यते ।।८७६।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका- परमार्थतः धर्म और अधर्म का भेद सिद्ध न होने पर शिष्य को गुरु का उपदेश नहीं बनता (श्लोकवा० पृ० २३४) ।। ८६४ ।। धर्मादि का अनुष्ठान यह सिद्ध करता है कि बुद्धि से धर्मादि का भेद है । जैसा कि अन्यान्य सूत्रग्रन्थों में बुद्ध ने स्वीकार किया है । अतः उन सूत्रों के द्वारा निरालम्बनता का बाध होता है, (श्लोकवा० पृ० २२४) ।।८६५।। बाह्यार्थ की सर्वलोकप्रसिद्धि के द्वारा निरालम्बन पक्ष का बाध विस्तृत रूप से होता है (श्लोकवा० पृ० २३४) ।।८६६।। यदि तदन्य की प्रतिज्ञा की जाती है, तब तदन्य ज्ञान के मिथ्या होने से पूर्वोदित पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती (श्लोकवा० पृ० २३५) ।। ८६७।। यदि तदन्यार्थ की प्रतिज्ञा की जाती है, तब तदन्यार्थ का मिथ्यात्व प्रसक्त होता है । फलतः पक्षादि की सिद्धि नहीं होती (श्लोकवा० पृ० २३५) ।।८६८।। उसके मिथ्यात्व होने पर सभी पूर्वतन पदार्थ असिद्ध हो जाते हैं, तब साध्य-साधन विज्ञान का भेद सिद्ध नहीं होता (श्लोकवा० पृ० २३५) ।।८६९।। जैसे-जैसे प्रतिज्ञा में तदन्यत्व का निवेश होता है, वैसे ही अन्य के मिथ्या होने से अन्य का बाध होता है (श्लोकवा० २३६) ।।८७०।। फलतः निरालम्बनता साधक अनुमान का विरुद्धाव्यभिचारी अथवा अनुमान बाध प्राप्त होता है । इसी प्रकार सभी पक्षों में प्रतिसाधन का प्रयोग कर लेना चाहिए (श्लोकवा० पृ० २३६) ।।८७१।। सत् प्रतिपक्ष का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए—"बाह्यार्थालम्बना बुद्धि समीचीना बुद्धित्वाद्, घटादिबुद्धिवत् अथवा बाधकापेतुबुद्धित्वात् यथा स्वप्नादि-बाधकजाग्रबुद्धिः" (श्लोकवा० पृ० २३६) ।। ८७२ ।। यदि उस बुद्धि को भी मिथ्या कहा जाय, स्वप्नादि का अबाध देखकर, तब आपके पक्ष में साधर्म दृष्टान्त का अभाव प्राप्त होता है (श्लोकवा पृ० २३६) ।। ८७३ ।। विज्ञानास्तित्व, विज्ञान-भिन्नत्व, विज्ञानक्षणिकत्वादि बुद्धि भी यदि समीचीन मानी जाती है, तब उसमें निरालम्बनता पक्ष अनेकान्तिक होता है (श्लोकवा० पृ० २३६) ।। ८७४ ।। यदि विज्ञानास्तित्वादि बुद्धि को मिथ्या माना जाता है, तब पक्षबाध उपस्थित होता है और बद्धमुक्तादि की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती (श्लोकवा० पृ० २३६) ।।८७५।। बन्धनादि को

वार्तिकालङ्कारः

तदेतदसत् । यतः—

अन्यत्वं यद्यभिप्रेत्य संसारिप्रत्ययः स्थितः । धर्माधर्मादिचिन्तेयन्तदेतन्नासमञ्जसम् ॥८७७॥
अतत्त्वेऽपीष्टतादित्वं बालक्रीडावदिष्यते । तत इष्टप्रसिध्यर्थं धर्मो न नोपदिश्यते ॥८७८॥

इष्टसाधनस्य धर्मत्वं तदन्यस्याधर्मत्वमिति भेदमसौ संसारी निश्चिनोत्येव तस्य भेदवासनानपगमात् । यदा च तस्य मुक्तता तदा न केनचिदपि तस्य प्रयोजनम् । न हि बालक्रीडाविषयेष्टसिध्यर्थं परमार्थवित्प्रवर्त्तते । यतः—

प्रवर्त्तते जनः सर्वस्तत्र यत्रास्ति तत्त्वधीः । रागाच्छोभनबुद्धया किं विरूपायां न वर्त्तनम् ॥८७९॥

तस्मादतत्त्वेऽपि नृणां तत्त्वबुद्धया प्रवर्त्तनम् ।
तस्य तस्योपदेशः किं न कृत्वा गजनिमीलनम् ॥८८०॥

अनेन तत्रानुष्ठानमविरोधीति साधितम् । तदभिप्रायसूत्रान्तकथितैः का विरोधिता ॥८८१॥
अतत्त्ववित्प्रतीत्या च बाधने सिद्धसाधनम् । सर्वानालम्बनत्वस्य तं प्रत्यनुपदेशनम् ॥८८२॥
कृत्स्नसाधनबुद्धिश्च तस्यानालम्बनाद्विना । यदा तु बोध्यते तत्त्वं सर्वाभावेऽप्यदुष्टता ॥८८३॥
इष्ट एव तदाऽभावः सर्वस्यालम्बनात्मनः । तत्साधनमनालम्बं ततस्तच्चेन्न सिध्यति ॥८८४॥
अविसंवादिता तेन साध्यानालम्बनास्तिता । तस्य साधर्म्यदृष्टत्वात्तेनानेकान्तता कुतः ॥८८५॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

सिद्धि न होने से मोक्ष के लिए प्रयत्न विफल हो जाता है (श्लोकवा० पृ० २३६) ॥ ८७६ ॥

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि यदि अन्यत्र के अभिप्राय से संसारी प्रत्यय की स्थिति मानी जाती है, तब यह समस्त धर्माधर्मादि की चिन्ता असमञ्जस हो जाती है ॥८७७॥ अतात्त्विक पक्ष में इष्टतादि की सम्भावना वैसे ही की जा सकती है, जैसे बालक-क्रीड़ा। अतः इष्टार्थ की प्रसिद्धि के लिए धर्म का उपदेश नहीं बनता ॥८७८॥

संसारी पुरुष इष्ट-साधनभूत पदार्थ को धर्म और अनिष्ट-साधनभूत पदार्थ को अधर्म मानता है, उसकी धर्माधर्म की भेद-बुद्धि समाप्त नहीं होती। जब संसारी पुरुष मुक्त हो जाता है, तब किसी प्रकार के भेद से उसे प्रयोजन नहीं रहता, अर्थात् परमार्थ-वेत्ता पुरुष परमार्थ की सिद्धि के लिए बालक के खेलौने में नहीं उलझा करता, क्योंकि तत्त्वार्थी पुरुष वहीं प्रवृत्त होता है, जहाँ तत्त्वज्ञान हो। क्या रागी पुरुष कभी विरूप स्त्री में प्रवृत्त होता है ? ॥८७९॥ अतः मनुष्यों की तत्त्व-बुद्धया अतत्त्व में प्रवृत्ति क्या गज का स्नान के पश्चात् धूलि-प्रक्षेप नहीं ? ॥८८०॥ इस प्रकार तो तत्त्वार्थी की अतत्त्वार्थ में प्रवृत्ति, प्रवृत्ति-विरोधी नहीं—यही सिद्ध होता है, क्योंकि उसी अभिप्राय से सौत्रान्तिक के द्वारा वैसा कहने में क्या विरोध ? ॥८८१॥ अतत्त्ववेत्ता की बाधितार्थ में प्रवृत्ति सिद्ध-साधन है, क्योंकि उसके प्रति सर्वानालम्बनत्व का उपदेश नहीं किया गया ॥८८२॥ जब कि उसके लिए समस्त साधन-बुद्धियों का उपदेश अनालम्बनता के बिना किया गया है। जब कि उसको तत्त्व का बोध ऐसा किया गया है कि सबका अभाव होने पर भी कोई दोष नहीं होता ॥८८३॥ उस समय तो समस्त ज्ञान के अनालम्बन होने से सर्वाभाव इष्ट ही होता है क्योंकि उसका साधन अनालम्ब होने से सिद्ध नहीं होता ॥८८४॥ अनालम्बनता का साधन यदि निरालम्ब है, तब उससे अविसंवादिता होती है, अनैकान्तिकता कैसे ? ॥८८५॥ श्लोकवार्तिक-

वार्तिकालङ्कारः

तदन्यस्य प्रतिज्ञानं सत्येवमुपगम्यते । तदन्यप्रत्ययस्यापि न मिथ्यात्वञ्च नेष्यते ॥८८६॥
तन्मिथ्यापूर्वको दोषः कथमिष्टाप्रसिद्धितः । तदन्यस्य प्रतिज्ञायामनवस्था न विद्यते ॥८८७॥
यत्र सत्ताभिमानोऽस्ति तदनालंबनं मतम् । निरालम्बनताऽन्यत्वसंवादेऽपि निरूपिता ॥८८८॥
प्रतिसाधनमित्थञ्च कथं शक्यनिदर्शनम् । बाधकापेतबुद्धित्वमसिद्धमिति साधितम् ॥८८९॥
स्वप्नादिबाधधीः सत्यानुपलम्भेन साधिता । तदुत्थितानुमानस्य बाधकत्वादसिद्धता ॥८९०॥
बाधकापेतबुद्धेश्च हेतोः सालम्बसाधने । क्षणिकत्वादिबुद्धया यदनैकान्तिकचोदनम् ॥८९१॥
तदयुक्तं यतो ज्ञानं क्षणिकं बाह्यवर्जितम् ।
विज्ञानरूपक्षणिकत्वसिद्ध्या सालम्बनासौ क्षणिकत्वबुद्धिः ।
ततोऽनिरालम्बनता सबाह्या न सिध्यतीत्यर्थतया हि पक्षः ॥८९२॥

बाह्यालम्बनाः प्रत्यया न भवन्ति स्वप्नबुद्धिवत् । इति विशिष्य पक्षः कृतः । क्षणिकत्वादिबुद्ध्यानैकान्त इति चेत् । न, क्षणिकत्वं योगाचारदर्शने विज्ञानात्मभूतमेव साध्यं ततो विज्ञानात्मसालम्बनता दृष्टान्तेन तथाभूतसालम्बनतैव भवेत् । अथ व्यतिरिक्तमालम्बनं तावत्सिद्धम् । न व्यतिरिक्तालम्बना क्षणिकत्वबुद्धिः । तथा हि—

प्रत्यक्षमनुमानं वा क्षणिकत्वादिवेदनम् । नानुमानं तदन्येन सालम्बनतया स्थितम् ॥८९३॥
अविसंवादितामात्रान्न सालम्बनता विदाम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कार ने जो श्लोकवा० पृ० २३५ में कहा है—"तदन्यस्य प्रतिज्ञा चेत्" इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा बाध उपस्थित किया गया है, वह उचित नहीं, क्योंकि तदन्य की प्रतिज्ञा के द्वारा साधारण दृष्टान्त ही उपस्थित किया गया है ॥८८६॥ अर्थात् निरालम्बनवाद में तदन्य प्रत्यय भी मिथ्या माना गया है । तदन्य का मिथ्यात्व यदि निश्चित है तब इष्ट-विघात कैसे ? ॥८८७॥ जहाँ सत्ता का अभिमान है, वह भी अनालम्बन माना गया है, ऐसी निरालम्बन अन्यत्व के संवाद में दिखाया जा चुका है ॥८८८॥ इस प्रकार प्रतिसाधन प्रयोग का प्रदर्शन कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि बाधकापेत बुद्धित्व असिद्ध है, इसका निरूपण किया जा चुका है ॥८८९॥ स्वप्नादि की बाध-बुद्धि सत्यानुपलम्भ के द्वारा सिद्ध की जा चुकी है । उससे उत्पन्न अनुमान बाधक होने के कारण असिद्ध है ॥८९०॥ बाधकापेत बुद्धि रूप हेतु में जो सालम्बनता-साधकत्व प्रदर्शित किया गया है, उसमें जो क्षणिकत्वादि बुद्धि के द्वारा अनैकान्तिकता का उद्भावन किया गया है ॥८९१॥ वह अयुक्त है, क्योंकि ज्ञान क्षणिक और बाह्यार्थ से रहित है । विज्ञान रूप क्षणिकत्व की सिद्धि के द्वारा साधित सालम्बन बुद्धि क्षणिक है । अतः यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि बाह्यार्थ के सहित अनालम्बनता सिद्ध नहीं होती ॥८९२॥

"बाह्यालम्बना बुद्धिर्न भवति, स्वप्नबुद्धिवत्" ऐसा विशेषरूप से पक्ष कैसे बनाया जा सकता है ? यदि कहा जाय विक्षणिकत्वादि बुद्धि के द्वारा अनैकान्तिक है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि योगाचार्य के मत में क्षणिकत्व विज्ञान का स्वरूप ही है । अतः विज्ञानात्म सालम्बनता के दृष्टान्त से कथित सालम्बनता ही भेद होती है । यदि भिन्नार्थ की आलम्बनता सिद्ध है, तब क्षणिकत्व बुद्धि भिन्नार्थ को आलम्बन नहीं करती । जैसा कि कहा गया है—प्रत्यक्ष अथवा अनुमान क्षणिकत्वादि को प्रकाशित करते हैं । अनुमान तदन्यत्वेन सालम्बनतया अवस्थित नहीं ॥८९३॥ अविसंवा-

वार्तिकालङ्कारः

अविसंवादो हि योऽनुमानेन स प्रत्ययान्तरेण व्यवहितः। ततः प्रत्ययान्तरं तथाभूतमुत्पादयदनुमानं प्रमाणम्। न स्वाकारमात्रग्रहणात्। प्रत्ययान्तरञ्च प्रत्यक्षमेव। साक्षात्करणे हि वस्तुग्रहणाभिमानः। तच्च साक्षात्करणं ज्ञानरूपस्य क्षणिकस्य स्वरूपं संवेदनेनैव न तदात्मभूतं तदन्यसंवेदनेन ग्रहीतुं शक्यम्।

अथ स एव स्वसंवेदनपक्षो न सिध्यति प्रतिप्रमाणे सति।

तद्रूपे वेद्यमाने हि यदान्यन्न प्रवेद्यते। तदा स्वरूपसंवित्ति को वारयितुमर्हति ॥८९४॥
अवेदनेन वित्तिश्चेत्किं न सर्वेण वेदनम्। तथा न दृष्टमिति चेदन्यथापि किमीक्ष्यते ॥८९५॥
अर्थापत्तेः क्षयादेवं यथा दृष्टन्तथेष्यताम्। आत्मानुभविता दृष्टस्तस्य दृष्टिः कुतो मता ॥८९६॥
स्ववेदनेन चेदेतन्नीलादावपि नाधिकम्। आत्मनो द्रव्यता नैव साधिता यदि मीयते ॥८९७॥
नीलादेरपि नीलत्ववृत्तिर्वेदनतो न किम्।

यथैवात्मनो द्रव्यरूपतान्या संवित्या वेद्यते तथा नीलादेरपि किन्नाभ्युपगम्यते। नीलस्यापि स्वबोधरूपताऽन्या द्रव्यरूपतान्या भविष्यति। आत्मवत्स्वबोधरूपा नीलादयोऽपि। अथोभयरूपता बौद्धस्यासिद्धा। सा मीमांसकस्याप्यसिद्धिः समानैव। न ह्येकमुभयरूपं नाममात्रकेण शक्यम्।

एकरूपमवेदेकमिति मानं प्रवर्तते। अनेकरूपमेकञ्चेत्सर्वमेकं प्रसज्यते ॥८९८॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दिता मात्र के आधार पर ज्ञानों में सालम्बनता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अविसंवाद जो अनुमान का होता है वह प्रत्यक्ष प्रत्यय से व्यवहित है। अतः उस प्रकार के प्रत्ययान्तर का उत्पादन करता हुआ अनुमान प्रमाण होता है, केवल स्वाकार ग्रहण मात्र से नहीं। वह प्रत्ययान्तर प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि वस्तु का साक्षात्कार करने पर वस्तु ग्रहण का प्रमाण होता है। वह साक्षात्करण क्षणिक ज्ञान का स्वरूप है। वह अन्य संवेदन के द्वारा गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि वही स्वसंवेदन पक्ष विरोधी प्रमाण से बाधित हैं।

किसी रूप का वेदन होने पर उससे अन्य का ज्ञान नहीं होता। परिशेषतः स्वरूप-संवृत्ति का वारण कोई नहीं कर सकता ॥ ८९७ ॥ अवेदन के द्वारा यदि ज्ञान होता है, तब सर्ववेदन हो जाना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं देखा जाता, अपितु अन्यथा भी देखा जाता है ॥ ८९५ ॥ अर्थापत्ति का क्षय होने से ही जैसे देखा जाता है, वैसा ही मानना होगा। आत्मानुभविता देखा जाता है। उसका ज्ञान कैसे होगा? ॥८९६॥ यदि कहा जाय कि स्वसंवेदन के द्वारा, तब तो वह नीलादि में भी समान है, अधिक नहीं। आत्मा की द्रव्यता सिद्ध नहीं। यदि अनुमित होती है, तब नीलादि की नीलत्व बद्धि के द्वारा क्यों नहीं? ॥ ८९७ ॥

जिस प्रकार आत्मा की द्रव्य-रूपता अन्य ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होती है, वैसे ही नीलादि की भी क्यों नहीं मानी जाती है? क्योंकि नील की भी सुबोधगत द्रव्य-रूपता से भिन्न सिद्ध होती है अर्थात् आत्मा के समान ही नीलादि भी बोधरूप ही होते हैं। उभयरूपता बौद्ध मत में प्रसिद्ध है। मीमांसक मत में भी सिद्ध नहीं, क्योंकि एक वस्तु में उभयरूपता नाम मात्र से भी नहीं हो सकती। एकरूपता प्रतीयमान वस्तु एक ही होती है। यदि एक अनेक रूप हो जाय, तब समस्त पदार्थ एक हो जायेंगे ॥ ८९८ ॥ यदि वेद्य और वेदक एक ही होते हैं, तब नीलादि को भी वैसा क्यों

वार्त्तिकालङ्कारः

वेद्यवेदकमेकञ्चेन्नीलादि न किमिष्यते । आत्मनीले भवेतां हि तदैके वेद्यवेदके ।।८९९।।
भिन्नदेशतया नो चेत् भिन्नरूपतया न किम् । रूपभेदेन भेदो हि प्रसिद्धः सार्वलौकिकः ।।९००।।
देशभेदेन भेदो हि रूपाभेदे कथं भवेत् । तथा च सति देशादिभेदः स्याद्व्यापिभेदकः ।।९०१।।

तस्मात्स्वसंवेदनमन्तरेण वेदनमेव न सिध्यतीति सकलमनालम्बनमेव वेदनम् ।

बद्धमुक्तादिभेदोऽपि नैवास्ति परमार्थतः । भेदो हि नावभात्येव सर्वत्र समदर्शिनाम् ।।९०२।।

मोक्षादियत्नोऽपि न पारमार्थिकीं स्थितिन्दधानः क्वचिदस्ति लोके ।
वैयर्थ्यचिन्ता यदि तत्र युक्तिभाक् शशस्य शृङ्गेऽपि न किंविधेया ।।९०३।।

यथा स पारमार्थिको न भवति यत्नस्तथा भेदोऽपि बद्धमुक्तादिष्विति समानमेतत् । किञ्च—

विकल्प्योत्पद्यमाना च बाह्यास्तित्वादिधीर्मृषा ।
बहिरादिविवेकस्तु नाविकल्पकसाधनः ।।९०४।।

विकल्पयन्नेव बाह्यमान्तरं साधारणमवासनानिमित्तादिकं व्यवस्थापयति । अविकल्पकेन तु साक्षात्करणरूपेण स्वरूपमेव प्रतीयते न पररूपमिति पुरः प्रतिपादितमेतत् । तत एतन्निराकृतम् ।

विकल्प्योत्पद्यमाना च ज्ञानास्तित्वादिधीर्यदि ।
मृषेष्टा न च दृष्टात्र प्रमाणान्तरतो गतिः ।। ९०५ ।।

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

नहीं माना जाता, क्योंकि उस समय वेद्य और वेदक एकरूप हो जाते हैं ।।८९९।। यदि कहा जाय कि वे भिन्नदेशता के कारण एक नहीं हो सकते, तब भिन्नरूपतया भिन्न क्यों नहीं ? रूप-भेद के द्वारा भेद की सिद्धि सार्वलौकिक है ।। ९०० ।। रूप का अभेद होने पर देशभेद से भेद क्योंकर होगा ? वैसा होने पर देशादि का भेद व्यापक भेद का साधक होगा ।। ९०१ ।। अतः स्वसंवेदनता के बिना वेदन ही सिद्ध नहीं होता । सकल ज्ञान अनालम्बन हैं । बद्ध-मुक्त-व्यवस्था भी परमार्थतः नहीं, क्योंकि समदर्शी व्यक्तियों को सर्वत्र भेद प्रतीत नहीं होता, ऐसा तर्क-भाषा पृष्ठ ३८ में कहा है ।।९०२।। मोक्षादि के लिए प्रयत्नविशेष पारमार्थिक नहीं । यदि वहाँ बह्वर्थ चिन्ता प्रसक्त होती है, तब शशशृङ्ग-चिन्तन में क्यों नहीं ? ।।९०३।। जैसा कि श्लोकवार्त्तिककार ने श्लोक-वा० पृष्ठ २३६ में कहा है—"तथा च बद्धमुक्तादिव्यवस्था न प्रकल्पते । ततश्च मोक्षयत्नस्य वैफल्यं वः प्रसज्यते ।।" वह कहना भी अनुचित नहीं, क्योंकि 'बद्धमुक्तादिव्यवस्था' और 'मोक्षप्रयत्न' सब-कुछ पारमार्थिक नहीं, अपितु सांवृतिक है । श्लोकवार्त्तिककार ने जो पृ० २३७ में कहा है—"विकल्पोत्पद्यमाना च ज्ञानास्तित्वादिधीर्यदि । मृषेष्टा, न च दृष्टाऽत्र प्रमाणान्तरतो गतिः ।।९०५।। वह भी वैसा ही है, क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में बाह्यार्थादि की कल्पना मात्र होती है ।। ९०४ ।। अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर सब-कुछ वासनाओं के आधार पर कल्पित है, परमार्थतः कुछ भी नहीं, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा केवल वस्तु स्वरूप अवभासित होता है । इस प्रकार श्लोकवार्त्तिककार का यह कहना भी निरस्त हो जाता है, जो कि श्लोकवार्त्तिक पृ० २३७ में कहा है—'विकल्पोत्पद्यमाना च ज्ञानास्तित्वादिधीर्यदि । मृषेष्टा, न च दृष्टाऽत्र प्रमाणान्तरतो गतिः ।।' ।।९०५।। "प्रमाणाऽभावतस्तेन ज्ञानाऽस्तित्वादिदुर्लभम् । सर्वं चाप्यस्मदादीनां मिथ्याज्ञानं विकल्पनात् ।।" यह जो कहा गया है कि

वार्तिकालङ्कारः

प्रमाणाभावतस्तेन ज्ञानास्तित्वादि दुर्लभम् ।

निर्विकल्पकं किल बहिरर्थरूपमेव । बाधोऽर्थापत्तिगम्यः । सा चार्थापत्तिर्विकल्परूपा बौद्धस्य च न विकल्पकं प्रमाणमिति ज्ञानाद्यस्तिता प्रमाणाभावादवशीर्यत । तदसदेतत् । यतः—

अन्याभावे विकल्पस्य प्रामाण्यं यदि युक्तिमत् ।। ६०६ ।।

विकल्पस्य प्रमाणत्वन्न युक्तमिति युक्तिमत् । यदा तु न विकल्पस्य न चान्यस्य प्रमाणता ।।६०७।।

तदा विशीर्यमाणेऽपि सर्वस्मिन्कोऽपराध्यतु । व्यवहारो न चेदेवं संवृत्या केन वार्यते ।।६०८।।

ननु विकल्प एव संवृतिः सा चेद्व्यवहारनिमित्तं ततः स एव परमार्थः व्यवहाराविसंवादात् । तदप्ययुक्तम् ।

अविभावितरूपस्य प्रतिभासस्य सम्भवे । अविसंवादिताख्यातिवासनासङ्गभाविनः ।।६०९।।

कलधौतादिमानेन यदि कामलिनिद्वये । परस्पराविसंवादः का तत्र परमार्थता ।।६१०।।

एतत्तु वक्ष्यामः ।

सर्वञ्चाप्यस्मदादीनां मिथ्याज्ञानं विकल्पनात् ।

सान्निध्यविप्रकृष्टत्वे सत्त्वासत्त्वे च दुर्लभः ।।६११।।

इदं सन्निधानम्भगवतः । ततो देशनाधर्मस्य विपर्ययश्चैतयोः । इदं सदिदमसदिति किल दुर्लभमसत्यत्वादेतत्साधकस्य विकल्पात्मनः । तदेतद्वासनाबलनियमादसदपि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

निर्विकल्पक वस्तु बहिरर्थ रूप भी होती है । उसका बाध अर्थापत्ति से गम्य होता है । वह अर्थापत्ति निर्विकल्पक रूप ही होती है, क्योंकि बौद्ध-सिद्धान्त में सविकल्पक प्रमाण ही नहीं होता । ज्ञानादि की अस्तिता प्रमाणाभाव के कारण विशीर्ण हो जाती है ।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि अन्य का अभाव होने पर विकल्प का प्रामाण्य यदि युक्तिमत है ।। ६०६ ।। तब यह भी युक्तिमत नहीं कि विकल्प का प्रामाण्य युक्तिमत है । जब कि न तो विकल्प का प्रामाण्य माना जाता है और न अन्य का ।।६०७।। तब सभी कुछ विशीर्ण हो जाने पर उपरोधक कौन होगा ? यदि कहा जाय इस प्रकार तो व्यवहार का अभाव हो जायेगा, वह नहीं कह सकते, क्योंकि सांवृत्तिक व्यवहार का निवारण कभी नहीं किया जाता ।। ६०८ ।।

शंका— संवृति का अर्थ है—विकल्प । वह यदि व्यवहार का निमित्त है, तब वह ही परमार्थतः व्यवहार का सम्पादक क्यों न होगा ?

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि अविभावित प्रतिभास्य का सम्भव होने पर अविसंवादिता ख्याति-रूप वासना से सम्भावित है ।। ६०९ ।। जब कि दो सूक्तियाँ रजत-रूप से अवभासित होती हैं, परस्पर एक दूसरे का संवाद है, तब परमार्थता क्या ? ।। ६१० ।।

यह आगे चलकर कहा जायेगा । यह जो श्लोकवार्तिककार ने पृ० २३७ में कहा है—"सर्वं चाप्यस्मदादीनां मिथ्याज्ञानं विकल्पनात् ।। सान्निध्यविप्रकृष्टत्वे सत्त्वासत्त्वे च दुर्लभे ।। ६११ ।। यह सब-कुछ भगवान् बुद्ध की सन्निधि का फल है । अतः देशना धर्म के आधार पर उनका विपर्यय हो जाता है । यह सत् है और यह असत् है । इस प्रकार की भावना दुर्लभ है, क्योंकि इसके साधकीभूत असत् का सतित्व सम्भावित नहीं । फलतः यह सब-कुछ वासनामात्र के आधार पर कल्पित है । अतः असत् होने

वार्तिकालङ्कारः

परमार्थतः सदेव ।

बौद्धदर्शनं एकस्मिन् पक्षपातोऽपि युज्यते । मृषात्वेऽपि च बुद्धीनां बाधो नैवोपलभ्यते ।।६१२।।
वासनायास्तथा भावाद्बाधके सैव कारणम् । भ्रान्तत्वस्य कथं वित्तिरसति प्रतिवक्तरि ।।६१३।।
प्रतिपादितमेतत्प्राक् न पुनः पुनरुच्यते ।

यदि वासनाबलादेव परवशस्य प्राणिनो भवतः सत्यासत्यावभासौ । तौ च बाधितुमशक्यौ किमिदानीं विवादेन परवादिबोधनेन वा । यदि तस्य वासना प्रबोधाभिमुखी स्वयमेव प्रतिपत्स्यते । अथ न नगं वचनशतादपि । तदसत्यम् ।

वासनायाः प्रबोधोऽयं यथानेनाभवन्मम । तथास्यापीति विज्ञाय वचनं वर्त्तयेत्परः ।।६१४।।

ततो यदुक्तम्—

मृषात्वं यदि बुद्धेश्च बाधः किन्नोपलभ्यते ।
बाधाद्विनापि तच्चेत्स्याद्व्यवस्था न प्रकल्पते ।।६१५।।

प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रज्ज्ञाने मृषा भवेत् । स्वप्नादिबुद्धिरस्माकं तत्र भेदोऽपि किंकृतः ।।६१६।।

न चान्यः प्रतियोग्यस्ति जाग्रज्ज्ञानस्य शोभनः ।
यद्दर्शनेन मिथ्यात्वं स्तम्भादिप्रत्ययो व्रजेत् ।।६१७।।

स्वप्नादिप्रतियोगित्वं सर्वलोकप्रसिद्धितः । तदीयधर्मवैधर्म्याद्बाधकप्रत्यये यथा ।।६१८।।

तदपि पराकृतम् । यद्यपि वासनाप्रबोध एव सर्वस्य भवन्नवबोधो व्यामोहो वा तथापि परावबोधाय वचनं प्रवर्त्तयितव्यमेव । तथा हि स एव वासनाप्रबोधोऽनेन प्रकारेण मम जात आसीदन्यस्याप्येवमेव भविष्यतीत्यवबोधाय वचनप्रवृत्तिः प्रतिनियत-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर भी परमार्थतः सद् प्रतीत होता है । श्लोकवार्तिककार ने जो यह कहा है—"बौद्धदर्शन एकस्मिन्" इत्यादि से । उसका उत्तर यह है-"बौद्धदर्शन एकस्मिन् पक्षपातोऽपि युज्यते । मृषात्वेऽपि च बुद्धीनां बाधो नैवोपलभ्यते ।।६१२।। तद्वासनायास्तथाभावाद्बाधके सैव कारणम् । भ्रान्तत्वस्य कथं वित्तिरसति प्रतिवक्तरि ।।६१३।। प्रतिपादितमेतत्प्राक् न पुनः पुनरुच्यते ।"

यदि वासना के बल पर परवश प्राणी के रूप में आपका सत्यासत्यावभास सीमित है और उन दोनों का बाध नहीं हो सकता, तब किसी प्रकार के विवाद की आवश्यकता अथवा प्रतिवादी के बोधन का अवसर क्या ? यदि उसकी वासना प्रबोधोन्मुख है, तब स्वयं ही ज्ञान हो जायेगा । यदि नहीं, तब कहने-सुनने पर भी कुछ नहीं होगा ।।६१४।। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वासना का प्रबोध जैसा कि हुआ है, वैसा समझकर प्रतिवादी वचन प्रयोग करेगा । अतः जो यह श्लोकवार्तिक पृष्ठ २३७-२३८ में कहा गया है—"मृषात्वं यदि बुद्धेः स्याद्बाधः किं नोपलभ्यते । बाधाद्विनाऽपि तच्चेत्स्याद्व्यवस्था न प्रकल्पते ।।६१५।। प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रज्ज्ञाने मृषा भवेत् । स्वप्नादिबुद्धिरस्माकं तव भेदोऽपि किङ्कृतः ।।६१६।। न चान्यत् प्रतियोग्यस्ति जाग्रज्ज्ञानस्य शोभनम् । यद्दर्शनेन मिथ्यात्वं स्तम्भादिप्रत्ययो व्रजेत् ।।६१७।। स्वप्नादिप्रतियोगित्वं सर्वलोकप्रसिद्धितः । तदीयधर्मवैधर्म्याद्बाधकप्रत्ययो यथा ।।६१ ।।" वह भी निरस्त हो जाता है । यद्यपि यह वासना का प्रबोध यदि होता है, तब वह या तो बोधात्मक होगा अथवा व्यामोह । तथापि प्रतिवादी को बोध कराने के लिए वचन का उच्चारण करना होगा । अर्थात् ऐसा कहना होगा कि हमको

वार्तिकालङ्कारः

वासनाप्रबोधार्थम्। तथाभूतवासनाप्रबोधार्थितामवधार्य ततो न व्यर्थता। ततो यदि बुद्धेर्मृषात्वं किन्न बाधोपलब्धिः। तथाभूतवासनाप्रबोधाभावात्। कथन्तर्हि मृषात्वपरिज्ञानं वासनाप्रतिबद्धत्वज्ञानादेव। द्विविधं हि मृषार्थत्वमसदर्थत्वं विसंवादित्वञ्च। विसंवादित्वं विपरीतवासनाप्रबोधतोऽविपर्यासवासनाप्रबोधतश्च संवादित्वमिति।

ननु संवादश्चेदस्ति कथमसदर्थत्वम्। अविसंवादाकारस्यापि वासनाप्रतिबद्धत्वात्। न हि संवादिप्रतिभासेऽप्यर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानमस्ति। एतदेवासदर्थत्वम्। ततः स्वप्नादिप्रत्ययसमानत्वादसदर्थता। न हि बाधकप्रत्ययात्स्वप्नादिप्रत्ययानामसदर्थता, येन तदभावात् जाग्रत्प्रत्ययसत्यत्वं भवेत्।

वासनाप्रतिबद्धत्वे कथमेतद्विभज्यते। इदं संवादि न परं नैकत्रास्ति विरुद्धता ॥९१९॥

तदसत्।

वासनाप्रतिबंधेऽपि यथा नीलादिभेदिता। स्वप्नादितत्संयोगश्च संवादादि तथा न किम् ॥९२०॥
यत्समानं कथञ्चित्किं सर्वथा तत्समानता। मनुष्यत्वे समानेऽपि ब्राह्मणेतरता कथम् ॥९२१॥
यथार्थप्रतिबद्धत्वे सर्वासंवादभाङ् न वित्। तथा विपर्ययेऽप्येतत्किमकस्मादसम्भवि ॥९२२॥
वासनाप्रतिबद्धोऽर्थविदां नास्त्येव सर्वथा। अर्थप्रतिविवेशो हि सर्वासामेव दृश्यते ॥९२३॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वासना का प्रबोध इस प्रकार से हुआ है, दूसरे व्यक्ति को भी इसी प्रकार हो सकता है। इस प्रकार की वासना के प्रबोध की कामना का अवधारण कहना होगा। अतः वचन प्रयोग व्यर्थ नहीं। फलतः यदि वहाँ ज्ञान व्यर्थ है, तब उसका बाध क्यों नहीं उपलब्ध होता ? दो प्रकार का बाध होता है—(१) बाधित और (२) विसंवादित। ज्ञान विपरीत वासना-प्रबोध के कारण अविसंवादित होता है और अनुकूल वासनाओं के प्रबोधन से संवादित ज्ञान होता है।

शंका—यदि संवाद है, तब असदर्थत्व कैसे ? क्योंकि अविसंवादाकार ज्ञान का भी वासनाओं से प्रतिबन्ध होता है। संवादी प्रतिभासों में अर्थ के अन्वय-व्यतिरेक का अननुविधान नहीं हो सकता, क्योंकि यही असदर्थता है। अतः स्वप्नादि ज्ञान के समान असदर्थता पर्यवसित होती है। केवल बाधक प्रत्यय के आधार पर स्वप्नादि ज्ञानों में असदर्थत्व नहीं माना जाता कि उसका अभाव होने से जाग्रत् प्रत्यय में सत्यत्व होता। वासना प्रतिबद्ध होने के कारण, ऐसा विभाग क्योंकर होगा ? क्योंकि यह ज्ञान संवादी है और यह ज्ञान असंवादी है, इस प्रकार का विरुद्धाकार एकत्र सम्भव नहीं हो सकता ॥ ९१९ ॥

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि वासना का प्रतिबन्ध होने पर भी जैसे नीलादि का भेद होता है। स्वप्नादि और उसके वंश का संवादादि क्या नहीं होता ? ॥ ९२० ॥ जिन दो पदार्थों में कथञ्चित् समानता होती है, क्या उनमें सर्वथा समानता लेनी चाहिए ? कदापि नहीं, क्योंकि दो व्यक्तियों में मनुष्यता की समानता होने पर भी ब्राह्मणता और उसका हेतु कैसे ? ॥ ९२१ ॥ जैसे अर्थ का प्रतिबन्ध होने पर भी सभी ज्ञान संवादभाक् नहीं होते; उसी प्रकार विपर्यय ज्ञानों में भी वैसा असम्भव क्यों ? ॥ ९२२ ॥ अर्थज्ञानों में वासना-प्रतिबन्ध सर्वथा नहीं होता। अतः अर्थप्रतिवेदन का वैविध्य क्यों नहीं ॥ ९२३ ॥ यह प्रश्न उचित नहीं, क्योंकि जैसे यह अर्थार्थी पुरुष देखा जाता है, यदि वैसा ही है, तब पदार्थों की प्राप्ति होनी चाहिए,

वार्तिकालङ्कारः

तदसत् ।

यथासौ दृश्यतेऽर्थार्थी तथैव यदि विद्यते । प्राप्तिरस्तु सदार्थानां बाधकः प्रत्ययः कथम् ॥६२४॥

अलौकिकत्वादुभयात्मयोगात्स्मृतिप्रमोषाद्विपरीतवित्तेः ।

सबाधकत्वं न तथार्थसत्त्वं ततः स संवादतया न योगः ॥६२५॥

अलौकिकोऽसावर्थसंवादप्रत्ययाद्यगोचरत्वात् । अथवा तस्य सत्त्वस्यासत्त्वञ्च । ततो दृश्यतेऽपि बाध्यतेऽपि । अथवा स्मर्यमाणोऽसदर्थो देशान्तरस्थः प्रत्यक्षतया प्रतिभाति न तत्रस्थ एव । ततोऽप्राप्तिस्तत्र । एवं विपरीतख्यातावपि योजनीयम् । तदेतदप्रमाणवृत्तम् ।

नादृष्टपूर्वसर्पस्य रज्वां सर्पमतिः क्वचित् । पूर्वदृष्टचनुसारित्वान्न हेतुर्वासना कथम् ॥६२६॥

पूर्वदर्शनमन्तरेण हि न भवति रज्ज्वां सर्पबुद्धिः । पूर्वदर्शनादिदं वेदनमात्रार्थो नास्तीति सकललोकनिश्चयः । अन्यथा सकलकार्यकारणभावोच्छेद एव । प्रतिभासमात्रेणाशक्यग्रहणात् प्रतिभासमात्रे हि स्वसंवेदनमेव केवलं हेतुरहितमिति प्रतिपादितम् । तस्मात्तन्निश्चयादेव कार्यकारणभावः । नात्र विपरीतादिख्यातियोगप्रतीतिः । अथापि स्यादेषापि विपरीतादिख्यातिरेव नात्रार्थो विद्यत इति ।

विपरीतादिवित्तश्चेत्पूर्वविद्धेतुता भवेत् । प्रतीतिरन्यापि ततस्तथैवेति प्रतीयताम् ॥६२७॥

अर्थस्य प्राप्तिरन्यत्र ततो नालौकिकादिता । सर्वत्रार्थस्य न प्राप्तिरिति पूर्वं प्रसाधितम् ॥६२८॥

निश्चयादर्थ इत्येवं नेति चेत्तन्न सङ्गतम् । निश्चयोऽलौकिकाद्येऽपि बाह्योऽर्थ इति किन्न सः ॥६२९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बाधक प्रत्यय क्यों ? ॥ ६२४ ॥ दो विपरीत ज्ञान जैसे—स्मृति और स्मृति-प्रमोश ज्ञानों की अलौकिकता से यह सिद्ध होता है कि उनमें संवादकत्व नहीं । उसी प्रकार अर्थसत्त्व नहीं और संवादिता से सम्बन्ध नहीं ॥ ६२५ ॥

यह अर्थसंवाद प्रत्यय अलौकिक है, क्योंकि प्रत्ययादि को विषय नहीं करता अथवा उसमें अर्थसत्त्व नहीं । अतः वह दिखता भी है और बाधित भी, अथवा स्मर्यमाण अर्थक है, देशान्तरस्थ प्रत्यक्षतया प्रतिभासित होता है, तत्रावस्थित नहीं । अतः वहाँ उसकी प्राप्ति नहीं होती । इसी प्रकार विपरीत ख्याति में भी योजना कर लेनी चाहिए । अतः यह प्रमाण की वृत्ति है । अदृष्ट-सर्प वाले पुरुष को रज्जु में कभी सर्पबुद्धि नहीं होती, अपितु पूर्वदर्शन के अनुरूप ही रज्जु-सर्प भ्रम होता है । अतः उसका हेतु वासना क्यों नहीं ? ॥ ६२६ ॥ अर्थात् पूर्व-दर्शन के बिना रज्जु में सर्प भ्रम नहीं होता । पूर्वदर्शन के आधार पर ही रज्जु में सर्प की प्रतीति मात्र होती है, सर्प वहाँ पर वस्तुतः नहीं होता, अन्यथा सकल कार्य-कारण भाव का उच्छेद हो जाता है । प्रतिभास मात्र के आधार पर असक्य अर्थ का ग्रहण होता है । प्रतिभास मात्र के आधार पर केवल स्वसंवेदक हेतु-रहित प्रतिपादित होता है । अतः उसका निश्चय होने से ही कार्य-कारण भाव स्थित होता है । वि[illegible]ीत ख्याति का किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं होता अथवा विपरीत ख्याति ही सम्[illegible]व है । अर्थात् अर्थ-रहित केवल ज्ञान होता है । विपरीत ख्याति यदि है, तब पूर्व उसकी हेतुता होगी । अन्य प्रतीति भी उसी प्रकार हो जाती है, ऐसा समझ लेना चाहिए ॥ ६२७ ॥ अर्थ की प्राप्ति अन्यत्र होती है, अतः अलौकिक ख्याति नहीं । सर्वत्र अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा पहले कहा जा चुका है ॥ ६२८ ॥ यदि कहा जाय निश्चय के आधार पर अर्थ का अभाव है तो

वार्तिकालङ्कारः

नर्थेऽप्यनर्थं इति तु निश्चयस्याप्रवृत्तितः । अनर्थनिश्चयस्यास्य तेनानैकान्तिकतास्ति न ॥६३०॥
वासनामूलताज्ञानमर्थता स न बाधनम् । तेन जाग्रद्धियो नास्ति प्रतियोगित्वसम्भवः ॥ ६३१ ॥
पूर्वदर्शनतो ज्ञानं तदप्यस्तु तदन्यतः । अनादिवासनाजनितं सर्ववेदनम् ॥ ६३२ ॥
निरालम्बनवादोऽयमत एव विराजते ।

अत एवेदमपि निरस्तम् ।

"योगिनां जायते बुद्धिः बाधिका प्रतियोगिनी ।
जाग्रत्स्तम्भादिबुद्धीनां ततः स्वप्नादितुल्यता ॥ ६३३ ॥

प्राप्तानान्तामवस्थाञ्च सर्वप्राणभृतामपि । बाधोऽयम्भविता तेन सिद्धा सप्रतियोगिता ॥ ६३४ ॥

अवश्यं हि प्रमाणपरिशुद्धार्थभावनाबलात् योगिनां प्रमाणभूतप्रत्यक्षं ज्ञानमुदेति विपर्ययबाधकम् । तेन—

"इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपलभ्यते । तामवस्थां गतानान्तु न विद्मः किम्भविष्यति" ॥६३५॥

इति निरस्तम् । यतो विदितमेव भावनायाः सामर्थ्यम् । ततोऽवश्यमेव स प्रत्ययो भावीति कस्मान्न विद्मः । तत इदमत्यन्तमसम्बद्धमेव । यदुच्यते—

योगिनां चास्मदीयानां त्वदुक्तप्रतियोगिनी ।
त्वदुक्तविपरीता वा बाधबुद्धिर्भविष्यति ॥ ६३६ ॥

इति । यतः—

अप्रमाणबलायातभावनाबलभाविनी । येषां ते योगिनो बुद्धिः किन्न शोकादिविप्लुताः ॥६३७॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि अलौकिकादि पक्षों में भी यह अर्थ बाह्य है, ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता ? ॥६२९॥ निश्चय की प्रवृत्ति न होने से अर्थ में अनर्थ होता है । इस अनर्थ निश्चय से अनैकान्तिकता होती है ॥६३०॥ अर्थ में वासनामूलता का निश्चय होना, बाध नहीं कहलाता । अतः जाग्रत् ज्ञान का प्रतियोगित्व सम्भव नहीं ॥६३१॥ पूर्वदर्शन के आधार पर ज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है । अनादि वासना से जनित सर्ववेदन होता है ॥६३२॥ अतएव यह निरालम्बनवाद विराजमान है । इसके द्वारा यह भी निराकृत हो जाता है जो कि श्लोकवार्त्तिककार ने श्लोकवार्तिक पृ० २३८ में कहा है—"योगिनां जायते बुद्धिर्बाधिका प्रतियोगिनी । जाग्रत्स्तम्भादिबुद्धीनां ततः स्वप्नादितुल्यता ॥६३३॥" इसी प्रकार श्लोकवार्तिक पृ० २३९ में कहा है—"प्राप्तानां तामवस्थां च सर्वप्राणभृतामपि । बाधोऽयं भविता तेन सिद्धा सप्रतियोगिता ॥६३४॥"

यह आवश्यक है कि योगी के प्राण-परिशोधन के लिए प्रमाणभूत प्रत्यक्ष ज्ञान उदय होता है, जो विपर्यय का बाधक होता है । उसके द्वारा यह निरस्त हो जाता है कि जो श्लोकवार्तिक पृ० २३९ में कहा गया है—"इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपलभ्यते । योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ॥६३५॥" इसके निरस्त होने का कारण यह है कि भावना का सामर्थ्य सर्वविदित है, तब अवश्य ही वह ज्ञान हो जाता है, ऐसा क्यों नहीं जाना जा सकता ? अतः यह अत्यन्त असम्बद्ध है जो कि श्लोकवार्तिक पृ० २३९ में कहा गया है —"योगिनां चाऽस्मदीयानां त्वदुक्तप्रतियोगिनी । त्वदुक्तिविपरीता वा बाधबुद्धिर्भविष्यति ॥६३६॥" योगियों को बाधबुद्धि होने का कारण यह है कि अप्रमाणभूत ज्ञान के बल पर केवल भावनाजन्य

वार्तिकालङ्कारः

ईदृक्त्वे योगिबुद्धीनां दृष्टान्तोऽस्तीति साधितम् ।
दृष्टान्तो युष्मदीयानां न कश्चिदपि विद्यते ॥९३८॥
ततः स्तम्भादिबुद्धीनां भवेत्सप्रतियोगिता ।
बाध्यत्वं वापि बुद्धित्वान्मृगतृष्णादिबुद्धिवत् ॥९३९॥
इष्टं सप्रतियोगित्वं मृगतृष्णादिबुद्धिभिः । तदात्मना च बाध्यत्वं ग्राह्यान्तरतयापि चेत् ॥९४०॥
जात्युत्तरमिदं प्राह नैवं बाधकतास्थितिः । बाधकत्वविवक्षा हि निर्मूलोच्छेदकारिणी ॥९४१॥
यथाकथञ्चिद्वदतस्तदेतज्जाड्यजृम्भितम् ।

न हि प्रतियोगित्वमात्रं विवक्षितमपि तु बाधकप्रतियोगित्वम् । तेन प्रतियोगित्वमात्रं साधनमसम्बद्धम् ।

बाधकश्चाप्यनैकान्तस्तदन्यत्वञ्च पूर्ववत् ॥९४२॥
बुद्धादिप्रत्ययान्यत्वसाधकप्रत्ययो मृषा । अत्राप्युत्तरमस्माभिः पूर्वमेव निरूपितम् ॥९४३॥
बुद्धादिप्रत्ययः सर्वः स्वाङ्गमात्रावलम्बनः । व्यवहारप्रसिद्धिस्तु यथा तदभिधास्यते ॥ ९४४ ॥
मिथ्याधीप्रतियोगित्वं स्वप्नादाविव ते भवेत् । इति पूर्वमेव विहितं नोत्तरं पुनरुच्यते ॥९४५॥

तथा हि—

मिथ्यात्वे सर्वबुद्धीनां तारतम्यादिभावतः । बाध्यबाधकभावोऽयं वासनातारतम्यतः ॥९४६॥
यथा मिथ्यात्वभावेऽपि बाह्यभावानुरोधतः । बाध्यबाधकभावोऽयं भवतामविगानतः ॥९४७॥

तत्र विपरीतादिख्यातित्वादसौ इहापि वासनादार्ढ्यभावाभावाभ्यां बाध्यबाधकभाव इति न दोषः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञान जिन योगियों को होता है, उनकी बाधबुद्धि क्यों नहीं हो सकती ? ॥९३७॥ योगियों की इस प्रकार बाधबुद्धि होने में दृष्टान्त भी कहा जा चुका है। हाँ, उसका दृष्टान्त मीमांसकादि में अवश्य सुलभ नहीं ॥ ९३८ ॥ फलतः बौद्ध योगियों के द्वारा स्तम्भादि बुद्धियों का भी बाध सम्भावित है। इस प्रकार का भी अनुमान किया जा सकता है कि स्तम्भादि बुद्धि —"शक्यते बाधितुं बुद्धित्वात्, मृगतृष्णादिबुद्धिवत् ॥ ९३९ ॥ यदि कहा जाय कि सप्रतियोगित्व यदि मृग०तृष्णादि बुद्धियों के साथ सम्भावित है और उस रूप से बाध्यत्व भी कहा जा सकता है ॥९४०॥ तब वह जाति उत्तर होगा। उसके आधार पर बाधकता स्थिर नहीं हो सकती। बाधकत्व की विवक्षा निर्मूलोच्छेद का कारण है ॥ ९४१ ॥ यथाकथञ्चित् कहना जाड्यजृम्भित है, क्योंकि प्रतियोगित्व मात्र यहाँ विवक्षित नहीं, अपितु बाधक प्रतियोगित्व। अतः प्रतियोगित्व मात्र के द्वारा साधन असम्बद्ध है। बाधक भी अनैकान्तिक है, तदन्यत्व पूर्व विवक्षित है ॥ ९४२ ॥ बुद्धादि प्रत्ययान्वित साधक प्रत्यय मिथ्या है। इसका उत्तर भी हमने पहले ही दे दिया है ॥ ९४३ ॥ समस्त बुद्धादि प्रत्यय स्वाङ्ग मात्र का अवलम्बन करता है। इस प्रकार व्यवहार प्रसिद्ध है जैसाकि आगे कहा जायेगा ॥ ९४४ ॥ आपके मत में मिथ्या ज्ञान की प्रतियोगिता स्वप्नादि में होगी। यह पूर्व में ही कहा जा चुका है, उसका पुनः उत्तर नहीं दिया जाता ॥९४५॥ अर्थात् सब बुद्धियों के मिथ्या होने पर भी तारतम्य के भेद से बाध्यबाधकभाव वासना-तारतम्य के द्वारा माना जाता है ॥ ९४६ ॥ यथा मिथ्यात्व के होने पर भी बाह्य भावों के अनुरोध पर आपका यह बाध्य-बाधकभाव अविगीत है ॥ ९४७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ननु बुद्धस्य भगवतो बुद्धिर्योगित्वरागादिक्षयनिमित्तवती तस्य च विशेष्यबाधनाद्विरुद्धः। तथा हि—

रागादिक्षययोनित्वनिमित्तादिगतस्तथा । यावान् विशेष इष्टः स्यात्सर्वंबाधाद्विरुद्धता ॥६४८॥

स्तम्भादिप्रत्ययबाधके बुद्धादिज्ञाने यावन्तो विशेषा रागादिक्षयनिमित्तत्वादयस्तेषां बाधनाद्विरुद्धतापि हेतोर्भवेत्। तथा हि मिथ्याधीप्रतियोगित्वं यदैव स्वप्नादिज्ञानानां साधितम्। तदा ताथागतमपि ज्ञानं प्रतियोगित्वान्मिथ्याप्रसक्तम्। स्वप्नबाधकस्तम्भादिज्ञानवदेव। अत्रोच्यते—

यदि विशेषविरुद्धतया क्षतिर्ननु न हेतुरिहास्ति न दूषितः।
निखिलहेतुपराक्रमरोधिनी न हि न सा सकलेन विरुद्धता ॥६४९॥

यथा स्वप्नबुद्धिर्मिथ्यास्तम्भादिबुद्धिप्रतियोगिनीति साध्यते। तथा प्रतियोगिबुद्धिप्रतियोगित्वमपि बुद्धित्वात्स्वप्नबुद्धिवदेव। एवं यथा धूमोऽग्निं साधयति। तथा इहेदानीमग्न्यसम्भवमपि साधयतीति न हेतुरेव कश्चित्साध्यसाधनः स्यात्। किं च। बुद्धित्वात्प्रतियोगित्वमात्रमेव साधयति। न विशेषप्रतियोगित्वं तथा यथा कृतकत्वमनित्यत्वं साधयति शब्दस्य तथाकाशगुणत्वविपर्ययमपि साधयतीति प्राप्तम्। न चाकाशगुणत्वमपि शास्त्राङ्गीकरणात्साध्यम्। इष्टः साध्य इति वक्ष्यते। तस्मान्न विशेषविरुद्धता हेतुदूषणम्।

ननु—

महाजनस्य चाबाधादिदानीन्तनबुद्धिवद्। बाध्योऽनुमानबाधो वा यदि वा प्रतिसाधनम् ॥६५०॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विपरीत ख्याति के द्वारा यहाँ भी वासना की दृढ़ता के होने न होने पर बाध्य-बाधकभाव व्यवस्थित है। अतः किसी प्रकार का दोष नहीं।

शंका—भगवान् बुद्ध की वह बुद्धि जो रागादि का क्षय है, उसमें भी मिथ्या ज्ञानों की विरुद्धता या बाध्यता देखी जाती है, अतः बाध्यत्व हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात् रागादि क्षय की निमित्तभूत बुद्धियों में मिथ्या ज्ञानों को बाध्यता विद्यमान है। अतः बाध्यत्व हेतु-विशेष विरुद्ध है। (श्लोकवा० पृ० २४०) ॥६४८॥ अर्थात् स्तम्भादि प्रतीतियों के बाधक बुद्धादि के ज्ञानों में जो रागादि क्षय निमित्तता पायी जाती है, उनका भी मिथ्या ज्ञान से बाध्य हो जाने के कारण हेतु में विरुद्धता इस प्रकार आ जाती है कि मिथ्यादि प्रतियोगिता जो स्वप्नादि ज्ञानों की सिद्ध की जाती है। तथागत का ज्ञान वैसे ही मिथ्या-प्रसक्त होता है, जैसे स्वप्नादि का बाधक स्तम्भादि ज्ञान।

समाधान—कथित विशेष विरुद्धता यहाँ प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि मिथ्या का सत्य विरोधी और बाधक होता है, किन्तु सत्य का मिथ्यार्थ विरोधी होने पर भी बाधक नहीं होता ॥६४९॥ जैसे—स्वप्नादि की बुद्धि मिथ्या स्तम्भादि बुद्धि की प्रतियोगिनी है, वैसे ही प्रतियोगी बुद्धि का भी विरोधी बुद्धित्व हेतु के द्वारा सिद्ध होता है। अतः जैसे—पृथक्त्व अनित्यत्व का साधक है, वैसे ही आकाशगुणत्व के विपर्यय का भी साधक है। आकाश गुणत्व भी शास्त्रों का अङ्गीकृत होने के कारण साध्य है। इष्ट और साध्य पर्याय है यह आगे कहा जायेगा। अतः विशेष विरुद्धता हेतु का दोष प्रसक्त होता है।

वार्तिकालङ्कारः

महाजनबाधबुद्ध्यभावादिदानीन्तनबाधकबुद्धिवत् स्तम्भादिबुद्धिः सत्या, विवादास्पदीभूतस्तम्भादिबुद्धिरबाध्या, तद्विषयत्वेन महाजनस्य बाधकबुद्ध्यनुत्पादात्स्वप्नादिबाधकबुद्धिवत् । तदप्रतिरूपम् । तथा हि—

प्रतिबन्धविनाभूता दृष्टिमात्रप्रसाधना । इष्टा स्यात्साध्यसिद्धिश्चेत् तदेवं युक्तमुत्तरम् ।।९५१।।

न च स्वप्नबाधबुद्धिरबाध्या परमार्थतः । प्रत्यक्षस्यैव बाधकस्य दर्शनात्संवृत्यात्वबाध्यत्वं स्तम्भादिबुद्धेरपि न काचिन्नः क्षतिः ।

असत्यया कथं तर्हि बाधः स्वप्नादिवद्धिया । तारतम्यस्य सद्भावादिति पूर्वन्निवेदितम् ।।९५२।।

किञ्च—

जाग्रद्बुद्धिनं सत्यत्वाद्बाधते स्वप्नदर्शनम् ।
तत् ज्ञेयानुपलब्धित्वात्तच्चासत्यस्य नास्ति किम् ।।९५३।।

प्रतिपादितमेतत् । न बाधको नाम स्वालम्बनसत्यतया बाधकोऽपि तु तदनुपलब्धितः । सा चानुपलब्धिरूपता विपर्ययोपलब्धिरूपतयैव । सा च स्वांशसंवेदनत्वेऽपि न परिहीयते । तथा हि—

मेयान्तरं स्वरूपं वा सर्वोऽसौ तद्विपर्ययः ।
ततो जाग्रद्धिया बाध्या स्वांशेऽपि स्थितया परा ।।९५४।।

नन्वियमपि यदि भ्रान्तिः तदा किमवष्टम्भादसौ बाध्या स्वप्नबुद्धिः । तदप्यसत्-

निवृत्ते साधनार्थे स्यात्स्वप्नबुद्धिसमानता । बाध्यबाधकभावेन सदा किन्नः प्रयोजनम् ।।९५५।।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शङ्का - श्लोकवार्त्तिककार ने श्लोकवा० पृ० २४० में जो कहा है कि महाजन अर्थात् विशिष्ट व्यक्तियों को व्यक्तियों के ज्ञान की बाधा नहीं होती, जैसा कि वर्तमान में देखा जाता है ।। ९५० ।।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि व्याप्ति से रहित है । दृष्टि मात्र की साधना यदि इससे साध्य की सिद्धि अभीष्ट है, तब वैसा ही उत्तर होना चाहिए ।। ९५१ ।। स्वप्न की बाधबुद्धि परमार्थतः अबाध्य नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान ही बाधक देखा जाता है । सांवृत्तिक रूप से स्तम्भादि बुद्धि में भी अबाध्यता होती है । अतः कोई क्षति नहीं । अर्थात् असत्य बुद्धि के द्वारा बाह्यार्थ का बाध कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में पहले ही कहा जा चुका है कि तारतम्य का सद्भाव वहाँ भी है ।। ९५२ ।। दूसरी बात यह भी है कि जाग्रत् बुद्धि सत्य होने के कारण स्वप्नबुद्धि का बाधक नहीं । अपितु उसके विषय का अनुपलम्भक है, वह असत्य में नहीं बनता ।। ९५३ ।। अर्थात् यह कहा जा चुका है कि कोई बाधक सत्यालम्बन के कारण बाधक नहीं होता, अपितु अनुपलब्धि से वह अनुपलब्धता विपर्ययोपलब्धि रूप है । वह स्वांश-संवेदक होने पर भी परित्यक्त नहीं होती । जैसा कि कहा गया है कि सभी ज्ञानों में प्रमेयान्तर ग्राह्यता या अन्यार्थ विपरीत-रूपता बाधक होती है । अतएव जाग्रत् ज्ञान के द्वारा स्वप्न ज्ञान बाधित होता है ।। ९५४ ।। यह जो कहा गया है कि यदि जाग्रत् ज्ञान भी भ्रान्ति है, तब इसके द्वारा स्वप्नबुद्धि का बाधक कैसे होगा ? तो वैसा प्रश्न उचित नहीं, क्योंकि साधनार्थ के निमित्त होने पर स्वप्नबुद्धि की समानता होती है । उस समय बाध्य-बाधक भाव से क्या प्रयोजन ? ।। ९५५ ।। श्लोकवार्त्तिककार

वार्तिकालङ्कारः

नन्वपरमुच्यते —

पूर्वं साधनदोषाश्च सन्धेयास्तस्य चाधुना । साध्याभेदादवाच्यत्वाद्धेतोर्नोभयसिद्धता ॥९५६॥

बोधनं बुध्यति बुध्यते वानेनेति वा विकल्पाः । तत्र च पूर्ववद्दोषाः साध्याभेदेन प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेनाबाध्यत्वात्प्रत्ययत्वस्य हेतोर्नोभयसिद्धता ।

ननु प्रत्ययविशेषो धर्मी सामान्यं साधनमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशता । तदाह —

सामान्यं प्रत्ययत्वञ्च भिन्नाभिन्नन्न विद्यते । भवतोऽत्यन्तभिन्नञ्च मत्पक्षेऽपि न किञ्चन ॥९५७॥

सारूप्यान्यनिवृत्ती च नेत्येतद् गमयिष्यते ।
तस्मान्न हेतुः सामान्यमस्ति सिद्धं द्वयोरपि ॥९५८॥

न युक्तमेतद्यतः —

सामान्यं प्रत्ययत्वञ्च भिन्नाभिन्नं मतं हि नः । व्यावृत्त्या समभावस्तु तया नेतीति वक्ष्यते ॥९५९॥

तत एव परामर्शयोगात्प्रत्ययः, प्रत्यय इत्यर्थस्य हेतुता पारम्पर्येण वस्तुसम्बन्धात् । प्रत्यय इति कोऽर्थः संवेदनमात्मरूपसंवित्तिमात्रम् । ततोऽसिद्धमेतद् ।

विशेषयोश्च हेतुत्वं पक्षतत्तुल्यसंस्थयोः । न स्यादन्वयहीनत्वादतद्धर्मतयापि च ॥९६०॥

तथा इति —

न चार्थहीना तद्बुद्धिर्हेतुत्वेन भविष्यति । आश्रयासिद्धता चोक्ता विशेष्यस्याप्रसिद्धितः ॥९६१॥
तथा हेतोर्विरुद्धत्वं दृष्टान्ते साध्यहीनता । विशेषणाप्रसिद्धयर्थविकल्पेनैव बोधिता ॥९६२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

नें श्लोकवा० पृ० २४१ में कहा है कि पूर्व-उक्त साधन-दोषों का यहां अनुसंधान कर लेना चाहिए। अर्थात् साध्य का अभेद होने के कारण उभय-विरुद्धता हेतु में नहीं ॥ ९५६ ॥ अर्थात् बोधन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"बुध्यति बुध्यते वानेनेति बोधन।" वहाँ पूर्वोक्त दोष साध्याभेदादि प्रतिज्ञार्थ एकदेश का अबाध्यत्व एवं प्रत्ययत्वहेतु की उभयसिद्धता कथित है।

शङ्का—प्रत्यय विशेष धर्मी है, साधन सामान्य है। अतः प्रतिज्ञार्थैकदेशता दोष प्रसक्त नहीं होता। जैसा कि श्लोकवा० पृ० २४१ में कहा गया है—"प्रत्ययत्वं च सामान्यं भिन्नाऽभिन्नं न विद्यते। भवतोऽत्यन्तभिन्नं च मत्पक्षेऽपि कथञ्चन ॥ ९५७ ॥ इसी प्रकार श्लोकवा० पृ० २४१ में यह भी कहा गया है—"सारूप्याऽन्यनिवृत्ती च नेत्येतत् साधयिष्यते। तस्माद्धेतुर्न सामान्यमस्ति सिद्धं द्वयोरपि ।।" अर्थात् सारूप्य और अन्यनिवृत्ती यहाँ सम्भव नहीं, ऐसा कहा जायेगा, अतः दोनों मतों में सामान्य हेतु सिद्ध नहीं ।। ९५८ ॥

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि प्रत्ययत्व सामान्य अपने धर्मी से भिन्नाऽभिन्न है, ऐसा हमारा मत है। व्यावृत्ति के साथ सम-भाव नहीं है, ऐसा कहा जायेगा ॥९५९॥ अतः पारम्परिक योग से प्रत्यय रूप अर्थ में हेतुता परम्परा-प्राप्त है। प्रत्यय शब्द का क्या अर्थ ? आत्मरूप संवेदन को प्रत्यय शब्द से कहा गया है। अतः यह असिद्ध है जो कि श्लोकवा० पृ० २४१-४२ में कहा गया है—'विशेषयोश्च हेतुत्वं पक्षतत्तुल्यसंस्थयोः। न स्यादन्वयहीनत्वादतद्धर्मतयाऽपि च ॥ ९६० ॥" इस प्रकार यह आक्षेप भी परहृत हो जाता है जो कि श्लोकवा० पृ० २४२ में कहा गया है— "न चाऽर्थहीना तद्बुद्धिर्हेतुत्वेन भविष्यति। आश्रयासिद्धता चोक्ता विशेष्याऽप्रसिद्धितः ॥९६१॥ तथा हेतोर्विरुद्धत्वं दृष्टान्ते साध्यहीनता। विशेषणाऽप्रसिद्धत्वं विकल्पेनैव

तदान्यसंविदोऽभावात् स्वसंवित् फलमिष्यते ॥ ३३२ ॥

बाह्यार्थक प्रतीति भ्रम मात्र है। अतः अन्यार्थ का संवेदन सम्भव नहीं। फलतः स्वसंवेदन ही अवशिष्ट रह जाता है॥ ३३२ ॥

यदि बाह्योऽनुभूयेत को दोषो नैव कश्चन ।

इदमेव किमुक्तं स्यात् स बाह्योऽर्थोऽनुभूयते ॥ ३३३ ॥

प्रश्न उठता है कि यदि बाह्य वस्तु ज्ञान के द्वारा अनुभूत होती हैं, तब क्या दोष होगा ? उत्तर है कि कोई दोष नहीं। बाह्य-वस्तु जब है ही नहीं तब यह कैसे कहा जा सकेगा—"बाह्योऽर्थो ज्ञानेन अनुभूयते" ॥ ३३३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सर्वमेतत्प्रागेव परिकृतम्। तस्मादसदेतत्। तत एतदनवद्यं सर्वे "प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवत्"।

(२४) बाह्यार्थनिरासः—

तेन निरालम्बनत्वे सर्वप्रत्ययानाम्। तथा हि—तदान्यसंविदोऽभावादिति।

स्वसंवेदनमेव फलम्। विज्ञानं स्वयमुदयत्स्वरूपमेवावभासयति नार्थम्। अर्थप्रतिपादने तस्य सामर्थ्याभावात्। अदर्शनाच्चार्थप्रतिपादनस्य। अत्रोच्यते—यदि बाह्योऽनुभूयेतेति।

किमनया सूक्ष्मेक्षिकया बाह्यन्नानुभूयत एव। अस्य प्रयासस्य किं फलम्। यथा लोकव्यवहारस्तथास्तु। न चानालम्बनत्वप्रतिपादनेऽन्यथा व्यवहारो न च व्यवहारादपरमिह फलमस्ति। तदप्यसदेव—

यदि व्यवहृतिः साध्या व्यवहारो यथा तथा। वेदस्यापौरुषेयत्वे प्रयासः किं फलस्तव ॥९६३॥

न खलु यदनादिव्यवहारोऽन्यकृतः। पौरुषेयत्वेतरतया सिद्धो येन तदभावेन तद् भवेत्। अथ स एव विचार्य क्रियमाणः सदर्थः। तथा सति विचार्यतामपरमपि। अथ पौरुषेयत्वे प्रमाण्यमेव न स्यादेतदपरस्यापि समानम्। अपौरुषेयत्वेऽपि प्रामाण्याभावात्। किञ्च—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बोध्यते ॥९६२॥" फलतः यह भी कहना समीचीन नहीं रह जाता कि—'सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवत्।'

(२४) बाह्यार्थ का निरास—

स्वसंवेदन ही प्रमारूप फल है। अर्थात् विज्ञान उत्पन्न होकर स्वरूप को ही अवभासित करता है, बाह्यार्थ को नहीं, क्योंकि बाह्यार्थ के प्रतिभासन में उसका सामर्थ्य ही नहीं। अर्थ का प्रतिभासन देखा भी नहीं जाता। यदि यहाँ यह प्रश्न किया जाय कि बाह्यार्थ के प्रतिभासन में क्या दोष ? जब कि लोक में बाह्यार्थ का अवभासन माना जाता है, तब वैसा ही क्यों न मान लिया जाय ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि व्यवह्रियमाण पदार्थ तो साध्य है सिद्ध नहीं, तब व्यवहार तो जैसे-तैसे किया जा सकता है। जैसे कि वेद की अपौरुषेयता का व्यवहार ॥९६३॥ अर्थात् अनादि व्यवहार अन्यकृत नहीं होता, पौरुषेयत्वादि सिद्ध नहीं, जिसका निरास किया जाय। विवादास्पद वस्तु पर ही विचार करना होता है कि वह वस्तुतः कैसा है ? यदि कहा जाय कि वेद को पौरुषेय मानने पर वेद का प्रामाण्य ही नहीं रहेगा, तो वह

यदि बुद्धिस्तदाकारा सास्त्याकारविशेषिणी ।
सा बाह्यादन्यतो वेति विचारमिदमर्हति ॥ ३३४ ॥

यदि ज्ञान अर्थाकार है, तो वह अर्थ बाह्य है या आन्तरिक, यह विचारणीय है ॥ ३३४ ॥

दर्शनोपाधिरहितस्याग्रहात् तद्ग्रहे ग्रहाद् ।
दर्शनं नीलनिर्भासम्, नार्थो बाह्योऽस्ति केवलम् ॥ ३३५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यदा बाह्यग्रहाभावस्तदा रागादि हीयते । भावनाबलतो वृत्तेस्तदभावे विपर्ययात् ॥९६४॥

तत्त्वनिरूपणे हि रागादिदोषक्षयः । स च परः पुरुषार्थ इति प्रतिपादितम् । ततस्तत्त्वं निरूप्यते । बाह्यार्थस्यानुभवो नास्ति । तथा हि । बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति कोऽर्थः । किमनुभूतिप्रवेशसद्भावादनुभूयत इति व्यपदेशोऽर्थाप्रवेशनादेव । तत इदमाह—यदि बुद्धिस्तदाकारेति ।

तदाकारा बुद्धिरिति कोऽर्थः । नीलाद्याकारा । नन्विदमिदानीं विचार्यते । तदाकारेति कुतः । ततस्तदाकारा बुद्धिरिति परिज्ञानार्थं स पुनर्द्रष्टव्यः । तत्रापि दर्शने तदाकारतैवेत्यनवस्था । अथ निराकारेण दृश्यते । तदा तदेव दर्शनं किमाकारपरिकल्पनेन । अथ तदाकारेति तन्निरूपणाकारात्तद्दर्शनाकारेति । तदा तदेवोच्यते । तन्निरूपणन्तद्दर्शनमिति कोऽर्थः । अथ द्वयमपि दृश्यते । तथा सति स्वरूपेण द्वयं दृश्यते । ततः परस्परं ग्रहणं न वा कस्यचिदिति स्वसंवेदनमेव द्वयमिति प्रतिपादितम् । अथ बाह्यं विनाऽयमेव न भवति । एवन्तर्हि बुद्धिं विनाऽपरोक्षता न भवतीति प्राप्तम् । अथ दृश्यत एवापरोक्षता । तथा सति परं परिकल्पनीयम् । तदाकारा बुद्धिरपि दृश्यत एव किमपरपरिकल्पः । यतः—दर्शनोपाधिरहितस्येति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तो अपौरुषेय पक्ष में भी वैसा ही है । दूसरी बात यह भी है कि जब बाह्यार्थ का अभाव माना जाता है, तब उसके रागादि का परिहाण अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है । भावना के बल पर विपरीत धारणाओं का परिवर्तन किया जाता है ॥९६४॥ अर्थात् तात्त्विकता का निरूपण करने पर रागादि दोषों का क्षय होता है । रागादि का क्षय होना परमपुरुषार्थ माना गया है । अतः तत्त्व-निरूपण अपेक्षित है । बाह्यार्थ का अनुभव वस्तुतः नहीं होता । अर्थात् बाह्यार्थ का अनुभव होता है, उसका क्या अर्थ ? क्या ज्ञान का अपना आकार ही प्रतिभासित होता है अथवा कोई बाह्यार्थ सत् है ? यही प्रश्न वार्त्तिककार ने उठाया है कि "तदाकारा बुद्धिः" इसका क्या अर्थ ? नीलाकार ज्ञान । अर्थात् ज्ञान ही नीलादि अर्थों का आकार अपने संस्कारों के आधार पर धारण करता है, बाह्यार्थ की सत्ता नहीं । अतः ज्ञान की तदाकारता दिखाने के लिए उस पर बल दिया गया है । ज्ञान की साकारता के लिए दर्शन में साकारता मानने पर अनवस्था क्यों नहीं ? यदि दर्शन की साकार कल्पना आवश्यक नहीं, तब दृश्य में आकार कल्पना की क्या आवश्यकता ? यदि कहा जाय कि ज्ञान विषय का निरूपक है , अतः उसमें आकार कल्पना आवश्यक है, तब उतना ही कहना चाहिए, निरूपण और दर्शन दोनों एक हैं या भिन्न ? यदि दोनों पृथक् हैं, दृश्य हैं, तब दोनों का स्वरूपतः दर्शन मानना होगा । तब दोनों का स्वसंवेदन प्राप्त होता है । यदि कहा

दर्शन या ज्ञान रूप उपाधि से रहित नीलादि अर्थों का ग्रहण नहीं होता। अतएव दर्शन का आकार होता है—"नीलोऽयं अर्थो भाति"। ज्ञान-रहित केवल अर्थ का भान नहीं होता ॥ ३३५ ॥

वार्त्तिकालङ्कारः

यदेव दृश्यते तदेवाभ्युपगम्यते। तथा हि प्रतिभासात तद्गतमेव नीलमवभासते नापरम्। ततः प्रतिभासव्यतिरेकेण न प्रमाणम्। ततो नाभ्युपगमः। अथ प्रतिभासत्त-द्गतन्तन्न प्रतिभासते प्रतिभासस्यान्तरत्वान्नीलादेश्च बहिरवभासनात्। न व्यतिरि-क्तस्य भावे तस्य प्रतिभासनं स्वरूपेणापरोक्षेण तस्य प्रतिभासनात्। तथा हि—

व्यतिरिक्तस्य सद्भावे न नीलस्यापरोक्षता। स्वरूपेणापरोक्षत्वान्न तस्यान्याऽपरोक्षता ॥९६५॥

अथैव हि ग्राहकाकारः स्वरूपेणापरोक्षो न ग्राहकान्तरभावात्तथा तेन समान-कालोऽपि नीलादिकः। यथा च चक्षुरादिकाद् ग्राहकाकारः तथा तत्समानाकारोऽपि, तदन्वयव्यतिरेकलक्षणत्वात्कार्यकारणभावस्य। न पूर्वापरसद्भावोऽर्थस्य प्रमाणतोऽव-सीयते। प्रत्यक्षस्य पूर्वापरयोरप्रवृत्तेः। अथ पूर्वमप्यसौ नासीनीति कथं प्रतीयते। पश्चाद्वा ग्राहकाकारोऽपि कस्मान्न पूर्वं परिकल्प्यते बुद्धिर्वा सुखादयो वा। अथ नित्य-त्वादात्मन एवमेवेति चेत्। अपरोक्षतापि तर्हि प्रागेवास्तीति किं न परिकल्प्यते। विरोधादिति चेत्। न ह्यप्रतीयमानाऽपरोक्षता युक्ता। अर्थस्तद्व्यतिरिक्तोऽप्रतीयमा-नोऽपि युक्तः। व्यतिरिक्त इति केन प्रतिपन्नम्। अत एव कदाचिद् भवेदिति सन्देह-चोदना। अपरोक्षतापि कस्मान्नैवमिति चेत्। अपरोक्षत्वप्रसङ्गात्। नान्यस्यापरोक्ष-

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाय कि बाह्यार्थ के बिना 'अयं' इस प्रकार का व्यवहार कैसे होगा? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि ज्ञान के बिना अर्थ की अपरोक्षता सिद्ध नहीं होती। यदि अपरोक्षता देखी जाती है, तब उसकी कल्पना भी आवश्यक है। बुद्धि तदाकारा देखी जाती है, अन्य कल्पना को क्या आवश्यकता? क्योंकि जो देखा जाता है, वही मानना होगा। अर्थात् नीलादि अर्थ प्रतिभासित होने के कारण ज्ञानगत ही मानना होगा, भिन्न नहीं। अतः प्रतिभास से भिन्न अर्थ के होने में कोई प्रमाण नहीं। फलतः बाहर उसकी सत्ता का अभ्युपगम नहीं किया जा सकता। यदि कहा जाय प्रतिभासित होने वाला नीलादि अर्थ ज्ञाननिष्ठत्वेन प्रतिभासित नहीं होता, क्योंकि प्रतिभास आन्तर है और नीलादि बाह्यरूपेण अवभासित होते हैं, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि नीलादि को ज्ञान से भिन्न मानने पर उसका प्रतिभास नहीं हो सकेगा। उनमें स्वरूपतः अपरोक्षता अवभासित होती है, जैसा कि कहा गया है—नीलादि पदार्थों को ज्ञान से भिन्न मानने पर उनकी अपरोक्षता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः ज्ञान से भिन्न नीलादि को बाह्य नहीं माना जा सकता ॥९६५॥ ग्राहकाकार स्वरूपतः अपरोक्ष है, ग्राहकान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। उसी प्रकार नीलादि पदार्थ ज्ञान के समान काल में ही अवभासित होता है। जैसे चक्षुरादि से ग्राहकाकार अव-भासित होता है, वैसे ही ग्राह्याकार भी समान काल में ही अवभासित होता है। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कार्य-कारण भाव वैसा ही सिद्ध होता है। किसी प्रमाण के आधार पर ज्ञान और अर्थ का पौर्वापर्य अवभासन सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाण की क्रमिक प्रवृत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि वह (अर्थ) पहले भी नहीं था। तब उसकी प्रतीति कैसे होगी? अथवा ग्राहकाकार की कल्पना को भी

वार्तिकालङ्कारः

स्वान्मम परोक्षेति कल्पना स्यात्। शुक्लतादिवत्। शुक्लता यद्यपि एकस्य घटादेर्न भवति द्रव्यान्तरस्य भवत्येव। ततोऽपरोक्षताव्यतिरेकेण नापरो नीलादिः।

ननु यदा पदार्थस्य शुक्लतापैति किमसावन्यत्र गच्छति? न। अपरोक्षतापि नापरगतान्यत्र गन्त्री। एवन्तर्हि तदव्यतिरेकादर्थस्यापि तदभावादभावः। अव्यतिरेक एव न निश्चित इति चेत्। अग्नेरपि तर्ह्यभावेऽग्निरूपाभावो न सिद्ध एव। तद्व्यतिरेकेणाग्नेरभावादिति चेत्। नाव्यतिरेकस्यासिद्धत्वात्। तद्व्यतिरेकेणादर्शनादिति समानं सर्वम्। तस्मादसदेवापरोक्षताव्यतिरिक्तम्। अनुमानमपि नापरोक्षताव्यतिरेकं साधयति। कथं न साधयति? यदा परोक्षावस्थायामपि साधयति ततो नीलमास्त एव यत्पश्चात्प्रतिपत्स्यते। न तत्र पूर्वरूपानुसारेण प्रतिपत्तिभावात्। स्मरणन्तदनुभवानुसारि स चानुभवोऽपरोक्षरूपस्यैव। न च पृथगपरोक्षरूपतामवस्थाप्य नीलादिस्मरणविषयः। इह कथं प्रतिपत्तिरिति चेत्। नेहापि तथाभूतमेवाध्यारोप्यते। यदि पूर्विकामपरोक्षरूपतां परित्यजति। नीलरूपतामपि तदव्यतिरेकात्परित्यजेदेव न हि विभागेन स्मर-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बुद्धि या सुखादि की कल्पना पहले ही पश्चात् क्यों नहीं होती? यदि कहा जाय कि आत्मा नित्य है, तब उसकी अपरोक्षता भी पहले से ही क्यों नहीं मान ली जाती? यदि वैसा मानने में विरोध होता है, तब अप्रतीयमान अपरोक्षता भी युक्ति-युक्त नहीं। विषय अपने विज्ञान से भिन्न है,—ऐसा कौन जानता है? अर्थात् कोई नहीं जानता। अतएव वैसा "कदाचिद् भवेत्"—ऐसा सन्देह भी उठाया जाता है। अपरोक्षता भी ऐसी ही क्यों नहीं? इसका उत्तर है कि वैसा मानने में अपरोक्षत्व प्रसक्त होता है। तब यह भी कल्पना होने लगेगी और अन्य व्यक्ति का अपरोक्ष होने से "ममापरोक्षा"—ऐसी कल्पना होने लगेगी, वैसी ही जैसी शुक्लतादि की। शुक्लता यद्यपि एक घटादि की नहीं होती, द्रव्यान्तर की होती ही है। अतः अपरोक्षता से व्यतिरिक्त नीलादि अन्य नहीं।

यदि कहा जाय कि जब एक पदार्थ की शुक्लता नष्ट होती है, तब वह क्या अन्य व्यक्ति में चली जाती है? यदि ऐसा है, तब उससे अभिन्न होने के कारण विषय का भी अपरोक्षता का अभाव होने से अभाव प्रसक्त होता है। यदि कहा जाय कि उसका अव्यतिरेक ही है—ऐसा निश्चय नहीं, तब अग्नि का भी अभाव होने पर अग्निरूप अभाव सिद्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि उससे व्यतिरिक्त अग्नि का अभाव है, तब वह ठीक नहीं, क्योंकि उसका अव्यतिरेक सिद्ध नहीं। तद्व्यतिरेकेण अदर्शन तो सर्वत्र समान है। फलतः अपरोक्षताव्यतिरिक्तत्व असत् है। अनुमान भी अपरोक्षताव्यतिरेक का साधक नहीं। क्यों साधक नहीं? जब परोक्षावस्था में भी उसकी सिद्धि करता है, तब नीलार्थ है ही, जिसका पश्चात् ज्ञान होगा। तो वैसा प्रश्न नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ पूर्व रूप के अनुसार प्रतिपत्ति होती है, क्योंकि वह स्मरण है और स्मरण सदैव पूर्वानुभव के अनुसार होता है। प्रस्तुत अनुभव अपरोक्ष रूप का ही है। यहाँ ऐसा नहीं कि नीलादि अपनी अपरोक्षरूपता को पृथक् अवस्थापित कर स्मरण के विषय हैं, तब वे प्रतिपत्ति के विषय क्योंकर होंगे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ भी वैसा ही अध्यारोपित होता है। यदि पूर्वतन अपरोक्षरूपता का परित्याग होगा, तब नीलरूपता का भी परित्याग होगा, क्योंकि वह उससे अभिन्न है। विभा-

वार्तिकालङ्कारः

गम् । स्मरणमनुमानं न भवत्यधिकस्य प्रतिपत्तेरिति चेत् । नाधिकस्य प्रतिपत्तौ कारणाभावात् । कथन्तदधिकस्य प्रतिपत्तिरिति चेत् । नाभावात् । कथं प्रमाणम् । प्रथममेव व्याप्तिसिद्धेः । यदा धूममग्नेरुदयमासादयन्तं पश्यति परापरदेशाग्निसम्बन्धेन । तदैवमस्य प्रतिपत्तिः । यत्र यत्रायमुपनीयते तत्र धूमं जनयति । नैकदेशोऽन्यदेशसम्बद्धम् । ततो यद्यन्यत्रापि भवत्यग्निस्तत्रापि जनयत्येव । तेन धूमदेशोऽग्नेः प्रतिपन्न एव । स च भावी धूमोऽग्निर्वा तद्रूप एवाध्यारोप्यते नान्यथाऽशक्यत्वात् । ततोऽधिकधूमदर्शनादधिकपावकप्रतिप्रत्तिः । यस्य तर्हि पूर्वकं पावकविषयमध्यारोपं विनैव झटिति धूमदर्शनात्प्रतिपत्तिस्तस्य कथम् । तस्यापि सामान्यप्रतिबन्धमन्तरेणाप्रतिपत्तेः । तथा हि । यदि नाम झटिति प्रतिपत्तिस्तथापि यदानुयुज्यते । यदि नामात्र धूमः कस्मादग्निः । एवमेव दृष्टत्वादिति । तेन वक्तव्यम् । तच्च दर्शनं न परमार्थतोऽपि तु दर्शनाध्यारोपयोरेकत्वाद्व्यवसायात् । न च दृश्यमानादिना व्यतिरेकेण विकल्पेत दर्शनादर्थी न प्रवर्त्तेत । दर्शनार्थिनो नोपदिशेत् । न हि दृश्यमानतामप्रतियन् दर्शनार्थी भवति । योऽस्ति स प्रतीयत इति चेत् । यदि दर्शनेन सम्बन्धो न गृहीतः कथमस्तित्वमात्रप्रतिपत्तेः प्रवर्त्तकः । तस्माद् दृश्यमानतामेव प्रतिपद्यमानः तदर्थी नान्यथा । न हि नीलादितामनवगच्छस्तदर्थी दृष्टः । तस्मादनुमानमन्यद्वा विकल्पकं विज्ञानं दृश्यमानता-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

गशः स्मरण सम्भव नहीं । यदि कहा जाय कि स्मरण अनुमान नहीं होता, क्योंकि अधिक का भान होता है, तो वैसा नहीं कह सकते । अर्थात् अधिकार्थ की प्रतिपत्ति का कारण न होने के कारण अधिक का भान क्योंकर होगा ? वह प्रमाण क्योंकर होगा ? व्याप्ति की सिद्धि तो पहले से ही है । जब अग्नि से धूम की उत्पत्ति को देखता है और परापर देश में अग्नि देखी जाती है, वही उसकी प्रतिपत्ति है । अग्नि को जहाँ पर ले जाते हैं, वहीं पर वह धूम को उत्पन्न करती है, किन्तु एक-देश अन्य-देश सम्बद्ध वस्तु को नहीं । अतः यदि अन्यत्र भी अग्नि होती है तो वहाँ भी धूम को उत्पन्न करती ही है । अतः धूमदेश अग्नि से प्रतिपन्न होता है, वह भावी धूम अथवा अग्नि उस रूप में अध्यारोपित होती है अन्यथा नहीं । फलतः अधिक धूम के दर्शन से अधिक अग्नि की प्रतिपत्ति होती है । प्रश्न होता है कि जहाँ पर पूर्व-अग्नि विषयक अध्यारोप के बिना ही तुरन्त धूमदर्शन से प्रतिपत्ति होती है, वह कैसे ? इसका उत्तर है कि वहाँ भी सामान्य प्रतिबन्ध के बिना प्रतिपत्ति नहीं होती । अर्थात् यदि तुरन्त प्रतिपत्ति होती है, तथापि ऐसा पूछा जाता है कि यदि यहाँ धूम है तो अग्नि क्यों सिद्ध होगी ? उसके उत्तर में यह कहा जाता है कि ऐसा ही देखने में आता है, वह दर्शन परमार्थतः नहीं होता, अपितु दर्शन और अध्यारोप की एकता का अध्यवसाय उसका गमक होता है । दृश्यमानता के बिना दर्शनार्थी प्रवृत्त नहीं होता । दर्शनार्थी को कोई उपदेश नहीं करता, क्योंकि दृश्यमानता का बोध न करने वाला व्यक्ति दर्शनार्थी नहीं होता, जो होता है, वह उसकी प्रतीति करता ही है । यदि दर्शन के बिना सम्बन्ध गृहीत नहीं, तब केवल अस्तित्व मात्र के आधार पर प्रवर्तक कैसे होगा ? फलतः दृश्यमात्रता का ज्ञान करने वाला व्यक्ति ही तदर्थी होता है, अन्यथा नहीं । नीलादिरूपता को न जानने वाला व्यक्ति तदर्थी कभी नहीं होता । अतः यह सिद्ध होता है कि अनुमान अथवा अन्य विकल्प विज्ञान दृश्यमानता के

वार्तिकालङ्कारः

व्यतिरेकेण न नीलादितामवगच्छति। कथन्तर्हि परोक्षविषयमनुमानम्? पूर्वस्यापरोक्षत्वस्याध्यारोपात्। कथमतस्तत्राग्निरिति प्रतिपत्तिः? अध्यारोपस्य तथाभावात्पूर्वदृष्टमरीचिकाविषयजलवत्। यत्राध्यारोप्यते स परो वह्नेरिति चेत्। न। तस्य स्वरूपेणाप्रतिपत्तेः। तदेव तस्य रूपमिति चेत्। अपरोक्षमेव तदिति कथम्परोक्षता? स्वरूपप्रतिपत्तिरेव हि परोक्षता परेण प्रतिपत्तिरिति चेत्। सैवापरोक्षतेत्यपरिहारः। परेण प्रतिपत्तिरिति च प्रतिबन्धबलादध्यारोप एव। ततः परप्रतिपत्तिरिति मिथ्या। बाह्यस्य परोक्षस्य प्रतिपत्तिर्युक्तापि तस्य स्वयमपि पश्चाद्दर्शनादेकत्वाध्यारोपादिदन्तत्परोक्षमासीदिति परप्रतिपत्तौ चेत्तदपि नास्ति। इयं सा परप्रतिपत्तिः। प्रागासीत्परोक्षेति। तस्मादसत्परोक्षं नाम। तस्माद्दर्शनोपाधिरहितस्याग्रहणमेव। कथं व्यतिरेकगतिरर्थस्य। यदि नार्थोऽस्ति संवेदनव्यतिरिक्तः कुतो नीलपीतादिप्रतिभासभेदः? चक्षुरादिकादेव केशप्रतिभासवत्। ननूपघातबलात्केशादिप्रतिभासनम्। उपघात इति कुतः। केशादिप्रतिभासनादिति चेत्। नीलादिप्रतिभासनादिति प्रकल्प्यताम्। नन्वेकरूपता स्यात्केशादिवदेव नानादेशेऽपि न नानानीलादिता यथा भ्रमति चक्षुषि भ्रमति

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बिना नीलादिरूपता का गमक नहीं होता, तब अनुमान को परोक्ष विषयक क्यों कहा जाता है? उत्तर है कि पूर्व की अपरोक्षता का अध्यारोप होने से। इतने मात्र से वहाँ अग्नि की प्रतिपत्ति कैसे होती है? उत्तर है कि अध्यारोप वैसा ही होता है, जैसा कि पूर्वदृष्ट मरीचिकाविषयीभूत जल के समान। यदि कहा जाय कि जो अध्यारोपित नहीं होता, वह वह्नि से परे होता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी स्वरूपता-प्रतिपत्ति ही नहीं होती। यदि कहा जाय कि वैसा ही उसका स्वरूप है, तब अपरोक्ष ही हो जाता है, परोक्षता कैसे? यदि कहा जाय कि स्वरूप-प्रतिपत्ति ही परोक्षता है, तब वही अपरोक्षता और परोक्षता है, इस प्रकार की विरुद्ध रूपता कैसे होगी? अग्नि की अन्य पुरुष के द्वारा प्रतिपत्ति, यदि व्याप्ति के आधार पर होती है, तब उसे परप्रतिपत्ति कहना मिथ्या होगा। बाह्य परोक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति युक्त है। तथापि उसकी स्वयं पश्चात् दर्शन के आधार पर एकत्वाध्यारोप होता है और "इदं तत् परोक्षमासीत्" इस प्रकार की प्रतिपत्ति होनी चाहिए, वह भी नहीं होती। वह प्रतिपत्ति "प्रागासीत्परोक्षः" इस प्रकार की होती है। अतः परोक्ष वस्तु असत् है। अतः दर्शन रूप उपाधि से रहित अर्थ का ग्रहण नहीं होता। अर्थ की व्यतिरेक गति कैसे होती है? यदि बाह्यार्थ नहीं है, संवेदन से भिन्न तब नील-पीतादि का प्रतिभास क्योंकर होता है? उत्तर है—केशप्रतिभास के समान ही चक्षुरादि से ही प्रतिपत्ति होती है। यदि कहा जाय कि उपघात या तैमिरिक दोष के कारण चक्षुरादि से केशोण्डुक का प्रतिभास होता है, तब जिज्ञासा होती है कि वहाँ उपघात क्यों माना जाय? उत्तर में कहा जाता है कि केशादि का प्रतिभास होने के के कारण उपघात दोष की कल्पना की जाती है। तब यह भी प्रश्न होता है कि नीलादि का प्रतिभास होने के कारण दोष की कल्पना क्यों नहीं होती? तब शंका होती है कि केशादि और नीलादि की एकरूपता क्यों नहीं? यदि चक्षु विज्ञान का कारण माना जाता है, तब बाह्य नीलादि कारण क्यों नहीं? जैसे रोग के ग्रहण में चक्षु कारण होता है, उसी प्रकार अवान्तर अर्थ के ग्रहण में चक्षु कारण है, तब तो

कस्यचित् किञ्चिदेवान्तर्वासनायाः प्रबोधकम् ।
ततो धियां विनियमो न बाह्यार्थव्यपेक्षया ॥ ३३६ ॥

कोई ही ज्ञान अपने सहायक संस्कारों के आधार पर किसी ही विषय का भासक होता है, अतः ज्ञान बाह्य विषय के भासन में व्यापृत नहीं ॥ ३३६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तथा किं नीलादिकम् । यदि च चक्षुर्विज्ञानकारणमिष्यते । बाह्यं ततः किन्न नीलादिकम् । यथा रूपग्रहणे चक्षुः कारणम् । तथाऽवान्तरग्रहणे ततः परम् । ततो बाह्यार्थसिद्धिः । संवित्प्रतिनियमादिति । अत्रोच्यते—कस्यचित्किञ्चिदेवान्तरिति ।

उक्तमेतन्न बाह्यार्थः सिध्यति प्रत्यक्षतः । कार्यव्यतिरेकात्कल्प्यते । कार्यव्यतिरेके च वरं चक्षुरेव कल्पितम् । अर्थान्तरकल्पनातो वरं दृष्टमेव चक्षुरादिकं तद्विशिष्टमिति कल्पना । तदपि परोपरोधादुच्यते । वरं समनन्तरप्रत्ययस्यैव विशेषकल्पना । शरीरमपि कारणञ्चेत् । न । शरीरप्रतिभासव्यतिरेकेण तस्याभावात् । तत्प्रतिभासे सतीति चेत् । तथापि विज्ञानादेव विज्ञानं समानकालता च शरीरप्रतिभासेन इत्यादि प्रतिभासस्येति न कारणता । तथा हि—

यथा रागादिकल्पनां कालादिनियमः स्फुटः । प्रबोधकस्य नियमाद्विना वा तत्प्रबोधकैः ॥६६६॥
तथा नीलादिनियतप्रतिभाससमागमः ।

रागादयो हि प्रतिनियतदेशकालावस्थाभाविनः प्रबोधकप्रत्ययवशात् । न तु तेषामालम्बननियमो व्यभिचारात् । कान्यकुब्जादिचिन्ताप्रतिभासिनाञ्च नियमः प्रबोधके सत्यं यथा च । न च बाह्यस्यैव प्रबोधकत्वं चिन्ताप्रतिभासेनापि चिन्तान्तरवासनाप्रबोधात् । स्वसामर्थ्येन यथाभोगसम्भवे । न ह्याभोगस्य क्वचित्पक्षपातः । आभोगसमा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

बाह्यार्थ की सिद्धि हो जाती है । बाह्यार्थ के होने से ही संवित् की प्रतिनियमता व्यवस्थित होती है । इस प्रकार प्रसञ्जित बाह्यार्थ की स्थापना का निरास वार्तिककार ने किया है—"कस्यचित्" इत्यादि से । अर्थात् बाह्यार्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष से नहीं होती । कार्य-व्यतिरेक से बाह्यार्थ की कल्पना होती है । कार्य-व्यतिरेक की कल्पना से चक्षु की ही कल्पना उचित है । अर्थात् अर्थान्तर कल्पना की अपेक्षा दृष्ट चक्षु ही बाह्यार्थ का साधक माना जा सकता है । यह जो कुछ कहा गया, वह परकीय उपरोध के आधार पर, वस्तुतः समनन्तर प्रत्यय की ही विशेष कल्पना उचित है । शरीर भी कारण क्यों नहीं ? इसका उत्तर है—शरीर-प्रतिभास से अतिरिक्त उसका अभाव है । यदि कहा जाय—"तत्प्रतिभासे सति" तो ऐसा कहना उचित है, तब भी विज्ञान से विज्ञान की उत्पत्ति होती है । समानकालता का शरीर प्रतिभास के द्वारा भान होता है, कारणता के द्वारा नहीं, क्योंकि जैसे—रागादि की कल्पना में कालादि का स्फुट नियम होता है, अथवा प्रबोधक के नियम से ॥ ६६६ ॥ नीलादि से नियत प्रतिभास होता है, यह आगमिक सिद्धान्त है । रागादि पदार्थ प्रतिनियत देश, काल और अवस्था में होने वाले होते हैं, उसका कारण प्रबोधक प्रत्यय है । उनका आलम्बन का नियम नहीं, क्योंकि व्यभिचार है । कान्यकुब्जादि की चिन्ता के प्रतिभासक नियम के अनुसार प्रबोधक के रहने पर विषय प्रतिभान होता है । बाह्यार्थ ही प्रतिभासक है ऐसा कोई नियम नहीं । चिन्ता-जनित संस्कार-प्रतिभास कारण भी वैसा होता है । वासना-

वार्तिकालङ्कारः

नत्वेऽपि कस्यचित् पटुरूपस्य प्रतिभासादभ्यासादितो वा स्वप्नादिप्रत्ययानां च कः प्रतिनियमहेतुः। तदा जन्मान्तरादिदृष्टं बाह्यमेव नियमहेतुरिति चेत्। न। सर्वस्य दृष्टत्वात्तत्काले चाभावात्तत्कालनियमे को हेतुः।

देशादिनियतं बाह्यं प्रतिभासनियामकम्। यदि तद्देशबाह्यस्याभावे स नियमः कुतः ॥९६७॥

यदि तत्र बाह्योऽर्थो न स्यात् तदा वा तत्कालदेशनियतप्रतिभासः कुतः? अथ तत्कालतादिकमन्तरेणापि नियमः पूर्वार्थदर्शनात्। किमिदानीमथ न पूर्वप्रतिभासादेव नियमसम्भवात्। तथा हि—

अर्थशून्योऽवभासो हि माभूदित्यर्थकल्पना। पूर्वार्थादेव नियमे प्रतिभासेन किं कृतम् ॥९६८॥

इदानीमत्रार्थमन्तरेण न प्रतिभासनन्तस्य युक्तम्। प्रतिभासस्य पूर्वमेव निरुद्धत्वात् न तत्प्रतिभासः। न ह्यविद्यमान इहेदानीं प्रतिभासत इति बाह्यार्थः कल्प्यते। यदि त्वविद्यमानोऽप्यर्थः पूर्वदेशकालदृष्ट इह प्रतिभाति। प्रतिभास एव पूर्वकालादिः प्रतिभासतां किमर्थंकल्पनया? बाह्यार्थवादिभिरपि प्रतिभासस्याभ्युपगमात्। तथा तत्र बाह्यार्थ एव प्रतिभातीह त्वयोगान्न प्रतिभास इति चेत्। तत्र योग इति कुतः। संवादादिति चेत्। ननु संवादोऽप्यपरसंवादात्किन्न युक्तः। ततः संवादादपरः संवाद इति संवादप्रतिभासपरम्परैव युक्ता।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रबोध विषयाकारता का भासक है। भोगानुरूप विषय का भासन संस्कार की देन है। आभोग का किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होता, आभोग के समान होने पर भी किसी विषय का ही पटु प्रतिभास होता है। संस्कार के बिना स्वप्नादि के ज्ञान का प्रतिभासक और कोई नहीं हो सकता। जन्मान्तरादि में दृष्ट बाह्यार्थ ही नियामक होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सभी पदार्थों के दृष्ट होने से कालविशेष की नियामकता उनमें नहीं हो सकती। यदि देशविशेष में नियत बाह्य पदार्थ ही प्रतिभास का नियामक है, तब उक्त देशादि के न होने पर वह नियामक क्योंकर होगा? ॥ ९६७ ॥

यदि बाह्यार्थ की सत्ता नहीं मानी जाती, तब आपके मत में देश-काल से नियत विषय का प्रतिभास कैसे होगा? यदि काल-देशादि नियम के बिना ही अर्थ का दर्शन होता है, तब वर्तमान अर्थ की क्या आवश्यकता? पूर्वप्रतिभास के आधार पर ही नियम सम्भव हो जाता है। अर्थात् अर्थ से शून्य अवभास न हो इसलिए अर्थ की कल्पना की जाती है। पूर्वभावी अर्थ के द्वारा ही नियम बन जाने पर प्रतिभास से क्या किया जायेगा? ॥ ९६८ ॥

वर्तमान में अर्थ के बिना उसका प्रतिभासन युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि प्रतिभास पहले ही निरुद्ध हो जाता है। अर्थप्रतिभास कैसे होगा? अविद्यमान वस्तु का प्रतिभास नहीं होता। अतः अर्थ की कल्पना की जाती है। यदि अविद्यमान अर्थ भी पूर्व देशकाल में दृष्ट होकर वर्तमान में प्रतिभासित होता है, तब पूर्वकालादि का प्रतिभास ही होना चाहिए, अर्थ-कल्पना की क्या आवश्यकता? बाह्यार्थवादी आचार्यों के द्वारा भी प्रतिभास माना गया है। अतः वहाँ बाह्यार्थ ही प्रतिभासित होता है, किन्तु यहाँ योग न होने के कारण प्रतिभासित नहीं होता। यदि ऐसा माना जाता है, तब प्रश्न होता है कि वहाँ योग कैसे होगा? यदि संवाद के आधार पर माना जाता है, तब एक संवाद भी दूसरे संवाद पर निर्भर होगा। अतः संवाद-प्रतिभास-परम्परा ही युक्त है।

तस्माद् द्विरूपमस्त्येकं यदेवमनुभूयते ।
स्मर्यते चोभयाकारस्यास्य संवेदनं फलम् ॥ ३३७ ॥

अतः यह निश्चित होता है कि घटादिरूप बाह्य अर्थ की सत्ता अविद्या के प्रभाव से एक ही ज्ञान बोध एवं बोध्यार्थ—इन दोनों रूपों में अवभासित होता है, और कालान्तर स्मृत होता है, और वही फल है अर्थात् ग्राह्याकार प्रमेय, ग्राहकाकार प्रमाण, और स्वसंवेदन फल है ॥ ३३७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ननु यो हि जनित्वा प्रध्वंसते स मिथ्याप्रत्ययो यथा नेदं रजतमिति । अयन्तु स्तम्भादिः सुपरिनिश्चितः कथं विपर्यस्तः । तदसत्—

वासनाया दृढत्वेन प्रध्वंसो नास्त्यनश्वरम् । यथा रागादिकल्पानां वासनाबलभाविनाम् ॥९६९॥

वासनाबलावलम्बन एव रागादिविकल्पः । तथा बाह्यरहितः । तथाप्यसौ न नष्टलोचनेऽपि झटिति विघटते । तथा स्वप्नव्याख्याप्रबन्धः कथंचिदपि न विघटते । वासनादार्ढ्यतः । तथा हि । स एव पूर्वपाठक उत्थायोत्थाय पुनः पुनः स्वप्ने व्याख्यायते । तस्मान्न बाह्यार्थव्यपेक्षो नियमः । तथा हि—

स्वप्नदृष्टम्त्वयं किञ्चिज्जाग्रतो नानुवर्तते । अवस्था तादृशी तस्य बालकस्येव मूत्रणम् ॥९७०॥

बालकस्य मूत्रावस्था स्वप्नदृष्टा जाग्रदवस्थायामप्यनुवर्त्तिनी न तरुणाद्यवस्थायाम् । प्रतिपादितश्चार्थक्रियाव्यभिचारः प्रागिति न पुनः प्रपञ्चः ।

(२५) विज्ञानद्वैरूप्यम्—

तथाहि—तस्माद् द्विरूपमस्त्येकमिति ।

द्विरूपमिति बोधाकारं नीलाकारञ्च व्यतिरेकस्यावेदनादेकम् । अपोद्धारपरि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—जो पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, उसको मिथ्या कहते हैं । जैसे—"नेदं रजतं" इत्यादि वाक्यों के द्वारा शबरस्वामी ने निर्दिष्ट किया है और यह भी कहा है कि प्रत्यक्षसिद्ध स्तम्भादि पदार्थ निश्चित रूप से विद्यमान हैं । अतः उनका विपर्यास या अभाव कैसे होगा ?

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि वासना की दृढ़ता के कारण स्तम्भादि का ध्वंस वैसे ही प्रतीत नहीं होता, जैसे कि वासनाजनित रागादि पदार्थों का ॥ ९६९ ॥ अर्थात् वासनाविशेष के बल पर ही राग-द्वेषादि का प्रतिभान होता है, उनकी बाह्य सत्ता नहीं होती । उसी प्रकार बाह्यार्थ नेत्र के नष्ट हो जाने पर भी तुरन्त नष्ट नहीं होता । स्वप्नगत व्याख्या-प्रबन्ध कभी भी विघटित नहीं होता, उसका कारण है, वासना की दृढ़ता । जैसे कि पूर्व-प्रपाठक बार-बार स्वप्न में व्याख्यात होता है, वैसे ही बाह्यार्थ की प्रतीति भी होती है । अर्थात् स्वप्नदृष्ट किञ्चित् पदार्थ जाग्रत् काल में अनुवृत्त नहीं होता, क्योंकि उसकी अवस्था ही वैसे होती है, जैसे कि बालक का मूतना ॥ ९७० ॥ अर्थात् बालक की मूत्रावस्था स्वप्नदृष्ट है । जाग्रत् अवस्था में भी अनुवृत्त होती है, किन्तु तरुणावस्था में नहीं होती । अर्थक्रिया का व्यभिचार पूर्व कहा जा चुका है । अतः उसका पुनः प्रपञ्च नहीं किया जाता ।

(२५) विज्ञान की द्विविधता—

यदा निष्पन्नतद्भाव इष्टोऽनिष्टोऽपि वा परः ।
विज्ञप्तिहेतुर्विषयस्तस्याश्चानुभवस्तथा ॥ ३३८ ॥

जब कि बाह्यार्थवाद में विज्ञप्ति विषय की समानरूपता धारण करती है, वह विषय सहायक संस्कारों की देन है। अतएव विवादास्पद आकार ज्ञान का होने पर भी विषय फैलाता है। फलतः विषय की समानरूपता, प्रमाण तथा विषयाकार संवेदन फल माना जाता है ॥ ३३८ ॥

यदा सविषयं ज्ञानं ज्ञानांशेऽर्थव्यवस्थितेः ।
तदा य आत्मानुभवः स एवार्थविनिश्चयः ॥ ३३९ ॥

सौत्रान्तिक मतवाद दिखाकर योगाचार मत में किसी प्रकार की अनुपपत्ति या विरोध नहीं, यह दिखाया जाता है। जब ज्ञान के आकार में बाह्यविषयरूपता का भ्रम होता है, उस समय ज्ञान के आकार का अनुभव ही अर्थ का निश्चय होता है। अतः विज्ञानवाद में भी अर्थाकार प्रमाण और अर्थसंवित् फल होती है, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं ॥ ३३९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कल्पनया द्विरूपम्। कुत एतत्? यस्मादेवमनुभूयते स्मर्यते च। तत उभयाकारादपरस्य संवेदनस्याभावादर्थस्य संवेदनम् उभयाकारस्य न फलमित्युपसंहारः। नन्वर्थसंवेदनतया प्रतीयते कथं स्वसंवेदनम्? अत्रोच्यते—यदा निष्पन्नतद्भाव इति।

तदा हेतोर्निष्पन्नतद्भावस्याऽभावादनुभवस्यैव संवेदनं नीलात्मत्वाद्यतस्तस्यास्तथैव नीलादित्वेनैवानुभव इति स्वसंवेदनमेतत्परमार्थतो नार्थसंवेदनम्। अर्थत्वेनानुभवेऽपि स्वप्नसंवेदनवत्। यदि वाऽर्थसंवेदनमेव फलम्। यतः—यदा सविषयं ज्ञानमिति।

यः पुनरपरं बाह्यं न कल्पयति ज्ञानाङ्ग एव बाह्यतया तेनावसीयते। तदा य एवात्मनो ज्ञानाकारस्यानुभवः तथैव वासनानियमादर्थ इति निश्चयस्तदा निश्चयबला-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

ज्ञान के दो आकार प्रसिद्ध हैं—(१) बोधाकार और (२) नीलाकार। दोनों का भेद न होने के कारण वे दोनों एक ही विज्ञान के आकार हैं। अपोद्धार की कल्पना से द्विरूपता सिद्ध है। अर्थात् जिसका अनुभव होता है, उसका ही स्मरण। ज्ञान एक ही है। अतः दोनों आकार एक ही विज्ञान के माने जाते हैं। यदि कहा जाय कि अर्थसंवेदनतया उनकी प्रतीति होती है। अतः स्वसंवेदन कैसे? इसका उत्तर दिया जाता है—"यदा निष्पन्न" इत्यादि से। अर्थात् तद् हेतु से निष्पन्न होने के कारण स्वसंवेदन है। नीलादि स्वरूप से अवभासित होने के कारण नीलादि आकार माने जाते हैं। वे आकार वस्तुतः स्वसंवेदन के द्वारा ज्ञान के ही हैं, उससे भिन्न अर्थ नाम की कोई वस्तु नहीं। अर्थाकारत्वेन प्रतीति स्वप्न के समान हो जाती है। यह कहा जा चुका है कि ज्ञान की सारूप्याकारता प्रमाण है और अर्थसंवेदन फल। ज्ञानाकार से भिन्न जो बाह्यार्थ नहीं मानता, उसके मत में ज्ञान का एक अंश ही बाह्य रूप में अवभासित होता है। ज्ञान का अपना आकार ही अनुभूत होता है, क्योंकि उसी प्रकार के संस्कार अर्थाकारता के स्मारक माने जाते हैं।

यदीष्टाकार आत्मा स्यादन्यथा वानुभूयते ।

इष्टोऽनिष्टोऽपि वा तेन भवत्यर्थः प्रवेदितः ॥ ३४० ॥

बाह्यार्थवाद में ज्ञान का वेदन ही बाह्यार्थ होता है। ज्ञानाकारता होने के कारण बाह्यार्थ में ज्ञान की विषयता अनुभूत होती है ॥ ३४० ॥

विद्यमानेऽपि बाह्येऽर्थे यथानुभवमेव सः ।

निश्चितात्मा स्वरूपेण नानेकात्मत्वदोषतः ॥ ३४१ ॥

बाह्यार्थ के विद्यमान होने पर भी अनुभव के अनुरूप बाह्यार्थ का स्वरूप व्यवस्थापित होता है। ज्ञानाकार और बाह्यार्थ इन दोनों को भिन्न-भिन्न मानने पर अनेकरूपता प्रसक्त होती है ॥ ३४१ ॥

वार्तिकालङ्कारः

दर्थसंवेदनं फलमिति व्यवस्थाप्यते । तदा विज्ञानवादेऽप्यर्थसंवेदनं फलम् । तदा ग्राह्याकारः प्रमेयम् । ग्राहकाकारः प्रमाणं तत्संवेदनं फलम् । अथवा स एवार्थं इति प्रतीयते । तस्य च संवेदनत्वात्संवेदनमेव फलम् । अपि च । बाह्यमर्थमभ्युपगच्छतामपि स्वसंवेदनमेव फलम् । यतः— यदीष्टाकार आत्मा स्यादिति ।

न हि संवेदनस्यान्यथात्वे वस्त्वन्यथेति वक्तुं शक्यम् । तस्मात्संवेदनानुसारेणैवार्थव्यवस्थितेः तदभिन्नयोगक्षेमत्वाद्बाह्यवेदनं स्वसंवेदनमेव । तेनोपचारात् बाह्यवेदनमुच्यते । यतः । यदीष्टाकार आत्मास्य ज्ञानस्य अन्यथा चानुभूयतेऽर्थः । इष्टोऽनिष्टो वा । इष्टाकारेणानिष्टाकारेणापीष्टस्तदा तेन भवत्यर्थः प्रवेदितो मुख्यवृत्याऽन्यथा तूपचार एव । तस्मात्स्ववेदनमेव फलं बाह्येऽप्यर्थं इति दर्शयति ।

ननु सत्यत्वेऽर्थसंवेदनमेव युक्तम् । तस्य भावादसति त्वगत्या स्वसंवेदनं युक्तम् । तदसत् - विद्यमानेऽपि बाह्येऽर्थ इति ।

न हि विज्ञानवादेऽपि स्वसंवेदनमगत्याभ्युपगम्यतेऽपि तु तस्यैव संवित्तेः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विज्ञानवाद में भी अर्थसंवेदन को फल और ग्राह्याकार को प्रमेय और ग्राहकाकार को प्रमाण माना जाता है । अथवा वही अर्थ प्रतीत होता है, उसी का संवेदन फल माना जाता है। बाह्यार्थ को मानने वाले सौत्रान्तिकों के मत में ही स्वसंवेदन ही फल माना जाता है। संवेदन के अन्यथा होने पर वस्तु अन्यथा नहीं हो सकती। अतः संवेदन के अनुसार ही अर्थ जी व्यवस्था होती है। बाह्य वेदन भी स्वसंवेदन ही है, क्योंकि दोनों का योगक्षेम अभिन्न है। ज्ञानाकार ही उपचार से बाह्य वेदन कहा जाता है, क्योंकि अभीष्टाकार ज्ञान का आत्मा (स्वरूप) अथवा अन्यथा अनुभूत होता है। उसके दो आकार हैं—(१) इष्टाकार और (२) अनिष्टाकार अनुभूत होते हैं। इस प्रकार बाह्यार्थ प्रवेदित होता है। मुख्य वृत्ति या उपचार के द्वारा फलतः स्वसंवेदन ही फल होता है, बाह्यार्थवाद में भी। यदि बाह्य अर्थ नहीं तब किसका वेदन होता है ? उत्तर है सादृश्य गति से अर्थ का वेदन स्वरूप-संवेदन के रूप में माना जाता है। वहाँ यदि बाह्यार्थ स्वसंवेदन के रूप में दिखाई देता है, तब वैसा ही उचित है। अर्थसंवेदन युक्ति-युक्त नहीं। अतः उसका परित्याग किया जाता है। ज्ञान स्वरूपतः भिन्न होता है। अर्थ के भेद से भेद मानने कि आवश्यकता नहीं ।

यदि बाह्यं न विद्येत कस्य संवेदनं भवेत् ।
यद्यगत्या स्वरूपस्य बाह्यस्यैव न किं मतम् ॥ ३४२ ॥

यदि बाह्यार्थ नहीं माना जाता, तब ज्ञान किसका होगा ? कहना होगा कि ज्ञान के स्वरूप का ही भान होता है ॥ ३४२ ॥

अभ्युपायेऽपि भेदेन न स्यादनुभवो द्वयोः ।
अदृष्टावरणात् स्यात् चेन्न नामार्थवशा गतिः ॥ ३४३ ॥

ज्ञान में दो आकारों का अनुभव नहीं होता, क्योंकि सुख-दुःख वेदनीय कर्म के द्वारा दो आकारों की पृथक् प्रतीति आवृत्त हो जाती है । अतः प्रतीति में एकरूपता का ही भान होता है ॥ ३४३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अगत्यात्वङ्गीकरणे बाह्य एवार्थः किमनङ्गीकृतः । यतः—यदि बाह्यं न विद्येतेति ।

सदृश्यगतिः । तस्मात्स्वरूपसंवेदनमेव दृश्यत इति वक्तव्यं नागतिः । तत्र यदि बाह्येऽप्यर्थ स्वसंवेदनमेव दृश्यते तदेव भवतु । अर्थसंवेदनन्तु न युक्तमिति परित्यज्यते । स्वरूपेण हि वित्तीनां भिन्नत्वात्प्रतिपुरुषं नानाकारवेदनं युक्तम् । नत्वर्थस्य नानाकारवेदनं स्वरूपेणानेकात्मताप्रसङ्गात् । नानाप्रतिपत्यसंवेद्यमानोऽप्येक एवार्थ इति बाह्यदर्शिमतम् । तत एकस्य नानारूपसंवेदनमयुक्तम् । नानारूप एवार्थ इति चेत् । न यतो हि—अभ्युपायेऽपि भेदेनेति ।

एकस्मिन्नेवार्थे द्वयोरनुभव इति न स्यात् । स्वाकारपरिसमाप्तत्वात् । यद्याकारान्तरमपि तत्रैवानुप्रविश्य प्रतिभासेत तदा स्यादेकत्वगतिः । अथवा न स्यादनुभवो द्वयोरिति वस्त्वर्थः । अथवा भेदेनैकैकपर्यवसानेन न स्यादनुभवः सर्वस्यानेकाकारानुभवप्रसङ्गात् । तथा हि—अदृष्टावरणान्नो चेन्नेति ।

यद्यदृष्टमावरणमिति न द्वयदर्शनं दृष्टेनैव तर्हि एकत्वप्रतिपत्तिर्वारितेति कुत एकत्वे प्रमाणं तिमिरवच्चादृष्टम्भवेत् । चन्द्रद्वयमेव तत्रैकदर्शनं द्वितीयदर्शनस्यादृष्टेन वारणादेषापि कल्पना भवेत् । ततस्तिमिरसमानत्वाददृष्टस्य नार्थवशा गतिः । अदृष्टेनैव बाह्यार्थशून्यं विज्ञानं जन्यत इति किन्नाभ्युपगम्यते । अथादृष्टमर्थयोग्यदेशावस्थि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

शंका—बाह्यार्थ का नानाकारों में वेदन होता है । अतः अनेकात्मकता प्रसक्त होती है । अतः नानाप्रतिपत्ति के आधार पर भी संवेद्यमान अर्थ एक ही माना जाता है । ऐसा बाह्य दर्शियों का मत है । अतः एक अर्थ का नानारूप में संवेदन युक्ति-युक्त न होने के कारण बाह्यार्थ को ही नाना रूप वाला क्यों न माना जाय ?

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं' क्योंकि एक ही अर्थ में दो का अनुभव नहीं हो सकता । प्रत्येक ज्ञान स्वाकार में परिसमाप्त होता है । यदि आकारान्तर भी उसमें प्रविष्ट होकर प्रतिभासित होता है, तब एकत्व की अवगति हो सकती है । अथवा दोनों आकारों का अनुभव नहीं होगा । इस प्रकार एकाकारता की अनुभूति कहीं न होकर सर्वत्र अनेकाकारता का अनुभव प्रसक्त होता है । यदि कोई अदृष्ट आवरण माना जाता है, तब द्वि रूपता का दर्शन नहीं होगा, तब एकत्व प्रतिपत्ति नहीं रहती । तिमिर दोष के समान अदृष्ट को भी दोष माना जा सकता है । अतः अर्थ मात्र का

तमनेकात्मकं भावमेकात्मत्वेन दर्शयत् ।

तददृष्टं कथं नाम भवेदर्थस्य दर्शकम् ॥ ३४४ ॥

अनेकात्मक स्वरूप का एकात्मत्वेन अवभासन सम्भव नहीं। अतः ज्ञानगत एकाकारता का परिस्फुरण संस्कार के आधार पर होता है, उसे ही विषय समझ लिया जाता है ॥ ३३४ ॥

इष्टानिष्टावभासिन्यः कल्पना नाक्षधीर्यदि ।

अनिष्टादावसन्धानं दृष्टं तत्रापि चेतसाम् ॥ ३४५ ॥

पहले इन्द्रिय के द्वारा ज्ञानस्वरूप अर्थ का ग्रहण होता है, पश्चात् दोष के कारण बाह्यार्थ रूप अनिष्टार्थ की कल्पना होती है। अनिष्टाकारता का ज्ञान से भान होता है ॥ ३४५ ॥

तस्मात् प्रमेये बाह्येऽपि युक्तं स्वानुभवः फलम् ।

यतः स्वभावोऽस्य यथा तथैवार्थविनिश्चयः ॥ ३४६ ॥

बाह्य प्रमेय को मानने पर भी स्वसंवेदन ही फल होता है, क्योंकि ज्ञान का यह स्वभाव है कि जैसा प्रतिभासित होता है, वैसा ही स्वार्थ का विनिश्चय माना जाता है ॥ ३४६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

तार्थप्रतिपत्तिवारणे कथं समर्थमिति वक्तव्यम् । अथ —तमनेकात्मकं भावमिति ।

अपि च—

अभ्यासबलभावित्वमिष्टानिष्टार्थसंविदः । दृश्यते दृष्टसाध्यत्वं कथमत्रावगम्यते ॥६७२॥

तदेवादृष्टमितिचेत्सिद्धमेव समीहितम् । वासनाबलसम्भूतं सर्वमेवेति सिद्धितः ॥६७३॥

ननु नार्थ इष्टानिष्टतयावभासते । अर्थाकार एव कल्पना एव तथा भवन्ति । अत्रोच्यते -इष्टानिष्टावभासिन्य इति ।

अरिष्टेन गृहीतानामक्षबुद्धिरप्यन्यथा दृष्टा । तस्माद् सदेतत् । यतः—तस्मात्प्रमेये बाह्येऽपीति ।

अतो बाह्येऽप्यर्थे स्वसंवेदनमेव फलम् । नार्थसंवेदनं तस्य स्वसंवेदनानुप्रवेशात् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अनुरोध नहीं चल सकता। वैसा कैसे होगा ? इसका उत्तर दिया गया है—"तमनेकात्मकं" इत्यादि से ।

दूसरी बात यह भी है कि अभ्यास के बल पर इष्टानिष्टार्थ का संवेदन होता है। दृष्ट का साध्य यहाँ भी देखा जाता है, वह कैसे ? ॥ ६७२ ॥ वही अदृष्ट है, यदि ऐसा कहा जाय, तब हमारा अभीष्ट अर्थसिद्ध हो गया। फलतः यह सिद्धान्त पर्यवसित हो जाता है कि वासना के बल पर सब कुछ अवभासित होता है ॥ ६७३ ॥

शंका—बाह्यार्थ इष्ट या अनिष्ट रूप में अवभासित नहीं होता। अतः अर्थाकारता की कल्पना भी होती है, वस्तुतः अर्थाकारता सत् नहीं।

सामाधान—अनिष्टाकार के रूप में सम्पन्न अक्ष बुद्धि ही अन्यथा देखी जाती है। अतः बुद्ध्याकार सत् है। फलतः अर्थ के बाह्य होने पर भी स्वसंवेदन ही फल माना

तदर्थाभासतैवास्य प्रमाणं न तु सन्नपि ।
ग्राहकात्माऽपरार्थत्वाद् बाह्येष्वर्थेष्वपेक्षते ॥ ३४७ ॥

इस प्रकार बाह्य ग्राह्य के रहने पर भी ज्ञान की अर्थाकारता ही प्रमाण होती है, ग्राह्याकार नहीं, क्योंकि ग्राहकाकार स्वकीयाकार होता है ॥ ३४७ ॥

यस्माद् यथा निविष्टोऽसावर्थात्मा प्रत्यये तथा ।
निश्चीयते निविष्टोऽसावेवमित्यात्मसंविदः ॥ ३४८ ॥

इष्ट या अनिष्ट रूप में बाह्यार्थी ज्ञान में निविष्ट हुआ है । अतः अर्थाकारता ही प्रमाण है ॥ ३४८ ॥

वार्तिकालङ्कारः

अत्रापि फले विषयाकारतैव प्रमाणम् । यदाहाचार्यः—

"यदा तु बाह्य एवार्थः प्रमेयस्तदा विषयाकारतैवास्य प्रमाणम् । तथा हि । ज्ञानं स्वसंवेद्यमपि स्वरूपमनपेक्ष्यार्थाभासतैवास्य प्रमाणम् । यस्मात्सोऽर्थस्तेन मीयते । यथाह्यर्थस्याकारः शुभादित्वेन प्रतिभाति निविशते तद्रूपः स विषयः प्रतीयते । यावदाकारभेदेन प्रमाणप्रमेयत्वमुपचर्यते ।"

नन्वव्यतिरेकाद् ग्राहकाकारोऽपि कस्मान्न प्रमाणम् । अत्रोच्यते—तदार्थाभासतैवास्येति ।

न हि तदनुरूपा बाह्यार्थस्थितिः अपरार्थत्वात् । न हि स्वसंवेदनं परार्थं व्यवस्थापयति । आकारव्यतिरेकेण सर्वत्र समानत्वात् । तथा हि—यस्माद्यथा निविष्ट इति ।

आकारवशेन हि । अर्थ एवं नीलादिकः स्वाकारेण निविष्ट इति प्रत्ययः । तेनार्थाकार एवार्थकल्पनानिमित्तं ततः स एव प्रमाणम् । एवन्तर्हि अर्थवेदनमेव फलं किमिदानीं स्वसंवेदनेन ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है, अर्थ संवेदन नहीं, क्योंकि अर्थ संवेदन ही स्वसंवेदन के रूप में अनुप्रविष्ट हो जाता है । इस पक्ष में भी विषयाकारता ही प्रमाण मानी जाती है । जैसा कि आचार्य दिङ्नाग ने कहा है कि जब बाह्यार्थ ही प्रमेय होता है, तब विषयाकारता प्रमाण होती है । अर्थात् ज्ञान स्वसंवेद्य होने पर भी स्वरूप की अपेक्षा न करके अर्थाभासता ही प्रमाण होती है, क्योंकि वह अर्थ उसके द्वारा प्रमित होता है । जैसे अर्थ का आकार सुखादि रूप से प्रतीत होता है, वह वैसा ही होता है । आकार के भेद से एक ही ज्ञान प्रमाण और प्रमेय रूप में व्यवहृत होता है ।

शंका—ग्राहकाकार भी अभिन्न होने के कारण प्रमाण क्यों नहीं होता ?

समाधान—उक्त शंका का समाधान वार्तिककार ने किया है—"तदर्थाभासता" इत्यादि से । अर्थात् बाह्यार्थ की स्थिति उसके अनुरूप नहीं होती । स्वसंवेदन स्वार्थ होता है, परार्थ नहीं, किन्तु बाह्यार्थ परार्थ होता है । आकार को छोड़कर ज्ञान सर्वत्र समान होता है ।

ज्ञानाकार के रूप में पर नीलादि अर्थ निविष्ट होकर स्वाकार बनता है । अतः अर्थाकार ही अर्थ-कल्पना का निमित्त है, अतः वही प्रमाण है ।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार तो अर्थ-वेदन ही फल है, स्वसंवेदन की क्या

इत्यर्थसंवित् सैवेष्टा यतोऽर्थात्मा न दृश्यते ।
तस्माद् बुद्धिनिवेश्यार्थः साधनं तस्य सा क्रिया ॥ ३४९ ॥

फलतः ज्ञान का अपना आकार अर्थ संवेदन स्थिर होता है, क्योंकि बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती । बुद्धि का आकार ही चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय माना जाता है । अतः वही प्रमा है । ज्ञानगत् अर्थ सारूप्य के आधार पर अर्थागति होती है । अतः वही फल है ॥ ३४९ ॥

यथा निविशते सोऽर्थो यतः सा प्रथते तथा ।
अर्थस्थितेस्तदात्मत्वात् स्वविदप्यर्थविन्मता ॥ ३५० ॥

संस्कारों के आधार पर ज्ञान में जैसे अर्थ का आकार प्रस्फुटित होता है, उसी प्रकार स्वसंवित् प्रथित होती है । वही अर्थसंवित्, स्वसंवित् फल है ॥ ३५० ॥

तस्माद् विषयभेदोऽपि न स्वसंवेदनं फलम् ।
उक्तं स्वभावचिन्तायां तादात्म्यादर्थसंविदः ॥ ३५१ ॥

वार्तिकालङ्कार.

असदेतद्यतः । तदर्थकल्पनमात्मसंवेदनानुरूपमेव । तदेवाह—इत्यर्थसंवित् इत्यादि ।

यतोऽदृश्यमानन्न प्रत्यक्षस्य प्रमेयम् । कथं हि परोक्षेऽर्थे प्रत्यक्षस्य वृत्तिः प्रत्यक्षस्य च फलव्यवस्था प्रस्तुता तस्मात्स्वरूपप्रत्यक्षत्वादर्थस्यासंवेदनात्स्वसंवेदन फलम् । अथ— तस्या बुद्धिनिवेश्यार्थ इति ।

तेन हि सा क्रियतेऽतस्तस्य सा फलं तत्क्रमेण तस्याः प्रथनात् । एवन्तर्हि बाह्येऽर्थे प्रमाणमाकारः संवेदनन्तु स्वरूपे फलं प्रवृत्तमिति विषयभेदः । तदसत् । यतः—यथा निविशते सोऽर्थ इति ।

स्वविदेवेयं परमार्थतः । व्यवहारतोऽर्थवित् । ततो व्यवहारापेक्षयाऽर्थं एव फलम् । अर्थ एव प्रमाणमिति कुतो विषयभेदः परमार्थापेक्षयापि स्वरूपे द्वयमपि । तथापि कुतः । एतदेवाह—तस्माद्विषयभेदोऽपि नेति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

आवश्यकता ? तो वैसा कहना असत् है, यही वार्तिककार ने कहा है—"यस्माद् यथा निविष्ट" इत्यादि से । अर्थात् अदृश्यमान् अर्थ प्रत्यक्ष का प्रमेय नहीं होता, क्योंकि परोक्ष अर्थक ग्रहण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति कैसे होगी ? फल-व्यवस्था प्रस्तुत है, अतः स्वरूप प्रत्यक्ष होने के कारण और अर्थ का संवेदन न ज्ञान के कारण स्वसंवेदन ही फल होता है । प्रमाण के द्वारा क्रियमाण होने के कारण स्वसंवित्ति ही फल है । उसी रूप में उसकी प्रसिद्धि भी है ।

यदि कहा जाय कि इस प्रकार तो बाह्य अर्थ में प्रमाण-व्यवहार और स्वरूप-संवेदन फल— इस प्रकार विषय-भेद हो जाता है ।

तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि परमार्थतः वह स्वसंवित्ति और व्यवहारतः, अतः व्यवहार की अपेक्षा अर्थ ही फल है और अर्थ ही प्रमाण । अतः विषय-भेद कैसे ? परमार्थ की अपेक्षा भी स्वरूप में ही दोनों हैं । यही कहा गया है—"तस्माद् विषय-भेदोऽपि न" ।

ज्ञानगत अर्थाकार प्रतीति का साधन होने से प्रमाण है तथा प्रतीयमान होने के कारण फल है। अतः प्रमाण और फल का विषय भेद नहीं। जैसे कि अन्य मत में अर्थ का सारूप्य तथा अर्थ की प्रतीति प्रमाण और फल माने जाते हैं ॥ ३५१ ॥

तथावभासमानस्य तादृशोऽन्यादृशोऽपि वा ।
ज्ञानस्य हेतुरर्थोऽपीत्यर्थस्येष्टा प्रमेयता ॥ ३५२ ॥

यदि बाह्यार्थ के अनुरूप, अनुभव नहीं, तब स्वकीय वासना उद्बोधकत्वेन बाह्यार्थ सौत्रान्तिक मत में माना जाता है। बाह्यार्थ का सादृश्य माना जाता है, जैसा कि प्रमाणवार्त्तिककार ने श्लोक ३२१ में कहा है—"सरूपयन्ति तत् केन स्थूलाभासं च तेऽणवः" ॥ ३५२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

(२६) अर्थसंवेदनफलम्—

स्वसंवेदनं तर्हि बाह्येऽर्थे फलम्। प्रमेये कस्मान्नोक्तमित्याह—स्वसंवेदनं फलमिति।

परमार्थापेक्षया स्वसंवेदनमेतदर्थसंवेदनमपि। यदि नाम तदर्थसंवेदनमनिरूपितसंवेदनस्वरूपस्य निरूपणायान्तु स्वसंवेदनमेव।

ननु यदि स्वरूपेणार्थस्यानवभासनं ज्ञानमेव स्वेन रूपेण प्रतिभाति कथमर्थस्य प्रमेयता। तादृशत्वादर्थस्येति चेत्। तादृश इति कथं ज्ञायते। नानाकारा हि विज्ञप्तय इति चोक्तम्। अत्रोच्यते – तथावभासमानस्येति।

यद्यपि जलावभासि विज्ञानमुपजायते जलमन्तरेणैव तथापि मरीचिकाः समाश्रित्योदयवतः कथञ्चिदर्थहेतुतामाश्रित्यार्थालम्बनमुच्यते।

ननु यदि हेतुत्वादेवालम्बनता वासनाहेतुकत्वमेव युक्तम्। न हि सा न हेतुः। दृष्टशक्तिश्च वासना तदाकारजनने। तथा च प्रतिपादितं भवतैव। यदि तु तदाकारता

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(२६) अर्थ-संवेदन की फलरूपता—

यदि बाह्य अर्थ में स्वसंवेदन फल है, तब उसे प्रमेय क्यों नहीं कहा गया? इस का उत्तर है—"स्वसंवेदन" इत्यादि से। परमार्थ की अपेक्षा अर्थ-संवेदन भी स्वसंवेदन ही है। यदि अर्थ-संवेदन अनिरूपित संवेदनरूप में अर्थ-संवेदन तो निरूपित होकर स्वसंवेदन ही होता है।

शङ्का – यदि स्वरूपेण अर्थात् अभासक ज्ञान ही स्वरूपतः प्रतिभासित होता है, तब अर्थ में प्रमेयता कैसे? यदि कहा जाय कि अर्थ होता ही वैसा है। तब प्रश्न होता है कि अर्थ वैसा ही होता है – यह आप ने कैसे जाना? विज्ञान के लिए कहा गया है कि वे अनाकार नहीं होते।

समाधान—यद्यपि जल के बिना भी मरुमरीचि में जलावभासी विज्ञान उत्पन्न होता है। तथापि मरीचिका एवं मरुस्थल का सहारा लेकर कथञ्चित अर्थ हेतुता के आधार पर अर्थावलम्बनक उत्पन्न होता है।

यदि कहा जाय कि अर्थ ज्ञान का हेतु होने के कारण आलम्बन माना जाता है। तब ज्ञान को वासना हेतुक ही मानना उचित है। वासना हेतु नहीं—ऐसा नहीं कह

यथाकथञ्चित् तस्यार्थरूपं मुक्त्वावभासिनः ।
अर्थग्रहः कथम् ? सत्यं न जानेऽहमपीदृशम् ॥ ३५३ ॥

अर्थ सारूप्य को छोड़कर अर्थ का ज्ञान कैसे होगा ? इसका उत्तर योगाचार देता है—"सत्यं न जानेऽहमपीदृशम्" अर्थात् अर्थग्रह कैसे होता है ? यह मैं भी नहीं जानता ॥ ३५३ ॥

वार्त्तिकालङ्कारः

तथा भूतार्थमन्तरेण न भवेत् । युक्तमर्थसंवेदनं । अन्यथा तु—यथाकथञ्चित्तस्यार्थरूपमिति ।

सन्निहितमर्थमन्तरेणापि यदा तदाकारता तदा तस्य तावदर्थस्य न ग्रहणम् । अन्यदेशदृष्टस्य ग्रहणमिति चेत् । अन्यदेशेऽपि यदि तदा नास्ति कथं प्रतिभासः । यत्रास्ति तत्र प्रतिभास इति चेत् । यदि क्वापि नास्ति क उपायः । प्रतिभासादेव ज्ञायते । अवश्यं क्वापीति प्रतिभासोऽर्थमन्तरेण न दृष्ट इति प्रतिबन्धादेवं गतिः । एवं तर्हि स न दृष्टः कथं प्रतिभाति । सोऽपि जन्मान्तरादौ दृष्ट एवेति चेत् । न । नियमाभावात् अदृष्टोऽपि प्रतिभास इष्यते । एवन्तर्हि—

अदृष्टोऽपि हि देशादावर्थोऽन्यत्रावभासते । यदि सर्वस्तदा सर्वः सर्वदर्शी प्रसक्तिमान् ॥९७४॥

अदृष्टस्यापि देशान्तरादौ व्यवस्थितस्य प्रतिभासने सर्वः सर्वदर्शी प्रसक्तः । अवस्थाविशेषमन्तरेण न प्रतिभाति । तिमिरादौ प्रतिभातीति चेत् । न । तिमिरस्य सर्वसाधारणत्वात्सर्वप्रतिभासनप्रसङ्गः । किञ्च । तिमिरं दर्शनविघातकृत् तदेव कथं दर्शनहेतुः । दर्शनहेतुत्वे सकलदर्शनप्रसङ्गः । यदेव दृश्यते तस्यैव जनयतीति चेत् ।

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

सकते, क्योंकि स्वप्नादि में ज्ञानाकार के उत्पादन में वासनाओं की शक्ति दृष्टचर है । आपने ही वैसा प्रतिपादन भी किया है । यदि अर्थाकारता उस प्रकार के अर्थ के बिना नहीं होती, तब अर्थ-संवेदन युक्ति-युक्त ही है । अन्यथा अर्थ-ग्रह कैसे ?

जब कि सन्निहित अर्थ के बिना ही ज्ञान में अर्थाकारता आती है, तब उस अर्थ का ग्रहण नहीं होता । अन्य देशमें दृष्ट अर्थ का ग्रहण यदि माना जाता है, तब अन्य देश में यदि उस समय नहीं, तब उसका प्रतिभास कैसे होगा ? जहाँ है वहाँ तो प्रतिभास होगा ही । किन्तु यदि कहीं भी नहीं, तब क्या उपाय ? प्रतिभास से ही जाना जाता है कि अवश्य ही अर्थ कहीं है । प्रतिभास अर्थ के बिना नहीं देखा जाता—ऐसी व्याप्ति के द्वारा ज्ञान होता है । यदि ऐसा है, तब वह दृष्ट नहीं—यह कैसे प्रतीत होता है ? वह कदापि दृष्ट नहीं--ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जन्मान्तर में वह दृष्ट हो सकता है किन्तु ऐसा नियम नहीं, क्योंकि अदृष्ट अर्थ का भी प्रतिभास माना जाता है । यदि ऐसा है, तब किसी देश में भी अदृष्ट अर्थ अन्यत्र अवभासित होता है । यदि सभी पदार्थ अदृष्ट हैं, तब सभी सर्वदर्शी प्रसक्त होते हैं ॥ ९७४ ॥ अर्थात् अदृष्ट अर्थ का भी देशान्तरादि में व्यवस्थित प्रतिभास मानने पर सभी में सर्व-दर्शिता प्रसक्त होती है । यदि कहा जाय कि विशेष अवस्था के बिना प्रतिभासित नहीं होता । तिमिरादि दोषों में प्रतिभासित होता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि तिमिर दोष सर्व-साधारण है, अतः वही सर्व प्रतिभासन प्रसक्त होता है । दूसरी बात यह भी है कि तिमिर दोष तो दर्शन का विघातक होता है, वह दर्शन का हेतु कैसे होगा ? यदि उसे दर्शन का हेतु

वार्तिकालङ्कारः

अविद्यमानस्यैव तर्हि दृश्यते। तदेवाविद्यमानदर्शनं जनयतु अर्थमन्तरेण दर्शनन्न दृष्टमिति चेत्। अर्थयोग्यदेशावस्थानमन्तरेणापि न दृष्टम्। अनेनैव व्यभिचार इति चेत्। समानमुभयस्यापि। स एवार्थ इति चेत्। नार्थत्वस्याभावात्। एवंभूत एवार्थ इति चेत्। सर्वं एवैवंभूतः। अलौकिकत्वे सर्वमलौकिकम्। न हि दर्शनव्यतिरेकेणापरो विशेष इति प्रतिपादितम्। प्राप्तिरिति चेत्। तदपि दर्शनमेव। अनेन दर्शनादि व्याख्यातम्।

यथैव प्रथमं ज्ञानं तस्य प्राप्तिमपेक्षते। तत्प्राप्त्यापि पुनः प्राप्तिरपेक्ष्येत्यनवस्थितिः ॥९७५॥
कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एवाप्तिरूपता। प्रथमस्यापि तद्भाव इति सर्वसमानता ॥९७६॥
प्राप्तेरथापि पूर्वेण प्राप्तिरूपेण सत्यता। अन्योऽन्याश्रयमित्येका सत्यर्थे नोभयस्य तत् ॥९७७॥
अर्थकारणशुद्धत्वात्तु ज्ञानस्यास्ति सत्यता। तज्ज्ञानस्यापि सत्यत्वं तत्कारणविशुद्धितः ॥९७८॥
एवं परम्परापेक्षाद्यनवस्था प्रसज्यते। वासनाबलभावित्वं मृगतृष्णाजले स्थितम् ॥९७९॥
ततः सकलमेवैतदिति कल्प्यमनाकुलम्। अनादिवासनासङ्गप्रतिबद्धप्रवृत्तयः ॥९८०॥
यस्य नीलादयस्तस्य न दोषो नाम दृश्यते।

ननु वासनाप्रतिबन्धोऽपि स्वसंवेदनज्ञानात्मनि कथम्। यतः—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

माना जाता है, तब सकल-दर्शन प्रसक्त होता है। जो अर्थ दिखाई देता है उसी का दर्शन कराता है, तब अविद्यमान अर्थ ही दिखाई देगा। तब तो वह अविद्यमान अर्थ का ही दर्शन कराए। अर्थ के बिना दर्शन नहीं देखा जाता—ऐसा मानने पर अविद्यमान का ही दर्शन होगा, किन्तु अर्थ के बिना दर्शन नहीं होता, ऐसा मानने पर यह भी कहा जा सकता है कि योग्य देशावस्थान के बिना भी अर्थ नहीं देखा गया, तब यहीं पर व्यभिचार होता है। ऐसा व्यभिचार उभय का भी समान है, यदि वह अदृष्ट ही अर्थ है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें अर्थत्व का अभाव है। अर्थ एवंभूत ही होता है, तब सभी अर्थ एवंभूत हैं, पूर्वोक्त सर्वदर्शित्व प्रसक्त होता है। यदि वह अलौकिक है, तब सब में अलौकिकता प्रसक्त होती है। दर्शन के बिना अन्य कोई विशेषता सम्भव नहीं, ऐसा कहा जा चुका है। अर्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा भी कहना उचित नहीं, क्योंकि प्राप्ति भी एक दर्शन है। इस प्रकार दर्शनादि कि व्याख्या की जाती है।

जैसे कि प्रथम ज्ञान अर्थ की प्राप्ति की अपेक्षा करता है, तब अर्थ की प्राप्ति भी पूर्व प्राप्ति की अपेक्षा करने के कारण अनवस्था प्रसक्त होती है ॥ ९७५ ॥ यदि किसी एक अर्थ की स्वतः ही प्राप्ति मानी जाती है, तब प्रथम अर्थ का भी अभाव हो जाता है, फलतः सर्व समानता हो जाती है ॥९७६॥ यदि उत्तर प्राप्ति, पूर्व प्राप्ति के रूप में सत्य है, तब अन्योन्याश्रयता प्राप्त होती है ॥ ९७७ ॥ यदि कारण की शुद्धता होने से ज्ञान की भी सत्यता होती है, तब ज्ञान के ज्ञान में भी सत्यता प्रसक्त होती है, क्योंकि वहाँ भी कारण में विशुद्धता है ॥ ९७८ ॥ इस प्रकार परम्परा की अपेक्षा में अनवस्था प्रसक्त होती है। वासनाओं के बल पर मृग-तृष्णा में जल की अवस्थिति मानी जाती है ॥ ९७९ ॥ इस प्रकार सभी कुछ कल्प्यमान पदार्थ आकुलित हो जाता है, क्योंकि अनादि वासना के आधार पर समस्त वस्तु कल्पित हैं ॥ ९८० ॥ जिसके मत में नीलादि पदार्थों की सत्ता मानी जाती है, उसके मत में किसी प्रकार का दोष नहीं।

वार्तिकालङ्कारः

स्वरूपात्प्रतिबद्धश्चेदपरः केन गृह्यते । स्वरूपमेव स यदि नाममात्रं कृतम्भवेत् ॥९८१॥

यदि स्वरूपव्यतिरिच्यमानात्मा प्रतिबन्धो यत्र च स तदा पृथग्भूतग्रहणेन स्वसंवेदनम् । न चेत्पृथग्भावः सम्बन्धसम्बन्धिनावेव तर्हि न स्त इति न सम्बन्धग्रहणसम्भवः । तदप्यसत् । यतः—

वासनाप्रतिबन्धोऽयं सुखेनैव प्रतीयते । स्मरणं पूर्वविज्ञानप्रतिबद्धं प्रतीयते ॥९८२॥

स्मरणमुपजायमानमेवात्मनोऽनुभवप्रतिबन्धं प्रतिपादयति तदध्यवसायवशादेवमुच्यते । अस्मरणे तर्हि कथं वासनाप्रतिबद्धत्वप्रतीतिः । तथा हि—

दृष्टमेतन्मयेत्येवं स्मरणं वेदने सति । न त्वस्मरणमात्मानं निवेदयति कस्यचित् ॥९८३॥

स्मरन्नेव दृष्टमेतदिति निरूपयत्यन्यथा दृष्टत्वस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् । अस्मरणसंवेदने तु न दर्शनानुसारित्वप्रतीतिः ततस्तद्वासनाप्रतिबद्धमिति कथं प्रतीतिः तत्रापि दृष्टमिति प्रतीतेः । स्मरणेन सहैकीकृत्य तस्यापि प्रतीतेरन्यथा व्यवहारायोगात् । स्मर्यमाणदृश्यमानयोरेकतया प्रतीतिः । ततः सकलं वासनाप्रतिबद्धमेव । अथ स्मर्यमाणदृश्यमानयोरेकताप्रतिपत्तिर्भ्रान्ता । न बाधकाभावात् ।

एतदेव स्मरामीति पूर्वदर्शनमत्र मे । न च बाधकमत्रास्ति तत्र स्मृत्या सहैकता ॥९८४॥

अथ स्मरणाकारेण पूर्वरूपन्न गृह्यते । तथा सति पूर्वपरयोः कथम्भेदप्रतीति-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वासना का प्रतिबन्ध ही स्वसंवेदन ज्ञान में कैसे होगा ? क्योंकि यदि स्वरूप से प्रतिपत्त है, तब उसका ग्रहण कौन करता है ? यदि स्वरूप मात्र है, तब कृतत्व का व्यवहार, नाम मात्र का होगा ॥ ९८१ ॥ यदि स्वरूप से व्यतिरिक्त प्रतिबन्ध है, तब जहाँ पर वह है, पृथक्भूत ग्रहण के रूप में स्वसंवेदन मानना होगा, यदि पृथक्भाव नहीं, तब सम्बन्ध और सम्बन्धि भी नहीं होंगे, तब सम्बन्ध ग्रहण कैसे होगा ? यह प्रश्न भी उचित नहीं, क्योंकि यह वासना प्रतिबन्ध सुख पूर्वक प्रतीत होता है। स्मरण सर्व विज्ञानों से प्रतिबद्ध प्रतीत होता है ॥ ९८२ ॥ स्मरण ज्ञान उत्पन्न होकर अपने अनुभव के प्रतिबन्ध का प्रतिपादन करता है, उसके अध्यवसाय के आधार पर ऐसा कहा जाता है। स्मरण से भिन्न ज्ञान में वासना प्रतिबद्धत्व की प्रतीति कैसे होती है ? अर्थात् स्मरण होने पर ऐसा मैंने देखा है, ऐसी प्रतीति होती है । अतः उस ज्ञान में स्मरणाभाव निवेदित नहीं होता ॥ ९८३ ॥ स्मरण करता हुआ ही कहता है कि मैंने ऐसा कभी देखा है । अन्यथा दृष्टत्व का निरूपण नहीं हो सकेगा । अस्मरण का संवेदन होने पर दर्शनानुसारित की प्रतीति नहीं हो सकती । अतः वह ज्ञान वासना से प्रतिबन्धित है, ऐसी प्रतीति कैसे होगी ? वहाँ पर भी पूर्व दृष्टता की प्रतीति होती है । स्मरण के साथ एकता की स्थापना करके उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा उसका व्यवहार न हो सकेगा । स्मर्यमाण और दृश्यमान की एकतया प्रतीति होती है । अतः सकल ज्ञान वासना से प्रतिबद्ध है । यदि कहा जाय स्मरण और दृश्यमाण की एक रूपेण प्रतीति होती है । अतः सकल का ज्ञान वासना से प्रतिबन्धित है । स्मर्यमाण और दृश्यमान की एकता भ्रान्त नहीं हो सकती, क्योंकि कोई बाधन नहीं । अनुभव ऐसा ही होता है कि मैं स्मरण करता हूँ कि इसका मुझे पहले दर्शन हो चुका है । यहाँ कोई बाधक न होने के कारण स्मृति के साथ एकता निश्चित है ॥ ९८४ ॥

यदि स्मरणाकार के रूप में पूर्व रूप का ग्रहण नहीं किया जाता, तब पूर्व और

वार्तिकालङ्कारः

रतोऽद्वैतमेव । तथासति सुतरां संवेदनात्मना । अपि च । बाह्यवस्तुनि कार्यकारणभाव-नियमस्य कर्त्तु मशक्यत्वात् । तथा हि—

बाह्यस्यादर्शनात्पूर्वं कथंविज्ञानकार्यता । विज्ञानस्य तु दृष्टत्वाद्युक्ता विज्ञानकार्यता ॥९८५॥

तथा—

देशकालाद्यवस्थातस्तत्कार्यस्यान्यथोदयात् । कार्यकारणभावस्य नियमो नोपपत्तिमान् ॥९८६॥

संवेदनपक्षे तु संवेदनं पूर्वं संवेदनादेवोपजायते । यद्यपि नामाग्निमन्तरेण भवति धूमस्तथापि धूमवासनातो भाव इति नाहेतुको जनप्रतिभासश्च । मशकवर्तिमृगतृष्णिका-धूमजलवत् । बाह्यमेव वासनाबलाद् भवतीति चेत् । इष्यत एवैतद्बाह्यवासनाबलाया-तत्वान्नाममात्रमेव कृतं स्यात्तच्च लोकेनैव कस्तवात्र पुरुषकारः ।

ननु वासनाकार्यत्वेन न प्रतिभाति कथं वासनाकार्यता । अकस्माद्धूमादग्निं प्रति-यतः किं बाधककार्यत्वं प्रतिभाति । पर्यालोचयतो भवतीति चेत् । वासनाकार्यत्वेऽपि समानम् । जन्मान्तरादिवासनाप्रबोधस्यापि सम्भवात् । वृद्धस्य बालक्रीडास्वप्नसम्भव-वत् । ततश्च—

जन्मान्तरादिदृष्टस्य प्रतिभास इतीरितम् । वासनाबलभाव्येव वाबभास इति निर्णयः ॥९८७॥

ततश्च पूर्वपूर्वस्य विज्ञानस्यावभासनम् । सर्वत्र बाह्यं विज्ञानाद्बाह्यमेवोपपादितम् ॥९८८॥

अनादिवासनासङ्गविधेयीकृतचेतसाम् । विविधः प्रतिभासोऽयमेकत्र स्वप्नदर्शिनाम् ॥९८९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

पर रूपों की भेद-प्रतीति क्योंकर होगी ? परिशेषतः अद्वैत ही स्थिर होता है । तब संवेदनात्मता स्पष्ट हो जाती है । दूसरी बात यह भी है कि बाह्य वस्तु में कार्य-कारण-भाव का नियम नहीं किया जा सकता, क्योंकि बाह्य रूप का दर्शन न होने से पहले विज्ञान-कार्यता क्योंकर होगी ? विज्ञान के दृश्य होने के कारण विज्ञान की कार्यता युक्ति-युक्त है ॥९८५॥ उसी प्रकार देश-कालादि की अवस्था के भेद से उसका कार्य अन्यथा होता है । कार्य-कारणभाव का नियम युक्ति-युक्त नहीं ॥ ९८६ ॥ संवेदन के पक्ष में तो संवेदन अपने पूर्वसंवेदन से ही उत्पन्न होता है । यद्यपि अग्नि के बिना धूम होता है, तथापि धूम के संस्कारों से उत्पन्न होता है, अतः धूम और ज्ञान-प्रतिभास वैसे ही अहेतुक नहीं होता, जैसे मच्छरों के झुण्ड में धूम-भ्रम तथा मृग-तृष्णिका में जल-भ्रम । यदि कहा जाय कि उक्त धूमादि वासना के बल पर बाह्य ही उत्पन्न होता है, तो वह वैसा ही माना जाता है ।

कथित धूमादि ज्ञान वासना का कार्य क्योंकर माना जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अकस्मात् धूम दर्शन से अग्नि का ज्ञान करने वाले पुरुष को क्या बाधककार्यता प्रतीत होती है ? यदि कहा जाय कि पर्यालोचन करने पर वैसी प्रतीति होती है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा तो वासना का कार्य मानने पर भी समानयोगक्षेमता होती है । अर्थात् जन्मान्तरादि की वासनाओं के प्रबोध से भी वैसा सम्भव है । जैसे कि वृद्ध पुरुष को बालक की क्रीड़ाओं का स्वप्न दर्शन होता है । अतः जन्मान्तरादि में दृष्ट वस्तु का भी प्रतिभास होता है । वह वासना के बल पर अवभा-सित होता है, यह एक निर्णीत सिद्धान्त है ॥ ९८७ ॥ अतः पूर्व-पूर्व विज्ञान का अव-भासन होता है । सर्वत्र बाह्य अर्थ के विज्ञान से बाह्यरूपेण ही वस्तु प्रतिभासित होती है ॥९८८॥ अनादि वासना से वासित चित वाले व्यक्ति को विविध प्रतिभास स्वप्ना-

वार्तिकालङ्कार.

कार्यंत्वात्सकलं कार्यं वासनाबलसम्भवम् । कुम्भाकारादिकार्यं वा स्वप्नदर्शनकार्यवत् ॥९९०॥

प्रधानमीश्वरः कर्म यदन्यदपि कल्प्यते । वासनासङ्गसम्मूढचेतः प्रस्पन्द एव सः ॥९९१॥

प्रधानानां प्रधानं तत् ईश्वराणां तथेश्वरम् । सर्वस्य जगतः कर्त्री देवता वासना परा ॥९९२॥

असमञ्जसवृत्तस्य सहोद्वेगप्रवर्त्तिनः । अन्यथा जगतः कर्त्ता प्रेक्षापूर्वक्रियः कथम् ॥९९३॥

स्वातन्त्र्ये वर्त्तमानस्य शक्तस्य परिजानतः । असमञ्जसवृत्तित्वं यदि कः केन शिक्ष्यताम् ॥९९४॥

उपदेशस्य दाता चेत्स एव स्वान्यजन्मनः । स्वयं कर्त्ता विरूपं यः तस्य का न्यायवादिता ॥९९५॥

असमञ्जसभावाय विधाता चेत्समञ्जसम् । प्रक्षालनादपङ्कस्य दूरमस्पर्शनं वरम् ॥ ९९६॥

अशक्यमन्यथाकर्त्तुमत्र शक्तिः कथम्मता । वासनाबलतः सोऽपि तस्मादेवं प्रवर्त्तते ॥९९७॥

इति प्रधानेश्वरकर्तृवादनद्यः सदा शीघ्रवहाः प्रवृत्ताः ।
विशन्त्य एव क्षयतां प्रयाति तद्वासनामेयसमुद्रमेव ॥९९८॥

वासनैव वरं मूढाः सदुपायेन मेध्यताम् । तत एव समस्तस्य वाञ्छितस्य प्रसिद्धयः ॥९९९॥

तस्मादर्थग्रहः कथमिति नाहं प्रष्टव्यस्तदभिप्रायपर्यन्तनयनार्थमेतदहन्तु पुनरीदृशन्न भवतः सर्वथा समर्थयितुं शक्तः ।

अतिदुर्विहितं यत्तु कः समर्थयितुं क्षमः । अत्यन्तपूतिबीजस्य कर्षकः किं करिष्यति ॥१०००॥

(२७) विज्ञप्तिमात्रतायां प्रमाणफलव्यवस्था—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

वस्था में होता है ॥९८९॥ स्वप्न का समस्त कार्य वासना के बल पर वैसे ही सम्भूत होता है, जैसे कि कुम्भकारादि का कार्य स्वप्न-दर्शन कार्य के समान ही माना जाता है ॥९९०॥ अदृष्ट पदार्थों के दर्शन में ईश्वरीय संकल्प की प्रधानता मानी जाती है। वासनाजनित सम्मोह वाले चित्त का स्वाप्न-दर्शन एक प्रस्पन्द मात्र है ॥९९१॥ वासना-समूह प्रधानों का प्रधान, ईश्वरों का ईश्वर तथा समस्त जगत् का कर्त्ता है ॥९९२॥ असमञ्जस रूप में प्रतीत होने वाला उद्वेगजनित कार्य तथा प्रेक्षापूर्वक क्रिया क्योंकर होगी ? ॥९९३॥ स्वतन्त्र रूप में विद्यमान शक्ति और ज्ञान से सम्पन्न यदि कारण जगत् का कर्त्ता हो सकता है, तब उसके लिए किसको सिखाने की आवश्यकता है ? ॥ ९९४ ॥ यदि उपदेश का दाता व्यक्ति ही अपने अन्य विरूप जन्मों का कर्त्ता है, तब उसकी न्यायवादिता क्या ? ॥ ९९५ ॥ यदि स्वयं कर्त्ता अपने असमञ्जस कार्यों का रचयिता है, तब उससे पूछा जा सकता है कि कीचड़ से लिप्त होकर उसका प्रक्षालन करने से उसका स्पर्श न करना ही अच्छा था ॥ ९९६ ॥ बाह्य पदार्थों की रचना वासना माध्यम को छोड़कर अन्यथा नहीं की जा सकती, अतः पूर्वोत्पन्न संस्कारों के बल पर ही उनकी रचना की जा सकती है ॥९९७ ॥ फलतः सृष्टि-प्रक्रिया के प्रतिपादक सांख्य-सम्मत प्रधानवाद एवं न्यायोक्त ईश्वरवादादि सभी वाद वैसी नदियों के रूप में हैं, जो अन्त में एक मात्र वासनारूप महासागर में विलीन हो जाती हैं ॥ ९९८ ॥ अतः हे मूढ़ पुरुषों वासनावाद को ही मानो। उससे ही सभी मनोरथों की सिद्धि होगी ॥ ९९९ ॥ अतः अर्थ-ग्रह कैसे होता है ? —ऐसा प्रश्न हमसे मत पूछो। अपने-आप सोचो। हम तो इस विषय में आपकी सहायता के लिए कटिबद्ध हैं। प्रधानादि कारणों के द्वारा बाह्यार्थ की रचना वैसे ही सम्भव नहीं, जैसे अत्यन्त सड़े-गले बीज से खेती सफल नहीं हो सकती ॥ १००० ॥

(२७) विज्ञप्तिमात्रता में प्रमाण-फल-व्यवस्था—

अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ ३५४ ॥

यदि बाह्यार्थ नहीं, तब ग्राह्य-ग्राहक और फल का भेद कैसे ? इसका उत्तर दिया जाता है—"अविभाग" इत्यादि से । अर्थात् परमार्थतः कोई भेद नहीं । अतत्त्व-दर्शी पुरुषों के द्वारा पूर्वोत्पन्न संस्कारों के द्वारा ग्राह्य-ग्राहक का भेद अविलक्षित होता है ॥ ३५४ ॥

मन्त्राद्युपप्लुताक्षाणां यथा मृच्छकलादयः ।
अन्यथैवावभासन्ते तद्रूपरहिता अपि ॥ ३५५ ॥

उक्तार्थ में दृष्टान्त दिखाया जाता है—मन्त्रादि से । अर्थात् जैसे मान्त्रिक के

वार्तिकालङ्कारः

ननु यदि ग्राह्यग्राहकाकारता नास्ति कथन्तथाव्यवहारः । अयमपि भवतो व्यामोह एव । न हि ग्राह्यादिव्यवहारोऽपि संविदितः । संवित्स्वरूपे निमज्जनात् । तदात्मक एव व्यवहार इत्यर्थः । तथा हि—अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मेति ।

अविभागो बुद्ध्यात्मेति स्वसंवेदनप्रसिद्धमेतत् । तथा च प्रतिपादितम् । विपर्यस्तदर्शनैस्तु ग्राह्यादिरूपेण गृह्यते । न । अपि तु लक्ष्यते । परेण सदभावेऽपि दृश्यत इति विपर्यासमारोप्य तथा व्यवहारः । दर्शनमेतदिदानीं मम, बाह्यं तु परेण दृष्टमासीदेव । एतत्पुनरसौ न विचारयति । परेण यद् दृष्टं तन्मया दृष्टमिति कथम् । न हि परोऽप्येवं जानाति । तस्यापि तदसमत्संवेदनवदेवासाधारणम् । अथ सोऽपि मया दृष्टमित्यनुमानादेव जानाति । तथा सतीतरेतराश्रयदोषः । कार्यदर्शनभावादिति चेत् । नैकत्वप्रतिपत्त्यप्रसङ्गात् । न हि धूमादग्निर्जायमानो महानसस्थ एव ज्ञायते । अन्यत्वाद् धूमस्येति चेत् । रोमाञ्चादिकार्यस्यान्यत्वादपरः परस्य ग्राह्याकारः । किञ्च । संवेद-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रश्न—यदि ग्राह्य-ग्राहकाकारता वस्तुतः नहीं, तब वैसा व्यवहार कैसे होता है ?

उत्तर—यद्यपि एक ही ज्ञान के दोनों आकार हैं—ग्राह्याकारता और ग्राहकाकारता । तथापि जैसे भ्रान्त पुरुष को नेत्र में दोष होने के कारण केशोण्डुक बाह्य दिखाई देता है, वैसे ही अनादि संस्कारों के आधार पर ज्ञान से भिन्न बाहर विषय दिखाई देता है । वार्तिककार ने ऐसा ही कहा है—"अविभागोऽपि" इत्यादि से । ग्राह्यादिरूप से पदार्थों का ग्रहण होता है—ऐसा नहीं, अपितु लक्षित होता है । अर्थात् विपर्यय का आरोप करके वैसा व्यवहार होता है । अनुभविता अनुभव करता है कि जो मुझे ज्ञानस्वरूप दिखाई देता है, उसे अन्य पुरुष ने बाहर देखा था । किन्तु अन्य पुरुष भी नहीं जानता कि ऐसा क्यों प्रतीत होता है । यदि अन्य पुरुष भी अनुमान के द्वारा वैसा जानता है, तब अन्योऽन्याश्रयता होती है । यदि कहा जाय कि कार्य-दर्शन के द्वारा वैसा जाना जाता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि एकत्व-प्रतिपत्ति का प्रसङ्ग नहीं होता, जैसे कि धूम से जायमान अग्नि महानसस्थमात्र-वृत्ति ज्ञात नहीं होती । यदि कहा जाय कि धूम ही अन्य है, तब शीत-जनित रोमाञ्चादि कार्य के अन्य होने से अन्य पुरुष का ग्राह्याकार भी अन्य है । दूसरी बात यह भी है कि रोमाञ्चादि कार्य तो संवेदन से होता है, पदार्थ से नहीं । दो दर्शनों का मिश्रीभाव-ज्ञान

द्वारा मन्त्र पाठ करने पर मिट्टी के ढेले सुवर्ण-खण्ड के रूप में दिखायी देते हैं, वैसे ही भ्रान्त पुरुषों को ग्राह्य और ग्राहक का भेद प्रतीत होता है ॥ ३५५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नाद्वोमाश्चादयो नार्थात्। दर्शनयोश्च न दर्शनेन मिश्रीभावप्रतिपत्तिरन्यथा नानुमानमपेक्ष्येत। न हि प्रत्यक्षेऽनुमानं प्रवर्त्तते।

ननु रूपमेव प्रत्यक्षं परदृश्यता तु तत्राप्रत्यक्षा ततोऽनुमानमिति चेत्। ननु परदृश्यता तत्रास्तीत्यत्रापि नैव प्रमाणम्। अत्र एव संदेह इति चेत्। एवन्तर्हि पीतरूपतापि नीलरूपतया दृश्यमाने किन्न सन्देहविषयः। पश्चादुपलभ्यमानेऽग्नौ वह्निरूपतास्तीति कुतः। पश्चादुपलम्भादेव। अत्र तु परदृश्यतायां पश्चादपि नोपलम्भः। ननु परदृश्यमानताऽनवगमे व्यवहार एव नास्ति। न। सादृश्यमात्रेण व्यवहारप्रसिद्धेः। एकत्वमन्तरेण तु व्यवहारो नेत्येतत्कुतः।

ननु यद्यनुमानं प्रवर्त्तते परोक्षे एकत्वेऽपि प्रवर्त्तते न चेत्सदृशेऽपि कथम्। सत्यमेतत्सदृशेऽपि कुतोऽनुमानम्। केवलं दृश्यविकल्प्यार्थकीकरणमात्रेण व्यवहारमात्रमेतत्। परमार्थतस्तु स्वरूपमात्रालम्बनमेवानुमानम्। परोक्षविषयता कथमिति चेत्। न।

ज्ञानं परोक्षविषयं कथमस्तु युक्तं तत्रावभाति यदि केव परोक्षता वा।

मुक्त्वावभासनमथापि परोक्षतार्थस्तेन प्रतीतिरिति वाग्विधिरेष शुद्धः ॥१००१॥

ततः संवादनात्तस्य प्रतीतिरिति चेन्मतम्। प्राप्तिरस्तीति तत्तत्र प्राप्तिकाले सदुच्यताम् ॥१००२॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

किसी तीसरे दर्शन से नहीं होता, अन्यथा अनुमान अपेक्षित नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष-सिद्ध अर्थ में अनुमान कभी प्रवृत्त नहीं होता।

शंका—रूप ही प्रत्यक्ष होता है, किन्तु उसकी पर-दृश्यता तो अप्रत्यक्ष ही रहती है। अतः वह अनुमान-गम्य है।

समाधान—रूप में पर-दृश्यता है—इसमें ही कोई प्रमाण नहीं। अतएव उसमें सन्देह होता है। यदि ऐसा है, पीतरूपता भी नीलरूपतया दृश्यमान होने पर सन्देह का विषय क्यों नहीं? पश्चात् अग्नि के उपलभ्यमान होने पर उसमें वह्निरूपता है—इसमें क्या प्रमाण? इसका उत्तर है कि अग्नि की पश्चाद् उपलभ्यमानता ही उसमें प्रमाण है किन्तु परदृश्यमानता में तो पश्चात् भी उपलम्भ नहीं होता। यदि कहा जाय कि पर-दृश्यमानता न मानने पर व्यवहार ही नहीं होता। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सादृश्यमात्र से ही व्यवहार उपपन्न हो जाता है, किन्तु एकत्व के बिना व्यवहार सिद्ध क्यों न होगा?

शंका—यदि परोक्ष विषय में अनुमान प्रवृत्त होता है, तब एकत्व में भी प्रवृत्त होगा, अन्यथा सादृश्य में कैसे प्रवृत्त होगा? यह आपका प्रश्न उचित ही है कि सदृश अर्थ में अनुमान कैसे प्रवृत्त होगा? केवल सादृश्य का विकल्प करके अर्थों में एकता स्थापित करके व्यवहारमात्र किया जाता है। परमार्थतः स्वरूपमात्र का अवलम्बन-कर अनुमान प्रवृत्त होता है। परोक्षविषयता कैसे?

समाधान—परोक्ष-विषयक ज्ञान क्योंकर युक्त होगा? यदि वह प्रत्यक्ष अवभास होता है तब परोक्षता कैसे? यदि अवभासन को छोड़ कर अर्थ की परोक्षता मानी जाती है, तब उसमें प्रतीतिमात्र का ही विधान किया जा सकता है ॥१००१॥ अतः संवाद-जनित प्रतीति होती है। उसके अनन्तर अर्थ की प्राप्ति होती है। प्राप्ति-काल

वार्तिकालङ्कारः

पूर्वन्तु तस्य सद्भावः केन मानेन गम्यताम् । तद्भावेन विना सैव प्रतिपत्तिस्सम्भवेत्तदा ॥१००३॥
भाविनस्तनुमाभावे कथमस्ति प्रतीतता । सर्वत्र भाविरूपस्य प्रतीतिरिति निश्चयः ॥१००४॥
द्वयोरपि प्रतीतिश्चेद्वर्तमानभविष्यतोः । एकरूपप्रतीतत्वं कथम्भाविभविष्यतोः ॥१००५॥
तस्मान्न परमार्थेन प्रतीतिरनुमानतः । परोक्षश्चेद् घटो नास्ति कथं पश्चात्प्रतीयते ॥१००६॥
तदैवोदययोगश्चेत्कथं स्यात्कारणं विना । दृष्टत्वादेवमेवेति कोऽत्र पर्यनुयोगभाक् ॥१००७॥
दृष्टत्वापूर्वसद्भावः कस्मादस्य न कल्प्यते । न तथा दृश्यते तेन न तथा परिकल्प्यते ॥१००८॥
तथापि परिदृश्यस्य नानुमानन्तथैव तत् । अस्तीति ज्ञायतां केन परेणेत्यसदुत्तरम् ॥१००९॥
यतः—
परोऽपि परविज्ञातमिति नैवावगच्छति । अनुमानेन तस्यापि ज्ञातावन्योऽन्यसंश्रयः ॥१०१०॥
परसाधारणास्तित्वे ज्ञातेऽस्तीति तदुच्यते । तदस्तित्वेऽनुमानस्य प्रतिबन्धात्प्रमाणता ॥१०११॥
तस्मात्प्रत्यक्षतोऽस्तित्वे ज्ञाते तत्रानुमा भवेत् । अनुमानेन चास्तित्वे ज्ञातेऽध्यक्षस्य तद्ग्रहः ॥१०१२॥
अन्योऽन्यसंश्रयादेवमेकस्यापि न सम्भवः । अन्योऽन्यसंश्रयं किञ्चिदन्यत्रापि न दृश्यते ॥१०१३॥

तस्मादनादितथाभूतानुमानपरम्पराप्रवृत्तमनुमानमाश्रित्य बहिरर्थकल्पनायां ग्राह्यग्राहकसंवेदनकल्पनाप्रवृत्तेः ग्राह्यादिकल्पना परमार्थतः संवेदनमेवाविभागमिति स्थितम् । कुत एष भवतः प्रबोध इति चेत् । मन्त्राद्युपकृतदर्शनानां मृच्छकलादीनां

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

में अर्थ को सत् कहना होगा ॥१००२॥ पूर्व उस वस्तु का सद्भाव किस प्रमाण के द्वारा जाना जाय ? सद्भाव के बिना वह प्राप्त नहीं हो सकता ॥१००३॥ अनुमान के बिना भावी वस्तु की प्रतीतता कैसे होगी ? सर्वत्र भावी वस्तु की प्रतीति होती है—ऐसा निश्चित है ॥ १००४ ॥ यदि वर्तमान और भावी—दोनों वस्तुओं की प्रतीति होती है । तब प्रश्न उठता है कि भावी और भविष्यत् की एकरूपेण प्रतीति क्योंकर होगी ? ॥ १००५ ॥ अतः अनुमान के द्वारा परमार्थतः प्रतीति नहीं हो सकती । यदि परोक्ष घट नहीं है, तब उसकी पश्चात् प्रतीति कैसे होगी ? ॥ १००६ ॥ यदि कहा जाय कि उसी काल में उसकी उत्पत्ति होती है, तब उस समय कारण-सामग्री के बिना उसकी उत्पत्ति कैसे होगी ? यदि कहा जाय कि ऐसा ही देखा जाता है । तब इसका पर्यनुयोज्य कौन होगा ? ॥ १००७ ॥ घटादि कार्यों के दृष्टत्व और अपूर्व सद्भाव की कल्पना क्यों न कर ली जाय ? इसका उत्तर है कि वैसा देखा नहीं जाता, अतः वैसी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ १००८॥ तथापि परिदृश्य अर्थ का अनुमान भी नहीं हो सकता । वह कार्य है –ऐसा किस अन्य साधन के द्वारा जाना जाय—यह असदुत्तर है ॥१००९॥ क्योंकि अन्य व्यक्ति भी यह अन्य के द्वारा ज्ञात है, ऐसा नहीं जानता । अनुमान के द्वारा उसका ज्ञान मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है ॥१०१०॥ पर-साधारण अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर पृथक् अस्तित्व में व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान की प्रमाणता होगी ॥१०११॥ अतः प्रत्यक्ष के द्वारा अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर अनु-मान की प्रवृत्ति होगी और अनुमान के द्वारा अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्ष से उसका ज्ञान होगा ॥ १०१२ ॥ फलतः अन्योऽन्याश्रयता के कारण किसी का भी ज्ञान सम्भव नहीं । अन्योऽन्याश्रयता होने पर अन्यत्र भी कोई कार्य नहीं देखा जाता ॥१०१३॥

अतः अनादि वैसे अनुमानों की परम्परा के द्वारा बाह्य अर्थ की कल्पना हो

तथैव दर्शनात् तेषामनुपप्लुतचक्षुषाम् ।

दूरे यथा वा मरुषु महानल्पोऽपि दृश्यते ॥ ३५६ ॥

भ्रान्त पुरुषों को जो मन्त्र के प्रभाव से मृत्त-खण्ड सुवर्ण-खण्डों के रूप में दिखाई देते हैं, उनको वैसा ही क्यों न मान लिया जाये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा

वार्तिकालङ्कारः

तद्रूपरहितानामपि सर्पादिरूपेण प्रतिभासनात् । ते हि परैरदृश्यमपि दृश्यतया व्यवहरन्ति । यावदेषामव्युत्पत्तिः । यदि तु यत्स्वरूपं यत्तथैव तत्प्रत्यक्षतो वेद्यते । न व्युत्पत्तिमपेक्षेरन् । प्रत्यक्षमपि व्युत्पत्तिमपेक्ष्य तथेति चेत् । नानुमानस्य सामर्थ्यदर्शनात् । प्रत्यक्षस्यैव सामर्थ्यमिति चेत् । नानुमानस्य प्रामाण्याप्रसङ्गात् । भवतु प्रत्यक्षमेव तदिति चेत् । तदेव तर्हि वासनाबलायातत्वमध्यक्षस्यापीति न परमार्थः । अपि च । विपर्ययेऽप्यनुमानमस्त्येव तत्कथमनुमानद्वयम्भवेत् । उभयपक्षे भवत्विति चेत् । न । प्रतिपुरुषं भावव्यवस्थाप्रसङ्गात् । भवतु को दोष इति चेत् । तदेव स्वसंवेदनमायातम् । परस्परामिश्रणेनासाधारणत्वात् । तस्मात्परस्तथा न प्रतिपद्यते तथापि साधारणत्वेन प्रतीतिः । अथैतदेव कुतः परो न प्रतिपत्तिमानिति । अनुमानेनेति चेत् । विपर्ययेऽपि तर्हि प्रवर्त्ततामनुमानम् । विपर्ययेऽनुमानमसदिति चेत् । कथम् । एकत्वेन प्रतिबन्धाग्रहणात् । सादृश्येऽप्यनुमानं कृतार्थमेव । इह तु पुनरदर्शनानुरूपा क्रिया दृश्यमाना नियमेनादर्शनमनुमापयति । एतच्च पर एवाभ्युपगच्छति । तथा हि—तथैवादर्शनात्तेषामिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाने पर ग्राह्य-ग्राहक संवेदन की कल्पना प्रवृत्त होती है । ग्राह्य-ग्राहक की कल्पना परमार्थतः संवेदनात्मक और अविभक्त है । आपको इसका ज्ञान कैसे हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे जादूगर द्वारा प्रयुक्त मन्त्र-प्रभाव से मृत्कपालादि के टुकड़े सर्पादि के रूप में अवभासित होते हैं । मन्त्रादि के प्रभाव से अदृश्य पदार्थ भी दृश्य हो जाते हैं । यह तभी तक ही होता हैं, जब तक उनकी व्युत्पत्ति नहीं, जिस वस्तु का जो स्वरूप है, वह यदि प्रत्यक्ष से वैसा ही दिखाई दे, तब व्युत्पत्ति की अपेक्षा नहीं रहती । प्रत्यक्ष भी व्युत्पत्ति की अपेक्षा करके ही प्रवृत्त होता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा सामर्थ्य अनुमान में ही देखा जाता है । यदि वैसा सामर्थ्य प्रत्यक्ष का ही माना जाता है, तब अनुमान में अप्रमाणता प्रसक्त होती है । दोनों में से जब एक को ही प्रमाण मानना है, तब प्रत्यक्ष को ही प्रमाण क्यों न मान लिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष में भी वासना के आधार पर प्रामाण्य स्थिर होगा, परमार्थतः नहीं । दूसरी बात यह भी है कि विपर्यय में भी अनुमान है ही, तब दो अनुमान हो जायेंगे । उभयपक्ष मान लेने में क्या क्षति ? यह प्रश्न उचित नहीं, क्योंकि प्रत्येक पुरुष के लिए भाव-व्यवस्था प्रसक्त होगी, ऐसा होने में क्या दोष ? वही स्वसंवेदन आ जाता है । परस्पर मिश्रण न होने के कारण असाधारणता रहती है । अतः अन्य वादी वैसा नहीं मानता । तथापि साधारणत्वेन ही प्रतीति होती है । अन्य वादी वैसा नहीं समझता—ऐसा क्यों ? अनुमान के द्वारा वैसी प्रतिपत्ति नहीं—ऐसा मानने पर कहा जा सकता है कि तब विपर्यय में अनुमान की प्रवृत्ति मान ली जाय । विपर्यय में प्रवृत्त अनुमान असत् होता है । ऐसा क्यों ? इसका उत्तर है—एकत्वेन व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता । सादृश्य में भी अनुमान कृतार्थ होता ही है । यहाँ तो अदर्शन के अनुरूप

गया है—"जिन पुरुषों के नेत्र सब प्रकार के दोषों से रहित हैं, उनके द्वारा मृत्खण्ड, सुवर्ण-खण्डों के रूप में दिखाई न देकर अपने असली मृत्खण्ड के रूप में दिखाई देते हैं। अतः उन्हें धर्म रूप मानना ही उचित है ॥ ३५६ ॥

यथानुदर्शनं चेयं मेयमानफलस्थितिः।
क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥ ३५७ ॥

फलतः ग्राह्य-ग्राहक ज्ञानों की परमार्थतः मेयमान और फल की अविद्यमान स्थिति जैसी दिखाई देती है, वैसी ही माननी उचित है। अर्थात् ग्राह्याकार प्रमेय ग्राहकाकार प्रमाण तथा स्वसंवित्ति फल मानी जाती है ॥ ३५७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

यद्यसावर्थः परेणापि दृश्यत इति। एवं परस्याप्यभ्युपगमः। तथा महानेवायमिति प्रतिपत्त्या तदर्थितयोपसर्पणं साधारणमिति कृत्वा तस्मादन्यथानुमाने परित्यजत्येव तं दृष्टमित्यनुमानं सकलं सकलजनप्रसिद्धम्। पराभ्युपगमेन तु तत्त्वदर्शिनाम्। अथवा यदेव प्रतीयते यथा तादृशादर्थकल्पने कोऽवसरः। अनुमानमपि स्वाकारमात्रपर्यवसाने सति प्रत्यक्षमेव।

ननु बाह्योऽप्यत्र दृश्यमानोऽदृश्यमानो वास्तीति व्यवहारिणाम्भवत्येव प्रतीतिः। भवतु सापि स्वात्मन्येव निमग्ना यावत्प्रत्यक्षाभिमता। स्वात्मनिमग्नेति नापरं प्रतीति-बहिर्भूतं वस्त्विति विषयः। किञ्च साधारणप्रतीतिरपि भावनाबलादेव यथा स्वप्ने। कथन्तर्हि मेयमानफलस्थितिः। अत्रोच्यते—यथानुदर्शनं चेयमिति।

तदेव प्रतीयमानं वस्तु तत्रास्तीति प्रतीतिविषयतया ग्राह्यम्। स्वसंवेदनरूपं परा-नपेक्षमिति। ग्राहकं स्वयमेव तथाभावात्प्रतीतिरूपं संविदिति। विकल्पेनानुभवादुपजाय-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

क्रिया दृश्यमान होकर नियमतः अदर्शन की अनुमापक होती है। यह परवादी भी स्वीकार करता है।

यदि इस अर्थ को दूसरा भी देखता है, तब वह भी स्वीकार करता है। अतः छोटे वृक्ष को भी दूर से देखकर कहा है—"महानेवायम्"। वैसा ज्ञान हो जाने पर तदर्थी पुरुष उधर चल भी पड़ता है। उसके विपरीत अनुमान करने पर उसका परित्याग कर देता है, ऐसा अनुमान सकल-जन-प्रसिद्ध है। तत्त्वदर्शी तो परवादी के स्वीकार कर लेने पर अनुमान को सत्य मानते हैं। अथवा जो भी जैसा प्रतीत होता है, उससे अर्थ-कल्पना का क्या अवसर? अनुमान भी स्वाकारमात्र में पर्यवसित होकर प्रत्यक्ष ही माना जाता है।

शंका—बाह्य पदार्थ भी चाहे दृश्यमान हो या अदृश्यमान, बाहर है—ऐसी व्यावहारिक पुरुषों की प्रतीति प्रसिद्ध है। वह भी अपने स्वरूप में ही निमग्न होकर प्रत्यक्षत्वेन ही अभ्युपगत है। स्वात्मा में निमग्न का तात्पर्य है कि विज्ञान-स्वरूप से बाहर उसकी सत्ता नहीं। साधारण प्रतीति भी भावना के बल पर ही स्वप्न के समान होती है। यदि सब-कुछ विज्ञानस्वरूप है, तब प्रमेय, प्रमाण और फल की व्यवस्था कैसे ?

समाधान—वह प्रतीयमान वस्तु "तत्रास्तीति"—ऐसी प्रतीति विषयतया ग्राह्य होती है। स्वसंवेदन रूप एवं परानपेक्ष है। ग्राहक (ज्ञान) स्वयं वैसा ही होकर प्रतीति

अन्यथैकस्य भावस्य नानारूपावभासिनः ।
सत्यं कथं स्युराकारास्तदेकत्वस्य हानितः ॥ ३५८ ॥

यदि ग्राहकादि आकार सत्य माने जाते हैं, तब एक ज्ञान नाना आकार के रूप में परिणत क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता । अतः उसे भ्रम मानना ही उचित है ॥ ३५८ ॥

अन्यस्यान्यत्वहानेश्च नाभेदो रूपदर्शनात् ।
रूपाभेदं च पश्यन्ती धीरभेदं व्यवस्यति ॥ ३५९ ॥

अन्यान्य पदार्थों का अभेद मानने पर अन्यत्व युक्ति-युक्त नहीं रह जाता । ज्ञान रूपाभेद का निश्चय करता हुआ अभेद ही व्यवस्थापित करता है ॥ ३५९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ज्ञानेन व्यवस्थाप्यते व्यवहारतः । अनुदर्शनं दर्शनानुरूपो विकल्पः । अविद्यमानापि ।

अविद्यमानाप्तिके विषये ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ।

अथवाऽविद्यमानग्रहणेन साधारणादो ग्राह्यादीनामिति । शेष उक्त एवान्यैः तस्मात्संविदेव परमार्थतो न त्रयम् ।

नन्वात्मपरिणाम एव सकल इति कस्मादविद्यमानता । यदि नाम तस्य तत्त्वाद-प्रच्युतस्य ते भेदपरिणामाः तदाह—अन्यथैकस्य भावस्येति ।

यद्येकः कथन्नाना प्रकाशते । नाना चेत्प्रकाशते तदेकता हीयते । यतः—अन्य-स्यान्यत्वहानेश्चेति ।

अन्यस्याप्येतदेव तत्त्वं यदभेदप्रतिभासनं नाम । अन्यस्याप्यन्यथात्वं नास्त्येव । नेष्यत एवेति चेत् । एवन्तर्हि रूपभेदप्रतिभासने सति कथमभेदाभ्युपगमः । यदि नाम भवता नेष्यते भेदः स तु पुनरप्रतिभासमानेऽपि कथमभ्युपगन्तव्यः । रूपाभेददर्शने हि सत्यभ्युपगमः साधुः । यदि सर्व एव ते भेदाः प्रकाशरूपाः सर्वेषां सत्यता । अथाप्रकाश-रूपाः कथमप्रकाशाः प्रकाशादभिन्नाः । प्रकाशत्वत्व आत्मवत्सर्व एव सत्या भवेयुः । आत्मावदेव । प्रकाशरूपतैव चात्मनो रूपं ततः सर्व एवात्मानः स्युः । ततः परिणामपक्ष-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

स्वरूप ही होता है । विकल्पतः अनुभव के द्वारा व्यवस्थापित होती है, व्यवहारतः । अनुदर्शन का अर्थ है—दर्शनानुरूप विकल्प । भले ही वह विद्यमान नहीं । तथापि ग्राह्य-ग्राहक के रूप में संस्कारों के आधार पर व्यवस्थित होती है । अथवा अविद्यमानार्थ का ग्रहण होने के कारण ग्राह्यादि अर्थों की एकज्ञप्तिरूपेण ही प्रतीति होती है, अतः परमार्थतः सब-कुछ संविद्रूप ही है, प्रमाणादि त्रिक परमार्थतः नहीं ।

यदि परमार्थतः एक ही पदार्थ है, तब नाना अर्थों की प्रतीति कैसे ? यदि नाना अर्थों का प्रकाश होता है, तब एकत्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि अन्य में अन्यत्व नहीं रहता ।

अन्य अर्थ का भी यही तत्त्व है कि अभेद का प्रतिभासन । वस्तुतः अन्यार्थ में अन्यथात्व है ही नहीं । यदि कहा जाय कि अन्यत्व होने पर भी विवक्षित नहीं । यदि ऐसा है, तब रूप-भेद का प्रतिभासन होने पर अभेदाभ्युपगम कैसे ? यदि आपको भेद अभीष्ट नहीं, तब उसका प्रतिभास न होने पर कैसे माना जा सकता है । रूपाभेद का दर्शन होने पर अभेदाभ्युपगम साधु है, क्योंकि रूपाभेद का दर्शन एकमात्र प्रकाश-

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः।
यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥ ३६० ॥

ग्राह्यादि पदार्थ ग्राह्यत्वादि के रूप में जो अनुभूत होते हैं, उनका वह रूप परमार्थतः नहीं, क्योंकि एक रूप की अनेकरूपता वास्तविक नहीं हो सकती। अतः विरुद्धाकारता की प्रतीति उपप्लव या भ्रम मात्र है ॥ ३६० ॥

वार्तिकालङ्कारः

क्षयः। अथ बहुत्वं भ्रान्तिः। तथा सति न किञ्चिदिति प्राप्तं सकलमेव शून्यम्भवेत्। भ्रान्तिरपि नामात्मव्यतिरेकेण नैवास्ति। किंवा भ्रान्तिरिति नामकरणेन। अभावे भ्रान्तेः सर्वमेतन्न भविष्यतीति न तत्त्वं भेदः। ततोऽतत्त्वाभासनिमित्तत्वादभ्रान्तिरिति व्यवस्थाप्यते।

नास्यास्ति भ्रान्तिता यावन्निवर्त्यत्वं न सिध्यति।
निवर्त्यत्वे च विज्ञाते भ्रान्तिरेवेति गम्यते ॥१०१४॥
भ्रान्तिनिश्चयमासाद्य प्रवर्त्तेत निवृत्तये। ततो निवृत्तिरित्येतच्चक्रकं केन शाम्यतु ॥१०१५॥

तस्मात्—भावा येन निरूप्यन्त इति।

एकं न विद्यतेऽनेकत्वेन प्रतिभासनात्। असंवेदनञ्च न प्रतिभातीति संवेदनात्मना तेन भाव्यम्। स्वसंवेदने चानेकत्वाप्रतीतेः। अथ तत्रान्तर्गतत्वात् प्रतीयन्ते तदन्तर्गतत्वं न प्रतीयत इति तदपि न शक्यं वक्तुमित्युक्तम्। अथवा यस्मादेकं चित्राकारमनेकञ्च न विद्यत एव। कथन्तर्हि भेदप्रतिभासः। न भेदः प्रतिभातीति प्रतिपादितं प्रतिपादयिष्यते च। अथवा सकलमेव भेदरूपमन्यथा च भावनाबलादवभासत इत्यसत्यं शक्यन्ते हि

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

रूपता सिद्ध करता है। यदि सभी पदार्थ प्रकाशरूप नहीं, तब अप्रकाश प्रकाश से अभिन्न क्योंकर होगा? प्रकाशरूप होने पर ही सब में सत्यता आती है आत्मा के सधान, क्योंकि प्रकाशरूपता आत्मा का स्वरूप है, अतः सब-कुछ आत्मस्वरूप ही है। अतः परिणाम-पक्ष का क्षय हो जाता है। यदि बहुत्व भ्रान्तिरूप है, तब कुछ भी प्राप्त न होगा, सकल पदार्थ शून्य हो जाता है। भ्रान्ति भी आत्मा से भिन्न नहीं। तब भ्रान्ति नामकरण की क्या आवश्यकता? भ्रान्ति का अभाव होने पर यह सब-कुछ तात्त्विक नहीं रहेगा, अतः अतत्त्वाभास-निमित्तक अभ्रान्ति व्यवस्था होती है।

इसकी भ्रान्तिता नहीं, क्योंकि इसमें निवर्त्यत्व सिद्ध नहीं होता। निवर्त्यत्व का विज्ञान होने पर ही भ्रान्ति की अवगति होती है ॥१०१४॥ भ्रान्तिरूपता का निश्चय पाकर ही निवृत्ति के लिए प्रवृत्त होगा। उसके पश्चात् निवृत्ति होती है—इस प्रकार चक्रक होता है, इसकी शान्ति कैसे होगी ॥ १०१५ ॥

अतः ज्ञानगत ग्राह्याकारादि भाव एक नहीं, क्योंकि अनेकत्वेन प्रतिभासित होते हैं। असंवेदन का प्रतिभान नहीं होता, अतः वे भाव संवेदनरूप ही हैं। सवेदन में अनेकत्व की प्रतीति नहीं होती। ज्ञानान्तर्गतत्वेन ग्राह्यादि प्रतीत होते हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तदन्तर्गतत्वेन प्रतीति ही नहीं होती—ऐसा कहा जा चुका है। अथवा एक चित्राकार अनेक नहीं होता वैसे ही कोई भी एक अनेकरूप नहीं होता। तब भेद की प्रतीति कैसे होती है? भेद की प्रतीति नहीं होती—ऐसा कहा जा चुका है एवं आगे भी प्रतिपादन किया जायगा। अथवा सकल पदार्थ भेदरूप एवं अन्यथा

साधर्म्यदर्शनाल्लोके भ्रान्तिर्नामोपजायते ।
अतदात्मनि तादात्म्यव्यवसायेन नेह तत् ॥ ३६१ ॥

लोक में सादृश्य के आधार पर गो में गवे की भ्रान्ति होती है, किन्तु ग्राह्य और ग्राहक संवित्ति में किसी प्रकार का सादृश्य नहीं तथापि आन्तरिक संस्कारादि कारणों के द्वारा भ्रान्ति हो जाती है, उसमें सादृश्य की अपेक्षा नहीं ॥ ३६१ ॥

अदर्शनाज्जगत्यस्मिन्नेकस्यापि तदात्मनः ।
अस्तीयमपि या त्वन्तरुपप्लवसमुद्भवा ॥ ३६२ ॥

सादृश्य-रहित एक पदार्थ में भी यह भ्रान्ति आन्तरिक उपप्लव के द्वारा देखी जाती है । जैसे—तिमिरादि दोषों के कारण केशोण्डुकादि का दर्शन भ्रमात्मक ही होता है ॥ ३६२ ॥

दोषोद्भवा प्रकृत्या सा वितथप्रतिभासिनी ।
अनपेक्षितसाधर्म्यदृगादिस्तैमिरादिवत् ॥ ३६३ ॥

बाह्यार्थ के दर्शन से जनित संस्कारों के आधार पर ग्राह्य-ग्राहक की भ्रान्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आकार से अतिरिक्त बाह्यार्थ की जब सत्ता ही नहीं है, तब उसके संस्कारों के आधार पर उक्त भ्रम सम्भव नहीं ॥ ३६३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भावयतो विपरीतभावनया निवर्त्तयितुमित्यशक्यनिवर्त्तनता नास्तीति निश्चयादसत्यम् । ननु— साधर्म्यदर्शनाल्लोक इति ।

अत्रोच्यते । न साधर्म्यदर्शनादेव भ्रान्तिः । तथा हि—अस्तीयमपि यात्वन्त इति ।

न खलु तिमिरतिरस्कृतदर्शनानां मशकमक्षिकादयो दर्शनान्तरबलादुपजायन्तेऽपि त्वान्तरादेव तिमिरकारणात् ।

ननु तिमिरादप्युपजायमान वस्तुबलादेव न भावनाबलात् । आन्तरकारणत्व-मात्रन्तु विवक्षितम् । सर्वस्यापि त्वान्तरं कारणं वासनैव । स्वप्नादिप्रत्ययवत् । सा वासना यथाकथञ्चित्प्रबोधवती स्वानुरूपप्रत्ययप्रसवहेतुः । तत्र च पूर्वपूर्वमेव दर्शनं साधर्म्यदर्शनम् । आदौ किं दृष्टं येनेयं भ्रान्तिः । दर्शने कथं तस्य दर्शनमिति वक्तव्यम् ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

(अभेद रूप) हैं—ऐसा भावना के बल पर अवभासित होता है । सभी असत्य पदार्थ विपरीत भावना के द्वारा विपरीत रूपों में भावित होते हैं, अतएव वे असत्य हैं ।

शङ्का—लोक में तो सादृश्य-दर्शन-जनित रजतादि भ्रान्ति देखी जाती है किन्तु विज्ञप्तिमात्रतावाद में वह सम्भव नहीं, तब ग्राह्याकारादि की भ्रान्ति क्योंकर होगी ?

समाधान—अविद्या दोष से जनित भ्रान्ति में सादृश्य की अपेक्षा नहीं, जैसे तिमिरादि दोष-जनित केशोण्डुकादि की भ्रान्ति । वह तो यहाँ भी सम्भव है ।

शङ्का—तिमिरादि दोषों से जनित भ्रान्ति भी वस्तु के बल पर ही होती है, केवल भावना से नहीं । आन्तरिक कारण मात्र अपेक्षित है । सभी का आन्तरिक कारण वासना ही है । स्वाप्न भ्रम में वासना की कारणता निश्चित है । वह वासना अपने उद्बोधक कारणों से उद्बुद्ध होकर स्वानुरूप भ्रान्ति-प्रसव का कारण होती है । उसमें पूर्व-पूर्व दर्शन ही साधर्म्य-दर्शन होता है । आदि में क्या देखा ? जिससे भ्रान्ति हो

तत्र बुद्धेः परिच्छेदो ग्राहकाकारसम्मतः ।
तादात्म्यादात्मवित् तस्य स तस्य साधनं ततः ॥ ३६४ ॥

विज्ञप्तिमात्रता-पक्ष में ग्राहकाकार प्रमाण और स्वसंवेदन फल है ॥ ३६४ ॥

तत्रात्मविषये माने यथारागादि वेदनम् ।
इयं सर्वत्र संयोज्या मानमेयफलस्थितिः ॥ ३६५ ॥

आत्म-विषयक अर्थात् विज्ञान-विषयक प्रमाण का स्वसंवेदन, इस प्रकार एकमात्र विज्ञान में प्रमाण, प्रमेय और फल की व्यवस्था मानी जाती है। न्यायदर्शनादियों में जो प्रमाणादि-चतुष्टय का प्रतिपादन किया गया है, वह उचित नहीं। आत्म विषयक प्रमाण के द्वारा रागादि विषयों का प्रवेदन भी विज्ञप्तिमात्रतावाद में व्यवस्थित है ॥ ३६५ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ततस्तु समानत्वादभ्रान्तिरेव सकला । अथान्यथा दर्शनं कथं सकला भ्रान्तिः । साधर्म्य-दर्शनादिति । न । भ्रान्तिपरम्परैवेयम् । नाभ्रान्तिरस्तीति प्रतिपादितम् । तस्मादनादिरयमसद्वासनापरिकल्पसंसारः । कथं प्रमाणादिव्यवस्था स्वात्मनोति चेत् । अत्रोच्यते—तत्र बुद्धेः परिच्छेद इति ।

तदेव साध्यं तदेव साधनं सैव सिद्धिः । अथ—तत्रात्मविषये माने यथेति ।

अर्थादयो हि भावनावशादुपजायमानाः स्वसंवेदनरूपा इति प्रतिपादितम् । सुखादिसंवेदनञ्च प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तत्राव्यतिरिक्ता एव प्रमाणप्रमेयप्रमितिव्यवस्था । यदुच्यते—

"चतसृषु चैवंविधासु तत्त्वं परिसमाप्यते—प्रमाता प्रमेयं प्रमाणं प्रमितिरिति" ।

तदसत् । एकत्रैव सर्वपरिसमाप्तेः । ननु सुखादौ यदि नामाव्यतिरेकः । पीतादौ व्यतिरेक इति चेत् । न । इयमेव सर्वत्र योज्या मेयमानफलस्थितिः ।

यथा अर्थादिसंवेदने तथा नीलादिसंवेदनेऽपि । नीलाकारं अर्थाकारमिति वा

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

गई ? दर्शन में उसका दर्शन कैसे ? अतः समान होने के कारण सब-कुछ अभ्रान्ति ही है। यदि कहा जाय कि वह अन्यथा दर्शन है, भ्रान्ति कैसे ? साधर्म्य-दर्शन से भ्रान्ति है-ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह भ्रान्ति-परम्परा ही है। वह अभ्रान्ति नहीं—ऐसा कहा जा चुका है। फलतः यह संसार अनादि वासना का परिकल्प है।

प्रश्न—स्वात्मा में प्रमाणादि-व्यवस्था कैसे ?

उत्तर—ज्ञान ही साध्य है, वही साधन और वही सिद्धि ।

अर्थादि भावना-वश उत्पन्न होकर स्वसंवेदनरूप ही हैं—ऐसा कहा जा चुका है। सुखादि-संवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार प्रमाण-प्रमेयादि-व्यवस्था अभिन्न है।

वात्स्यायनीय-भाष्य पृ० १ पर जो कहा गया है—"चतसृषु चैवंविधासु अर्थतत्त्वं परिसमाप्यते—प्रमाता, प्रमेयं, प्रमाणं, प्रमितिः" ।

वह असत् है, क्योंकि सभी भेद एक ही विधा में परिसमाप्त हो जाते हैं। सुखादि में एक विधा और पीतादि विषयों में चार विधाएँ हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यही एक प्रमाण-प्रमेयादि की स्थिति समझनी चाहिए। अर्थात् जैसे अर्थादि के

तत्राप्यनुभवात्मत्वात् ते योग्या स्वात्मसंविदि ।

इति सा योग्यता मानमात्मा मेयः फलं स्ववित् ॥ ३६६ ॥

रागादि के वेदन में भी वही व्यवस्था होती है। अर्थात् रागादि अनुभवात्मक है। वह स्वसंवेदन योग्यता रागादि का प्रमाण है, आत्मा में है और स्वसंवित्त फल ॥ ३६६ ॥

ग्राहकाकारसंख्याता परिच्छेदात्मतात्मनि ।

सा योग्यतेति च प्रोक्तं प्रमाणं स्वात्मवेदनम् ॥ ३६७ ॥

विज्ञानगत ग्राहकाकारता आत्मा के ज्ञान में योग्यता है। अतः स्वात्मसंवेदन को प्रमाण कहा गया है। वहाँ पर भी योग्यता, यह अभिन्नार्थता प्रमाण के रूप में विवक्षित है ॥ ३६७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

भवतु कोऽनयोर्विशेषः। द्वयोरपि स्वरूपेण वेदनात्। ततो नीलसुखशरीरवेदनं स्वरूपेणैव सकलं न पररूपेण। स्वरूपेण चेत्। सर्वं स्वसंवेदनमेव। ननु नीलादिसंवेदनेनात्मभूतो ग्राहकाकारः सुखादिवत्तत्कथं ते दृष्टान्तः। सुखादीनां कथं स्वप्रकाशात्मकत्वात् आत्मवत्। केयं प्रकाशात्मता नाम। अपरोक्षरूपता यथैवम्—तत्राप्यनुभवात्मत्वात् इति।

तेऽपि नीलादयोऽपरोक्षरूपत्वादनुभवात्मकाः। ततः सुखादिवदेव स्वसंविदि योग्याः। न हि तेऽपि नीलादयः पररूपेणापरोक्षाः।

ननु चक्षुरादिबलान्नीलादीनामपरोक्षता। न। स्वरूपेणैवापरोक्षत्वात्। न हि यतः चक्षुः प्रसृतं ततोऽपरोक्षं बीजं चक्षुः प्रसृतमपि कदाचिन्नापरोक्षयति। अप्रसृतत्वेऽप्यपरोक्षत्वसम्भवात्। तथा हि—

रागादिसम्भवे रूपमन्यथैवावभासते। चक्षुषः प्रसृतत्वेऽपि स्वरूपानवभासनात् ॥१०१६॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

संवेदन में स्थिति है, वैसी ही नीलादि के संवेदन में। संवेदन नीलाकार हो अर्थाकार—इन दोनों में क्या भेद? दोनों का ही स्वरूपेण वेदन होता है। फलतः नील, सुख शरीरवेदन स्वरूपतः ही सकल संवेदन होता है, पररूपेण नहीं। यदि स्वरूपतः ही होता है, तब सब स्वसंवेदन ही है। यदि नीलादि-संवेदन से ग्राहकाकार अभिन्न है सुखादि के समान ही, तब वह दृष्टान्त कैसे? क्योंकि सुखादि आत्मा के समान हो स्वप्रकाशात्मक हैं। तब प्रश्न उठता है कि यह स्वप्रकाशता कैसी? उत्तर है—अपरोक्षरूपता जैसी? आपके मत में भी नीलादि अपरोक्ष स्वरूप होने के कारण अनुभवात्मक ही हैं। अतः सुखादि के समान ही स्वसंवेदन के योग्य हैं। वे नीलादि भी पररूपेण अपरोक्ष नहीं।

नीलादि की अपरोक्षता चक्षुरादि के बल पर होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूपतः ही उनकी भी अपरोक्षता मानी जाती है। चक्षु जिससे प्रसृत है, वह अपरोक्षता का बीज है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अपरोक्षता के बीज से प्रसृत चक्षु भी कदाचित् अपरोक्षता का सम्पादक नहीं होता एवं अपरोक्षता से अप्रसृत चक्षु भी कदाचित् अपरोक्षता का सम्पादक हो जाता है। जैसे कि—

रागादि के सम्भव होने पर भी रूप अन्यथा ही प्रतीत होता है। चक्षु से प्रसृत

वार्तिकालङ्कारः

यदि चक्षुरादिकस्याभिमुखीकरणेऽपि स्वरूपेण विषयस्यानवभासनं कथमसावपरोक्षः। स्वरूपावभासनमेवापरोक्षता। अथ भावनावशादयं दोषश्चक्षुषः। तदाह—

यदि भावनया चक्षुरादिकस्यान्यथा गतिः। भावनाबलतः सर्वं नीलादेरवभासनम् ॥१०१७॥

भावना हि वासनाऽपरनामिका चक्षुराद्यायातप्रतिभासस्य हेतुः। तदा वासनाबलभाविनः एव नीलादिप्रतिभासाः।

नन्वन्यथा प्रतिभासनं वासनाहेतुः। स्वरूपप्रतिभासनन्तु वासनामन्तरेणेति चक्षुरादिप्रतिबद्धं न परस्परापेक्षया। सर्वेषामन्यत्वात्। ततोऽनेकप्रतिभासेन ज्ञायते किं स्वरूपमिति प्रतिभासः प्रमाणं न चेद्व्यभिचारी कुत आश्वासः। तस्मात्—

प्रतिभासः समस्तोऽपि भावनाभावनिर्मितः। स्वरूपाभिमतादन्यप्रतिभासस्वरूपवत् ॥१०१८॥

बाध्यबाधकभावस्तु प्रत्युक्त एव। तस्मात्स्वसंवेदनमेव फलं बाह्येऽप्यर्थे, तदाकारः प्रमाणम्।

ननु साकारं विज्ञानमिति न युक्तम्। तथा हि—

यदि दर्पणवत्स्वच्छमुपधानोपरागतः। तदावभासनं प्राप्तं चक्षुरादिनं चेक्ष्यते ॥१०१९॥
यावत्सन्निहितं सर्वं दर्पणे तत् प्रकाशते। ततः सर्वस्य रूपादेरवभासः प्रसज्यते ॥१०२०॥
अथ दर्पणवच्चक्षुरवभासस्य कारणम्। तत्संक्रान्तस्य दृष्टिः स्यादस्थूले दर्पणादिवत् ॥१०२१॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होने पर भी स्वरूप का अवभास नहीं होता ॥ १०१६ ॥

यदि चक्षुरादि के अभिमुखीकरण होने पर भी स्वरूपतः विषय का अवभासन नहीं होता, तब वह रूप अपरोक्ष क्योंकर होगा ? स्वरूपावभासन ही अपरोक्षता है। यदि कहा जाय कि भावना के बल पर यह दोष चक्षु का हो जाता है। तब के लिए कहा गया है कि यदि भावना के द्वारा चक्षु को अन्यथा गति होती है। तब भावना के बल पर समस्त नीलादि का अवभासन होता है ॥१०१७॥ भावना का ही दूसरा नाम वासना है। वही चक्षुरादि के द्वारा होने वाले प्रतिभास का हेतु है। अतः वासना के बल पर ही होने वाले नीलादि के अवभास होते हैं।

यदि कहा जाय कि पदार्थों के अन्यथा प्रतिभासन में भावना कारण है। स्वरूपप्रतिभासन तो वासना के बिना ही होता है। चक्षुरादि से प्रतिबद्ध अर्थ का प्रतिभासन परस्परापेक्षा से नहीं होता। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सभी का अन्यतः ही होता है। अतः अनेक प्रतिभास से जाना जाता है कि किस प्रकार का प्रतिभास प्रमाण होता है और कौन व्यभिचारी है, जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः समस्त प्रतिभास भावना के आधार पर ही निर्मित होता है। स्वरूप-संवेदन से भिन्न समस्त संवेदन वैसा ही है, जैसा कि स्वरूप-संवेदन ॥ १०१८ ॥

बाध्य-बाधकभाव का निरास किया जा चुका है। अतः बाह्य अर्थ को मान लेने पर भी स्वसंवेदन ही फल और ग्राहकाकार प्रमाण है।

शङ्का—साकार विज्ञानवाद युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि यदि विज्ञान दर्पण के समान स्वच्छ है, तब सुखादि उपाधियों के उपराग से उनका प्रतिबिम्ब विज्ञान में होना चाहिए किन्तु वैसा नहीं देखा जाता। चक्षुरादि का प्रतिबिम्ब विज्ञान में नहीं देखा जाता ॥ १०१९ ॥ जो वस्तु दर्पण के सन्निहित होती है, उसका प्रकाश दर्पण में होता है, वैसे ही विज्ञान में भी सन्निहित समस्त रूपादि का प्रतिबिम्ब होना चाहिए

सर्वमेव हि विज्ञानं विषयेभ्यः समुद्भवद् ।
तदन्यस्यापि हेतुत्वे कथञ्चिद् विषयाकृतिः ॥ ३६८ ॥

यद्यपि विज्ञान की उत्पत्ति चक्षुरादि इन्द्रिय एवं घटादि विषय उससे उत्पन्न होता है। तथापि समनन्तर प्रत्यय के आधार पर ज्ञान में विषयाकारता ही आती है, इन्द्रियाकारता नहीं ॥ ३६८ ॥

यथैवाहारकालादेर्हेतुत्वेऽपत्यजन्मनि ।
पित्रोस्तदेकस्याकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित् ॥ ३६९ ॥

ज्ञान में आकार विशेषता के आधान में दृष्टान्त दिखाया जाता है कि जैसे पुत्र की उत्पत्ति में माता-पिता, देशकाल आदि अनेक हेतु होते हैं, किन्तु पुत्र में माता-पिता में से किसी एक का आकार ही प्रकट होता है। इसी प्रकार अनेक कारणों से उत्पन्न ज्ञान में केवल विषयाकारता ही आती है। अन्य देश-काल-आहारादि में से किसी की आकारता प्रकट नहीं होती ॥ ३६९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

ततो न ज्ञायते रूपं कीदृक्कि परिमाणकम् । वर्णस्यापि विपर्यासः काचाभ्रपटलादिवत् ॥१०२२॥
गोलकादथ निष्क्रम्य रूपादिष्वनिपातिनः । ज्ञायन्ते निजरूपेषु ग्राहका महदादिषु ॥१०२३॥
विशिष्टं जायते रूपं प्रदीपालोकसङ्गमात् ।
यदि स्वरूपसंवित्तिः प्रदीपालोकसङ्गिवत् ॥ १०२४ ॥
न स्यात्तत्रापि चान्यस्य व्यापारादनवस्थितिः ।
अथ स्वरूपसंवित्तिः तदा ते रश्मयः कथम् ॥ १०२५ ॥
तस्मादर्थे स्थिते ज्ञानं तदाकारं प्रवर्त्तते । तस्मादुत्पादमात्राच्चेत्सर्वाकारं प्रसज्यते ॥१०२६॥
यत एव तदुत्पत्तिः तदाकारं भवेद्यदि । चक्षुराकारतापि स्याज्जायते वित्तितोऽपि यत् ॥१०२७॥

अत्रोच्यते—सर्वमेव तु विज्ञानमिति ।

न हि यत एवोत्पद्यते तदाकारमेव भवति । तथा हि—यथैवाहारकालादेरिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

॥ १०२० ॥ यदि दर्पण के समान ही चक्षु प्रकाशक है, उसी प्रकार विज्ञान में भी समस्त पर्वतादि बड़े पदार्थों का भी प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए ॥ १०२१ ॥ अतः यह नहीं जाना जाता कि रूप का परिमाण क्या ? काच एवं अभ्रपटलादि के समान वर्ण का विपर्यास विज्ञान में होना चाहिए ॥ १०२२ ॥ गोलक से निकलकर रूपादि में संक्रान्त न होने वाले ग्राहक अपने रूपों में ज्ञात होते हैं ॥ १०२३ ॥ प्रदीपालोक के सम्बन्ध से रूपविशिष्ट होकर प्रतीत होता है। यदि स्वरूप संवित्ति प्रदीपालोक के सम्बन्ध से होनी चाहिए ॥ १०२४ ॥ विज्ञान में भी अन्य के व्यापार से अनवस्थिति नहीं होनी चाहिए। यदि प्रदीप में भी स्वरूप संवित्ति है, तब वहाँ रश्मियाँ कैसे ? ॥ १०२५ ॥ अतः पदार्थों के स्थित होने पर ज्ञान उनके आकार में प्रवृत्त होगा। अतः उत्पाद मात्र से ज्ञान सर्वाकार हो जायेगा ॥ १०२६ ॥ जिससे उसकी उत्पत्ति होती है। यदि वह तदाकार होता है, तब चक्षुराकारता भी उसमें होनी चाहिए ॥१०२७॥

समाधान— समस्त विज्ञान विषयों से उत्पन्न होकर तदाकार होता है, किन्तु समस्त विषयों के आकार को धारण करता है, ऐसा नहीं। अपितु ज्ञान किसी ही

तद्धेतुत्वेन तुल्येऽपि तदन्यैर्विषये मतम् ।
विषयत्वं तदंशेन तदभावे न तद् भवेत् ॥ ३७० ॥

विषय और इन्द्रियादि की ज्ञानहेतुता समान होने पर भी केवल विषयाकारता ही ज्ञान में इसलिए आती है कि विषयता का लक्षण ज्ञानगत आकारार्थकता ही माना जाता है । अतः ज्ञान में इन्द्रियाकारता न आकर केवल विषयाकारता आती है ॥३७०॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि पित्रोर्द्वयोरपि समानाकारतां धत्ते । तत उत्पद्यमानः स्वतः । अपि तु कस्यचिदेव । तस्मादर्थादिवार्थाकारमिति । तथा हि—

दूरदेशस्थिताद्वृक्षात्तदाकारं हि जायते । विज्ञानं नेन्द्रियाकारमिति दृष्टमिदं सदा ॥१०२८॥

अथ—तद्धेतुत्वेन तुल्येऽपीति ।

न हेतुतया विषयोऽपि तु तदाकारविज्ञानहेतुतया । हेतुतया विषयत्वे चक्षुरादीनामपि विषयत्वम् । तदाकारतया मरीचिकादिजलज्ञानस्यान्यदेशं जलमपि भवेत् विषयः । न ह्याकारमन्तरेण बोधरूपं विज्ञानं संवेद्यमानमन्यथा वा तदाकारविषयव्यवस्थापने समर्थं प्रतीतेतरावस्थयोरयोगादिति प्रतिपादितम् । यदि तत्प्रतीयते किमपरेण व्यर्थकरवात् । अथ न प्रतीयते तदापि अशक्तेरिति । न ह्यप्रतीयमानं प्रतीतिविषयः । प्रतीयमानञ्चेत्सैव तस्य तद्रूपताप्रतीतिः । व्यतिरिक्ता च क्रिया न युक्तेति शतशः प्रतिपादितम् ।

ननु चाकारः प्रमाणं स्वसंवेदनं फलमिति साकारसिद्धौ स्यात् । तदेव तु कथं सिध्यति । उक्तमत्र । अपि च—

विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषाद् बुद्धिरूपता ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विषय के आकार को धारण करता है । जैसे– माता-पिता से उत्पन्न पुत्र, दोनों में से किसी एक ही के आकार को धारण करता है । अतः अर्थ के द्वारा ज्ञान में अर्थाकारता होती है । दूर देश में स्थित वृक्ष का आकार ही प्रतिफलित होता है, वैसे ही विज्ञान घटादि के आकार को धारण करता है, इन्द्रियादि के आकार को नहीं । विषय के आकार में भी ज्ञान इसलिए नहीं आता, अपितु तदाकार विज्ञान का हेतु होने से ही । यदि हेतुता मात्र से विषयाकारता आती है, तब चक्षुरादि के आकार कोभी-ज्ञान में आना चाहिए । वैसे ही मरीचिका जल ज्ञान में भी अन्य देश का जल प्रति फलित होना चाहिए । विषयाकारता के बिना ज्ञान संवेद्यमान नहीं होता । तदाकार विषय के व्यवस्थापन में समर्थ विज्ञान प्रतीति के आधार पर भिन्न वस्तु के आकार को धारण नहीं करता, ऐसा कहा जा चुका है । जब एक विषय प्रतीत होता है, तब विषयान्तर के आकार को धारण करना व्यर्थ है । यदि विषयान्तर प्रतीत नहीं होता तब भी वह अपने आकार के समर्पण में असक्त माना जाता है । अप्रतीयमान वस्तु कभी भी प्रतीति का विषय नहीं होती । जो प्रतीत होता है उसकी तद्रूपता ही ज्ञान में आश्रित होती है । इससे व्यतिरिक्त क्रिया युक्त नहीं । ऐसा शतशः कहा जा चुका है । यदि कहा जाय कि आकार प्रमाण है, स्वसंवेदन फल है, ऐसी साकारता की सिद्धि हो जाने पर सम्भव है, किन्तु साकारता की सिद्धि कैसे ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि साकारता-सिद्धि के विषय में बहुत-कुछ कहा जा चुका है । दूसरी बात यह है कि

अनर्थाकारशङ्का स्यादप्यर्थवति चेतसि ।
अतीतार्थग्रहे सिद्धे द्विरूपत्वात्मवेदने ॥ ३७१ ॥

चित्त अर्थ वाला है, उसमें अनर्थाकारता का सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि चित्त या ज्ञान स्वयंप्रकाश है, उसका ग्राहक दूसरा ज्ञान नहीं। स्वप्रकाशता-वाद में एक ज्ञान का प्रकाश दूसरे ज्ञान से नहीं माना जाता। अतः अपरोक्षता और

वार्तिकालङ्कारः

विषये रूपादौ यज्ज्ञानन्तदर्थस्वाभासम्, विषयज्ञाने तु यज्ज्ञानं तदर्थानुरूपज्ञाना-भासं स्वाभासञ्च। अन्यथा यदि विषयज्ञानमर्थाकारमेव स्यात्। स्वाकारमेव वा विषय-ज्ञानमपि तदविशिष्टं स्यात्। विषये यत् ज्ञानं तदर्थस्वाभासमिति साध्यम्। उत्तरो हेतुः। अन्यथेत्यादि बाधकं प्रमाणम्। कीदृशं मम ज्ञानमासीदिति यदा पर्यालोचयति तदाऽर्थप्रतिभासमेव स्मरणेन व्यवहरति नान्यथा। यश्च यथाधिमोक्षेण विषयीक्रियते तथा भवति यथा गौरित्यधिमोक्षेण विषयीक्रियमाणः शावलेयः। तथा हि—

एवम्भूतोऽवभासो न ज्ञानेऽर्थस्तु कीदृशः। इत्यर्थस्य परित्यागाज्ज्ञानस्यार्थविनिश्चयः। १०२९॥

यदि केनचिन्नियुज्यते कथमसावर्थ इति भवता ज्ञातं तदाऽर्थप्रतिभासस्तादृशोऽर्थ-स्तत्रास्ति न वा, तादृशोऽन्यथा वेति न निश्चय इति प्रत्युत्तरयति। ततोऽर्थपरित्यागी प्रतिभास एव ज्ञानम्। एकत्वे त्वर्थस्य तत्रैव निश्चयः तत्रैवानिश्चय इति कथम्। निश्चयानिश्चययोर्विरोधात्। अर्थस्तु न प्रतिभासे निश्चयः। नावान्तरभेद इति तत एवं-भूतः प्रतिभास इत्येतावत्तत्र प्रतिभासि। तदपरन्तु नेत्यर्थ एव स निश्चयोऽनिश्चयश्च। भागद्वयभावादिति। तदेतदुत्तरत्र वक्ष्यते। अपि च—अनर्थाकारशंका स्यादिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विषय ज्ञान और उस ज्ञान के ज्ञान की विशेषता से बुद्धिरूपता सिद्ध होती है। अर्थात् रूपादि विषयों में ज्ञानरूपता होने से तदाकारता होती है। विषयज्ञान में जो ज्ञान होता है, वह अर्थानुरूप ज्ञानाभास होने के साथ-साथ स्वाभास भी होता है। अन्यथा यदि विषय-ज्ञान अर्थाकार ही होगा, तब वह स्वाकार ही होगा, अथवा उससे अविशिष्ट विषय में जो ज्ञान होता है, वह विषय और अपने स्वरूप का भासक होता है। यह साध्य और उत्तरवर्ती हेतु अन्यथा इत्यादि से बाधक प्रमाण कहा गया है। "कीदृशं ज्ञानं आसीत्" इस प्रकार की पर्यालोचना जब होती है, तब अर्थ प्रतिभास का श्रवण करके ही व्यवहार किया जाता है, अन्यथा नहीं। जो पदार्थ जैसा निश्चित होता है वह वैसा ही होता है, जैसे कि गऊ, इस प्रकार के निश्चय से विषयीगत पदार्थ सावलेय ही होता है। अर्थात् इस प्रकार का जब अवभास नहीं होता, तब अर्थ कैसा होता है? अर्थ का परित्याग करके ज्ञान के द्वारा अर्थ का निश्चय भी नहीं होता ॥१०२९॥ जब कोई ऐसा प्रश्न करता है कि इस अर्थ का ज्ञान आपको कैसे हुआ? तब उसके प्रत्युत्तर में कहा जाता है कि अर्थ का प्रतिभास वैसा ही होता है। अतः उस प्रकार के अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अर्थ का परित्याग करके प्रतिभास ज्ञान मात्र शेष रहता है। अर्थ और ज्ञान दोनों की एकता होने पर वहाँ पर निश्चय और अनिश्चय दोनों कैसे रहेंगे? क्योंकि निश्चय और अनिश्चय दोनों विरुद्ध धर्म हैं। अर्थ का निश्चय प्रतिभास में नहीं होता। अतः ऐसा प्रतिभास होता है, उससे भिन्न नहीं। अतः अर्थ ही निश्चय और अनिश्चय के रूप में माना जाता है। वहाँ दो भाग

आत्मसंवेदन दोनों ज्ञान के ही स्वरूप माने जाते हैं। फलतः ज्ञान स्वसंवेदन रूप है ॥ ३७१ ॥

नीलाद्याभासभेदित्वान्नार्थो जातिरतद्वती ।
सा चानित्या न जातिः स्यान्नित्या वा जनिका कथम् ॥३७२॥

नीलादि आकार जाति-रूप है या नहीं। यदि जाति है, तब नित्य है या

वार्तिकालङ्कारः

य आह । न ज्ञानं प्रतिभासते स्वसंवेदनाभावात् । नापि स्मर्यतेऽर्थस्यैव सर्वत्र स्मरणात् । तत्र यथार्थापत्त्या ज्ञानेऽर्थस्य परिकल्प्यते ज्ञानं तथा स्मरणानुपपत्त्यापि न संविदितं ज्ञानमस्ति न च तस्याकारता ततो द्विरूपं ज्ञानमिति प्रत्यक्षबाधः प्रतिज्ञायाः ।

संदिग्धे हेतुवचनाद्व्यस्तो हेतोरनाश्रयः । दृष्टान्ते च प्रतिबन्धग्रहणे हेतुवृत्तितः ॥१०३०॥

न चैतदस्ति । सर्वत्रार्थाकारस्य विवादास्पदत्वात् इति चेत् । अयुक्तम् । यतो यत्रार्थोऽस्ति तत्र नासौ ज्ञानस्याकार इति स्यादपि शंका । अनर्थवति तु चेतसि केशादौ पीताद्यवभासे च सिद्धमेव द्वयाकारत्वं संवेदनस्य । तत्र परोक्षं विज्ञानमित्येतदेव प्रत्यक्षबाधितम् । ततस्तद्दृष्टान्तदृष्ट्या प्रतिबन्धग्रहणम् । ततश्च तस्य तथाभूतः प्रतिभास इति तत्त्वायातो निश्चयः कथमर्थे भवेत् । सर्वत्र च विज्ञाने एवमेव निश्चय इति साकारस्वसिद्धिः । स एव प्रतिभासत्वनिश्चयस्वभावो विषयज्ञाने तज्ज्ञानस्य स्वभावः । अथ कदाचित्तत्राप्यर्थ एवास्ति यदि न व्यक्तिर्जातिरेव भविष्यति ।

(२८) सामान्यस्य नित्यानित्यता प्रतिषेधः—

अत्रोच्यते—नीलाद्याभासभेदित्वादिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होते हैं, यह आगे चलकर कहा जायेगा। जो पुरुष कहता है कि ज्ञान प्रतिभासित नहीं होता, क्योंकि स्वसंवेदन का अभाव है, और ज्ञान का सर्वत्र स्मरण नहीं होता, केवल अर्थ का ही स्मरण होता है। वहाँ पर ऐसा समाधान किया जाता है कि जैसे अर्थापत्ति के आधार पर ज्ञान में अर्थ की कल्पना की जाती है, वैसे ही स्मरण की अनुपपत्ति से भी संवित्ति-ज्ञान की सत्ता, उसकी आकारता से ज्ञान द्विरूप हो जाता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा का प्रत्यक्ष बाध हो जाता है। संदिग्ध अर्थ की सिद्धि के लिए हेतुवाक्य का प्रयोग किया जाता है। व्यस्तधर्मी हेतु का आश्रय नहीं होता, दृष्टान्त में व्याप्ति के आधार पर हेतु की वृत्तिता निश्चित होती है ॥ १०३० ॥ ऐसा सर्वत्र नहीं होता, क्योंकि अर्थाकार विवादास्पद होता है, ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जहाँ पर अर्थ है, वहाँ पर वह ज्ञान का आकार नहीं, ऐसी भी शंका हो सकती है। अर्थ के न होने पर भी ज्ञान में केशादि, शङ्ख, पीतिमादि का आभास होने के कारण संवेदन में द्वि-रूपता निश्चित है। वहाँ विज्ञान परोक्ष है, ऐसा प्रत्यक्ष बाधित है। अतः उस दृष्टान्त के आधार पर व्याप्ति का ग्रहण होता है। ज्ञान का प्रतिभास होने से ज्ञान का ही निश्चय होता है, अर्थ का कैसे होगा ? सर्वत्र विज्ञान में इसी प्रकार का निश्चय होता है। अतः साकारता की सिद्धि हो जाती है। यही प्रतिभासत्व निश्चय होता है, विषयज्ञान में ज्ञान का यही स्वभाव है। कदाचित् वहाँ पर अर्थ ही है, यदि व्यक्ति नहीं, तब जाति ही होगी।

(२८) सामान्य में नित्यानित्यता का प्रतिषेध —

अनित्य ? नित्य होने पर ज्ञान की जनक न हो सकेगी, क्योंकि नित्य पदार्थ किसी का जनक नहीं होता और अनित्य मानने पर उसमें जातित्व नहीं माना जाता ॥३७२॥

नामादिकं निषिद्धं प्राङ् नायमर्थवतां क्रमः ।
इच्छामात्रानुरोधित्वादर्थशक्तिर्न सिध्यति ॥ ३७३ ॥

नामादि का विषयत्वेन निषेध पहले ही किया जा चुका है—"नामादिवचने वक्तृश्रोतृवाच्यानुबन्धिनि" इत्यादि । (प्र० वा० २.११) । मानस ज्ञान अर्थसन्निधान से जनित नहीं होता । अपितु इच्छा मात्र से उत्पन्न होता है । अतः उसमें अर्थशक्ति सिद्ध नहीं होती ॥ ३७३ ॥

स्मृतिविचार

स्मृतिश्चेद्दृग्विधं ज्ञानं तस्याश्चानुभवाद् भवः ।
स चार्थाकाररहितः सेदानीं तद्वती कथम् ॥ ३७४ ॥

यदि वह ज्ञान स्मृति है, तब वह विषयाकार न हो सकेगा, क्योंकि वह विषय से उत्पन्न न होकर अनुभव से उत्पन्न होता है ॥ ३७४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

न हि नीलादिरूपा जातिर्वर्णाद्याकारशून्यत्वात् । हेतुत्वेनानित्यत्वाच्च न सा जातिः । अथ नित्या न जनिका नित्यस्य जनकत्वाभावादिति प्रतिपादितम् । तथा हि—नामादिकं निषिद्धं प्रागिति ।

सकलमप्येतत्प्रागेव प्रतिपादितमिति न प्रपञ्च्यते ।

(२) स्मृतिचिन्ता

(२९) नार्थाकारा स्मृतिः—

तथा हि—स्मृतिश्चेद्दृग्विधं ज्ञानमिति ।

अनुभवादुत्पद्यमाना स्मृतिरर्थमन्तरेण भवन्ती कथं नीलाद्याकारा । अथार्थादेव स्मृतिस्तदाकारा । तदाह—नार्थात् भावस्तदाऽभावादिति ।

यद्यर्थात्साक्षात्स्मृतिस्तदा तथैवार्थेन भवितव्यम् । न च तदस्ति । अथार्थाद्व्यवहितादपि भवति तदाकारा स्मृतिः अनुभवोऽपि तथैव भवेदिति यथा च तथा प्रतिपादि-

---

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाति नीलादि स्वरूप नहीं होती, क्योंकि वर्णादि आकार से शून्य होती है। हेतु होने से अनित्य है, अतः वह जाति नहीं, यदि वह नित्य है, तब उसमें जनकता नहीं रह सकती, क्योंकि नित्य पदार्थ में जनकता नहीं रहती, ऐसा कहा जा चुका है। यह सब-कुछ पहले ही कहा जा चुका है । अतः इसका विशेष प्रपञ्च नहीं किया जाता ।

स्मृति-विचार

(२९) स्मृति अर्थाकार नहीं –

अनुभव से उत्पद्यमान स्मृति अर्थ के बिना ही होती है, अतः वह नीलादि अर्थाकारा क्योंकर होगी ? यदि स्मृति को अर्थ से उत्पन्न अर्थाकारा मानी जाय, तब के लिए कहा है—"नार्थाद् भावः" इत्यादि । अर्थात् यदि साक्षात् अर्थ से स्मृति उत्पन्न होती है, तब उसके जनकीभूत अर्थ को भी वैसे ही होना चाहिए, किन्तु वह नहीं होता । यदि व्यवहित अर्थ से भी स्मृति उत्पन्न होती है । तब स्मृति और अनुभव –

नार्थाद् भावस्तदाभावात् स्यात्तथानुभवेऽपि सः ।
आकारः स च नार्थस्य स्पष्टाकारविवेकतः ॥ ३७५ ॥

स्मृत्यारूढ़ आकार विषय का न होकर, अनुभव का होता है । विषय का आकार स्पष्ट होता है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं ॥ ३७५ ॥

व्यतिरिक्तं तदाकारं प्रतीयादपरस्तदा ।
नित्यमात्मनि सम्बन्धे प्रतीयात् कथितं च न ॥ ३७६ ॥

यदि बुद्धि से भिन्न अर्थ मनोविज्ञान का विषय माना जाता है, तब उस आकार को अन्य व्यक्ति ग्रहण न कर सकेगा । यदि आत्मा में नित्य विकल्पित होने के कारण दूसरे को कहता है, तब दूसरा उस अर्थ को नहीं समझ सकेगा, किन्तु समझता है ॥ ३७६ ॥

एकैकेनाभिसम्बन्धे प्रतिसन्धिर्न युज्यते ।
एकार्थाभिनिवेशात्मा प्रवक्तृश्रोतृचेतसोः ॥ ३७७ ॥

यदि वक्ता और श्रोता इन दोनों में प्रत्येक का सम्बन्ध भिन्नार्थ के साथ होता है, तब उन दोनों में परस्पर प्रतिसन्धान नहीं होना चाहिए, किन्तु होता है—"यदेवानेन कथितं तदेव मया प्रतीतम्", "यदेव मया कथितं तदेवानेन ज्ञातम्" इत्यादि ॥३७७॥

वार्तिकालङ्कारः

तत्रैव । इहापि प्रतिपाद्यते आकारः स च नार्थस्येति ।

स्पष्टाकारश्चार्थस्तदनुभवेन गृहीतः । स च यद्यर्थस्याकारस्तथाभूतेनैव तेन भाव्यम् । अथ स्मृत्या प्रतीयमानत्वात्तथा प्रतिभाति । एवं तर्हि अनुभवेन प्रतीयमानत्वात्स्पष्टतेति नार्थस्यासाकारः । तथा हि व्यतिरिक्तन्तदाकारमिति ।

यद्यसावर्थः परोऽपि प्रतीयात् । अथात्मसम्बद्ध एवासौ न परस्य प्रतिभासते । आत्मसम्बद्ध इति कोऽर्थः । किमात्मकार्योऽथ तदात्मा । कार्यस्तदा परस्य प्रतिभात्येव । न हि कार्यत्वे साधारणत्वमपैति । अथ तदात्मा । तथा सति संवेदनात्मकत्वमेव ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

दोनों को तदाकार होना चाहिए । यह पहले कहा जा चुका है और यहाँ भी कहा जायगा ।

स्मृति जनक अनुभव के द्वारा गृहीत अर्थ स्पष्टाकार होता है । यदि वह अर्थ का ही आकार है । तब अर्थ को भी वैसा ही होना चाहिए । यदि स्मृति के द्वारा प्रतीयमान होने के कारण वैसा प्रतिभासित होता है, तब अनुभव के द्वारा प्रतीयमान होने के कारण स्पष्टता होनी चाहिए, किन्तु नहीं, अतः वह आकार अर्थ का नहीं । यदि वह आकार ज्ञान से भिन्न बाह्य देश में स्थित पदार्थ का है, तब अन्य पुरुष को भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु वह पदार्थ नित्य ज्ञान से सम्बन्धित ज्ञानाकार होने के कारण अन्य पुरुष को उसकी प्रतीति नहीं होती । वह अर्थ आत्मसम्बद्ध है, उसका क्या अर्थ ? आत्मा यह ज्ञान का कार्य है अथवा ज्ञानात्मक । यदि कार्य है तब अन्य पुरुष को भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि कार्य-रूपता होने पर उसकी साधारणता समाप्त नहीं होती । यदि वह ज्ञानात्मक है, तब संवेदन का तादात्म्य

तदेकव्यवहारश्चेत् सादृश्यादतदोभयोः ।
भिन्नात्मार्थः कथं ग्राह्यस्तदा स्याद्धीरनर्थिका ॥ ३७८ ॥

यद्यपि वक्ता और श्रोता के द्वारा गृहीतार्थ भिन्न है, तथापि सादृश्य के आधार पर दोनों में एकता की प्रतीति क्यों नहीं हो सकती ? इसका उत्तर है कि सादृश्य के लिए दोनों अर्थों का ग्रहण दोनों के लिए आवश्यक है, किन्तु होता नहीं । अतः सादृश्य ग्रहण क्योंकर होगा ? ॥ ३७८ ॥

वार्त्तिकालङ्कारः

तादात्म्ये च नित्यमात्मनि सम्बद्ध एव नान्यथा । तथा च कथितमपि न प्रतीयात् । अथ प्रत्येति तदाऽन्यथापि प्रतीयात् । तथा हि । बाह्यं रूपादिकं कथितमपि प्रतीयते परेणाकथितमपि । अथ कथितं यत्प्रतीयते तदन्यदेव । एवन्तर्हि --नित्यमात्मनीति ।

कीदृशः प्रतिसन्धिरित्याह --एकार्थाभिनिवेशात्मेति ।

एकमिदमिति न प्रतीतिर्भवेत् । तस्य पृथक्त्वात् । कयोः प्रतिसन्धिरित्याह— प्रवक्तृश्रोतृचेतसोरिति ।

नानाभूतार्थग्रहणप्रवृत्तत्वात्तच्चेतसोः । तथा हि --तदेकव्यवहारश्चेदिति ।

सादृश्येन हि य एकव्यवहारः स दृष्टयोरेव नान्यथा । न च परदृश्यदर्शनं कदाचिदपि तत्कथं व्यवहार एकत्वेन । अत्र हि परस्परविविक्तार्थप्रतिभासनमेव । अथ सादृश्यं वस्तुभूतं ततस्तदनुसारेणैकमेतदिति प्रतीयात् । एवन्तर्हि । अकथितेऽपि स्वप्रतीत्यनुसारेण परस्थमपि प्रतीयात् । यदापि परो न कथयति । मयाप्येवं प्रतिपन्नमिति । तदात्वसत्यं कथयति । तदा कथं प्रतिपत्तिरर्थमन्तरेणैव । एवमेव दृश्यत इति चेत् । तदा तर्हि स्यादनर्थिका बुद्धिः । यथा परप्रतिभासमन्तरेणैव परप्रतिभासावसायिनी धीस्तथार्थप्रतिभासनमन्तरेण साकारा स्यादिति सिद्धमाकारवत्त्वं ज्ञानस्य । यदि नाम पर्यालोच-

वार्त्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थ में मानना होगा, तादात्म्य मानने पर नित्य ज्ञान का सम्बन्ध मानना होगा, तब कथित अर्थ भी प्रतीत नहीं होगा । यदि फिर भी प्रतीति होती है, तब अन्यथा भी प्रतीति हो सकती है, क्योंकि बाह्य रूपादि पदार्थ कथित भी प्रतीत होते हैं और अकथित भी । यदि कथित अर्थ अन्य ही है, तब उसकी प्रतीति अन्य को नहीं होनी चाहिए और एक-एक का सम्बन्ध होने पर प्रतिसन्धि नहीं होनी चाहिए । प्रतिसन्धि कैसी ? इसका उत्तर दिया गया --"एकार्थाभिनिवेशिता" अर्थात् 'एकमिदं वस्तु" ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वह ज्ञान से भिन्न है । प्रतिसन्धि किन दो पदार्थों की ? इसका उत्तर दिया गया है—वक्ता और श्रोता के ज्ञानों की । आशय यह है सादृश्य के आधार पर जो एकता का व्यवहार होता है, वह दृश्य पदार्थों का ही होता है, किन्तु परकीय दृश्य का दर्शन नहीं होता । यहाँ पर वक्ता और श्रोता के अर्थों का विविक्त प्रतिभास होता है । यदि सादृश्य के आधार पर प्रतिसन्धान होता है, तब "एकमेतद्" ऐसी प्रतीति होनी चाहिए । अर्थात् अकथित अर्थ भी अपनी प्रतीति के अनुसार परस्थ होने पर भी प्रतीत होना चाहिए, जबकि अन्य व्यक्ति नहीं कहता, तब अर्थ के बिना उसकी प्रतिपत्ति कैसे होगी ? फिर भी यदि वह देखा जाता है, तब अर्थ रहित बुद्धि उत्पन्न होती है । जैसे अन्य को प्रतिभास न होने पर भी परकीय प्रतिभास में पर्यवसित होने वाली बुद्धि होती है, तब

तच्चानुभवविज्ञानेनोभयांशावलम्बिना ।
एकाकारविशेषेण तज्ज्ञानेनानुबध्यते ॥ ३७९ ॥

कथित स्मृतिज्ञान उभयावलम्बि अनुभव के द्वारा अनुबद्ध होने के कारण एकाकार प्रतीत होता है ॥ ३७९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

नया बाधकप्रमाणबलाद्वा कस्यचित्साकारता ज्ञानस्य स्मृत्यादिकस्य । सर्वस्य तु कुतो भवतीत्याह—तच्चानुभवविज्ञानमिति ।

अनुभवविज्ञानमस्मृतिरूपं नीलादिविषयं द्वितीयेन तद्विषयेण स्मरणरूपेणानुबध्यते अनुमीयते परामृश्यते । किम्भूतेनोभयांशावलम्बिना । नीलप्रतिभासं ज्ञानं ममासीदिति । न तु यथाभूतम् । तदर्थापत्त्या निश्चीयते परैः । केवलं (अर्थाहितं) तथा भूतमनुसरति कश्चित् । न चार्थापत्तिर्लौकिकस्य कस्यचिदुदयवती । न हि लोक एवं प्रत्येति । येनार्थो दृष्टस्तेन मम बुद्धिरपरास्तीति ।

न हि बुद्धेः स्वरूपस्य सार्थापत्तिर्निरूपिता । सुनिर्द्धार्यं हि तद्रूपं न निर्द्धारयितुं क्षमम् ॥१०३१॥

न रूपाद्यवभासनव्यतिरेकेणापराकारां बुद्धिमर्थापत्त्याऽन्येन वा कश्चिन्निरूपयितुं क्षमः । बोधरूपतया निरूपणमिति चेत् । ननु तदेव बोधरूपं न ज्ञायते । न हि प्रत्ययभेदाद्धात्वर्थभेदः । न च प्रत्ययार्थस्य भेदः ।

केनोपज्ञश्च नार्थस्य भेदो नामोपगम्यते । अर्थाभेदे कथन्तेन तस्य व्याख्या प्रवर्त्तताम् ॥१०३२॥

तस्मान्नीलादिव्यतिरेकेण बोधो बुद्धिरिति न निरूप्यते । तस्यैव तु नीलादेः स्वभावभूतधर्मभेदो नैव सूच्यते । नीलस्य नीलविषया वा बुद्धिरिति । तेन नीलविषया

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रतिभास के बिना साकार हो जायेगी । अतः ज्ञान में आकारवत्ता सिद्ध हो जाती है । यदि सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर या बाधक प्रमाण के आधार पर किसी ज्ञान की साकारता सिद्ध हो जाती है, तब वह सभी ज्ञानों की क्यों मानी जाय ? इसका उत्तर दिया गया है—"तच्चानुभवविज्ञानम्" इत्यादि से । अर्थात् स्मृति से भिन्न अनुभव विज्ञान समान विषय स्मृतिज्ञान के द्वारा अनुबन्धित होता है, तब उस विषय का अनुमान कर लिया जाता है । उसका आकार यह है—"नीलप्रतिभासं ज्ञानं ममासीत्" । अन्य व्यक्तियों के द्वारा अर्थापत्ति के द्वारा उसका निश्चय होता है । कोई-कोई व्यक्ति वैसे ही ज्ञान का अनुसरण करता है, फिर भी किसी लौकिक व्यक्ति को वैसी अर्थापत्ति नहीं होती । लोक में ऐसी प्रतीति नहीं होती—"येनार्थो दृष्टस्तेन मम बुद्धिः" । बुद्धि का वह स्वरूप अर्थापत्ति से निवृत्त नहीं होता । उसका वह स्वरूप निर्धार्य होने पर भी निर्धारित नहीं हो सकता ॥ १०३१ ॥ रूपादि अवभासन के बिना अर्थापत्ति के द्वारा बुद्धि का निरूपण नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि ज्ञानरूपेण उसका निरूपण किया जा सकता है तो नहीं कह सकते, क्योंकि वही बोधरूपता ज्ञात नहीं होती । प्रत्यय के भेद से धात्वर्थ का भेद नहीं होता । प्रत्ययार्थ का भेद नहीं । अर्थ का भेद किसी भी उपाधि के द्वारा नहीं होता अर्थ का भेद होने पर उसकी व्याख्या कैसे होगी ? ॥ १०३२ ॥ फलतः नीलादि अर्थों के बिना ज्ञान का निरूपण नहीं हो सकता, किन्तु नीलादि पदार्थों का धर्म-भेद सूचित नहीं होता । नील अर्थ या नील-विषयणी बुद्धि के द्वारा तदाकारता का अनुसरण किया

वार्तिकालङ्कारः

बुद्धिर्ममासीदित्यनुसरणे तदाकारतानुसरणमेव । तथा हि—

नीलान्न व्यतिरेकेण विषयि ज्ञानमीक्ष्यते । ज्ञानपृष्ठेन भेदस्तु कल्पनाशिल्पिनिर्मितः ॥१०३३॥

यदि तर्हि नीलादेरेव स्वभावो भेदेन बुद्धिरिति निर्दिश्यते । नीलादिकमेव तर्हि केवलं न बुद्धिर्नाम । यथा न पटव्यतिरेकेण शुक्लत्वादिकं ततो बुद्धिरेव न परमार्थ इत्यायातम् । इष्यते बाह्योऽर्थः पारमार्थिक इति । तदेतदसत् । तथा हि—

क्वचित्किञ्चित्समाश्रित्य कस्यचित्स्यान्निराक्रिया ।
यत्प्रमाणप्रसिद्धं स्यात्तद्द्वाराऽन्यनिराक्रिया ॥१०३४॥

यदि प्रमाणप्रसिद्धोऽर्थस्तदा तद्व्यतिरेकेणापरा बुद्धिर्नास्तीति बुद्धिः परित्यज्यते । अथ बुद्धिः प्रमाणप्रसिद्धा तदार्थः । तत्र तावद्बुद्धयाऽर्थस्य व्यवस्थापनमिति न बुद्धिरर्थवता परित्यक्तुं शक्या । बुद्धिमता तु स्वसंवेदनसिद्धत्वान्न बुद्धिरर्थोपायसाध्या । ततोऽर्थमन्तरेणापि शक्याभ्युपगमता । ततो बुद्धिमङ्गीकृत्य तद्व्यतिरिक्तार्थपरित्यागः । अथार्थोऽपि स्वसंवेदनसाध्यः । तथा सति संवेदनमेव तद्व्यतिरिक्तोऽर्थः । अर्थश्चापरिदृष्टोऽप्यस्तीति तस्यानुपलम्भात् परित्यागः । बुद्धिस्तु न तथेत्यपरित्याज्या । किञ्च —

न शुक्लाद्यतिरेकेण द्रव्यमित्यभ्यगीष्यते । न बुद्धेरतिरेकेण तथार्थ इति मीयताम् ॥१०३५॥

यथा हि—

क्षणिकत्वं न नीलादिव्यतिरेकि कथञ्चन । तथापि क्षणिकत्वस्य नाभावः परिदीपितः ॥१०३६॥

तस्मान्नीलाद्याकारैव बुद्धिस्तथावसीयमानत्वात्प्रत्ययान्तरेण तेन चोभयांशपरि-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

जाता है। नीलादि के बिना ज्ञान रूप विषयी पदार्थ प्रतीत नहीं होता। ज्ञान के पश्चात् उसका भेद कल्पित माना जाता है ॥ १०३३ ॥ यदि नीलादि का स्वभाव ही बुद्धि के रूप में निर्दिष्ट होता है, तब केवल नीलादि शेष है, बुद्धि नहीं। जैसे पट से भिन्न शुक्लतादि कोई वस्तु नहीं, वैसे ही बुद्धि भी कोई परमार्थ सिद्ध नहीं होती। अपितु बाह्यार्थ पारमार्थिक माना क्यों नहीं जाता है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि बाह्यार्थ की सिद्धि और पारमार्थिकता उचित नहीं, क्योंकि किसी वस्तुस्थिति का सहारा लेकर अन्य पदार्थ का निराकरण किया जाता है। जो वस्तु प्रमाण-सिद्ध होती है, उसके द्वारा अन्यार्थ का निराकरण किया जाता है ॥ १०३४ ॥ यदि अर्थ प्रमाण से सिद्ध है, तब उससे भिन्न ज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं होती, ज्ञान का परित्याग हो जाता है। यदि ज्ञान प्रमाण सिद्ध है, तब ज्ञान की सत्ता और अर्थ का निराकरण मानना होगा। यदि बुद्धि के द्वारा अर्थ की व्यवस्थापना की जाती है, तब बुद्धि का परित्याग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह स्वसंवेदन-सिद्ध है। अर्थ के माध्यम से बुद्धि की सिद्धि नहीं। अतः अर्थ के बिना भी बुद्धि का अभ्युपगम किया जा सकता है। फलतः बुद्धि को मानकर उससे भिन्न अर्थ का परित्याग हो जाता है। यदि अर्थ को भी स्वसंवेदन-सिद्ध माना जाय, तब संवेदन को ही उससे भिन्न मानना होगा। अपरिदृष्ट भी स्वप्न में होता है। अतः उसको अनुपलब्धि से उसका त्याग हो जाता है, किन्तु बुद्धि वैसी नहीं। अतः परित्याज्य भी नहीं। शुक्लादि गुण के बिना द्रव्य कोई भिन्न वस्तु नहीं। उसी प्रकार ज्ञान से भिन्न अर्थ या विषय नाम की कोई वस्तु नहीं ॥ १०३५ ॥ नीलादि से भिन्न क्षणिकत्व कोई अन्य पदार्थ नहीं, तथापि क्षणिकत्व का अभाव नहीं किया जा सकता ॥ १०३६ ॥ अतः नीलादि आकार की बुद्धि ही निश्चित

अन्यथा ह्यतथारूपं कथं ज्ञानेऽधिरोहति ।
एकाकारोत्तरं ज्ञानं तथा ह्युत्तरमुत्तरम् ॥ ३८० ॥

यदि अनुभव ज्ञान आकार-द्वय से रहित है, तब उस अनुभव के ग्राहक स्मृति-ज्ञान में दो आकारों का अधिरोहण क्योंकर होगा ? क्योंकि उत्तर-ज्ञान और उसका उत्तरवर्ति ज्ञान एक-एक आकार के हैं ॥ ३८० ॥

वार्तिकालङ्कारः

त्यागान्नालम्ब्यत एव बुद्धिः तत्कथं न द्व्याकारा। अथवा बुद्धिरेकाकारविशेषणावलम्ब्यते द्वितीयेन ज्ञानेन। एकेनाकारेणावलम्ब्यत इत्यर्थः। किंभूतेनैकेनाकारेणेति तदाह—''उभयांशावलम्बिना।''

उभयांशव्यापिना। तत एवोभयांशकल्पना। परमार्थतस्तु तावाकारौ तदेकाकारानुप्रविष्टावेवेति। तेन व्याप्तौ भवतः। तौ पुनराकारौ बोधरूपता नीलाकारता च। पूर्वत्र व्याख्याने। एकाकारविशेषेण एकाकाराधिकेनेति ज्ञातव्यम्। यदि नाम द्व्याकारतया व्यवस्थाप्यते तथापि कथं द्व्याकारम्। अत्रोच्यते -अन्यथा ह्यतदाकारमिति।

यदि तदाकारमात्मानं स्वसंवेदनेन नानुभवेत्। कथन्तदाकारतया ज्ञानं स्मरणेऽधिरोहेत्। अधिरोहणन्तदाकारताजनकम्। तदधिरोहतीति कुतः। तथैव प्रतिपत्तेः। अथ - एकाकारोत्तरं ज्ञानमिति।

अवश्यमेतदुपगन्तव्यम्। तथा हि। उत्तरमुत्तरम्। एकैकेनाकारेणाधिकमधिकं भवति नान्यथा। तथा हि। पूर्वकेण नीलं गृहीतं तदुत्तरेण नीलज्ञानं तदुत्तरेण नीलज्ञानज्ञानम्। तदुत्तरेणापि तदधिकमिति निश्चिनोति। तदेतदन्यथा न स्यात्। एतदेवोदाह-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

होती है। ग्राह्य और ग्राहक में से दोनों अंशों का परित्याग नहीं किया जा सकता। बुद्धि में ग्राह्य और ग्राहक उभयाकारता की अनुभूति होने के कारण बुद्धि को उभयाकारता क्यों नहीं मानी जाय ? अथवा बुद्धि केवल एक आकार का ग्रहण करती है। वह एक आकार कौन है ? कहा गया है—''उभयांशावलम्बिना।'' इसी उभयांश की व्याप्यता के कारण उभयांश की कल्पना की जाती है। वस्तुतः वे दोनों आकार एकाकार में ही अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। वे दो आकार हैं - (१) बोधरूपता तथा। (२) नीलाकारता। पूर्वोक्त व्याख्यान में एकाकारविशेषेण का अर्थ एकाकाराधिकेन है। यदि द्व्याकारता के रूप में ज्ञान व्यवस्थापित होता है, तब दोनों आकार क्यों नहीं माने जाते ? इसका उत्तर दिया गया है—''अन्यथा ह्यतदाकारम्'' इत्यादि से।

यदि ज्ञान स्वसंवेदन के द्वारा अपने को विषयाकार अनुभव न करे, तब स्मरण में भी तदाकारतया ज्ञान अपने को स्थापित क्योंकर करता ? तदाकारता का अधिरोहण या स्थापन ही तदाकारता का जनक है। ज्ञान का स्मरण में तदाकारतया अधिरोहण ही तदाकारता का जनक है। स्मृति में ज्ञान का वैसा अधिरोहण क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि वैसी ही प्रतिपत्ति होती है।

पूर्व-पूर्व ज्ञान की विषयिता उत्तरोत्तर ज्ञान में अवश्य माननी होगी—यह कहा गया है, ''—उत्तर-उत्तरम्'' से अर्थात् पूर्वज्ञान के द्वारा नीलादि विषय गृहीत होता है। उस ज्ञान के उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा नीलज्ञान और उसके उत्तरभावी ज्ञान के

तस्यार्थरूपेणाकारावात्माकारश्च कश्चन ।
द्वितीयस्य तृतीयेन ज्ञानेन हि विविच्यते ॥ ३८१ ॥

द्वितीय ज्ञान में दोनों आकार विषय के रूप में होता है और उसको विषय करने वाला एक आत्मा कारक ज्ञान तृतीय होता है, जो कि द्वितीय ज्ञान का आलम्बन करता है। तृतीय ज्ञान के द्वारा अवधारित होने के कारण स्वसंवेदन अर्थाकार मानना चाहिए ॥ ३८१ ॥

अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृतावर्थस्मृतेर्यदि ।
भ्रान्त्या सङ्कलनं ज्योतिर्मनस्कारे च सा भवेत् ॥ ३८२ ॥

यदि स्मृति के जनक अनुभव की अर्थाकारता स्मृति में मानी जाती है, तब अर्थ के समान आलोक भी प्रत्यक्षानुभव का जनक होता है। अतः अर्थाकारता के साथ आलोकाकारता भी स्मृतिज्ञान में सङ्कलित होनी चाहिए, किन्तु नहीं होती ॥२८२॥

वार्तिकालङ्कारः

रणेन प्रतिपादयति। तथा हि—तस्यार्थरूपेणाकार इति।

द्वितीयं ज्ञानं पूर्वविज्ञानद्वयाकारं स्वाकारञ्च विभाव्यते। तृतीयेन चतुर्थेन तदेवोभयमेकाकाराधिकमिति यावद् गणयितुं स्मर्तुं वा शक्नोति। अथ ज्ञानं केवलमेव द्वितीये क्षणे न ज्ञायते। तत्तु ज्ञानमर्थे व्यापृतत्वात्तत्सम्बद्धमतस्तत्र स्मरणे सति तस्याप्यर्थस्य नान्तरीयकत्वात्स्मरणमित्यतोऽन्यथा ज्ञानं स्मर्तुमशक्यमिति तथा स्मर्यते। ततस्तद्व्यापृतत्वेन तदाकारमिति संकलनं भ्रान्त्या तदाकारताप्रतीतिः। अत्रोच्यते—अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृताविति।

भ्रान्तिरिति सम्बन्धः। यद्यर्थस्य कार्यं विज्ञानमथाप्यर्थ कार्यं व्यापारो यस्येति ज्ञानस्मृतौ नियमेनार्थस्मरणम्। अतस्तदेव गूढमतिसन्तानस्य तथा भवति प्रतिपत्तिः।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्वारा नीलज्ञान का ज्ञान। इसी प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान के द्वारा अधिक विषय का ग्रहण किया जाता है। यह प्रक्रिया अन्यथा नहीं हो सकती। इसी तथ्य का उदाहरण के द्वारा प्रतिपादन किया जाता है— "तस्यार्थरूपेणम्" इत्यादि से।

द्वितीय ज्ञान में पूर्व विज्ञान के दोनों आकार तथा तीसरा अपना आकार विभावित होता है। तृतीय और चतुर्थ के द्वारा पूर्व-पूर्व के आकारों में एक-एक आकार की वृद्धि करके उनका गणन या स्मरण किया जा सकता है।

शंका—केवल ज्ञान द्वितीय क्षण में नहीं ज्ञात होता। वह ज्ञान अर्थों में व्याप्रियमाण होने के कारण तत्सम्बद्ध है, अतः स्मरण होने पर उस अर्थ का भी नान्तरीयक होने के कारण स्मरण होता है, अतः अन्यथाज्ञान का स्मरण किया जा सकता वैसा ही उसका स्मरण किया जाता है। अर्थ—व्यापृत होने से अर्थाकार है—ऐसा संकलन करक भ्रान्ति के द्वारा तदाकारता की प्रतीति होती है।

समाधान—ज्ञान अर्थाकार है, अतः ज्ञान की स्मृति में यदि अर्थ का संकलन होता है, तब आलोक और मनस्कार में भी वह होनी चाहिए। वह का अर्थ है भ्रान्ति। यदि विज्ञान अर्थ का कार्य है। अथवा "अर्थः कार्यं व्यापारो यस्य" ऐसी व्युत्पत्ति के द्वारा अर्थ होता है—ज्ञान की स्मृति में नियमतः अर्थ-स्मरण कारण है। बुद्धिमान् पुरुष

सर्वेषामपि कार्याणां कारणैः स्यात् तथा ग्रहः ।
कुलालादिविवेकेन न स्मर्येत घटस्ततः ॥ ३८३ ॥

यदि अर्थ-जन्य कार्य भ्रान्ति से स्मरण किया जाता है, तब सभी कार्यों का अपने कारण के साथ तादात्म्य का ग्रहण होगा । अतः घटादि कार्य कुलालादि से पृथक् स्मर्यमाण नहीं होगा ॥ ३८३ ॥

वार्तिकालङ्कारः

एवन्तर्हि ज्योतिर्मनस्कारेऽपि तथा प्रतीतिः स्यात् । यथा विषयकार्यता विज्ञानस्य तथालोककार्यतापि मनस्कारकार्यतापि तेन द्वयसंकलनेनापि प्रतीयेत, न हि कार्यत्वे कश्चिद्विशेषः । अथ विषये व्यापृतत्वात्तत्संकलनं मनस्कारे तत्राव्यापृतत्वात्तदा तर्ह्यालोकेऽपि समान एव व्यापारो न ह्यालोकमपहाय रूपे व्याप्रियते ।

तदसदेतत् । तस्माद्यथाऽऽलोकप्रतिभासमिति न भवति तथा रूपप्रतिभासमिति न स्यात् । अथालोको विषय एवान्तर्गतत्वाद्रूपप्रतिभासनिश्चयेनैव गतः । न । आलोकस्य प्रकाशकत्वेन विषयत्वाभावात्कथं तत्र व्यापारः । अथ प्रकाशकोऽप्यालोको रूपनिपतितत्वाद्रूपमेव सम्पद्यत इति विषयः । तथा सति ज्ञानमपि प्रकाशकं रूपनिपतितत्वाद्रूपमेवेति साकारलोकवत् विज्ञानमपि साकारम् । यथा न रूपेण विनाऽऽलोको ग्रहीतुं शक्यः तथा विज्ञानमपि । न हि रूपादिकं प्रकाश्यं विना विज्ञानम्ममास्तीति कश्चिज्जानाति । तस्माद्रूपाद्याकारमेव विज्ञानं कार्यतया तु तथा प्रतिपत्ती । यतो हि—सर्वेषामपि कार्याणामिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

को ऐसी ही प्रतिपत्ति होती है । यदि एसा ही माना जाता है, तब ज्ञान की स्मृति में आलोक एवं मनस्कार (अवधान) आदि का भी भान होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान के आलोकादि भी कारण हैं । उनकी ज्ञानगत कार्यता में भी कोई विशेषता नहीं । यदि विषय में व्यापृत होने से उसका संकलन होता है, तब आलोक का अवश्य संकलन होना चाहिए, क्योंकि आलोक की सहायता के बिना रूप-ग्रहण में कोई प्रवृत्त ही नहीं होता ।

यदि कहा जाय कि विषय में व्यापृत होने से उसका संकलन आवश्यक है किन्तु मनस्कार में वैसा नहीं, तब आलोक में भी समान प्रसङ्ग है, क्योंकि आलोक को छोड़ कर रूप में कोई व्यापृत नहीं होता ।

तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे आलोक का प्रतिभासन नहीं होता, वैसे रूप का भी प्रतिभासन नहीं होना चाहिए । यदि आलोक विषय के ही अन्तर्गत होने से उसका संकलन होता है, तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि आलोक विषय नहीं, अपितु रूपादि विषय का प्रकाशक है, अतः उसमें व्यापार क्यों होगा ? यदि कहा जाय कि प्रकाशक होने पर भी आलोक रूप में निपतित है, अतः वह भी विषय ही है । तब ज्ञान भी प्रकाशक होने के कारण रूप में ही निपतित हो जाता है, अतः साकार आलोक के समान विज्ञान भी साकार है । जैसे रूप के बिना आलोक का ग्रहण नहीं किया जा सकता, वैसे ही विज्ञान भी, क्योंकि रूपादि प्रकाशक के बिना "विज्ञानं ममास्ति ।"—ऐसा कोई नहीं जानता, फलतः रूपाकार ही विज्ञान होता है । काय होने से वैसी प्रतिपत्ति होती है ।

यस्मादतिशयाज्ज्ञानमर्थसंसर्गभाजनम् ।
सारूप्यात्तत् किमन्यत् स्याद् दृष्टेश्च यमलादिषु ॥ ३८४ ॥

यदि आलोकादि से ज्ञान में अर्थ का सादृश्य आरोपित होता है, अतएव तदाकारता का ज्ञान होने पर स्मर्यमाण होता है। सादृश्य से भिन्न और कोई अतिशय नहीं माना जा सकता। एक साथ उत्पन्न दो बालकों में वैसा सादृश्य देखा जाता है ॥ ३८४ ॥

आद्यानुभवरूपत्वे ह्येकरूपे व्यवस्थितम् ।
द्वितीयं व्यतिरिच्येत न परामर्शचेतसा ॥ ३८५ ।

प्रथम अर्थज्ञान यदि उभय रूप नहीं है, अर्थाकार से रहित, अनुभव रूप मात्रता मानी जाती है, तब द्वितीय ज्ञान पूर्व ज्ञान को विषय करने के कारण, तृतीय

वार्तिकालङ्कारः

कुलालादिकार्योऽपि घटादिः स्वकारणविवेकेन न स्मर्येत। यथार्थकृतः कश्चिदतिशयो ज्ञाने विद्यते येन ज्ञानस्मरणेऽर्थोऽपि स्मर्यते। ज्ञानग्रहणे चार्थग्रहः। केवलस्य ज्ञानस्य न ग्रहणस्मरणे। घटादिकस्तु केवलोऽपि गृह्यते कुलालादिकश्च। तदपि स्वपक्षबाधनाय। तथा हि—यस्मादतिशयाज्ज्ञानमिति।

यदि तस्य विज्ञानस्य नार्थाकारता तदार्थग्रहणेनैव सह विज्ञानं गृह्यते स्मर्यते चेति कोऽयं नियमः। तदर्थान्तर्गतन्तु नियमेन तद्ग्रहणेनैव गृह्यत इति भवति नियमः। तस्मादर्थस्वरूपमेव विज्ञानमर्थग्रहणनान्तरीयकग्रहणं तत्स्मरणनान्तरीयकस्मरणञ्च। दृष्टश्च यमलकयोरेकग्रहणेन तदन्यप्रतिभासः सोऽयमिति स्मरणञ्च। श्यामवृक्षाकारतया च वृक्षग्रहणाभिमानः। यदि त्वाद्यं विज्ञानमनुभूय रूपं ग्राहकाकारमेव तथा द्वितीयमपि। तदाह—आद्यानुभवरूपत्वे ह्येकरूपमिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि घटादि कार्य कपालादि से निरपेक्ष ज्ञान में कल्पित मात्र है, तब कुलालादि रूप कारण के घटादि कार्यों का स्मरण कपालादि कारणों से भिन्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान का ग्रहण हो जाने पर अर्थ का ग्रहण हो जाता है। केवल ज्ञान का न स्मरण होता है और न ग्रहण। घटादि कार्य कुलालादि से निरपेक्ष भी स्मर्यमाण होता है। उसमें भी स्वपक्ष का बाध होता है।

वही बाध दिखाया जाता है—"यस्माद्" इत्यादि से। अर्थात् यदि विज्ञान ही अर्थाकार है, तब अर्थ का ग्रहण होने के साथ विज्ञान का ग्रहण और स्मरण हो जाता है, ऐसा नियम क्यों? अर्थ के अन्तर्गत वस्तु मात्र नियम से अर्थ के ग्रहण से गृहीत होता है, ऐसा नियम देखा जाता है। अतः अर्थस्वरूप ही विज्ञान होता है। अर्थग्रहण की नान्तर्यकता उसमें निश्चित है। अतः अर्थस्मरण की नान्तर्यकता, उसके स्मरण में होनी चाहिए, जैसा कि दो यमल (एकसाथ उत्पन्न दो भाईयों) में सादृश्य देखा जाता है। अर्थात् दो जुड़वाँ भाईयों में एक का ग्रहण होने पर, दूसरे का प्रतिभास हो जाता है—'यह वही बालक है'। वैसे ही श्याम वृक्षाकार के ग्रहण में भी भ्रम होता है। यदि पहले विज्ञान का अनुभव करके ग्राहकाकार का स्फुरण होता है, तब द्वितीय का भी हो जाता है। यही अग्रिम कारिका में कहा जाता है।

ज्ञान के कारण व्यतिरिक्त गृहीत नहीं होगा। सभी ज्ञान स्वाभास होने के कारण समान हैं ॥ ३८५ ॥

अर्थसंकलनाश्लेषां　धीर्द्वितीयावलम्बते ।
नीलादिरूपेण धियं भासमानां पुरस्ततः ॥ ३८६ ॥

द्वितीय बुद्धि अर्थाकार होने के कारण अपने से पूर्व उत्पन्न बुद्धि को आलम्बन बनाती है और अर्थसंकलन का उपार्जन करती है ॥ ३८६ ॥

वार्तिकालङ्कारः

परामर्शचेतसा हि द्वितीयं प्रथमाद् व्यतिरेकेण न व्यवस्थाप्येत द्वितीयपरामर्शचेतसा यतः तदपि तदाद्यानुभवरूपत्वे सति एकरूप एव व्यवस्थितं भवेद् ग्राहकाकार एवेति यावत्। ततः कुतो विवेकावसायः। तस्माद्विषयाकारमेव विज्ञानम्। तत एव—अर्थसंकलनाश्लेषा धीरिति।

ततोऽर्थाकारत्वात् द्वितीया धीः पुरः पूर्विकान्धियमवलम्बतेऽर्थसंकलनमाश्लिष्यतीति अर्थसंकलनाश्लेषा। आश्लिष्यतीत्याश्लेषा। अर्थसंकलेन चाश्लेषो यस्याः सा धीः द्वितीयावलम्बत इत्यर्थः। यदि तु तदाकारता न स्यात्केवलामप्यालम्बेत।

ननु केवलामप्यवलम्बत एव तथा हि। न जाने को मया दृष्टस्तदेति ग्राहकमेव स्मरन्ति। तदप्यसत्। यतः—

ग्राह्ये संशयतस्तत्र ग्राहकेऽप्यस्ति संशयः। सामान्येन ग्रहे तत्र ग्राह्येऽप्येष नयः समः ॥१०३७॥

सामान्येन ग्राहकस्य स्मरणे ग्राह्यस्यापि समान एव न्यायः। तथा हि कोऽपि मया दृष्ट इति दृश्यमानसामान्याकारेणैव स्मरणम्। यदि च ग्राहकस्य स्वरूपमेव स्मर्यते ग्राह्यव्यापाररहितम्। तदा तदेव तस्य रूपं न ग्राह्यसन्निधानेऽन्यदासीत्। ततस्तु स्मर्यमाणस्यान्येन रूपेण ग्राहकेण कथं पश्चात्तथाभूतस्यैव ग्राहकता। अथ तत्त्वेन

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

प्रथम (अर्थज्ञान) यदि अनुभव रूप है, तब उसको विषय करने वाला तृतीय ज्ञान व्यतिरिक्त गृहीत नहीं होगा, क्योंकि सभी ज्ञान स्वरूप मात्र के प्रकाशक होते हैं। अर्थात् प्रथम ज्ञान जैसे कि ग्राहकाकार है, वैसे ही द्वितीय, तृतीय ज्ञान भी व्यवस्थित होंगे। यही कहा जाता है कि ज्ञान विषयाकार है।

अर्थाकार होने के कारण द्वितीय ज्ञान, प्रथम ज्ञान को अवलम्बित कर अर्थ संकलन करता है। अतः उसे "अर्थसंकलनाश्लेषा" बुद्धि कहा गया है। यदि तदाकारता न होती, तब केवल ज्ञान को ही विषय करता।

शङ्का—केवल स्वरूप का भी अवलम्बन ज्ञान करता है। जैसा कि पुरुष कहता है कि "न जाने को तया दृष्टा"। अतः केवल ग्रहण का भी स्मरण होता है।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि ग्राह्य अर्थ में संशय होने पर ग्राहक में भी संशय हो जाता है। यह एक सामान्य नियम विषयज्ञान में भी लागू होता है ॥ १०३७ ॥

यह सामान्य नियम है कि ग्राहक का स्मरण होने पर ग्राह्य का स्मरण होता है, जैसा कि "कोऽपि मया दृष्ट"। इस प्रकार दृश्यमान पदार्थ का "सामान्याकारेण स्मरणं" होता है। यदि ग्राह्य व्यापार से रहित ग्राह्य के स्वरूप मात्र का स्मरण होता है, तब उसका वही स्वरूप है। ग्राह्य का सन्निधान होने पर अन्य नहीं होता।

अन्यथा ह्याद्यमेवैकं संयोज्येतार्थसम्भवात् ।

ज्ञानं नादृष्टसम्बन्धं पूर्वार्थेनोत्तरोत्तरम् ॥ ३८७ ॥

सभी ज्ञान विषय के सदृश एवं अनुभव रूप होने के कारण अर्थ और ज्ञान का सहोपलम्ब नियम यह सिद्ध करता है कि ज्ञान और विषय का भेद नहीं ॥ ३८७ ॥

वार्तिकालङ्कारः

स्मरणे ग्राह्यसन्निविष्टमेव रूपं तदा कथं केवलस्य स्मरणम् । तस्मात्तदारूढमेवास्य रूपं न शक्यविवेचनमिति । एकमेव रूपाद्यात्मना, यदि च न द्विरूपता विज्ञानस्य तदा नीलाकारमाद्यमेव स्यान्नोत्तरोत्तराणि । तदाहाचार्यः न चोत्तरोत्तराणि ज्ञानानि पूर्व-पूर्वज्ञानविषयाभासानि स्युस्तस्याविषयत्वात् । यस्मात् —अन्यथा ह्याद्यमेवैकमिति ।

न हि उत्तरोत्तरस्य ज्ञानात्मनः पूर्वज्ञानविषयविषयता । अविषयश्च कथमालम्ब्यते । यदात्वर्थाकारता प्रथमस्य तदा द्वितीयस्यापि । तत उत्पन्नस्य तदर्थाकारसंवेदनाकारता । तथा हि –

तदर्थाकारविज्ञानाज्ज्ञानज्ञानोदये सति । तदाकारतया योगो दूरवृक्षाद्यथोदिते ॥१०३८॥

अथ ज्ञानमन्यथा स्मर्त्तुमशक्यम् । अर्थसहितमेव स्मर्यते । तदारूढतैव तद्व्यापृततालक्षणा तस्य स्वभाव इति । ततः सार्थकस्य स्मरणम् । घटादीनान्तु पुनः केवलोऽपि स्वभावो न कुलालादिसहित एव । विषयस्तु विज्ञानसहित एवोपलभ्यते । तेन तथाभूतस्यैव स्मरणम् । न तु घटादीनाम् । तदप्यसत् । यतः—

द्वयोर्विवेकग्रहणे साहित्यमिति युक्तिमत् । नीलाकारातिरेकेण न च ज्ञाननिरूपणम् ॥१०३९॥

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अतः स्मर्यमाण पदार्थ का अन्य ग्राहक के रूप में ग्राह्यता होगी । यदि स्मरण में ग्राह्य का भी सन्निवेश माना जाता है, तब केवल स्वरूप का स्मरण कैसे होगा ? अतः ग्राह्य संवलित ही ग्राहक का स्वरूप मानना होगा, उसका विवेचन सम्भव नहीं । यदि विज्ञान की द्विरूपता नहीं मानी जाती, तब केवल नीलाकारता ही होगी उत्तरोत्तर रूप वृद्धि नहीं हो सकेगी । जैसा कि आचार्य ने कहा है– "लोकोत्तरोत्तरं" । अर्थात् उत्तरोत्तर ज्ञान पूर्व-पूर्व ज्ञान और उनके विषय के भासक होते हैं क्योंकि उत्तरोत्तर रूप का संवलन न होने पर केवल प्रथम रूप ही शेष रहेगा । उत्तरोत्तर स्वरूप की वृद्धि न हो सकेगी । जो जिसका विषय नहीं है वह उसका अवलम्बन नहीं कर सकेगा । जब कि प्रथम ज्ञान को अर्थाकार मानते हैं, तब द्वितीय ज्ञान को भी तद्विषयक मानना होगा, क्योंकि प्रथम ज्ञान से उत्पन्न द्वितीय ज्ञान पूर्व-विषयाकारता का त्याग नहीं कर सकता । अर्थाकार प्रथम ज्ञान से उत्पन्न उत्तरोत्तर ज्ञानों में तद्विषयतानुभूत होती है, जैसे कि दूरस्थ वृक्ष के दर्शन से ॥ १०३८ ॥

शंका—ज्ञान का अन्यथा स्मरण नहीं किया जा सकता । सदैव अर्थ सहित ज्ञान का ही स्मरण होता है, क्योंकि विषयारूढता ज्ञान का स्वभाव है । अतः अर्थ सहित ज्ञान का स्मरण होता है, किन्तु घटादि के स्वरूप में कुलालादि का साहित्य प्रविष्ट नहीं होता । विषय सदैव विज्ञान सहित उपलब्ध होता है । अतः उसका वैसा ही स्मरण होता है, किन्तु घटादि का वैसा नहीं ।

समाधान—दो पदार्थों का विवेक ग्रहण होने पर साहित्य न्यायोचित है । नीला-

सकृत् संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह।
विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति ॥ ३८८ ॥

जब विषय नियमतः अपने ज्ञान के साथ अनुभूत होता है, तब विषय को ज्ञान से भिन्न क्योंकर माना जा सकेगा? ॥ ३८८ ॥

भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।
संवित्तिनियमो नास्ति भिन्नयोर्नीलपीतयोः ॥ ३८९ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सुखादिरूपत्वेनेति न सिद्धमिदमेव वः ॥१०४०॥

न हि सुखादिरूपं विज्ञानमिति प्रसिद्धिर्भवताम्। सुखादीनां विषयत्वात्। यथा च न सुखादिव्यतिरेकेणापरं विज्ञानं तथा नीलादिव्यतिरेकेणापि। बहिर्देशत्वाप्रमेयत्वैव नीलादीनामिति चेत्। नाबहिरपि सुखादीनां प्रमेयत्वाभ्युपगमात्। न च तयोः संवेदने बहिरन्तरिति परमार्थतो युक्तम्। न ग्राहकता सुखादीनां नीलादिषु। तदभावेऽपि तथैव प्रतिभासनात्। यच्च यदन्तरेणापि भवति न तत्तत्कृतं भवति च नीलादिग्रहणमन्तरेण सुखादिकमिति। ततः स्वरूपविशेषकृतमेव नीलादिग्रहणं तदभावेऽपि भावादिति प्रतिपादितम्। तस्मान्न नीलाद्यपरोक्षतामन्तरेण नीलादिग्राहकनिरूपणमिति सिद्ध-माकारद्वितयम् अनुभवनीलाद्याकारतया। अपि च भवतु ग्राहकाकारो परस्तथापि। तदुक्तम्—सकृत्संवेद्यमानस्येति।

विषयस्य हि नीलादेर्धिया सह सकृदेव संवेदनम्। धिया सह न पृथक्। ततः संवेदनादपरो विषय इति कथम्। तथाभूतमेव संवेदनमिति स्यात् विवेचयितुमशक्य-मिति प्रतिपादितम्। भेदावभासनं भवतीति चेत्। तथा हि—भेदश्च भ्रान्तिविज्ञा-नैरिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

द्याकारता को छोड़कर ज्ञान का निरूपण नहीं हो सकता ॥ १०३९ ॥

ज्ञान आपके मत से सुखादि स्वरूप ही होता है, किन्तु यह सिद्ध नहीं होता ॥१०४०॥ अर्थात् आपके मत में यह प्रसिद्ध नहीं कि विज्ञान सुखादि स्वरूप होता है, क्योंकि सुखादि उसके विषय होते हैं। जैसे सुखादि से भिन्न ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार नीलादि से भिन्न भी नहीं होता। यदि कहा जाय कि नीलादि पदार्थ बाहर देश में अवस्थित होने के कारण अप्रमेय हैं, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि जो बाहर नहीं हैं, ऐसे सुखादि पदार्थ भी प्रमेय माने जाते हैं। उन दोनों विषयों में बाह्य और अन्तरता का कोई भेद नहीं। नीलादि पदार्थों की ग्राहकता सुखादि पदार्थों में नहीं होती, क्योंकि उनका अभाव होने पर ही, वैसा ही प्रतिभास होता है। जो जिसके बिना ही प्रतिभासित है, वह उससे जनित नहीं होता। नीलादि का ग्रहण न होने पर भी सुखादि का ग्रहण होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि स्वरूप विशेष होने के कारण ही नीलादि का ग्रहण होता है। नीलादि आकारता अनुभवसिद्ध है, दूसरी चीज यह भी है कि विज्ञान ग्राह्याकारता के साथ ग्राहकाकार भी होता है। तथापि उसका विज्ञान से भेद कैसे होगा? क्योंकि विषय का ज्ञान के साथ ही संवेदन होता है, बुद्धि से पृथक् नहीं। फलतः संवेदन से विषय भिन्न है कैसे होगा? उसका विवेचन विज्ञान से नहीं किया जा सकता, यह कहा जा चुका है। यदि कहा जाय

ज्ञान और विषय का अभेद होने पर भी वैसे ही भेद का भ्रम हो जाता है, जैसे - एक चन्द्रमा में दृष्टिदोष के कारण दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं ।। ३७९ ।।

वार्तिकालङ्कारः

तद्यथा चन्द्रद्वयदर्शनमेकमेकत्रैव चन्द्रमसि भेददर्शनमेवमात्मन्यपि विज्ञानस्य। ननु विषय एकत्रापि भेददर्शनं युक्तं विज्ञानाकारस्य भेदात्। तदात्मनि तु कथम्। न हि तदैवान्यथा। कथं हि स्वरूपं तेनैव पररूपेण गम्यते तस्याप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्। न सदेतत्। यतः—

यदि स्वरूपं प्रत्येतुमन्यथा नैव शक्यते। पररूपन्तु सुतरां तथापि न शक्यते ।।१०४१।।

यदि स्वरूपमन्यथा प्रत्येतुं न शक्यं पररूपन्तु स्वरूपेणापि प्रत्येतुं न शक्यमिति स्वरूपवत्पररूपमपि न शक्यमेवेति प्राप्तम्। तस्मादयमर्थः। स्वसंवेदने सति न भेदः प्रत्येतुं शक्यः स्वरूपस्य। यदि तु पुनरेकमेव चित्राकारं विज्ञानं स्याच्छक्यं स्वसंवेदनेन प्रत्येतुमन्यथाऽयोगात्। ततो द्विचन्द्रदर्शनस्यापि यद्येकता न स्यान्न तत्प्रत्येतुं शक्यं स्वपराभ्यामशक्यत्वादिति प्रतिपादितम्। तस्मादुत्तरकालभाविना विकल्पेनान्वयव्यतिरेकाभ्यामिति द्वयभेदकल्पना न प्रत्यक्षा प्रतीतिः। अयमेवार्थो भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैरित्यादिना दर्शितः। इन्दुद्वयाभिमतमेवाद्वयमेकविज्ञानान्तर्गतत्वात्। एवन्तर्हि नीलपीतयोरपि सहदृश्यमानयोरेकचित्राकारताऽभ्युपगन्तव्या। एवमेतत्संवेदनरूपस्य चित्राकारस्य तत्राप्येकत्वात्। यदि तु भेदे इष्यते तदेवमभ्युपगन्तव्यम्। यतः—संवित्तिनियमो नास्तीति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विषय और विज्ञान का भेद प्रतीत होता है, तो उसका उत्तर दिया गया है—"भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैः"। अर्थात् जैसे एक चन्द्रमा में दो की भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार विज्ञान से भिन्न विषय की भ्रान्ति होती है, वस्तुतः विज्ञान से विषय भिन्न नहीं।

शङ्का - एक विषय में भी भेद दर्शन हो सकता है, क्योंकि विज्ञानाकार भिन्न होता है। वह स्वयं विज्ञान में कैसे होगा, क्योंकि एक ही वस्तु एक काल में भिन्नरूपेण अवभासित नहीं होती। एक ही वस्तु स्वरूप और पररूप से भिन्न हो यह सम्भव नहीं।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि यदि स्वरूप की प्रतीति अन्यथा नहीं हो सकती, तब पररूप का भी ग्रहण नहीं हो सकता ।।१०४१।। यदि ज्ञान का स्वरूप विषय के बिना जाना नहीं जा सकता और पररूप-स्वरूपता भी प्रतीत नहीं हो सकता। अतः स्वरूप के समान ही पररूप भी प्रतीत नहीं हो सकता। अतः उसका यह तात्पर्य निकलता है कि स्वसंवेदन होने पर भेद की प्रतीति होगी अन्यथा नहीं। अतः द्वि-चन्द्र-दर्शन में भी यदि एकता नहीं होगी, तब उसकी प्रतीति नहीं हो सकेगी, यह कहा जा चुका है। अतः उत्तरकाल में होने वाले विकल्प ज्ञान के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक की सहायता से दोनों के भेद की कल्पना होती है, वह प्रत्यक्ष-प्रतीति नहीं। "भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैः" इत्यादि पद्य के द्वारा दिखाया गया है, क्योंकि दो चन्द्रों का प्रतिभास एक ही ज्ञान में है। यदि ऐसा है, तब नीलपीतादि अनेक विरोधी पदार्थों की एक-चित्राकारता माननी होगी। चित्राकारता संवेदन का स्वरूप है, वह भी एक है। यदि उनका भेद माना जाता है, तब एकता क्योंकर रहेगी ? क्योंकि

नार्थोऽसंवेदनः कश्चिदनर्थं वापि वेदनम् ।
दृष्टं संवेद्यमानं तत् तयोर्नास्ति विवेकिता ॥ ३९० ॥

कोई पदार्थ अनुभव के बिना नहीं देखा जाता । उसी प्रकार अनुभव भी अर्थाकारता के बिना संवेद्यमान नहीं होता । अतः अनुभव और विषय की एकता सिद्ध होती है ॥ ३९० ॥

वार्तिकालङ्कारः

अयमेव भेदहेतुर्यदुत भिन्नयोगक्षेमता । इन्दुद्वयप्रतिभासस्य तु भिन्नयोगक्षेमत्वाभावादेकतैव ।

ननु विरुद्धधर्माध्यासात्कथमेकत्वम् । अयमेव हि भेदो विरुद्धधर्माध्यासो नाम यः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणश्चात्र विरोधः । नैतदस्ति ।

नित्यत्वेतरयोरेव विरोधः स तथाविधः । प्रतीत्यनुप्रवेशेन द्वयोर्नास्ति विरोधिता ॥१०४२॥

एकप्रतीत्यनुप्रवेशादेव न तयोर्विरोधः । एतदेव तस्य रूपं यदविप्रयुक्तं नाम । न च तेनैव तद्विरुध्यते । तस्मादेकमेव तस्याकारमिति कल्पनयोच्यते । अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । तमेवान्वयव्यतिरेकाभावं परमार्थतो नास्तीति दर्शयति । अथ नार्थोऽसंवेदनः कश्चिदिति ।

अनन्वयव्यतिरेकित्वादेकमेव नीलसंवेदनमन्योन्यव्यतिरेकेणादर्शनात् । तथा हि–

नार्थोऽसंवेदनो दृष्टो ह्यनर्थं न च वेदनम् । सदाऽवियोगादेकन्तदर्थसंवेदनं ततः ॥१०४३॥
भेदेन विनियोगार्थं भेदविद् भेदमिच्छति । स चेन्नास्ति ततो भेदाभेदयोः कैव भिन्नता ॥१०४४॥

तस्मादत्र भेद इति नाममात्रमेव परेण विधातव्यम् । न परस्य काचित्क्षतिः । हेयोपादेयविभागश्चेतत्र नास्ति किमीदृशा भेदेन ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

चन्द्रद्वय का प्रतिभास भिन्नयोगक्षेमता न होने के कारण एकता ही है ।

शङ्का—जब दो विरुद्ध धर्मों का अध्यास है, तब उनमें एकता कैसे ? क्योंकि भेद का अर्थ है—विरुद्धधर्माध्यास । अर्थात् दो अत्यन्त विरोधी धर्मों का एकत्र आरोप ।

समाधान जैसे नित्यत्व और अनित्यत्व का विरोध होता है, वैसा द्विचन्द्र का विरोध नहीं होता ॥१०४२॥ क्योंकि एक ही प्रतीति में दोनों का समावेश होने के कारण परस्पर विरोध नहीं । उसका इतना ही रूप है कि दो धर्मों का परस्पर अयोग नहीं । उसी वस्तु का उससे विरोध नहीं होता । अतः वहाँ केवल एक आकार की कल्पना की जाती है । अन्वय व्यतिरेक के आधार पर एकता ही सिद्ध होती है, किन्तु उस अन्वय-व्यतिरेक का अभाव यहाँ है, ऐसा ही दिखाया जा रहा है—"नार्थोऽसंवेदनः" इत्यादि से । अर्थात् नीलादि विषय और उसके ज्ञान का भेद अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध नहीं होता । जैसा कि प्रसिद्ध है—"नार्थोऽसंवेदनः" अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक रूप संवेदन का अभाव होने के कारण विषय और विज्ञान का कोई भेद सिद्ध नहीं होता । सदैव दोनों का अवियुक्त रूप से अनुभव होता है ॥१०४३॥ अर्थ और ज्ञान का भेद मानने वाले भेदसाधक युक्ति के द्वारा भेद मानते हैं, किन्तु भेद-साधक युक्ति के अभाव में दोनों की भिन्नता कैसे सिद्ध होगी ? ॥१०४४॥ फलतः भेदवादी के द्वारा प्रतिपादित भेद का नाममात्र है, जबकि दोनों में हेय और उपादेय का भेद नहीं, तब ऐसे भेद से क्या लाभ ?

तस्मादर्थस्य दुर्वारं ज्ञानकालावभासिनः ।
ज्ञानादव्यतिरेकित्वम् हेतुभेदानुमा भवेत् ॥ ३९१ ॥

अतः ज्ञानकाल में ही अर्थ का अवभास अनिवार्य है, क्योंकि दोनों का अव्यतिरेक सिद्ध होता है। व्यतिरेक के सामर्थ्य से अर्थ की सिद्धि तब हो सकती थी, जब कि योगाचार विषय सम्बलित ज्ञान का उत्पादन समनन्तर प्रत्यय के बल पर न मानता हो ।। ३९१ ।।

अभावादक्षबुद्धीनां सत्स्वप्यन्येषु हेतुषु ।
नियमं यदि न ब्रूयाद् प्रत्ययात् समनन्तरात् ॥ ३९२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

कथन्तर्हि नीलमानयेति पीतस्यानयनं न क्रियते । तदा तस्य पीतस्याप्रतिभासनमेव तेन नानीयते। यत्तु पुनरवियुक्तं नीलं तत्तु चोदितमेव । ज्ञाननिवेशि च विमुक्तम् । न तदन्यथा नेतुं शक्यम् । भेदव्यवहारस्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामतात्त्विक एवेति प्रतिपादितम् । ततः-- तस्मादर्थस्य दुर्वारमिति ।

अभिन्नयोगक्षेमत्वादेकत्वमर्थस्य ज्ञानेन दुर्वारं न हि वारयितुं शक्यमिति साकारं ज्ञानं सिद्धम् । एवन्तर्हि ज्ञानमेव केवलं दृश्यते नार्थः । तस्यापि दर्शने नीलाद्याकारद्वयसंवेदनं तस्यापि ज्ञानकालावभासने पुनरर्थस्यादर्शनमित्याकारान्तराक्षेपेऽनवस्थानादसमञ्जसम्भवेत् । अत्र परिहारः --हेतुभेदानुमा भवेदिति ।

नीलाकारं ज्ञानं दृष्टवतः केनचिदत्र हेतुना भवितव्यमिति तदनुरूपो हेतुरनुमीयते न तु साक्षादसौ प्रतीतिविषयः । पूर्वोक्तविरोधदोषात् । कथमत्यन्तापरिदृष्टस्यानुमानमपीति चेत् । तदाह अभावादक्षबुद्धीनामिति ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

यदि नील-पीतादि पदार्थों का एकविज्ञानरूपता के कारण भेद नहीं, तब "नीलमानय" इस प्रकार की आज्ञा में पीतादि का आनयन क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है - नीलाकार विज्ञान की अवस्था में पीत का भान ही नहीं होता। अतः पीत का आनयन क्यों प्रसक्त होगा ? जो नील पदार्थ विज्ञान से अवियुक्त है, उसका आनयन तो होता ही है, क्योंकि वह ज्ञान में निविष्ट है, उसका अन्यथा आनयन नहीं किया जा सकता। विषय और ज्ञान का जो भेद-व्यवहार है, वह अतात्त्विक है, यह कहा जा चुका है। अतः अभिन्न योगक्षेमता के कारण अर्थ की ज्ञान के साथ एकता दुर्वार है, क्योंकि उसका वारण नहीं किया जा सकता। अतः विज्ञान की साकारता अत्यन्त युक्ति-युक्त है।

शङ्का - यदि केवल ज्ञान ही दिखायी देता है, विषय नहीं। विज्ञान की साकारता जिस विज्ञान से सिद्ध होती है, उसकी साकारता सिद्ध करने के लिए विज्ञानान्तर की अपेक्षा एवं विज्ञानान्तर की साकारता के लिए अन्य विज्ञान की साकारता मानने में अनवस्था दोष क्यों नहीं ?

समाधान --उक्त शंका के समाधान में कहा गया है --"हेतुभेदानुमा भवेत् ।" अर्थात् नीलाकार विज्ञान किसी न किसी हेतु के द्वारा सिद्ध होगा। उसके अनुरूप हेतु

विषय रूप हेतु का भेद ज्ञान से तब माना जा सकता था, जब कि अनादि संस्कारों के आधार पर विषय का अवभास न होता, किन्तु केवल संस्कारों के आधार पर स्वप्न के समान विषय का अवभास होता है, बहिर् देश में विषय की सत्ता कदापि नहीं ॥ ३९२ ॥

वार्तिकालङ्कारः

सामान्यतोदृष्टमनुमानं व्यतिरेकमात्रप्रवर्त्तितम्। तथा हि। चक्षुरालोकमनस्कारेषु सत्स्वपि न भवति स्तम्भशून्याभिमते स्तम्भाकारमक्षविज्ञानमन्यत्र झटित्येव भवति ततो ज्ञायतेऽन्येन केनचिदत्रवस्तुना भवितव्यम्। यदभावादन्यत्राभावः। स तथाभूतोऽर्थः। प्रमेयो बाह्यो दर्शनोपाधिरहित एव ज्ञायमानः। स तर्हि कथं प्रत्यक्षस्य विषयः। तदाकारस्य प्रत्यक्षविषयत्वादन्या गतिर्नास्तीत्युपचाराद्विषयता। एवं तर्हि बाह्य एवार्थः प्रमेयः। न संवेदनमात्रमिति। नात्र स्थितपक्षतेति दर्शयति। अथ—नियमं यदि न ब्रूयादिति।

किमाकारभेदजनकोऽन्योऽर्थः परिकल्पनीयोऽथ समनन्तरप्रत्ययविशेष एव कश्चित्। तत्रात्यन्तापरिदृष्टार्थकल्पना न साध्वी गत्यन्तराभावादेवं परिकल्पना। यदा तु परिदृष्टपूर्वदर्शनसामर्थ्यादेवायमाकार उपपन्नस्तदार्थकल्पनावैयर्थ्यम्। दृष्टानुसारेण च कल्पना भवति नान्यथा। न ह्यदृष्टं कल्पयितुं शक्यम्। दर्शनानुसारिण्यो हि कल्पना दृष्टा इत्यन्यथाकल्पनमशक्यम्।

ननु च बाह्योऽप्यर्थो दृष्ट एवाकारजनकः। यथा पिण्डाकारता वृक्षमन्तरेण न भवति। न तत्रापि वृक्ष एव जनक इति केन दृश्यते। न। तनैव तस्याज्ञानाकारत्वात्।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

का अनुमान निसर्ग सिद्ध है। यह जो प्रश्न होता है कि अत्यन्त अपरिदृष्ट अर्थ का अनुमान कैसे होगा? उसका उत्तर दिया गया है—"अभावात्" इत्यादि से। अर्थात् सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा व्यतिरेक मात्र के द्वारा प्रवृत्त होता है। जैसे कि चक्षु, आलोक और मनस्कार के रहने पर भी स्तम्भ रहित देश में स्तम्भ का ज्ञान नहीं होता और अन्यत्र तुरन्त हो जाता है, इससे यह जाना जाता है कि वहाँ पर कोई अन्य वस्तु ही है, जिसके अभाव में अन्यत्र अभाव होता है। वह अर्थ प्रमेय है, बहिर् अवस्थित है और दर्शनोपाधि से रहित है, तब वह प्रत्यक्ष का विषय कैसे होगा? क्योंकि प्रत्यक्ष विषयता के बिना वस्तुसिद्धि के लिए और कोई गति नहीं। तब प्रश्न उठता है कि बाह्य अर्थ को ही प्रमेय क्यों नहीं माना जाता? संवेदनमात्रता क्यों? इसका ही उत्तर दिया जा रहा है—"नियमं यदि न" इत्यादि से।

विज्ञान में आकार-भेद का जनक अर्थविज्ञान से भिन्न कल्पनीय है अथवा वह कोई समनन्तर प्रत्यय विशेष है। उनमें अत्यन्त अपरिदृष्ट पदार्थ की कल्पना उचित नहीं, क्योंकि अपरिदृष्ट पदार्थ का अत्यन्ताभाव होता है। जबकि परिदृष्ट पदार्थ के संस्कारों से उपस्थापित अर्थ के द्वारा आकार का समर्पण होता है, किन्तु उसके बिना ही आकार की उत्पत्ति हो जाने पर उसकी कल्पना व्यर्थ है। कल्पना सदैव दृष्टानुसार होती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि अत्यन्त अदृष्ट की कल्पना हो ही नहीं सकती। अन्यथा कल्पना सम्भव नहीं।

शङ्का—बाह्यार्थ भी दृष्ट होकर के ही ज्ञानगत आकार का कल्पक होता है, जैसे

वार्तिकालङ्कारः

अन्येन नरेण दृश्यत इत्यत्र विचारितः तेनैव । पश्चाद् दृश्यत इति चेत् । यदि नात्र तेन पश्चाद् दृश्यते पूर्वमस्तीति कुतः । पश्चाद्दर्शनादेवेति चेत् । यदि तां पश्चादुपलभ्यते पश्चादेव भवतु । न हि सोपलब्धिः पूर्वत्र व्याप्रियत । साप्युपलब्धिर्ज्ञानाकारस्यैव नार्थस्य ततस्तत्राप्यर्थोऽस्तीति पश्चादुपलब्ध्या निश्चयः । तत्रापि पश्चादित्यपर्यवसानादप्रतिपत्तिरेव । तस्मादर्थस्यादर्शनाद्वासनाप्रतिबद्धत्वस्य च प्रागेव साधितत्वात्समनन्तरप्रत्ययशक्तिरेव कल्पनीया नियमहेतुः सूक्ष्मेक्षिकाक्रमेण । यदि तु कश्चिदेवं न व्युत्पन्नस्तस्य हेतुभेदानुमानाद् बाह्यप्रमेयत्वम् ।

ननु बाह्यार्थमन्तरेण कार्यकारणभावः कथं ज्ञाप्यज्ञापकभावश्च । तथा हि—

बाह्यार्थमन्तरेण स्यात्कार्यकारणता विदाम् ।
तासाञ्च नियमाभावान्न कार्यन्न च कारणम् ॥१०४५॥

तथा हि—

नीलावभासात्पीताभं ततो नीलावभासवत् । एवमन्योऽन्यहेतुत्वं कार्यकारणयोः कथम् ॥१०४६॥

नीलावभासविज्ञानानन्तरं पीतावभासं यदा भवति विज्ञानं तदा पीतावभासव्यतिरेकेण पीतस्याभावान्नीलावभासमेव तस्य कारणन्न पीतम् । न च तत्र नियमः । ततः पीतावभासादपि नीलावभासः । अन्योऽन्यहेतुना युक्तिविरुद्धः स्यात् । कथं हि कार्यकारणयोरन्योऽन्यहेतुता । बाह्यार्थत्वे तु नीलमेव तत्र कारणम् । पीतप्रतिभासस्तु

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

कि ज्ञान में झुण्डाकारता वृक्ष के बिना नहीं हो सकती ।

समाधान—उक्त शंका उचित नहीं, क्योंकि उक्त स्थल पर आकार-विशेष की जनकता बाह्य वृक्ष में है, संस्कारों में नहीं, यह किसने देखा ? अन्य पुरुष के द्वारा दर्शन उपयोगी नहीं, अपितु उसी व्यक्ति के द्वारा दर्शन अपेक्षित है । यदि कहा जाय कि उसके द्वारा पश्चात् देखा जाता है, तब प्रश्न होता है कि पश्चात् दृष्ट वस्तु का पूर्व भान क्योंकर होगा ? यदि कहा जाय कि पश्चात् दर्शन से ही होगा, वह उचित नहीं, क्योंकि पश्चात् दर्शन से पश्चात् ही भान होगा, पूर्व नहीं । पश्चात् तन उपलब्धि पूर्व काल में व्यावृत्त नहीं होती । वह उपलब्धि भी ज्ञानाकार की ही होती है, बाह्यार्थ की नहीं । अतः बाह्यार्थ के दर्शन से ज्ञान में आकार का समर्पण सम्भव नहीं, किन्तु वासना-प्रबोधित आकार होता है, यह पहले भी सिद्ध किया जा चुका है । अतः समनन्तर प्रत्यय की शक्ति के द्वारा साकारता विज्ञान में समर्पित होती है । यदि किसी को इस प्रकार की व्युत्पत्ति नहीं होती, तब हेतुभेद के अनुमान से बाह्य प्रमेय अवभासित होता है ।

शंका—बाह्यार्थ की सत्ता के बिना कार्य-कारणभाव एवं ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव कैसे बनेगा ? क्योंकि बाह्यार्थ के बिना विज्ञानों की परस्पर कार्य-कारणता माननी होगी, तब न कार्यता बनेगी और न कारणता ॥ १०४५ ॥ जैसे कि नीलावभास से पीतावभास, उसके पश्चात् नीलावभास हो, इस प्रकार कार्य-कारणभाव में अन्योन्याश्रयता आ जाती है ॥ १०४६ ॥

समाधान—व्यक्ति नीलावभास विज्ञान के अनन्तर पीतावभास होता है । वहाँ पीतावभास से भिन्न बाह्य पीत की कोई सत्ता नहीं होती । अतः नीलावभास ज्ञान को ही उसका कारण मानना होगा, पीत को नहीं, किन्तु वैसा कोई नियम नहीं । अतः पीतावभास ज्ञान से भी नीलावभास की उत्पत्ति माननी होगी । जिस प्रकार युक्ति-

वार्तिकालङ्कारः

समनन्तरप्रत्यय एव। समनन्तरप्रत्ययश्चार्थसहकारिभेदाद्भिद्यमानो नैकतामाप्नोति। येनानियमो भवेत्। अथवा बोधरूपतायां समनन्तरप्रत्ययस्य व्यापारः। आकारे तु नीलादिरेव तत्र च नियमान्न दोषः यदि बोधरूपादन्यतोऽपि बोधरूपता नीलादन्यतोऽपि तदाकारता भवेदनियमः।

ननु शुक्लादपि शङ्खादेः पीताकारतोपलभ्यते अल्पादपि महाकारता ततोऽत्राप्यनियम एव। नैतदस्ति। यतः—

भ्रान्तसन्ततिभावित्वात्त्रेदमसमञ्जसम्। अभ्रान्तप्रतिषेधे तु नियमान्नापरा गतिः ॥१०४७॥

भ्रान्तेयंदसमञ्जसदर्शनं तदप्रामाणिकमेवेति न तेन व्यभिचारः। तथा बीजादंकुरस्य जन्मेष्यते न विपर्ययेण।

विज्ञानवादिनान्तु न बीजादिप्रतिभासादपरं बीजादिकं ततो बीजप्रतिभासादङ्कुरस्य ततोऽपि बीजप्रतिभासस्येति न नियमः। तथा च व्यवहारोच्छेदः। ज्ञाप्यज्ञापकभावश्च दूरोत्सारित एव। धूमादग्निरस्तीति साध्यते। परोक्षश्चानुमेयः। न च बाह्योऽग्निरग्निप्रतिभासश्च ज्ञानात्मकत्वादपरोक्ष एव। न च परप्रतिभासः साध्यते तत्र व्यभिचारात्। भाविनः स्वप्रतिभासस्यैवानुमानमिति चेत्। न। नियमाभावात्। तस्मा-

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

विरुद्ध अन्योऽन्यहेतुता प्रसक्त होती है; किन्तु कार्य-कारण की अन्योऽन्य हेतुता क्योंकर होगी ? बाह्यर्थ की सत्ता पक्ष में नील ही कारण होगा। पीत प्रतिभास समनन्तर प्रत्यय के आधार पर होगा। समनन्तर प्रत्यय तो अर्थ-सहकारी भेद से विद्यमान होकर एकता को प्राप्त नहीं होता कि जिससे अनियम हो जाता अथवा बोधकरूपता में समनन्तर प्रत्यय का व्यापार हो जाता। आकार में नीलादि का ही नियम होने से कोई दोष नहीं आता। यदि बोधरूप से भिन्न भी बोधरूपता मानी जाती है, तब नील से भिन्न अर्थ के द्वारा भी नीलाकारता माननी होगी।

शङ्का—यदि शुक्ल शङ्ख से भी पीताकारता उपलब्ध होती है एवं अल्पाकारता से भी महाकारता उत्पन्न होती है, तब यहाँ पर भी अनियम क्यों नहीं ?

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि भ्रान्त सन्तति में पतित होने के कारण यहाँ असमञ्जसता आती है। अभ्रान्त सन्तति में उसका निषेध होने से अन्य गति सम्भव नहीं ॥ १०४७ ॥ अर्थात् भ्रान्ति में जो असमञ्जसता का दर्शन होता है, वह अप्रामाणिक है। अतः वह व्यभिचार नहीं माना जा सकता। अतः बीज से अङ्कुर का ही जन्म हो सकता है, अङ्कुर से बीज का नहीं।

किन्तु विज्ञानवादियों के मत में बीजप्रतिभास से भिन्न कोई बीजादि नहीं। अतः बीजप्रतिभास से अङ्कुर का उससे ही बीजप्रतिभास का ऐसा कोई नियम नहीं, तब तो व्यवहार का उच्छेद ही हो जाता है। ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव भी निरस्त हो जाता है। धूम से अग्नि की सत्ता सिद्ध की जाती है, अनुमेय परोक्ष होता है, बाह्याग्नि और अग्नि का प्रतिभास सब-कुछ ज्ञानात्मक होने के कारण अपरोक्ष ही होता है, पर-प्रतिभास की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें व्यभिचार है। यदि कहा जाय कि भावी-प्रतिभास का ही अनुमान होता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा कोई नियम नहीं। फलतः बाह्यार्थवाद ही समुचित है।

बाह्यार्थ-निरास—

बीजादंकुरजन्माग्नेर्धूमात् सिद्धिरितीदृशी ।
बाह्यार्थाश्रयिणी यापि कारणज्ञापकस्थितिः ॥ ३९३ ॥

बाह्यार्थ के न होने पर भी जो बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, धूम से अग्नि की सिद्धि होती है, इस प्रकार की कार्य-कारण भाव एवं ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव की प्रतीति होती है, वह भी आभास पर निर्भर है, यही आगे दिखाया जाता है ॥ ३९३ ॥

सापि तद्रूपनिर्भासा तथा नियतसङ्गमाः ।
बुद्धीराश्रित्य कल्प्येत यदि किं वा विरुध्यते ॥ ३९४ ॥

अर्थात् वह कारक और ज्ञापक की स्थिति तदाकार निर्भास मात्र है, क्योंकि बीज और अंकुर एवं धूम और अग्नि अनादि वासना से अवभासित हैं । अतः उनका कार्य-कारण भाव और ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव भी वैसा ही है । क्रम-विशेष से नियत बुद्धियों का आश्रयण करके उनके धर्मों की प्रतीति असंगत नहीं । भाव यह है कि बीज-रूपेण प्रतिभासित ज्ञान प्रबुद्धांकुरज्ञान वासना से युक्त होकर उत्पादक माना जाता है, उसी प्रकार धूम-ज्ञान भी अग्नि का उत्पादक होता है । एतावता ज्ञापक व्यवस्था में भी किसी प्रकार का विरोध नहीं आता ॥ ३९४ ॥

वार्तिकालङ्कारः

द्बाह्यार्थवाद एव साधीयान् । अत्रोच्यते—बीजादङ्कुरजन्माग्नेरिति ।

प्रतिभासेनैवात्र प्रयोजनं नार्थेन । अप्रतिभासमानस्य सतोऽप्यसदविशेषात् । तथा हि उपलम्भः सत्तोच्यते । तथा हि—

अन्तरेणापि बाह्यार्थं प्रतिभासो न दुष्यति । विना तु प्रतिभासेन बाह्यं बाह्यं सदा भवेत् ॥१०४८॥

प्रतिभासो हि बाह्यमन्तरेण भवतीति प्रतिपादितम् । प्रतिभासमन्तरेण बाह्यमसदेवानुपलब्धेः । ततो बीजप्रतिभासादङ्कुरप्रतिभास इति कार्यकारणभावे को विरोधः ।

केवलेन तर्हि नाङ्कुरप्रतिभासेन भवितव्यम् । केवलप्रतिभासे हि बीजप्रतिभासाभावे भावादहेतुकता स्यात् । बाह्यार्थवादिनान्तु नाहेतुकता । सुप्रतिभासमानस्यापि बीजस्य भावात् । तथा हि—

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

अर्थ के प्रतिभासमात्र से प्रयोजन है, अर्थ की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अप्रतिभासमान अर्थ असत् ही होता है । सत्ता नाम है उपलम्भ (अभ्यास) का । जैसा कि कहा है—बाह्यार्थ के बिना भी बाह्यार्थ का प्रतिभास दूषित नहीं होता । किन्तु प्रतिभास के बिना बाह्यार्थ सदैव बाह्य ही रहता है ॥ १०४८ ॥ प्रतिभास तो बाह्यार्थ के बिना भी होता है—यह पहले कहा जा चुका है । प्रतिभास के बिना बाह्यार्थ असत् ही है, क्योंकि उसकी उपलब्धि ही नहीं होती, उपलब्धि का नाम ही सत्ता है । फलतः बीज के प्रतिभास से अङ्कुर का प्रतिभास होता है—ऐसे कार्य-कारणभाव के मानने में क्या विरोध ?

तब कथित कार्य-कारणभाव के अनुसार केवल अङ्कुर का प्रतिभास नहीं होना चाहिए, क्योंकि केवल एक का प्रतिभास एवं बीजरूप कारण का प्रतिभास न होने पर भाव की हेतुता सिद्ध न हो सकेगी, किन्तु बाह्यार्थवाद-वादियों के अनुसार अहेतुकता की आपत्ति नहीं होती, क्योंकि सप्रतिभासमान बीज भी विद्यमान है । जैसा कि कहा

वार्तिकालङ्कारः

बाह्यस्याप्रतिभासेऽपि बाह्यता नावहीयते । विजानता तु नास्त्येव यदा न प्रतिभासनम् ॥१०४६॥

अथ परप्रतिभासस्तत्रास्ति ततो नाहेतुकता । न नियमाभावात् । न च परप्रतिभासात्स्वप्नप्रतिभासोदयः । तदपि समानम् । यतः –

यदि कस्यचिदप्येष नैवार्थः प्रतिभासते । तदस्तित्वे प्रमाणं किं येन तद्धेतुकोऽङ्कुरः ॥१०५०॥

सर्वसामर्थ्योपाख्यालक्षणं हि निरुपाख्यम् । पश्चाद्दर्शनादस्तीति चेत् । उक्तमुत्तरम् । कार्यतो ज्ञायतेऽस्तीति चेत् । ततः –

कार्यकारणभावे हि सिद्धे सत्तास्य गम्यते । सिद्धायामस्य सत्तायां कार्यकारणता भवेत् ॥१०५१॥

तत इतरेतराश्रयदोषादसिद्धिरेव । अर्थैकत्वारोपादसावपि दृष्ट एव ।

ननु विज्ञानेऽप्यारोपः केन वार्यते । विज्ञानस्याभावात् कथमारोपो बाह्येऽपि समानमेतत् । बाह्यमप्यारोपादेवास्तीति व्यवह्रियते । तथा च प्रतिभासोऽपि संवृत्यास्त्येव । न ह्यनुमानकालभाविनो बाह्यस्यारोपादपरमस्तित्वम् । एवञ्चासावारोपो यदि कश्चिदत्र भवेत् भवेदग्निर्दृश्यमानः । एवञ्च यदि कश्चिदत्र भवेत् भवेदेव प्रतिभासः । अन्यः सप्रतिभास इति चेत् । अन्योऽर्थ इति समानमेतत् । तत्राप्येकत्वं न परमार्थतः । विज्ञानवादेऽपि तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवदेव च व्यवहारोऽन्यत्र च । तस्माद्विज्ञानवादेऽपि तद्रूपनियतप्रतिभाससङ्गमाद् बुद्धीराश्रित्य यदि कार्यकारणभावः को विरोधः ।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है—बाह्यर्थ का प्रतिभास न होने पर भी उसकी हानि नहीं होती । हाँ, जब बाह्यार्थ नहीं होता, तब उसकी प्रतीति ही नहीं होती ॥ १०४६ ॥

यदि कहा जाय कि जहाँ विज्ञानवादी को प्रतिभास नहीं होता वहाँ बाह्यार्थवादी के मतानुसार कार्य-कारणभाव मान लेना चाहिए, इस पक्ष में भी दोष समान है । अर्थात् यदि किसी को अर्थ का प्रतिभास नहीं होता, तब उसके अस्तित्व में प्रमाण क्या ? जैसे कि बीज में अङ्कुर की हेतुता सिद्ध हो ॥ १०५० ॥ निरूपाख्य पदार्थ सामर्थ्य से रहित होता है, उसकी सत्ता कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यदि ऐसा दिया जाय कि पश्चाद् दर्शन से सत्ता का निश्चय होगा तो इसका समाधान किया जा चुका है । यदि कहा जाय कि उसके कार्य से उसकी सत्ता निश्चित होती है तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि कार्य-कारणभाव के सिद्ध होने पर ही सत्ता की अवगति होती है और सत्ता के सिद्ध होने पर कार्य-कारणभाव स्थिर होगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होता है ॥ १०५१ ॥ अन्योन्याश्रय दोष के कारण उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । अर्थ की एकता का आरोप हो जाने से ही, वैसा देखा जाता है ।

शङ्का—विज्ञानवाद में भी आरोप का वारण नहीं हो सकता । विज्ञान का अभाव होने पर आरोप कैसे होगा ? बाह्यार्थवाद में भी यह दोष समान है । बाह्य पदार्थ की सत्ता आरोप के द्वारा ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार संवृत्ति के द्वारा ही प्रतिभास की भी सत्ता प्रतीत होती है । अनुमान काल में होने वाले बाह्यार्थ का आरोप हो जाने पर, उसकी सत्ता स्थिर होती है । इस प्रकार आरोप का स्वरूप मानना होगा—"यदि कश्चिदत्र भवेत् भवेदग्निर्दृश्यमानः ।" इस प्रकार यदि कोई यहाँ होता है, तब उसका प्रतिभास भी होगा । यदि कहा जाय कि अन्य भी सप्रतिभास होगा, तब अर्थ भी अन्य है, समान रूप से मानना होगा, उसमें भी एकत्व पारमार्थिक नहीं । विज्ञानवाद में भी तैमिरिक के द्विचन्द्र दर्शन के समान व्यवहार भी हो जाता

वार्तिकालङ्कारः

बाह्यार्थवादे तु विरोध प्रतिपादितं प्रमाणाभावात् । किञ्च —

यदि बाह्यं भवेन्नित्यं पश्चादेव प्रतीयताम् । पूर्वं प्रतीतौ सर्वस्य सर्वाकारप्रतीतता ॥१०५२॥

यदि बाह्यमग्न्यादिकं नित्यं तस्यैकाकारा प्रतीतिः प्रागेवेति किमर्थमनुमानात्प्रवर्त्तते । अथानुमानेन स्वरूपं न प्रतिपन्नमेव तथा सति कथमस्य सत्त्वप्रतीतिः । पररूपेण प्रतीतिर्विज्ञानस्वरूपस्यापि समानैव । अन्यकल्पना दृश्यविकल्पार्थैकीकरणेन प्रवृत्ता तदध्यारोपयति । किन्तेनाध्यारोपितेन । अन्यथा तदभावे पश्चादर्थो विच्छिन्नोदयो भवेत् । कथन्तमन्तरेण विच्छिन्नस्य भावः । यद्यविच्छेदकल्पनया प्रयोजनं वासना मध्ये भविष्यति । तथापि विच्छेद एव वासनायाः । तद्रूपताऽभावादिति चेत् । अर्थेऽप्येवमभ्युपगम्यमानेन तद्रूपता । न हि दृष्टमदृष्टेन समानं शक्यं प्रत्येतुम् । आरोपमात्रमेव तु केवलम् । तद्विज्ञानवादिनामपि समानम् ।

ननु विजातीयविज्ञात्मिका वासना मध्यवर्तिनी कथन्तया तदविच्छिन्नम् ।

यथा लाक्षावसेकस्य विजातीयान्तरोदये । लाक्षाफलेनाविच्छेदो लोकस्याभिमतः तथा ॥१०५३॥

अन्तराले विजातीयविज्ञानचयसम्भवो । तद्वा वासनानुगमादेव न विच्छेदो भविष्यति ॥१०५४॥

तथा लाक्षारसावसेकोऽन्तरालपातिषु बीजाङ्कुरपत्रनाडादिषु शक्तिविशेषं फलानुमेयमादधानो न विच्छिन्नं जनयतीति लोके व्यपदिश्यते । तथा पूर्वकोऽपि पावकप्रतिभासः परं पावकप्रतिभासमन्तरालपातिषु विजातीयप्रतिभासेषु स्वशक्तिमर्पयंस्तदारूढ

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

है। अतः विज्ञान वाद में भी तद् रूप के प्रतिभास से युक्त बुद्धि का आश्रय लेकर यदि कार्य-कारणभाव माना जाता है, तब क्या विरोध ? बाह्यार्थवाद में तो प्रमाणाभाव का प्रतिपादन किया जा चुका है; दूसरी बात यह भी है कि यदि बाह्य वस्तु है और वह नित्य है, उसकी प्रतीति पश्चाद् हो सकती है । यदि पूर्व-प्रतोति मानी जाय तो सर्वाकार की प्रतीति होनी चाहिए ॥ १०५२ ॥

यदि बाह्याग्न्यादि पदार्थ नित्य हैं, तब उनके आकार की प्रतीति पहले हो जाती है, अनुमान की आवश्यकता क्या ? यदि अनुमान के द्वारा स्वरूप की प्रतिपत्ति नहीं होती, तब उसकी सत्ता कैसे निश्चित होगी ? पररूप से प्रतीति तो विज्ञानवाद में भी समान है । अन्य कल्पना-दृश्य विकल्प और अर्थों को एकीकरण के द्वारा अध्यारोपित होती है, तो उस अध्यारोप से क्या लाभ ? यदि अविच्छेद को कल्पना के द्वारा मध्य में वासना-सम्पत्ति मानी जाती है, तथापि वासना का विच्छेद हो जाता है। यदि कहा जाय तद्रूपता का अभाव होने से वैसा नहीं हो सकता, तब अर्थ को मान लेने पर भी तद्रूपता बनी रहती है । दृष्ट और अदृष्ट दोनों की समानता सम्भव नहीं, केवल आरोप मात्र होता है, वह आरोप दोनों मतों में समान है ।

यदि कहा जाय कि विजातीय विज्ञानात्मक वासना मध्यवर्तिनी है, उससे अवच्छिन्न विज्ञान कैसे ? जैसे लाक्षा के अवशेष से विजातीय रूप का उदय हो जाता है, वह लाक्षा-फल से अवच्छिन्न होता है ॥ १०५३ ॥ मध्य में विजातीय विज्ञान सम्भव है। उसकी वासना का अनुगम होने से विच्छेद नहीं माना जाता ॥ १०५४ ॥ उसी प्रकार लाक्षारस से संश्लिष्ट होकर अन्तरालपाती बीज, अङ्कुर, पत्र, नालादि में शक्ति-विशेष उत्पन्न हो जाती है, जिसके द्वारा परस्पर विच्छेद नहीं होता, ऐसा लोक में अनुभूत है। वैसे ही पूर्वतन अग्नि का प्रतिभास अनन्तरभावी प्रतिभास एवं विजा-

अनग्निजन्यो धूमः स्यात् तत्कार्यात् कारणेऽगतिः ।
न स्यात् कारणतायां वा कुत एकान्ततो गतिः ॥ ३९५ ॥

शङ्का—ज्ञानों में जन्य-जनकभाव मानने पर विषयों का जन्य-जनकभाव विरुद्ध पड़ जाता है। अर्थात् यदि धूम-ज्ञान से अग्नि ज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब धूम को अनग्नि से जन्य मानना होगा। अग्नि के प्रतिभास से पहले अविद्यमान होने के कारण विपर्यय भी प्रसक्त होता है। फलतः कार्य से कारण का ज्ञान क्योंकर होगा? अग्नि-ज्ञान के प्रति धूम-ज्ञान को कारण मानने पर, कारण से कार्य की असंदिग्ध गति क्योंकर होगी? ॥ ३९५ ॥

तत्रापि धूमाभासा धीः प्रबोधपटुवासनाम् ।
गमयेदग्निर्भासां धियमेव न पावकम् ॥ ३९६ ॥

समाधान—वस्तुस्थिति यह है कि अनुमान-स्थल पर धूम से वह्नि का ज्ञान नहीं होता, अपितु धूमाभासा बुद्धि अपने संस्कारों से उद्बोधित होकर, अग्नि निर्भास बुद्धि को ही उत्पन्न करती है, अग्नि को नहीं ॥ ३९६ ॥

वार्तिकालङ्कार

इवाविच्छिन्नमेव फलं जनयतीति व्यपदिश्यतां अध्यवसीयतां वा। तेन स एव पूर्वकः प्रतिभासो जनयति पावकप्रतिभासं न धूमप्रतिभासः। तत्र यथा बाह्यार्थवादिनोऽग्नि-प्रतिभासात्पाश्चात् कल्पयन्ति पूर्वमग्निरासीदिति। तथा विज्ञानवादिनो वासनासीदिति नानयोर्विशेषः। धूमप्रतिभासादपि धूमवासना परिकल्प्यते वासनायाश्च कारणत्वं प्रसाधितं न तु बाह्यस्य कारणभाव उपपत्तिमान्। प्रतिपादितञ्चैतत्। अथ—अनग्नि-जन्यो धूमः स्यादिति।

यदि धूमवासनात एव प्रतिभासः स एव धूमः स एव कार्यकारणभावाभावः। न ह्यग्नेर्धूमस्तदा भवेत्। स्ववासनाप्रतिबद्धत्वात्। अथाग्निप्रतिभासोऽपि तद्वासनाप्रबो-धानुगुणत्वेन धूमप्रतिभासकारणत्वात्कारणम्। तथा सति धूमोऽपि कारणमग्नेः। कारण-तायाञ्च कुत एकान्ततो गतिर्व्यभिचारात्। अत्रोच्यते—तत्रापि धूमाभासा धीरिति।

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तीय प्रतिभासों में आश्लेष्टिता की शक्ति समुत्पन्न हो जाती है, जिससे विच्छेद नहीं होता, ऐसा व्यवहार किया जाय या निश्चय किया जाय। उसके द्वारा वही पूर्वभावी प्रतिभास अग्नि के प्रतिभास का जनक होता है, धूम प्रतिभास नहीं। वहाँ जैसे बाह्यार्थवादी के मत से अग्नि-प्रतिभास के पश्चात् कल्पना करते हैं कि जहाँ पर पहले अग्नि थी, उसी प्रकार विज्ञानवादी के मत में वासना की पूर्वसत्ता कल्पित होती है, इन दोनों में कोई विशेषता नहीं। धूम के प्रतिभास से भी धूम की वासना कल्पित होती है। वासना में कारणता सिद्ध की जा चुकी है, बाह्यार्थ में कारणभाव उपपन्न नहीं, इसका प्रतिपादन किया जा चुका है।

यदि धूम की वासना से जो प्रतिभास होता है, वही धूम है और वही कार्य-कारणभाव का अभाव है, क्योंकि उस समय अग्नि से धूम नहीं होता, केवल अपने संस्कारों से उसका अवभास ही होता है। यदि अग्नि का प्रतिभास भी उसके संस्कारों के उद्बोधन से होता है, धूम के प्रतिभास का कारण होने से कारण माना जाता है।

वार्तिकालङ्कारः

धूमाभासा हि बुद्धिरग्निवासनाप्रतिबद्धा ततः सा वासनानुमीयते सा वासना प्रबोधाभिमुखत्वादग्निप्रतिभासं जनयतीति पावकप्रतिभासप्राप्त्या प्रमाणम्। तद्यथा बाह्यार्थवादिनामग्निरनुमितोऽग्निप्रतिभासमन्यन्तरं वा तत एकसामग्र्यधीनाग्निप्राप्तिः। एवं वासनाधीनो धूमभाव्यग्निप्रतिभासौ। परोक्षेतरयोः पावकयोरेकत्वमेवेति चेत्, न, प्रमाणाभावात्। वासनाबलादेव एकत्वमिति। वासनैव परमार्थत एका न वस्त्विति प्रतिपादितम्। अपि च बाह्येऽप्यर्थे नाग्निरनुमीयते। अपि तु भावी प्रतिभास एव। तदर्थत्वात्प्राणिनाम्। न ह्यप्रतिभासमानेनाग्निना कस्यचित्प्रयोजनम्। प्रतिभासान्वितायाश्च भावी प्रतिभासो भवत्वनुमीयमानः किमग्न्यनुमानेन। कथम्भाविन्यनुमानमिति चेत्। एवमेव दृष्टत्वात्। तथा हि—

दृष्टत्वादेवमेवेति नायुक्तमिदमीक्ष्यते। बाह्ये त्वर्थे न संवादो न च दर्शनसम्भवः ॥१०५५॥

प्रतिभासेनैव भाविनाऽनुमीयमानेन सकलं समञ्जसम्। बाह्ये तु स्वप्नस्यापि न सम्भवः। तथा हि—

तथा भाव्यर्थसंवित्तिरनुमानात्सुनिश्चिता। वर्तमानार्थवित्तिस्तु नास्तीति प्रतिपादितम् ॥१०५६॥

अन्यथा भाव्यर्थापेक्षया न कश्चित्प्रवर्त्तेत। अथ वर्त्तमानभाविनोरेकतामवसाय

वार्तिकालङ्कार-व्याख्या

तब तो धूम भी अग्नि का कारण हो जायगा। कारणता के सिद्ध होने पर व्यभिचार क्यों होगा?

समाधान—धूमाभास ज्ञान अग्नि के संस्कारों से अवबद्ध है। अतः वह संस्कार अनुमित होता है। वह संस्कार प्रबुद्ध होकर अग्नि-प्रतिभास का जनक होता है। अग्नि-प्रतिभास की प्राप्ति से प्रमाण होता है। अथवा बाह्यार्थवादियों के मतानुसार अनुमित अग्नि अग्नि का प्रतिभास या अन्य अग्नि है। अतः एक सामग्री के अधीन अग्नि की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार वासना के अधीन धूम और भावी अग्नि का प्रतिभास भी होता है। यदि कहा जाय कि परोक्ष और अपरोक्ष अग्नियों की एकता प्रसक्त होती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं। अर्थात् वासना के बल पर ही परोपरोक्ष की एकता सिद्ध होती है। वासना परमार्थतः एक वस्तु नहीं, ऐसा कहा जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि बाह्य अर्थ में भी अग्नि का अनुमान नहीं होता, केवल भावी प्रतिभास होता है। प्राणियों को आवश्यकता भी उसी की ही होती है। अप्रतिभासित अग्नि से कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रतिभासान्वित अग्नि का ही प्रतिभास होता है, वही अनुमीयमान है, अग्नि के अनुमान की क्या आवश्यकता? भावी अग्नि का अनुमान भी कैसे होगा? इसका उत्तर है कि ऐसा ही देखा जाता है। तब वह अयुक्त नहीं कहलाता है। बाह्यार्थ के होने में किसी प्रकार का संवाद उपलब्ध नहीं होता। अतः बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती॥ १०५५॥

भावी प्रतिभास के द्वारा अनुमान मान लेने पर सभी प्रकार का सामञ्जस्य हो जाता है। बाह्यार्थ की तो स्वप्न में भी सम्भावना नहीं। जैसा कि कहा गया है—अग्नि से यदि भावी वस्तु का अनुमान किया जाता है, इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान अग्नि की सत्ता नहीं। अतः उसकी नास्तिता का प्रतिपादन योगाचार सम्प्रदाय में किया गया है॥ १०५६॥

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी